सेठ भोलाराम सेकसरिया-स्मारक ग्रन्थमाला—३

महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग

लेखक—

डॉ० उदयभानु सिंह एम० ए०, पीएच० डी०

प्रकाशक—

लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रथम आवृत्ति २०००

सम्वत् २००८ विक्रमीय

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्व-विद्यालय की रजत—जयन्ती के अवसर पर बिसवाँ-शुगर-फ़ैक्टरी की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी-विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्चकोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला' में संग्रंथित हो रहे हैं। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी-साहित्य के भण्डार को समृद्ध करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय।

स्वर्गीय सेठ भोलाराम सेकसरिया

कृतज्ञता-प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्व-विद्यालय की रजत—जयन्ती के अवसर पर बिसवाँ-शुगर-फ़ैक्टरी की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी-विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी-अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्चकोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर 'सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला' में संग्रंथित हो रहे हैं। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी-साहित्य के भण्डार को समृद्ध करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय।

स्वर्गीय सेठ भोलाराम सेकसरिया

उपोद्घात

आधुनिक हिन्दी भाषा के निर्माण में सबसे प्रथम महत्वशाली कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। उनके समय तक खड़ी बोली हिन्दी गद्य की भाषा बन चुकी थी परन्तु पद्य में उसका प्रयोग बहुत अल्प था। भारतेन्दु ने अपनी अधिकांश पद्य-रचनाएँ ब्रजभाषा में ही की थीं। उनकी कुछ रचनाएँ नागरी लिपि में लिखी हुई सरल रेखता अथवा उर्दू-शैली में भी हैं। गद्य में उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी का ही प्रयोग किया है। भारतेन्दु काल में, भारतेन्दु के प्रोत्साहन से और भी अनेक लेखक हुए जिन्होंने आधुनिक हिन्दी भाषा का निर्माण किया, जैसे पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण 'प्रेमघन', पं० बालकृष्ण भट्ट, बा० बालमुकुन्दगुप्त, ला० श्रीनिवास दास, ठा० जगमोहन सिंह, बा० तोताराम आदि। इन साहित्य-निर्माताओं ने भी पद्य में ब्रजभाषा का तथा गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग किया। इनकी भाषा में पृथक पृथक रूप से निजी गुण थे।। पं० प्रताप नारायण मिश्र की भाषा में मनोरंजकता, जनबोलियों की सरलता, और व्यंग्यात्मकता थी। 'प्रेमघन' जी, आलंकारिकता, अर्थगाम्भीर्य और समास-पदावली के साथ लिखते थे। पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा सरल घरेलू शब्दों और व्यंग्यात्मक चुटकियों से युक्त होती थी। उस समय गद्य की अनेक प्रयोगात्मक शैलियाँ थीं। उस समय के साहित्यिक जीवन की प्रेरक और मार्गविधायिनी शक्ति भारतेन्दु के रूप में प्रकट हुई थी। भारतेन्दु का जीवनकाल बहुत अल्प रहा और उनका काम अधूरा ही रह गया। गद्यका प्रसार तो भारतेन्दु के प्रयास से हुआ परन्तु भाषा की उस समय, निश्चित, व्याकरण-सम्मत, और पुष्टशैली न बन पाई थी। अंग्रेजी भाषा का प्रभाव हिन्दी-शैली पर अव्यवस्थित रूप में ही पड़ रहा था।

हिन्दी भाषा और साहित्य की उक्त पृष्ठभूमि में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् १९०३ में) साहित्य-क्षेत्र में आए और उन्होंने इंडियन प्रेस में सरस्वती का सम्पादन अपने हाथ में लिया। उनका साहित्य-क्षेत्र में आना, हिन्दी खड़ीबोली के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित करनेवाली घटनाहुई थी। उनका आगमन मानों हिन्दी साहित्य-कानन में वसन्त का आगमन था। उस समय साहित्यिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति आ गई। उन्होंने लेखक और भाषा-शिक्षक दोनों रूपों में साहित्य की सेवा की। इतना ही नहीं, सम्पादक, हिन्दी भाषा-प्रचारक, गद्य

और पद्य-भाषा के परिष्कारक, निबन्धकार, आलोचक, कवि, शिक्षक अनेक रूपों में उनकी प्रतिभा का प्रसार हुआ। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को पद्य-क्षेत्र में भी आगे बढ़ाया। वे स्वयं बड़े कवि न थे और न बड़े उपन्यासकार और न नाटककार ही। अनुभूति की व्यापकता और गहनता, कल्पना की सूझ तथा विचारों की गम्भीरता की भी द्योतक उनकी रचनाएँ नहीं हैं। । फिर भी द्विवेदी जी की कृतियों में प्रेरक शक्ति है, जीवन का सम्पर्क है और सुधारक तथा प्रचारक की सच्ची लगन है। ये ही विशेषताएँ उनकी रचनाओं को गौरव और महत्व देती हैं।

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य-सेवा का काल (१६०१ ई० से १६२० ई० तक) 'द्विवेदीयुग' के नाम से प्रख्यात हो गया। यह समय उस हिन्दी भाषा के विकास और उत्कर्षोन्मुखता का समय था जो आज भारत की राष्ट्र-भाषा है। भाषा और काव्य को एक नये पथ की ओर प्रगति के साथ चलाने वाले सारथी-रूप में द्विवेदी जी का कार्य महान है। वे वस्तुतः युगान्तरकारी सूत्रधार हैं। राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त, डा० गोपालशरण सिंह, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, श्रीधर पाठक, 'सनेही', पूर्ण, शंकर, सत्यनारायण कविरत्न आदि कवि और अनेक गद्यकार, सभी ने द्विवेदी जी से विषय, छन्द-प्रयोग और भाषागत प्रेरणा तथा शिक्षा ली थी। सरस्वती की फाइलों को देखने से पता चलता है कि इस महारथी ने विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, परिचयात्मक, आवेशात्मक, विनोद, व्यंग, अनेक प्रकार की गद्यशैलियों का अपने गद्य में प्रयोग किया। अपने लेखों द्वारा विविध गद्यशैलियों के उदाहरण उपस्थित किये और शब्द और मुहाविरों के प्रयोग द्वारा भाषा के दोषों का परिहार किया। इस प्रकार उन्होंने एक प्रांजल भाषा का आदर्श रूप लेखकों के सम्मुख उपस्थित किया।

वास्तव में, द्विवेदी जी की कृतियों और उनके 'रेनेसाँ' युग के अध्ययन के बिना आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास का ज्ञान अधूरा ही रहता है। जिस समय मैंने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' नामक विषय प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डा० उदयभानु सिंह को दिया, उस समय तक उक्त विषय का किसी लेखक ने गम्भीर अध्ययन नहीं किया था। डा० उदयभानु सिंह ने इस विषयकी बिखरी हुई सामग्री को बड़े परिश्रम के साथ इकट्ठा किया और उसे एक व्यवस्थित और मौलिक निबन्ध रूप में प्रस्तुत किया, जो इस विश्व-विद्यालय में, पीएच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ। यह ग्रन्थ लेखक के अथक परिश्रम और विस्तृत अध्ययन का प्रतिफल है। डा० सिंह मेरी बधाई और शुभेच्छा के पात्र

हैं। इनकी सबल लेखनी से और भी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन होगा, ऐसी मेरी मंगल-कामना है।

दीनदयालु गुप्त,

डॉ० दीनदयालु गुप्त
एम्० ए०, एलएल० बी०, डी० लिट्०
प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की चार मुख्य विशेषताएँ हैं—

१. काव्यभाषा के रूप में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा और कविता के विषय, छन्द, विधान तथा अभिव्यंजनाशैली में परिवर्तन,

२. गद्यभाषा के व्याकरणसंगत, संस्कृत और परिष्कृत रूप का निश्चित निर्माण,

३. पत्रपत्रिकाओं और उनके साथ ही सामयिक साहित्य का विकास,

४. हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों—कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, नाटक, आलोचना, गद्यकाव्य आदि—की वृद्धि और पुष्टि।

इन सबका प्रधान श्रेय पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही है और इसीलिए उनकी साहित्य-सेवा का मूल्यांकन हिन्दी के लिए गौरव का विषय है।

द्विवेदी जी की जीवनी और साहित्य-सेवा के विषय में 'हंस' के 'अभिनन्दनांक', 'बालक' के 'द्विवेदी-स्मृति-अंक', 'द्विवेदी- अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'साहित्य-संदेश' के 'द्विवेदी-अंक', 'सरस्वती' के 'द्विवेदी-स्मृति-अंक' और 'द्विवेदी-मीमांसा' तथा पत्रपत्रिकाओं में बिखरे लेखों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। परन्तु, उनमें प्रकाशित प्रायः सभी लेख प्रशंसात्मक और श्रद्धांजलि के रूप में लिखे गए हैं। समालोचना की दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं है। अतएव द्विवेदी जी की जीवनी, हिन्दी-साहित्य को उनकी देन और उनके निर्मित युग की वास्तविक आलोचना की आवश्यकता प्रतीत हुई।

द्विवेदी जी से सम्बन्धित प्रायः समस्त सामग्री काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा और दौलतपुर में रक्षित है। नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्यालय में द्विवेदी-सम्बन्धी २८०१ पत्र और सभा को भेजा गया उनका हस्तलिखित 'वक्तव्य' है। सभा के 'आर्यभाषा-पुस्तकालय' में उनकी दस आल्मारी पुस्तकें और हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू तथा अंगरेजी की सैकड़ों पत्रिकाओं की फुटकर प्रतियाँ हैं। सभा के कलाभवन में 'सरस्वती' की प्रकाशित और अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियाँ, उनसे सम्बन्धित पत्र, अनेक पत्रपत्रिकाओं की कतरनें, द्विवेदी जी का अप्रकाशित 'कौटिल्यकुठार' और उनके प्रकाशित ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ हैं। दौलतपुर में 'सरस्वती' की कुछ प्रकाशित और अप्रकाशित प्रतियाँ द्विवेदी जी से सम्बन्धित कागदपत्र, पत्र और उनके अप्रकाशित 'तरुणोपदेश' और 'सोहागरात' हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ९ अध्याय हैं —

१. भूमिका
२. चरित और चरित्र
३. साहित्यिक संस्मरण और रचनाएँ
४. कविता
५. आलोचना
६. निबन्ध
७. 'सरस्वती'-सम्पादन
८. भाषा और भाषासुधार
९. युग और व्यक्तित्व

पहले अध्याय में ग्रथित वस्तु का अधिकांश परार्जित है। वस्तुतः अभिव्यंजना-शैली ही अपनी है। दूसरे अध्याय में प्रकाशित लेखों और पुस्तकों के अतिरिक्त द्विवेदी जी की हस्तलिखित संक्षिप्त जीवनी (काशी-नागरी- प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित) और उनसे संबंधित पत्रों तथा पत्रपत्रिकाओं के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर उनके चरित और चरित्र की व्यापक, मौलिक तथा निष्पक्ष समीक्षा की चेष्टा की गई है। इन्हीं के आधार पर तीसरे अध्याय में साहित्यिक संस्मरण का विवेचन भी अपना है। 'तरुणोपदेशक', 'सोहागरात' और 'कौटिल्यकुठार' को छोड़कर द्विवेदी जी की अन्य रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी-संसार उनसे परिचित है। उक्त तीनों रचनाओं की खोज अपनी है। यह अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि इनके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कोई अन्य पुस्तक नहीं लिखी। चौथा अध्याय कविता का है। द्विवेदी जी की कविता ऊँची कोटि की नहीं है। इसीलिए इस अध्याय में अपेक्षाकृत कम गवेषणा, ठोसपन और मौलिकता है। छन्द, विषय, शब्द और अर्थ की विविधि दृष्टियों से तथा द्विवेदी जी की ही काव्य-कसौटी पर उनकी कविता की समीक्षा इस अध्याय की मौलिकता या विशेषता है। पाचवें अध्याय में समालोचना की विभिन्न पद्धतियों की दृष्टि से आलोचक द्विवेदी की आलोचना सर्वथा स्वतंत्र गवेषणा और चिन्तन का फल है।

निबन्धकार द्विवेदी पर भी पूर्वोक्त रचनाओं तथा पत्रपत्रिकाओं में फुटकर लेख लिखे गए थे किन्तु वे प्रायः वर्णनात्मक थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के छठे अध्याय में सौन्दर्य, इतिहास और व्यक्तित्व के आधार पर द्विवेदी जी के निबन्धों की छानबीन की गई है। यह भी अपनी

गवेषणा है। 'सरस्वती-सम्पादन' नामक सातवें अध्याय में द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' के आन्तरिक सौन्दर्य और उसकी उत्तमर्ण तथा ऋणी मराठी, बंगला, अंग्रेजी एवं हिन्दी-पत्रिकाओं की तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर द्विवेदी जी की सम्पादनकला का मौलिक विवेचन है। 'भाषा और भाषासुधार'-अध्याय अपेक्षाकृत अधिक खोज का परिणाम है। अभी तक हिन्दी के आलोचक सामान्यरूप से कह दिया करते थे कि हिन्दी-गद्यभाषा के संस्कार और परिष्कार का प्रधान श्रेय द्विवेदी जी को ही है। 'द्विवेदी-मीमांसा' में एक संशोधित लेख भी उद्धृत किया गया था। परन्तु, स्वयं द्विवेदी जी की भाषा आरम्भ में कितनी दूषित थी, उन्होंने अपनी भाषा का भी परिमार्जन किया, दूसरों की भाषा की ईदृक्ता क्या थी, उनकी भ्रष्ट भाषा का सुधार द्विवेदी जी ने किन किन विभिन्न उपायों और कितनी कष्टसाधना से किया, उनके द्वारा परिमार्जित भाषा का विकास किन विभिन्न रीतियों और शैलियों में फलित हुआ, आदि बातों पर व्याकरणरचनासंगत वैज्ञानिक गवेषणा और सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता थी। आठवें अध्याय में इसी कमी की पूर्ति का मौलिक प्रयास है।

नवाँ तथा अन्तिम अध्याय 'युग और व्यक्तित्व' का है। हिन्दी के इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य के एक युग को द्विवेदीयुग स्वीकार कर लिया था। किन्तु उसके निश्चित सीमानिर्धारण पर कोई प्रामाणिक समालोचना नहीं लिखी गई। डा० श्रीकृष्ण लाल का ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' प्रायः द्विवेदीयुगीन साहित्य की ही समीक्षा है। उसकी दृष्टि भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय की अपनी मौलिक विशेषता है। इसमें द्विवेदीयुग का कालनिर्धारण करके ही सन्तोष नहीं कर लिया गया है, उसकी प्रामाणिक समीक्षा भी की गई है। द्विवेदी जी अपने युग के साहित्य के केन्द्र रहे हैं और उस युग के प्रायः सभी महान् साहित्यकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनसे अनिवार्य रूप से प्रभावित हुए हैं। उस युग के हिन्दी-साहित्य के सभी अंगों के भाव या अभावपक्ष पर द्विवेदी जी की छाप है। द्विवेदीयुगीन साहित्य के समालोचन की यह दृष्टि ही इस निबन्ध की प्रमुख विशिष्टता है। यहाँ पर एक बात स्पष्टीकार्य है। मनुष्य ईश्वर की भाँति सर्वत्रव्यापक नहीं हो सकता। अतएव द्विवेदी जी का व्यक्तित्व भी हिन्दी-साहित्य-संसार के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त नहीं हो सका है। 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय पढ़ते समय कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जब हिन्दी-संसार में इस प्रकार की कलासृष्टि हो रही थी तब द्विवेदी जी क्या कर रहे थे? उत्तर स्पष्ट है। द्विवेदी जी का प्रभाव सर्वत्र सामान नहीं है। कविता, आलोचना, भाषा आदि के क्षेत्र में उन्होंने कायाकल्प किया है, उपन्यास-कहानी की कुछ व्यापक प्रवृत्तियों पर ही उनका प्रभाव पड़ा है और नाटक के अभाव पक्ष में ही उनके व्यक्तित्व की गुरुता है, इसके भावपक्ष में नहीं। जिस अंग में और जहाँ

पर उनका प्रभाव विशिष्ट नहीं है वहाँ पर भी उसे दिखाने का बरबस प्रयास इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है। उस युग के महान साहित्यकारों में भी कुछ मौलिकता थी और उन्हें उसका श्रेय मिलना ही चाहिए। डा० श्रीकृष्ण लाल के उपर्युक्त ग्रन्थ में उस काल के हिन्दी-प्रचार, सामयिक साहित्य और आलोचना की पद्धतियों आदि की भी कुछ विशेष विवेचना नहीं की गई थी। इस दृष्टि से भी स्वतंत्र गवेषणा और विवेचन की अपेक्षा थी। उसकी पूर्ति का प्रयास भी प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है।

सुना है कि राजपूताना विश्वविद्यालय में द्विवेदी जी की कविता पर कोई प्रबन्ध दाखिल हुआ है। वह बाद की कृति है। उसकी चर्चा आगामी आवृत्ति में ही हो सकेगी।

ग्रन्थ से संयुक्त शुद्धिपत्र संक्षिप्त है। टाइप की अपूर्णता के कारण मराठी के 'किरकोल' आदि शब्द अपने शुद्धरूप में नहीं छप सके। 'ब' और 'व', 'ए' और 'ये', अनुस्वार और चन्द्रविन्दु, विरामचिह्न, पंचमवर्ण, संयोजक चिह्न, शिरोरेखा आदि की अशुद्धियाँ बहुत हैं। वे भ्रामक नहीं हैं अतएव उनका समावेश अनावश्यक समझा गया। जिन महानुभावों ने इस ग्रन्थ के प्रणयन में अमूल्य सहायता देकर लेखक को कृतकृत्य किया है उन सब का वह हृदय से आभारी है।

उदयभानु सिंह

विषय-सूची

पहला अध्याय

भूमिका (१—३३)

दूसरा अध्याय

चरित और चरित्र (३४—६१)

तीसरा अध्याय

साहित्यिक संस्मरण और रचनाएं (६२—६०)

चौथा अध्याय

कविता (६१—११६)

पांचवां अध्याय

आलोचना (११७—१४२)

छठा अध्याय

निबन्ध (१४३—१५६)

सातवां अध्याय

'सरस्वती' सम्पादन (१६०—१६१)

आठवां अध्याय

भाषा और भाषासुधार (१६२—२६३)

नवां अध्याय

युग और व्यक्तित्व (२६४— ३६५)

परिशिष्ट

सहायक-ग्रन्थ-सूची—४०६

पहला अध्याय

भूमिका

अँगरेजों की दिन दिन बढ़ती हुई शक्ति भारतीय इतिहास का नूतन परिच्छेद लिखती जा रही थी। सन् १८३३ ई० और १८५६ ई० के बीच बरती जाने वाली राजनीति ने देश में क्रांति उपस्थित कर दी। सिंध, पंजाब, अवध आदि की स्वाधीनता का अपहरण, झाँसी की रानी को गोद लेने की मनाही, नाना साहब की पैंशन की समाप्ति, सिविल सर्विस परीक्षाओं में भारतीयों के विरुद्ध अनुचित पक्षपात, भारतीय सैनिकों को बलात् बाहर भेजने की आज्ञा आदि आपत्तिजनक कार्यों ने जनता को असन्तुष्ट कर दिया। देश के अनेक स्थानों में प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक उठी। १८५७ ई० का विद्रोह किसी प्रकार शान्त किया गया। हिन्दी के साहित्यकार अधिकतर मध्यम और उच्च वर्ग के थे। उन्हें शासकों से काम था। मुसलमानों और अत्याचारी शासन, विद्रोह के भयानक परिणाम और शासकों की विशेष कृपा से प्रभावित होने के कारण उन्होंने सन् १८५७ ई० के सिपाही-विद्रोह की चर्चा अपनी रचनाओं में नहीं की। परन्तु जन साधारण ने "खूब लड़ी मरदानी, अरे झांसी वाली रानी"[1] आदि लोक-गीतों के द्वारा अपनी विद्रोह भावना की अभिव्यक्ति की। महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र में सहृदयता, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता थी। उससे देशी राजाओं और प्रजा को आश्वासन मिला। उनका भय और असन्तोष दूर हुआ। कवियों ने गद्गद् कंठ से अँगरेजी राज्य का गुणगान किया।

परम मोक्षफल राजपद परसन जीवन माँहि। बृटनदेवता राजसुत पद परसहु चित माहि।[2]

जयति धर्म सब देश जय भारतभूमि नरेश। जयति राज राजेश्वरी जय जय जय परमेश।[3]

---

१ बुन्देलखंड में प्रचलित लोक गीत जिसके आधार पर सुभद्राकुमारी चौहान ने लिखा है "बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।"

२ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ७०२।

३ अंबिकादत्त व्यास, 'मनकी उमंग' 'देव पुरुष दृश्य'।

इन्डिया कौंसिल ऐक्ट (१८६१) ई०, हाईकोर्ट और अदालतों की स्थापना (१८६३) ई० जाब्ता दीवानी, ताजीरात-हिन्द और जाब्ता-फौजदारी का प्रयोग, अनेक रियासतों के करों की माफ़ी आदि कार्यों ने जनता को प्रसन्न कर दियों। सन् १८७७ ई० के राज-दरबार में देशी राजा-महाराजाओं ने अपनी राजभक्ति का विराट प्रदर्शन किया। १९ वीं शती के अन्तिम चरण में और भी राजनैतिक सुधारों का आरम्भ हुआ। स्वायत-शासन की स्थापना जिलों और तहसीलों में बोर्डों का निर्माण आदि नवीन विधानों ने भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त श्रीधर पाठक, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाकृष्णदास आदि साहित्यकारों को शासकों की प्रशस्तियां लिखने के लिए प्रेरित किया।

राजनैतिक परिस्थिति के उपर्युक्त पक्ष में तो प्रकाश था परन्तु दूसरा पक्ष अन्धकार-मय था। राजभक्ति और देशभक्ति की भिन्नता भारत के लिए अभिशाप है। राजभक्त होकर भी साहित्यकार देशभक्ति को भूल न सके। देश-दशा का चित्र खींचने में भी उन्होंने पूरी क्षमता दिखलाई :—

भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अतितेज, क्यों सखि साजन ? नहिं अंगरेज ॥[1]

इस दिशा में पत्र-पत्रिकाओं की देन विशेष महत्व की है "सार सुधा निधि" और 'भारत मित्र' ने साम्राज्यवादी अङ्गरेजों की युद्ध नीति और सभ्यता पर आक्षेप किए। गदाधर सिंह ने "चीन में तेरह मास" पुस्तक में साम्राज्यवाद का नग्न चित्र खींचा। "सार सुधा निधि" में प्रकाशित 'यमलोक की यात्रा" में राजनैतिक दमन और 'मार्जार मूषक' ने रूस का भय दिखा कर रक्षा के बहाने भारतवासियों पर आतंक जमाने वाली ब्रिटिश नीति की व्यंजना की। राधाचरण गोस्वामी ने पत्र-संपादकों के प्रति किए जाने वाले अन्याय और टैक्स आदि की बातों पर आक्षेप किया। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने भी अपने 'तुम्हें क्या' 'होली' आदि निबन्धों [2] तथा 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में विदेशी शासन पर खूब व्यंग्य प्रहार किया। यही नहीं, अङ्गरेजी शासन के समर्थकरण जमींदारों पर भी साहित्यकारों की लेखनी चली। भारतेन्दु ने अपने 'अन्धेर नगरी' प्रहसन में (१८८१ ई०) में एक देशी नरेश (डुमरांव) के अन्यायों पर व्यंग्य किया है।

सन् १८५७ ई० के विद्रोह को राष्ट्रीय उन्मेष कहना भारी भूल है। उसमें राष्ट्रीय

---

१ भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र, 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ८११।

२ समय समय पर 'भारत-मित्र' में प्रकाशित और 'गुप्त-निबन्धावली' में संकलित।

भावना का लेश भी नहीं था। नाना साहब, लक्ष्मीबाई, अवध की बेगमें, दिल्ली के मुग़ल, फौज़ी सिपाही आदि सभी अपने अपने स्वार्थ-साधन के लिए विद्रोही हुये। यह लहर सम्पूर्ण देश में न फैल सकी। दक्षिण भारत, बंगाल और पंजाब ने तो सरकार का ही साथ दिया। राष्ट्रीय भावना के अभाव के ही कारण विद्रोह कुचल दिया गया। १६ वीं शती का उत्तरार्द्ध सभा-समाजों और सार्वजनिक संस्थाओं का युग था। 'बृटिश इंडियन एशोसियेशन' (१८५१ ई०) 'बाम्बे एसोसियेशन', 'ईस्ट इंडिया एसोसियेशन' (१८७६ ई०) 'मद्रास महाजन सभा' (१८८१ ई०), 'बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन' (१८८५ ई०) आदि की स्थापना इसी काल में हुई। इनके अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक और सांस्कृतिक सभाओं ने देश में आत्माभिमान की भावना जाग्रत की।

सरकार के अशुभ और विरोधी कानून, पुलिस का दमन, लार्ड लिटन का प्रतिगामी शासन (१८७६-८० ई०) खर्चीला दरबार, कपास के यातायात-कर का उठाया जाना (१८७७ ई०), वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट (१८७८ ई०), अफ़गान युद्ध (१८७८-१८८२ ई०) आदि बातों ने देशवासियों को पराधीनता के शाप का अनुभव कराया। विश्वविद्यालयों में शिक्षित नवयुवकों ने जनता के साथ पाश्चात्य इतिहास और राजनीति के उदाहरण उपस्थित किए। जनता में उत्तेजना बढ़ती गई। यहाँ तक कि किसी क्रान्तिकारी विस्फोट की आशंका होने लगी। दूरदर्शी ह्यूम ने दादा भाई आदि के सहयोग से राजनैतिक उदासीनता दूर करने का प्रयास किया। इसी के फल स्वरूप १८८५ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई।

सामाजिक रूप में जन्म लेकर कांग्रेस ने अपने बल पर राजनीतिक रूप धारण कर लिया। आरम्भ में तो अनुनय-विनय की नीति बरती गई किन्तु ज्यों ज्यों देशवासियों का सहयोग मिलता गया त्यों त्यों वह आत्मतेज और आत्मावलम्बन की नीति ग्रहण करती गई। उसने धन, धर्म, जाति, लिंग, पद आदि का कोई भेद नहीं किया। विकास की प्रारम्भिक भूमिका में मधुरवाणी से काम लिया, अङ्गरेजों की प्रशंसा और अपनी राजभक्ति की अभिव्यक्ति तक की। लोकमान्य तिलक ने विदेशी शासकों के प्रति घृणा के विचारों का प्रचार किया। काँग्रेस की राष्ट्रीयता उग्र रूप धारण करती गई। उसकी वृद्धि के साथ ही साथ सरकार भी उस पर संदेह करने लगी। सितम्बर सन् १८६७ ई० में तिलक को १८ मास की कड़ी सज़ा दी गई, मैक्समूलर, हंटर आदि के कठिन आवेदनपर एक वर्ष बाद छूटे।

उपर्युक्त राष्ट्रीय आन्दोलनों ने हिन्दी साहित्यकारों को भी प्रभावित किया। संपादकों और रचनाकारों ने समान रूप से देश की तत्कालीन राष्ट्रीय जागृति के चित्र अंकित

किए। प्रेमघन और अम्बिकादत्त व्यास ने अपने 'भारत सौभाग्य' नाटकों में देश की दशा का दृश्य दिखाया। 'ब्राह्मण' ने 'कांग्रेस की जय' 'देशी कपड़ा' आदि निबन्ध छापे। राधाचरण गोस्वामी ने 'हमारा उत्तम भारत देश' और बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'स्वदेशी आन्दोलन' पर रचनाएँ कीं—

आओ एक प्रतिज्ञा करें, एक साथ सब जीवें मरें।
अपनी चीज़ें आप बनाओ, उनसे अपना अङ्ग सजाओ॥[1]

पंडित प्रतापनारायण मिश्र के "तृप्यन्ताम्" और श्रीधर पाठक के 'ब्रेडला स्वागत' में देश की करुण दशा का हास्य-मिश्रित तथा ओजपूर्ण शैली में बहुत सुन्दर वर्णन है। पाठक जी की रचनाओं में राष्ट्रीयता का स्वर विशेष रूप से स्पष्ट है—

बन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बांधवता में बंधे परस्पर परता के अज्ञानी हों॥
निन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अज्ञानी हों।
सब प्रकार परतंत्र, पराई प्रभुता के अभिमानी हों॥

इसी स्वतन्त्रता-भाव को एक पग और आगे बढ़ाते हुये द्विवेदी जी ने कहा था—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है॥[2]

उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों ने भारत ही नहीं सारे विश्व के उद्योग-धन्धों में क्रान्ति उपस्थित करदी। पुतलीघरों तथा अन्य कल-कारखानों के निर्माण ने श्रमिक वर्ग के कारीगरों की जीविका छीन ली। सड़कों, नहरों, रेल, तार, डाक आदि ने विदेशों की दूरी कम करदी। सन् १८६६ ई० में स्वेज़-नहर के बन जाने से योरप का भारत से व्यापारिक सम्बन्ध और सुगम हो गया। योरपीय तथा विदेशी वस्तुओं ने भारतीय बाज़ार पर अधिकार कर लिया, यन्त्रों से स्पर्द्धा न कर सकने के कारण देशी कारीगर कृषि की ओर झुके। खेती की दशा भी शोचनीय थी। जन-संख्या में वृद्धि, उर्वराशक्ति के क्रमशः ह्रास, ईतियों और भीतियों के कारण उनकी आर्थिक दशा बिगड़ती जा रही थी। शिक्षितों को अनुकूल नौकरियाँ

---

१ 'स्फुट-कविता'—१९१९ ई० में संकलन-रूप में प्रकाशित।

२ कानपुर के दैनिक पत्र 'प्रताप' के शीर्ष पर छपने वाला सिद्धान्त-वाक्य।

नहीं मिलती थीं। वे शारीरिक परिश्रम के भी अयोग्य थे। एक तो शिक्षित और अशिक्षित दोनों बेकार हो रहे थे और दूसरे देश का धन विदेश जा रहा था। देश आर्थिक संकट में पड़ गया। भारतेन्दु आदि साहित्यकार अङ्गरेजी, राज्य के प्रति भक्ति प्रकट करते हुए भी उसकी आर्थिक नीति के विरुद्ध लिखने पर बाध्य हुये। असुविधा जनक खर्चीली अदालतों, उत्कोचग्राही पुलिस के अत्याचार, ऊँचा लगान और उसके संग्रह के कठोर नियम, शस्त्र और जंगल-कानून आदि ने किसानों के दुख को दूना कर दिया। जनता की एतद्विषयक प्रार्थनाओं को सरकार ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा। सन् १८६८-६६ में घोर अकाल पड़ा, लगभग बीस लाख व्यक्ति मरे। सन् १८७७ ई० में दक्षिण में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। लार्ड लिटन (१८७६-८० ई०) अकाल-पीड़ितों की सहायता का उचित प्रबन्ध न कर सके। लार्ड एल्गिन के समय में (१८६४-६६ ई०) पश्चिमोत्तर प्रान्त, मध्य प्रदेश, बिहार और पंजाब में अकाल पड़े। १६०० ई० में गुजरात में भी अकाल पड़ा। इस प्रकार अकाल पर अकाल और उसके ऊपर महामारी, टैक्स, बेकारी आदि ने जनता के हृदय को छलनी बना डाला। साहित्यकारों ने देशवासियों के इन कष्टों का अनुभव किया और उन अनुभूतियों की अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति की।[1]

अङ्गरेजों के आधिपत्य-स्थापन के समय हिन्दू धर्म शिथिल हो चुका था। अशिक्षित भारतीय जनता अज्ञान अन्धविश्वास में संवेष्ठित थी। दुर्बल और प्राणशून्य हिन्दू जाति की धार्मिक और सामाजिक अवस्था शोचनीय थी। सारा देश तन्द्रा में था। ईसाइयों ने निर्विरोध धर्म-प्रचार आरम्भ किया। शिक्षा, धन, विवाह, पदाधिकार आदि के लोभी जनों द्वारा उनके इस कार्य का स्वागत हुआ। यों तो पन्द्रहवीं शती के आरम्भ से ही ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने भारत में आना आरम्भ कर दिया था किन्तु प्रथम तीन सौ वर्षों में उनके प्रचार का हिन्दी-साहित्य पर कोई प्रभाव न पड़ा। जब सन् १८१३ ई० में उन्हें 'विल्बफोर्स ऐक्ट' के अनुसार भारत में धर्म-प्रचार की आज्ञा मिल गई, तब उन्होंने इस कार्य में तीव्र दक्षता दिखलाई। धर्म-

---

१ आयो विकराल काल भारी है अकाल पर्यो,
पूरे नाहिं खर्च घर भर की कमाई में।
कौन भांति देवें टैक्स इनकम लैसन और,
पानी की पियाई, लैटरन की सफाई में।
कैसे हेल्थ साहब की बात कछू कान करें,
पड़े न सुसीत भूमि पौढ़ें चारपाई में।

प्रचार के उद्देश्य से पादरियों ने जन-साधारण की भाषा में व्याख्यान और शिक्षा की आयोजना की। सन् १८०२ ई० में "दी न्यू टेस्टामेंट" का हिन्दी अनुवाद हो चुका था। सन् १८०६ और १८२६ ई० के बीच पश्चिमी हिन्दी, ब्रजभाषा, अवधी, मागधी, उज्जैनी और बघेली में भी धर्म-ग्रन्थ प्रकाशित किए गए। सन् १८५० ई० तक बाइबिल के ही अनेक हिन्दी अनुवाद हो गये और आगे भी अनुवादों की शृंखला जारी रही।

'अमेरिकन मिशन', 'क्रिश्चयन एज्यूकेशन सोसाइटी', 'नार्थ इंडिया क्रिश्चयन टेक्स्ट एंड बुक सोसाईटी', 'क्रिश्चयन वर्नाक्यूलर लिटरेचर सोसाइटी', 'नार्थ इंडिया अविज़लियरी बाइबिल सोसाइटी' आदि ईसाई संस्थाओं नें हिन्दी को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाकर उसका प्रचार किया। अपने धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन और, अन्य धर्मों की आलोचना करने के लिये पादरियों ने आगरा, इलाहाबाद, सिकन्दरा, बनारस फर्रुखाबाद आदि नगरों में प्रेस स्थापित किये और उनसे सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित कीं।

१६ वीं शती के आरम्भ में ही पश्चिमी सभ्यता और धर्म का आघात पाकर देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गई। हिन्दुओं को अपने धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिये ईसाइयों ने हिन्दू धर्म की सती-सरीखी क्रूर और भयकर प्रथाओं पर बुरी तरह आक्षेप किया था। राजा राममोहन राय आदि नव-शिक्षित हिन्दुओं ने स्वयं इन कुप्रथाओं का विरोध किया। इसी समाज-सुधार के उद्देश्य से उन्होंने सन् १८५८ ई० 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की। तत्पश्चात् 'आर्य समाज' (१८७५ ई०), 'थियोसोफ़िकल सोसायटी' (सन् १८७५ ई० में न्यूयार्क तथा १८७६ ई० में भारत में) रामकृष्ण मिशन' आदि धार्मिक संस्थाओं की स्थापना हुई।

दयानन्द सरस्वती ने (१८२४-८३ ई०) वैदिक धर्म का प्रचार किया, आर्य समाज

किमि के बचावैं श्वांस और कौन ओर घुसें,
सोवैं साथ चार चार एक ही रजाई में।
बाबू पुत्तनलाल 'समस्यापूर्ति', भा० ५ पृ० ६।
संपादक—राम कृष्ण वर्मा, १८६६ ई०

पै दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता,
भारत में संपति की दिन दिन होत छीनता।
प्रेमघन, 'हार्दिक हर्षादर्श'

जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका बोया सब जन खांय,
हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लांय॥
बालमुकुन्द गुप्त, 'स्फुट कविता', 'जातीय गीत', ६२

की शाखाओं, गुरुकुलों और गोरक्षिणी सभाओं की स्थापना की, विधवा-विवाह निषेध, बाल-विवाह, ब्राह्मण धर्मान्तर्गत कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास आदि का घोर विरोध किया। उन्हों ने पाश्चात्य विचार-धारा की भित्ति पर स्थापित ब्राह्म-समाज ने बहु देववाद, मूर्तिपूजा, बहुविवाह आदि के विरुद्ध संग्राम किया। आर्य-समाज के सिद्धान्त का आधार विशुद्ध भारतीय था। इसने ब्राह्म-समाज के पाश्चात्य प्रभाव को रोकते हुए देश का ध्यान प्राचीन भारतीय सभ्यता की ओर खींचा। विवेकानन्द ने शिकागो में भारत की आध्यात्मिकता का प्रचार किया। 'थियोसोफिकल सोसायटी' ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश सुनाते हुए भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की तथा उसका प्रचार किया। रामकृष्ण मिशन ने आरंभ में आध्यात्मिक और फिर आगे चलकर लोक-सेवा के आदर्श की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में स्थापित धार्मिक संस्थाओं ने पश्चिमी भाषा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, धर्म और शिक्षा तथा अपनी निर्बलताओं से उत्पन्न बुराइयों को दबाने का उद्योग किया।

इन धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित किया। दयानन्द सरस्वती, भीमसेन शर्मा आदि ने हिन्दी में अनेक धार्मिक पुस्तकें लिखीं और अनेक के हिन्दी-भाष्य प्रकाशित किये। आर्य-समाजियों के विरोध में श्रद्धाराम फुल्लौरी अम्बिकादत्त व्यास आदि सनातन-धर्मियों ने भी बवण्डर उठाया। धार्मिक घात-प्रतिघात में खंडन-मंडन के लिए हिन्दी में अनेक पुस्तकों की रचना हुई। दयानन्द लिखित 'सत्यार्थ-प्रकाश', 'वेदांग-प्रकाश', 'संस्कार-विधि', आदि, श्रद्धाराम फुल्लौरी लिखित 'सत्यामृत-प्रवाह', 'भागवती' आदि, अम्बिकादत्त व्यास-लिखित 'अवतार-मीमांसा' 'मूर्ति-पूजा', 'दयानन्द-पांडित्य-खंडन' आदि कृतियाँ इसी धार्मिक संघर्ष की उपज हैं। इन रचनाओं की भाषा व्याकरण-विरुद्ध और पंडिताऊ होने पर भी तर्क और ओज से विशिष्ट है।

साहित्यकार भी इस खंडन-मंडन से प्रभावित हुए। भारतेन्दु ने इस सब खंडन-मंडन के झगड़ों से दूर रह कर प्रेमोपासना का संदेश दिया—

"खंडन जग में काको कीजे। पियारो पइये केवल प्रेम में"[१]

प्रतापनारायण मिश्र ने तो एक स्थल पर इस झूठे धार्मिक वितंडावाद से ऊबकर अशरण शरण भगवान् की शरण ली है।

"झूठे झगड़ों से मेरा पिंड छुड़ाओ। मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ।"[२]

---

१ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', पृ० १३६

२ 'प्रेम-पुष्पावली', 'वसंत'

वारेन हेस्टिंग्ज (१७७४-८५ ई०) और जानेथन डंकन (१७१५-१८११ ई०) द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को संस्कृत और फ़ारसी में सांस्कृतिक शिक्षा देने की आयोजना की गई थी। विज्ञापन के युग में प्राचीन ढंग की धार्मिक शिक्षा पर्याप्त न थी। १८१३ ई० में पार्लियामेंट ने ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिये एक लाख रुपये की स्वीकृति दी, परन्तु इससे कोई उद्देश्य पूर्ति हुई नहीं। राजा राममोहन राय आदि भारतीयों की सहायता से डेविड हेअर ने १८१६ ई० में कलकत्ते में एक अङ्गरेजी स्कूल खोला और १८३७ ई० में लार्ड मेकाले ने अङ्गरेजी को ही शिक्षा का माध्यम बनाया। १८४४ ई० में हार्डिंग्ज के चार्टर के अनुसार नौकरियाँ अङ्गरेजी पढ़े-लिखे लोगों को दी जाने लगीं। १८५४ ई० में लार्ड डलहौज़ी और चार्ल्सवुड ने नई शिक्षा-योजना बनाई जिसके फलस्वरूप गांवों में प्रारंभिक और नगरों में हाई स्कूल खोले गये। सिद्धान्त रूप में शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ थीं परन्तु कार्य-क्रम से अँगरेजी ही माध्यम रही। ईसाई-धर्म-प्रचारकों का शिक्षा का क्रम पहले ही से जारी था। १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्व-विद्यालयों की स्थापना हुई।

२८७५ ई० के विद्रोह-शमन के बाद अँगरेजी राज्य दृढ़ हो गया। किन्तु साधारण जनता के हृदय में शासकों के प्रति श्रद्धा कम और आतङ्क अधिक था। भारतीयों की इस मनोवृत्ति को बदलने के लिये सरकार उनकी सस्कृति में परिवर्तन करना चाहती थी। इसी-लिये अंगरेजी माध्यम और पाश्चात्य साहित्य के पाठन पर अधिक जोर दिया गया था। यद्यपि पश्चिमी विज्ञान, साहित्य, इतिहास, आदि के अध्ययन से भारतीयों की दृष्टि में बहुत कुछ व्यापकता आई और सामाजिक अवस्था में बहुत कुछ सुधार हुआ, तथापि अङ्गरेजी माध्यम ने भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित किया। उसने देशी भाषाओं की उन्नति का मार्ग रूँध दिया। विदेशी साहित्य, शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति से मोहित भारतीय नवयुवक उन्हीं के दास हो गये। वे अपनी भाषा साहित्य, सभ्यता, संस्कृति, जाति या धर्म की सभी बातों को गँवारू समझने लगे। उन्हें "स्वदेश", 'भारतीय', 'हिन्दी' जैसे शब्दों से चिढ़ होने लगी। वे हृदयहीन शिक्षित अल्पज्ञ अशिक्षितों और धनहीनों के प्रति प्रेम और सहानुभूति करने के स्थान पर तिरस्कार और घृणा के भाव धारण करने लगे। शिक्षा के क्षेत्र में काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और पंजाब में नवीनचन्द्रराय ने हिन्दी के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया।

कुछ ही काल के उपरान्त हिंदी-साहित्यकारों को अपनी संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता का अनुभव हुआ। भारतेन्दु, प्रतापनारायण

मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि ने जनता को इन विनाशकारी प्रभावों से बचने के लिये चेतावनी दी, समाज-सुधार और स्वदेशी आन्दोलन-सम्बन्धी विषयों पर ग्राम-गीत लिखने और लिखाने का प्रयास किया जिससे जागरण का नूतन स्वर अशिक्षित जनता के कानों तक भी पहुँच सके। भारतेन्दु ने जनपद-साहित्य के योग्य रचनाएँ कीं, अँगरेजी साहित्य और शिक्षा, बेकारी, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस कचहरी, कानून उपाधियों, विधवा-विवाह, मद्यपान सुन्दर मुकरियाँ लिखीं--

सब गुरु जन को बुरो बतावे, अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्व न झूठी तेजी, क्यों सखि साजन? नहिं अङ्गरेजी॥
तीन बुलाए तेरह आवें, निज निज विपदा रोइ सुनावें।
आँखीं फूटे भरा न पेट, क्यों सखि साजन? नहिं ग्रेजुएट॥ [1]
मतलब ही की बोलै बात, राखे सदा काम की घात।
डोलै पहिने सुन्दर समला, क्यों सखि साजन? नहिं सखि अमला॥
रूप दिखावत सरबस लूटे, फन्दे में जो पड़े न छूटै।
कपट कटारी हिय में हूलिस, क्यों सखि साजन? नहिं सखि पूलिस॥ [2]

'बाल-विवाह से हानि', 'जन्मपत्री मिलाने की अशास्त्रता' 'बालकों की शिक्षा' अँगरेजी फैशन से शराब की आदत', 'भ्रूणहत्या', 'फूट और बैर', बहु-जातित्व और बहुभक्तित्व', 'जन्मभूमि से स्नेह और इसके सुधारने की आवश्यकता', 'नशा', अदालत', 'हिन्दुस्तान की वस्तु हिंदुस्तानियों को व्यवहार करना चाहिये' आदि विषयों पर रचनाएँ की गईं। 'हरिश्चन्द्र मेगज़ीन' में प्रकाशित 'यूरोपीय के प्रति भारतवर्षीय के प्रश्न' और 'कलिराज की सभा' में सरकार के पिट्ठुओं पर आक्षेप है। उसी के सातवें अङ्क में नये अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों का अच्छा उपहास किया गया है। [3]

भारतेन्दु ने साहित्य को समाज से संबद्ध करने का प्रयास किया। उनके नाटकों में तत्कालीन सामाजिक दशा की सुन्दर व्यंजना हुई है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में उन्होंने धार्मिकता के नाम पर प्रचलित सामाजिक अनाचारों और स्वार्थ लोलुप जनों का चित्रण किया है। 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी नरेशों के बीभत्स दृश्य अङ्कित कर के दूषित वातावरण और दयनीय दशा की झाँकी उपस्थित की गई है।

---

१ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', पृ० ८१०

२ 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', पृ० ८११

३ When I go Sir, market ko, these chaprasis, trouble me much.
How can I give daily Inam, ever they ask me I say such,
Sometime they me give gardania and tell baba niklo tum.

"भारत दुर्दशा" में हिन्दू धर्म के विभिन्न संप्रदायों का मत-मतांतर, जाति-पाँति के भेद-भाव, विवाह और पूजा संबन्धी कुप्रथाओं, विदेश-गमन-निषेध, अङ्गरेजी शासन आदि पर आक्षेप किया गया है।

प्रतापनारायण मिश्र के 'कलिकौतुक-रूपक' में पाखंडियों और दुराचारियों का तथा 'भारत-दुर्दशा', 'गोसंकट नाटक' और 'कलि-प्रभाव नाटक' में श्रीसम्पन्न नागरिक जनों के गुप्त चरित्रों का चित्रण किया गया है। राधाचरण गोस्वामी के 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' में रूढ़िवादी तथा अन्धविश्वासी वृद्धजनों के विरुद्ध नवयुवक दल के संघर्ष और 'बूढ़े मुँह मुहाँसे' में किसान की जमींदार-विरोधी भावना तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का निरूपण है। काशीनाथ खत्री के 'ग्राम-पाठशाला' 'निकृष्ट नौकरी' और 'बाल-विधवा-संताप', राधा कृष्णदास के 'दुःखिनीबाला' तथा अन्य नाट्यकारों के नाटकों में भी समाज की दीन-दशा के विविध चित्र अङ्कित किए गए हैं।

निबन्धकारों ने भी 'राजा भोज का सपना' (सितारे-हिन्द), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु), 'यमलोक की यात्रा' (राधाचरण गोस्वामी), 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' (भारतेन्दु) आदि निबन्धों में तत्कालीन धर्म, कर्म, दान, चन्दा, शिक्षा, पुलिस, कचहरी, आदि पर तीखा व्यंग्य किया है। [1]भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, आदि कवियों ने सामाजिक दुरवस्था को आलम्बन मान कर रचनाएँ की हैं।[2]

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता-संस्कृति की शिक्षा दीक्षा ने भारतेन्दु-युग को इतिहास

Dena na lena muft ke aye hain yaha Bare Darbari ki dum.

इस संबंध में डा० रामविलास शर्मा का 'भारतेंदु युग' (पृ० ६५-११२) अवलोकनीय है।

१ देखिये भारतेन्दु-युग—(डा० रामविलास शर्मा) पृ० ६५—१२२

२ सेल गई बरछी गई, गये तीर तरवार

घड़ी छड़ी चसमा भये, छत्रिन के हथियार। बालमुकुन्द गुप्त 'स्फुट कविता'

'श्रीराम स्तोत्र' पृ० ७

बात वह अगली सब सटकी, बहू जब मैं थी घूंघट की।

घुटावैं क्यों पिंजड़े में दम, नहीं कुछ अंधी चिड़िया हम॥

बाबू बालमुकुन्द गुप्त कृत 'स्फुट-कविता'—'सभ्य बीबी की चिट्ठी' पृ० ११०

बिधवा बिलपैं अरु धेनु कटैं, कोउ लागत हाय गोहार नहीं।

कौन करेजो नहिं कसकत सुनि बिपति बात बिधवन की है,

ताते बढ़िकै करुण क्रन्दना कान्यकुब्ज कन्यन की है।

—प्रतापनारायण मिश्र—'मन की लहर'

की भूमिका में एक पग और आगे बढ़ा दिया। इस युग की साहित्य-सृष्टि भाव, एवं कल्पना के गगन-विहारी रीतिकालीन साहित्य और जीवन तथा कर्म में विश्वास करने वाले यथार्थ-वादी आधुनिक साहित्य के बीच की कड़ी है। इस युग के कवियों ने भक्ति और शृङ्गार पर-म्परा का पालन करते हुए भी देश-भक्ति, लोक-कल्याण, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार आदि का संदेश सुनाया। भारतेन्दु की कविताओं में शृङ्गार और स्वदेश-प्रेम, राधाकृष्ण की भक्ति और टीकाधारी मायावी भक्तों का उपहास, प्राचीनता और नवीनता एक साथ हैं। इस युग में व्यक्तिगत प्रेम और सहानुभूति ने बहुत कुछ व्यापक रूप धारण किया। शृङ्गार के आलम्बन नायक-नायिकाओं ने स्वदेश, स्वदेशी वस्तु, सामाजिक कुरीतियों, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदि विषयों के लिये भी स्थान रिक्त किया। भारतेन्दु की "विजयिनी विजय वैजयन्ती' (१८८२ ई०) और प्रतापनारायण मिश्र की "तृप्यन्ताम्" (१८९१ ई०) कविताओं में परतन्त्र भारत की दीनावस्था पर क्षोभ, मिश्र जी की 'लोकोक्तिशतक' (१८९८ ई०), 'आव-हुमाय' (१८९८ ई०) आदि में देश की विपन्न दशा पर सन्ताप, प्रेमघन की 'मंगलाशा या हार्दिक धन्यवाद' में सुधारक शासकों की कृपा-दृष्टि पर सन्तोष और प्रतापनारायण मिश्र के 'लोकोक्तिशतक' एवं बालमुकुन्द गुप्त आदि की स्फुट कविताओं में संगठनभावना का व्य-क्तीकरण है।

राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र ('मन की लहर-'सन्१८८५ ई०), नित्यानन्द चौबे ('कलिराज की कथा'–१८९१ ई०), आत्माराम सन्यासी 'नशाखंडन-चालीसा' (१८९६) बालमुकुन्द गुप्त ('स्फुट कविता'-प्रकाशित १९१९ ई०) आदि कवियों ने सामाजिक विषयों पर रचनाएँ की। श्रीधर पाठक का (' जगतसचाई-सार" १८८७), माधवदास का "निर्भय अद्वैत सिद्धम्"—(१८९९ ई०), रामचन्द्र त्रिपाठी का, "विद्या के गुण और मूर्खता के दोष" आदि दार्शनिक विषयों पर की गई रचनाएँ हैं। 'दगाबाजी का उद्योग' (भारतेन्दु) 'ब्रूसल्स की लड़ाई' (श्री निवास दास) आदि की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है। 'दामिनी दूतिका' (राधाचरण गोस्वामी), 'म्यूनिसिपैलिटी ध्यानम्' (श्रीधर पाठक–१८८४ ई०), 'प्लेग की भूतनी' (बालमुकुन्द गुप्त—१८९७ ई०), 'जनाने पुरुष' (बालमुकुन्द गुप्त—१८९८ ई०) आदि में कवियों ने नवीन विषयों की ओर ध्यान दिया है। हास्यरस के आलम्बन, कृपण खाऊ ब्राह्मण आदि न होकर नव-शिक्षित, फैशन के दास, रईस, लकीर के फ़कीर आदि हुए हैं तथा वीर रस के आलम्बन का गुरुतम पद देशप्रेमियों को दिया गया है। इस युग की राजनैतिक, राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कविताओं में अतीत के प्रति अभिमान, वर्तमान के प्रति क्षोभ और भविष्य के प्रति आशा की अभिव्यंजना हुई है।

प्राग्द्विवेदी-युग की पद्य-रचना में एक विशिष्ट स्थान ईसाई-धर्म- प्रचारकदेशी पादरियों का भी है। पद्य की स्वाभाविक प्रभावोत्पादकता से जनता को आकृष्ट करने के लिये उन्होंने "मंगल समाचार का दूत" (१८६१ ई०), 'वुह श्रेष्ठ मूल कथा' (१८७१ ई० ', 'खृीष्ट-चरितामृत-पुस्तक' (१८७१), 'गीत और भजन' (१८७५), 'प्रेम-दोहावली' (१८८० ई०), 'मसीही गीत की किताब' (१८८१), दाऊदमाला' (१८८२), 'भजन-संग्रह' (१८८६), 'छन्द-संग्रह' १८८८ वि० सं०), 'सुबोध-पत्रिका' (१८८७ ई०), 'गीत-संग्रह' (१८८८ ई० पृष्ठ सं०), 'गीतों की पुस्तक' (१८८६ ई०), 'धर्मसार' (१८८६ ई०), 'गीत-सग्रह' (१८६४), 'उपमामनोरंजिका' (१८६६) आदि छन्दोवद्ध पुस्तकें लिखीं। इन में अनेक राग-रागनियों के पद,गीत,भजन,गजल आदि हैं। दोहा, चौपाई, रोला आदि छन्दों की भी बहुलता है। शिथिल और खिचड़ी भाषा में काव्यकला का सर्वथा अभाव है। उनका महत्व खड़ीबोली-पद्य-रचना के प्रारम्भिक प्रयास में ही है।

विषय की दृष्टि से तो भारतेन्दु-युग की कविता बहुत कुछ आगे बढ़ गई, परन्तु पूर्ववर्ती रीतिकालीन काव्य का कला-सौंदर्य न आ सका। भारतेन्दु की कविता में कहीं तो भक्तिकालीन कवियों की स्वाभाविक तल्लीनता,[१] कहीं छायावाद की सी लाक्षणिक मूर्तिमता और कहीं चलचित्रों के से चलते गाने हैं। उस युग के नायिका-उपासक कवियों ने शृङ्गार-वर्णन में ही अपनी प्रतिभा का अधिक उपयोग किया है। कोलाहल के उस युग में बहुधन्धी कवि अपनी रचनाओं को विशेष सरस वा रमणीय न बना सके। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों से प्रभावित कवियों की शृङ्गारेतर कृतियाँ प्रचारात्मकता और सामयिकता से ऊपर न उठ सकीं। श्रीधर पाठक, प्रमघन आदि ने अङ्गरेजी काव्य के भाव और शैली को अपना कर उसी ढंग की रचनाएँ करने का प्रयास किया। पुराने ढर्रे के रूढ़िवादी कवि समस्या-पूर्तियों पर बुरी तरह लट्टू थे। भारनेन्दु के 'कवि-समाज' की समस्या-पूर्तियां में निस्संदेह कवित्व है, उदाहरणार्थ भारतेन्दु की पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानति हैं,' प्रतापनारायण मिश्र की "पपिहा जब पूछि है पीव कहाँ", प्रमघन की 'चरचा

१ क—नवनीत मेघवरन,दरसत भव ताप हरन,परसत सुख करन, भक्तसरन जमुनवारी।

अथवा

धिक देह और गेह सबै सजनी! जिहि के बस को छूटनो है।

ख—ससि सूरज ह्वै रैन दिना तुम हियनन करहु प्रकाश।

ग—सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन।

अथवा

प्यारी विन कटत न कारी रैन।

चलिवे की चलाइयेना' आदि। [1] परन्तु समस्या-पूर्ति के दुर्व्यसन ने रचनाकारों की प्रतिभा को बहुत कुछ कुण्ठित कर दिया। "रसिक वाटिका", 'रसिक-रहस्य' आदि पत्रिकाओं में तो एकमात्र समस्या-पूर्ति ही के लिए स्थान था और उनके लेखक पद्यकर्ताओं की रचनाओं में तुकबन्दी से अधिक कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की पूर्तियों में और पत्रिकाओं ने हिन्दी काव्य का बड़ा अहित किया है।

उस युग में प्रबन्ध काव्यों का अभाव सा रहा। 'जीर्ण जनपद', 'कंस बध' (अपूर्ण) 'कलिकाल-दर्पण', 'होली की नकल', 'एकान्तवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम' आदि इनी गिनी रचनाएं प्रबन्ध-कविता की दृष्टि से निम्न श्रेणी की है। इनका मूल्य खड़ी-बोली-प्रबन्ध-काव्य के इतिहास की पीठिका रूप में ही है। एक ओर तो रीतिकालीन पुरानी परिपाटी के प्रति कवियों का मोह था और दूसरी ओर आन्दोलन और संक्रान्ति की अवस्था। अतएव कवियों की प्रचारात्मकता और उपदेशात्ममता के कारण आधुनिक शैली के गीत-मुक्तकों की रचना न हो सकी। काव्य-विधान के क्षेत्र में गीति-मुक्तकों और प्रबन्ध काव्यों के अभाव की न्यूनाधिक पूर्ति पद्य-निबन्धों ने की। 'बुढ़ापा', 'जगत-सच्चाई-सार' 'सपूत', 'गोरक्षा' आदि पद्यात्मक निबन्धों में गीतिमुक्तकों की मार्मिक अनुभूति का आभास है। कथासूत्र तथा विषय की एकतानता के कारण प्रबन्ध-व्यंजकता भी है। १६ वीं शती के अन्तिम दशाब्द तक इन निबन्धों में भावात्मकता के स्थान पर नीरसता आ गई। ये इतिवृत्तात्मकरूप में पद्यावद्ध निबन्धमात्र रह गए।

इस युग के कवियों ने सवैया, कवित्त, दोहा, चौपाई, सोरठा आदि की पूर्वकालिक पद्धति से आगे बढ़कर रोला, छप्पय, अष्टपदी, लावनी, गजल, रेखता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि पर ध्यान तो अवश्य दिया, परन्तु इस दिशा में उनकी प्रगति विशेष महत्वपूर्ण न हुई। छन्दों की वास्तविक नवीनता और स्वच्छंदता भारतेन्दु के उपरान्त पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं में चरितार्थ हुई। लावनी की लय पर लिखे गये, 'एकान्तवासी योगी', सुथड़े साइयों के ढंग पर रचित 'जगत-सचाई-सार' आदि में राग-रागनियों की अवहेलना करके कविता की लय और स्वरपात पर ही उन्होंने विशेष ध्यान दिया है :—

"जगत है सच्चा, तनिक न कच्चा, समझो बच्चा इसका भेद। [2]

भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, जगमोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास आदि कवि

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७०१—२
२ 'जगतसचाई-सार'

ब्रजभाषा की पुरानी धारा में ही बहते रहे। आरम्भ में श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा 'शंकर' अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ने भी ब्रजभाषा को ही काव्य भाषा के रूप में ग्रहण किया। सन् १८७६ ई० से खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ने लगा। स्वयं भारतेन्दु ने खड़ी बोली में पद्य लिखे :—

खोल खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥ [1]

सन् १८७६ ई० में ही बाबू लक्ष्मीप्रसाद ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' (Hermit) का खड़ी बोली में अनुवाद किया था। खड़ी बोली में काव्य-रचना के प्रति प्रोत्साहन न मिलने के कारण भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने ब्रजभाषा को कविता का माध्यम बनाए रक्खा। उस युग में कोई भी कवि खड़ी बोली का ही कवि नहीं हुआ। श्रीधर पाठक ने १८८६ ई० में खड़ी बोली की पहली कविता-पुस्तक एकान्तवासी योगी' लिखी। इस समय गद्य और पद्य की भाषा की भिन्नता लोगों को खटक रही थी। श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री आदि खड़ी बोली के पक्षपाती थे और प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि ब्रजभाषा के। राधाकृष्णदास का मत था कि विषयानुसार कवि किसी भी भाषा का प्रयोग करे। ब्रज-भाषा की पुरातनता, विशाल साहित्य, माधुरी और सरसता के कारण खड़ी बोली को आगे आने में बड़ी कठिनाई हुई। परन्तु काल का आग्रह बोलचाल की भाषा खड़ी बोली के ही प्रति था। १८८८ ई० में अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली का पद्य' नामक सग्रह दो भागों में प्रकाशित किया। बदरीनारायण चौधरी, श्रीधर पाठक देवीप्रसाद 'पूर्ण' नाथूराम शर्मा, आदि ने ब्रजभाषा के बदले खड़ी बोली को अपनाकर भारतेन्दु के प्रयोगों को भाषा के निश्चित रूप की ओर आगे बढ़ाया। उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त हो गई पर, लोगों के उद्योग करने पर भी इस नवीन काव्य-भाषा में अपेक्षित माधुरी, प्रांजलता और प्रौढ़ता न आ सकी।

सामयिक साहित्य की उन्नति अङ्गरेजी आदि भाषाओं के वाङ्मय का अध्ययन और

---

१ पहली सितम्बर सन् १८८१ के 'भारत-मित्र' में अपने छन्दों के साथ भारतेन्दु ने यह पत्र भी छपाया था "प्रचलित साधुभाषा में यह कविता भेजी है। देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्यसौंदर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायगा। लोग विशेष इच्छा करेंगे तो और भी लिखने का यत्न करूँगा।"

भारतेन्दु-युग — डा० रामविलास शर्मा, पृ० १६८–६९

तत्कालीन राजनैतिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं साहित्यिक आन्दोलनों ने हिन्दी लेखकों को निबन्ध-रचना की ओर प्रेरित किया। उस युग से फक्कड़ हास्य-प्रिय, मिलनसार और सजीव लेखकों ने पाठकों के प्रति अभिन्नरूप और मुक्तकंठ से अपनी भावाभिव्यक्ति करने के लिए कविता, नाटक या उपन्यास की अपेक्षा निबन्ध को ही अधिक श्रेयस्कर माध्यम समझा। इस नवीन रचना की कोई ईदृक्ता या इयत्ता निश्चित न होने के कारण, आदर्श के अभाव में, स्वच्छन्दता-प्रेमी लेखकों ने इसके आकार और प्रकार को इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया और विषय तथा व्यक्तित्व से अतिरंजित किया। इस विधान में कहानी को भी स्थान मिला और दार्शनिक तत्व के विवेचन को भी। शैली की दृष्टि से लेखकों की अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग था। 'राजा भोज का सपना' (राजा शिवप्रसाद), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु), एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (तोताराम), 'यमपुर की यात्रा' (राधाचरण गोस्वामी), 'आप' (प्रतापनारायण मिश्र) आदि निबन्ध इस बात के प्रमाण हैं।

इस युग के निबन्धों में निबन्धता नहीं है; उद्देश्य या विषय की एकतानता नहीं है। 'राजा भोज का सपना' में शिक्षा भी है, हास्य भी है। तोताराम के 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' में हास्य, व्यंग्य और शिक्षा एक साथ है। कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। पाठशालाओं के चन्दा-संग्रही, पुलिस, कचहरी आदि जो कोई भी दाएँ-बाएँ मिला है उसी पर व्यंग्य बाण छोड़ा गया है। 'स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन' में भारतेन्दु ने समाज की अनेक कुरीतियों पर आक्षेप किया है।

हिन्दी-गद्य के विकास के समानान्तर ही पत्र-पत्रिकाओं ने निबन्ध लेखन को प्रोत्साहन दिया। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में 'कलिराज की सभा' (ज्वालाप्रसाद), 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (तोताराम), आदि निबन्ध मनोरंजक और गंभीर विषयों पर प्रकाशित हुए। 'सार-सुधानिधि' में प्रकाशित 'यमपुर की यात्रा', 'मार्जार-मूषक', 'तुम्हें क्या', 'होली' 'शैतान का दरबार' आदि में तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक दशाओं की मार्मिक व्यंजना हुई है। 'आनन्द कादम्बिनी' में 'हमारी मसहरी', जैसे मनोरंजक और 'हमारी-दिन-चर्या'-सरीखे भावात्मक निबन्धों के दर्शन होते हैं। विनोद-प्रिय 'ब्राह्मण' ने विविध विषयों पर 'घूरे के लत्ता बीने, कनातन के डौल बाँधे', 'समझदार की मौत है', 'बात', 'मनोयोग', 'वृद्ध 'भौं' आदि निबन्ध प्रकाशित किए। 'भारत-मित्र' ने 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' में रमणीय और सक्षम भाषा में विदेशी शासन पर खूब फबतियाँ कसीं। स्पष्टवादी और तर्कशास्त्री 'हिन्दी-प्रदीप' की देन औरों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। उसमें प्रकाशित 'साहित्य जन-समूह के

हृदय का विकास है', 'शब्द' आदि समीक्षात्मक तथा साहित्यिक, 'माधुर्य', 'आशा' आदि मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक एवं 'श्री शंकराचार्य' और 'गुरु नानक देव' आदि विवेचनात्मक निबन्ध किसी अंश तक महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु-युग ने गद्य-निबन्धों के साथ पद्य-निबन्धों का भी सूत्रपात किया। हरिश्चन्द्र ने 'अङ्गरेज राज सुख साज सजे अति भारी' जैसे इतिवृत्तात्मक पद्य तो लिखे परन्तु पद्य-निबन्धों की ओर प्रवृत्त न हुए। उनके अनुयायी प्रतापनारायण मिश्र ने 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' 'क्रन्दन' आदि की रचना-द्वारा इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। भारतेन्दु-युग के उपदेशक, सुधारक और प्रचारक निबन्धकारों की कृतियों में विषय की व्यापकता, शैली की स्वच्छन्दता, व्यक्तित्व की विशिष्टता, भावों की प्रवणता, लक्षणा तथा व्यंजना की मार्मिकता और भाषा की सजीवता होते हुए भी निबन्ध-कला का सर्वथा अभाव है। ये निबन्ध पत्रिकाओं में सर्वसाधारण के लिये लिखित लेखमात्र हैं। उनकी एकमात्र महत्ता उनकी नवीनता में है। भावों और विचारों के ठोसपन और भाषा की सुगठन के अभाव के कारण ये निबन्ध की मान्यकोटि में नहीं आ सकते।

भारतेन्दु के हिंदी-नाटक-क्षेत्र में पदार्पण करने के पूर्व गिरिधर दास ने १८५६ ई० में पहला वास्तविक नाटक 'नहुष' लिखा था। १८६८ ई० में भारतेन्दु ने चौर कवि-कृत 'विद्या सुन्दर' के बंगला अनुवाद का हिंदी रूपान्तर प्रस्तुत किया। इस युग के निबंधकारों और कहानी लेखकों ने भी अपनी रचनाओं में नाटकीय कथोपकथन का प्रयोग किया था। 'हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन, में प्रकाशित 'यूरोपीय के प्रति भारतीय के प्रश्न' 'वसंत पूजा' आदि में प्रयुक्त संवाद मनोहर हैं। 'कीर्ति केतु' (तोताराम) 'तप्तासंवरण' (श्री निवासदास) आदि नाटक पहले पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुए थे।

हिंदी-साहित्य में दृश्य काव्य का अभाव भारतेन्दु को बहुत खला। उन्होंने अपने अनूदित 'पाखंड-विडंबन' 'धनंजय-विजय' 'कर्पूर-मंजरी' 'मुद्राराक्षस' 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'भारत-जननी' तथा मौलिक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 'चन्द्रावली' 'विषस्य-विषमौषधम्' 'भारत-दुर्दशा' 'नील-देवी' 'अँधेर-नगरी' प्रेम-जोगिनी' (अपूर्ण) और 'सती-प्रताप' (अपूर्ण) की रचना-द्वारा इस रिक्त भांडार को भरने का प्रयास किया। इन नाटकों में देश, जाति, समाज, संस्कृति, धर्म, भाषा और साहित्य की तत्कालीन अवस्था के यथार्थ दृश्य उपस्थित किये गये हैं।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में भारतेन्दु की देखा देखी नाटककारों की एक श्रेणी

सी बँध गई। 'तप्तासंवरण' 'प्रह्लाद चरित्र' 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'संयोगिता-स्वयंवर' के लेखक श्री निवास दास, 'सीताहरण', रुक्मिणी-हरण', 'रामलीला', 'कंसवध', 'नन्दोत्सव', 'लक्ष्मी सरस्वती-मिलन', 'प्रचंड-गोरक्षण', 'बाल-विवाह', और 'गोवध-निषेध' के रचयिता देवकी नन्दन त्रिपाठी, 'सिन्ध देश की राजकुमारियाँ', 'गन्नौर की रानी,' 'लव जी का स्वप्न' और 'बाल-विधवा-सन्ताप' नाटकों के निर्माता काशीनाथ खत्री, 'ऊषाहरण' के कर्ता कार्तिक प्रसाद खत्री, 'दुःखिनी-बाला', 'पद्मावती', 'धर्मालाप' और 'महाराणा प्रताप' के विधायक राधाकृष्ण दास, 'बाल-विवाह' और 'चन्द्रसेन' के रचनाकार बालकृष्ण भट्ट, 'ललितानाटिका,' 'गोसंकट' और 'भारत सौभाग्य' के लेखक अम्बिकादत्त व्यास, 'सुदामा,' 'सती चन्द्रावली,' 'अमरसिंह राठौर,' 'तन मन धन श्री गोसांई जी के अर्पण' और बूढ़े मुंह मुंहासे' के रचयिता राधाचरण गोस्वामी, 'भारत-सौभाग्य,' 'प्रयाग-राम-गमन' और 'वारांगना रहस्य महानाटक' के निर्माता बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', 'संगीत-शाकुन्तल', 'भारत-दुर्दशा' और 'कलि-कौतुक' के कर्ता प्रताप नारायण मिश्र, मीराबाई और नन्दविदा' के विधायक बल्देव प्रसाद मिश्र, विवाह-विडंबन' के रचनाकार तोताराम वर्मा आदि नाटककारों ने बहु विषयक नाटकों की सृष्टि की। समाज राजनीति, इतिहास पुराण, प्रेमाख्यान आदि सभी से कथा वस्तु लेकर इन साहित्यकारों ने मुक्तहस्त से लेखनी चलाई।

नाट्य-कला की दृष्टि से श्रेष्ठ न होते हुए भी इन नाटकों का ऐतिहासिक महत्व है। भारतेन्दु ने नाटक, नाटिका, प्रहसन, भाण आदि की रचना तो की परन्तु संस्कृत-रूपकों का अन्धानुकरण नहीं किया। उनके नाटकों में प्राच्य और पाश्चात्य नाटक-शैली का सम्मिश्रण है। बोलचाल की भाषा का प्रयोग नाटकीय कथोपकथन के सर्वथा अनुकूल है। शैली की दृष्टि से श्री निवासदास ने भारतेन्दु का बहुत कुछ अनुगमन किया। भारतेन्दु-मंडल ने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की। काशी, प्रयाग, कानपुर आदि नगरों में नाटक-मंडलियों की स्थापना हुई।

भारतेन्दु और श्रीनिवासदास के उपरांत हिन्दी नाटक-संसार में अंधकार छा गया। भारतेन्दु के पश्चाद्गामी नाटककार नाट्य-शास्त्र से अनभिज्ञ थे। हिन्दी का अपना रंग-मंच था ही नहीं। पारसी नाटक कम्पनियों का आकर्षण दिन दिन बढ़ता जा रहा था। ज्ञान-विज्ञान की तीव्र प्रगति और बहुमुखी आन्दोलनों के कारण लेखकों में कलाकार की तन्मयता भी असम्भव थी। उपदेश, सुधार, प्रचार और तर्क की भावना से अभिभूत लेखक नाटक-रचना के और भी अयोग्य सिद्ध हुए। उन्होंने रंग-मंच पर पाठकों के कथोपकथन

और अंग-विक्षेप में ही नाट्य-कला की इति श्री समझ ली। अशुद्ध और अटपट भाषा की दशा और भी शोचनीय थी। भारतेन्दु की भाषा की त्रुटियाँ तो किसी प्रकार सह्य हैं, परन्तु केशवराम भट्ट की घोर उर्दू या 'प्रेमघन'-रचित 'भारत-सौभाग्य' में उर्दू, मारवाड़ी, भोजपुरी, पंजाबी, मराठी, बंगला आदि की विचित्र और अस्वाभाविक खिचड़ी अत्यन्त बेसवाड़ी हास्यास्पद है। आज के सिनेमाघरों की भाँति तत्कालीन पारसी थिएटरों ने जनता को बरबस अपनी ओर खींच लिया था। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' और 'रुक्मिणी-परिणय' तथा रामकृष्ण वर्मा ने अपने अनुवादों द्वारा नाट्य-कला का पुनरुत्थान करने का प्रयास किया, परन्तु सफलता न मिली। हिन्दी-पाठकों और अभिनय-दर्शकों की रुचि इतनी भ्रष्ट हो चुकी थी कि उसका परिष्कार न हो सका।

हिन्दी-कथा-साहित्य का प्रारम्भिक क्रम १९ वीं शती के प्रथम दशाब्द में इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' 'लल्लू लाल की 'सिंहासन-बत्तीसी', 'बैताल-पचीसी', 'माधवानल-काम-कन्द-कला', 'शकुन्तला' और 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र के नासिकेतो-पाख्यान' से ही चल चुका था। फोर्ट-विलियम कालेज में गिल-क्राइस्ट की अध्यक्षता में प्रारब्ध अनुवाद-कार्य संस्कृत और फ़ारसी के आख्यानों तक ही सीमित रहा। पौराणिक धार्मिक कथाएँ 'शुक-बहत्तरी', 'सारंगासदाबृक्ष', 'किस्सा-तोता-मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार' तथा फ़ारसी-उर्दू से गृहीत' 'चहार-दर्वेश' 'बागोबहार' 'किस्सा हातिमताई' आदि रचनाएँ कहानी-प्रेमियों के हृदय पर अधिक काल तक शासन न कर सकीं। इन रचनाओं में न साहित्यिक सौंदर्य था न जीवन की व्यापकता। कथा-साहित्य के प्रसार और प्रचार में पत्रिकाओं ने भी योग दिया। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में 'मालती', 'हिन्दी-प्रदीप' में 'पढ़े-लिखे बेकार की नक़ल', 'मारसुधा-निधि' में 'तपस्वी', 'भारतेन्दु' में 'अक़लमंद' आदि कथाएं प्रकाशित हुईं।

भारतेन्दु-युग आधुनिक लघु कहानियों की कल्पना न कर सका और न तो उसमें उपन्यास-कला का विकास करने की ही शक्ति थी। 'कलिराज की सभा' 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'राजा भोज का सपना', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'यमलोक की यात्रा' आदि रचनाओं में कहानी और उपन्यास के मूल तत्व अवश्य विद्यमान थे। निबन्धों और नाटकों की लोकप्रियता ने हिन्दी साहित्यकारों को उसी ओर आकृष्ट किया। कथा-साहित्य के अनुकूल वातावरण ने उसकी रचना आगामी युग के लिये स्थगित कर दी।

अन्य भाषाओं के उपन्यासों की सुन्दर कथावस्तु मनोहरसंभाषण, भावनाओं की

मार्मिकता और आकर्षक शैली ने हिन्दी-लेखकों को प्रभावित किया। सर्वप्रथम भारतेन्दु का मराठी से अनूदित 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' प्रकाशित हुआ। तदन्तर बंगला से भारतेन्दु ने 'राजसिंह', राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'पतिप्राणा अबला', 'मरता न क्या करता ?', और 'राधारानी', गदाधर सिंह ने 'दुर्गेशनन्दिनी' और बंग विजेता', किशोरीलाल गोस्वामी ने 'दीप-निर्वाण' और 'विरजा' बालमुकुन्द ने 'मडेलभगिनी', प्रतापनरायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इंदिरा', 'राधारानी', 'युगुलांगुलीय' और 'कपाल-कुंडला', कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला', 'प्रमीला', 'जया', 'कुलटा', 'मधुमालती' और 'दलित कुसुम' तथा अन्य लेखकों ने और भी अनेक अनुवाद किये। अँगरेजी की 'लेम्ब्सटेल्स फ्रांम शेक्सपियर' का काशीनाथ खत्री और 'ओथेलो' का गदाधरसिंह ने अनुवाद किया। अँगरेजी से किए गए अन्य अनुवादों में रामचन्द्र वर्मा के 'अमला-वृतांत-माला', 'संसार-दर्पण', 'ठग-वृत्तांत-माला' और 'पुलिस वृत्तांतमाला' एवं संस्कृत से अनूदित उपन्यासों में गदाधर सिंह का 'कादंबरी और काशीनाथ का 'चतुरसखी' उल्लेखनीय हैं। स्वरूपचन्द जैन ने मराठी और रामचन्द्र वर्मा ने उर्दू उपन्यासों के हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किए।

हिन्दी-साहित्य में उपन्यासों की आँधी भारतेन्दु के उपरान्त आई। देश के राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक आदि आन्दोलनों ने उपन्यास-लेखकों को भी प्रभावित किया। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' (८६) तथा 'सौ अजान और एक सुजान' में, किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी' (८८) 'स्वर्गीय कुसुम' (८६) 'हृदय-हारिणी' (६०), 'लवंगलता' (६०) और 'सुखशर्वरी' (६१), राधाचरण गोस्वामी के 'विधवा विपत्ति' (८८), राधाकृष्ण दास के 'निस्सहाय हिन्दू' (६०), गोपालराम गहमरी के 'नये बाबू' (६४), 'बड़ा भाई' (६८) और 'सास पतोहू' (६८), कार्त्तिकप्रसाद खत्री के 'दीनानाथ' तथा मेहता ज्वालाराम शर्मा के 'स्वतंत्र रमा' और 'परतंत्र-लक्ष्मी' (६६) एवं 'धूर्त रसिकलाल' (६६) आदि उपन्यासों में नीति, शिक्षा, समाज-सुधार, राष्ट्रीयता, रति, पराक्रम आदि के विविध चित्र अंकित किए गए। 'त्रिवेणी' में सनातन धर्म की श्रेष्ठता और अन्य धर्मावलंबियों के धार्मिक, साहित्यक एवं सांस्कृतिक आक्रमणों से आत्मरक्षा करने का आदेश, 'स्वर्गीय-कुसुम' में देवदासी प्रथा की निन्दा, 'लवंगलता' और 'कुसुम कुमारी' में वीरांगनाओं की वीरता, 'निस्सहाय-हिन्दू' में मुसलमानों के धार्मिक अत्याचार, हिन्दुओं की दुर्दशा और अँगरेजी शासन के गुण-गान तथा गहमरी के उपन्यासों में भारतीय जीवन और उस पर पड़ते हुए विदेशी संस्कृति के कुप्रभावों का निर्दशन है।

भारतीय जीवन की शुद्ध और सरल भूमिका में रचित इन उपन्यासों में आदर्श

नैतिकता, धार्मिकता, सुधार, उपदेश आदि लोक-कल्याण-कारण बहुत कुछ हैं; परन्तु उपन्यास-कला का अभाव है। घटनाओं के संग्रह और त्याग, कथा की वस्तुयोजना, पात्रों का चरित्र-चित्रण कथोपकथन और संख्या, भावनाओं के विश्लेषण, भाषा के प्रयोग और शैली, रस-परिपाक आदि में कहीं भी सौंदर्य नहीं है। 'निस्सहाय हिन्दू' जैसे उपन्यासों में ढीले ढाले कथानक के बीच पात्रों का अतिशय बाहुल्य अथवा 'सौ अजान और एक सुजान' में नाटकों का सा स्वागत एवं प्रकट भाषण, पत्रानुसार विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग, 'कादंबरी' की सी आलंकारिक शैली आदि बातें आज उपन्यास-कला की दृष्टि से हेय समझी जाती हैं। रति की एकांगी परिधि के अन्तर्गत घिरे हुए प्रेम-प्रधान उपन्यासों की सजीवता, उनमें व्यापक जीवन की समस्याओं का निरूपण न होने के कारण नष्ट सी हो गयी है।

किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनन्दन खत्री ने तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का जो बीज बोया उसे अंकुरित और पल्लवित होते देर न लगी। 'स्वर्गीय कुसुम', 'लवंगलता', 'प्रणयिनी-परिणय', 'कटे मूंड़ की दो बातें', 'चतुरसखी', 'सच्चा सपना', 'कमलिनी', 'दृष्टांत-प्रदीपिनी', 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकान्ता–संतति', 'नरेन्द्र-मोहिनी', 'कुसुम-कुमारी', 'वीरेन्द्र-वीर', सुन्दर-सरोजिनी', 'वसन्त-मालती', 'भयानक भेदिया', 'प्रवीण पथिक', 'प्रमीला' आदि रचनाओं ने एक जाल सा बुन दिया। कहीं घोड़ी को सरपट दौड़ाने वाले अवगुँठित अश्वारोही, कहीं तांत्रिक देवी और जादू के चमत्कार, कहीं नायक नायिकाओं के अद्भुत शौर्य और प्रेम का सम्मिश्रण, कहीं प्रेमियों के विचित्र षडयन्त्र और कहीं जासूसों के भयानक हथकंडे पाठकों के मन को अभिभूत कर देते हैं।

जीवन से दूर, कल्पना की उपज और घटना-वैचित्र्य-प्रधान इन उपन्यासों में मानव-सहज भावों और चरित्रों का चित्रण नहीं है। लेखक के कथन की धकधकाहट के बीच यत्र-तत्र प्रेमालाप और षड़यन्त्र-रचना में प्रयुक्त पात्रों के कथोपकथन अस्वाभाविक और प्राणहीन हैं। पात्रों के चरित्र का विश्लेषण या उनके मानसिक पक्ष की समीक्षा नहीं है। ये शून्य-स्थित उपन्यास वैज्ञानिक-युग के साहित्यिकों की तुष्टि न कर सके। १८९८ ई० में किशोरीलाल गोस्वामी ने 'उपन्यास' पत्र निकाल कर उपन्यासों की दीनावस्था को सुधारने का उद्योग किया परन्तु उनके भगीरथ-प्रयत्न करने पर भी गंगा धरती पर न आई।

हिन्दी-साहित्यकारों ने बहुत समय तक आलोचना की ओर ध्यान नहीं दिया। रचनात्मक साहित्य की कमी और पद्य के अनुपयुक्त माध्यम के कारण समालोचना को तनिक भी

प्रोत्साहन नहीं मिला। हिन्दी साहित्य केवल कवितामय था। केशव और उनके अनुवर्ती कवियों ने संस्कृत काव्यालोचन के आधार पर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। कवियों और उनकी कृतियों की आलोचना के नाम पर लोक-प्रचलित कतिपय सूक्तियों की ही सृष्टि हुई—

> सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशव दास।
> कलि के कवि खद्योत सम जँह तँह करहिं प्रकास॥
> सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
> देखत में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर॥

पुस्तकालय ... 76 ... 281 ... जयपुर

'भक्तमाल' ने एक प्रकार से परिचयात्मक समालोचना का सूत्रपात किया थी। १९ वीं शताब्दी में देश विभिन्न हलचलों और पत्र-पत्रिकाओं के विस्तार आदि के कारण लिखित खण्डन-मण्डन का विशेष प्रचार हुआ। वह धार्मिक-ग्रंथों से चलकर पत्र-पत्रिकाओं और साहित्यक लेखकों तथा रचनाओं तक आई। १८३९ ई० में गार्सां द तासी ने 'हिन्दी और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' और १८८३ ई० में शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह-सरोज' में हिन्दी के पुराने कवियों का इतिवृत्त-संग्रह लिखा। भारतेन्दु-युग के लेखों में आलोचना का आरंम्भिक रूप अवश्य दिखाई पड़ता है परंतु उनमें वास्तविक आलोचना का कोई तत्व नहीं है। ग्रंथकारों के गुण-दोष-दर्शन में भी विवेचना का सर्वथा अभाव है।

हिंदी साहित्य में आलोचना का वास्तविक आरम्भ बालकृष्ण भट्ट और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने किया। १८८५ ई० में गदाधर सिंह ने 'आनन्द कादंबिनी' में 'बंग-विजेता' के अनुवाद की आलोचना लिखी। १८८६ ई० में बालकृष्ण भट्ट ने श्री निवास दास के 'संयोगिता-स्वयंवर नाटक की सच्ची समालोचना' प्रकाशित की। उसी वर्ष प्रेमघन ने अपने पत्र 'आनंद-कादंबिनी' में इक्कीस पृष्ठों में उसकी विस्तृत समालोचना की। सन् १८८९ ई० में डा० ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिंदुस्तान' प्रकाशित हुआ। १८९३ ई० में नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना हुई और उसी वर्ष 'नागरी दास का जीवन-चरित' लेख का पाठ हुआ। १८९६ ई० में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना' नामक पुस्तिका लिखी।

१८९७ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। उसी वर्ष उसमें जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का पद्यात्मक 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास का 'गद्य-मीमांसा' लेख प्रकाशित हुए। आधुनिक समालोचना की विशेषताएँ न होते हुए भी इनमें

अध्ययन और गवेषणा की गम्भीरता है। कवियों और लेखकों के मार्ग-प्रदर्शन और गुण-दोष दर्शन की दृष्टि से इन आलोचनों का प्राग्द्विवेदी युग में विशेष महत्व है। हिन्दी-आलोचना के प्रारम्भिक युग में पत्र-सम्पादकों ने उल्लेखनीय कार्य किया। उस काल की बहुत कुछ आलोचनात्मक सामग्री 'हिन्दी-प्रदीप', 'आनन्द-कादम्बिनी' और 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में बिखरी पड़ी हैं। बालकृष्ण भट्ट ने समय समय पर अपने 'हिन्दी-प्रदीप' में संस्कृत साहित्य और कवियों की परिचयात्मक आलोचना प्रकाशित की, आलोच्य पुस्तकों का विस्तृत गुण दोष विवेचन किया। तत्कालीन आलोचनाओं में अनावश्यक विस्तार और ढीलापन है।

'समालोचना'' पुस्तक से विदित है कि आरम्भिक आलोचकों ने कुछ ठीक ठिकाने का कार्य किया पर आगे चलकर आलोचना खिलवाड़ या व्यवसाय के साधन की वस्तु समझी जाने लगी। आलोचक लेखकों के राग या द्वेषवश गुणमूलक या दोषमूलक आलोचना करने लगे। परस्पर प्रशंसा या निन्दा के लिए दलबन्दी होने लगी। पुस्तक के स्थान पर लेखक ही आलोचना का लक्ष्य बन गया। आलोचनाओं का उद्देश्य होने लगा ग्रन्थकर्ताओं का उपहास, आलोचक का विनोद अथवा सस्ता नाम कमाने के लिए विद्वत्ता-प्रदर्शन। कभी कभी तो समालोचक महाशय पुस्तक कागद और छापे की प्रशंसा करके मूल्य पर अपनी सम्मति मात्र दे देते थे। रचना के गुण-दोषों की विवेचना के विषय में या तो मौन धारण कर लेते थे या अत्यन्त प्रकट विषयों पर दो चार प्रशंसा के शब्द कह कर सन्तोष कर लेते थे। वास्तव में उन्हें समालोचना के निश्चित अर्थ, उद्देश्य और आदर्श का ज्ञान ही नहीं था।

१८५७ ई० के पहले देशी भाषा के पत्रों पर कोई सरकारी प्रतिबन्ध नहीं था। तथापि 'उदन्त-मार्तंड' (१८२६ से २८ ई०), 'बनारस अखबार' (१८४५ ई०), 'सुधाकर' (१८५० ई०), 'साम्यदन्त मार्तण्ड' (१८५०-५१ ई०), 'समाचार सुधावर्षण' (१८५४ ई०) आदि कुछ ही पत्रों का उल्लेख मिलता है। "बनारस-अखबार" की भाषा मुख्यतः उर्दू थी। कहीं कहीं हिन्दी शब्दों का प्रयोग था। उसकी भाषा-नीति के प्रतिकार रूप में ही 'सुधाकर' का प्रकाशन हुआ। सर्व प्रथम हिन्दी दैनिक-पत्र "समाचार-सुधा-वर्षण" में मुख्य मुख्य विषय तो हिन्दी में थे परन्तु व्यापार-समाचार बंगला में।

कैनिंग द्वारा पत्रकारों की स्वाधीनता छिन जाने पर भी भारतेन्दु आदि ने पत्र-पत्रिकाओं का समुचित निर्वाह किया। सन् १८६८ ई० में उन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' निकाली[1]। उसमें

---

१ उसके मुख पृष्ठ पर मुद्रित सिद्धान्त वाक्य था:—

साहित्य, समाचार, हास्य, यात्रा, ज्ञान-विज्ञान आदि अनेक विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। सम्पादन-कला के उस प्रारम्भिक युग में भारतेन्दु की सम्पादकीय टिप्पणियों और वस्तु-योजना की मौलिकता एवं कुशलता सर्वथा श्लाघ्य है। अपनी लोकप्रियता के कारण वह पत्रिका मासिक से पाक्षिक और फिर साप्ताहिक हो गई। आरम्भ में उसमें प्राचीन और नवीन कविताएँ छपती थीं परन्तु कालान्तर में उसका रूप राजनैतिक हो गया। १८८० ई० में 'कवि-वचन-सुधा' में 'मर्सिया' नामक पंच छपा। झूठे निन्दकों की बात में आकर सर विलियम मुइर ने उसे अपना अपमान समझा और पत्रिका की सरकारी सहायता बन्द कर दी। क्रमशः उसका पतन होता गया और १८८५ ई० में पं० चिन्तामणि के हाथों उसकी अन्त्येष्टि क्रिया हुई।

१८७२ ई० में 'हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश' और 'बिहार-बन्धु' प्रकाशित हुए। १८७३ ई० में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र-मेगज़ीन' निकाली[1]। वह पत्रिका भी मासिक से पाक्षिक और फिर साप्ताहिक हुई। उसमें भाषा-सम्बन्धी आन्दोलन की विशेष चर्चा रहती थी। हिन्दी और अँगरेज़ी दोनों भाषाओं में लेख छपते थे। अधिकांश कविताएँ व्रजभाषा की होती थीं और संस्कृत-रचनाओं को भी स्थान मिलता था। हिन्दी-गद्य का परिष्कृत रूप पहले पहल उसी पत्रिका में प्रकट हुआ। नवें अंक से, १८७४ ई० में, उसने 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' नाम धारण किया। एजूकेशन डाइरेक्टर कैम्पसन ने उसमें प्रकाशित 'कवि-हृदय-सुधाकर' शीर्षक उप-देशात्मक और उपयोगी यती-वेश्या-संवाद को अश्लील कहकर सरकारी सहायता बन्द करदी। ठीक समय पर प्रकाशित न होने के कारण उसकी अत्यन्त दुर्दशा हुई। १८८० ई० में 'मोहन-चन्द्रिका' के साथ मिला दी गई। १८८१ ई० में 'विद्यार्थी' भी इसी में सम्मिलित हो गया। उसी वर्ष उनके अनुज ने उसका पुनः प्रकाशन आरम्भ किया परन्तु शीघ्र ही मोहन-लाल पंड्या की कानूनी कार्यवाही के कारण वह समाप्त हो गई। १८७४ ई० में भारतेन्दु ने तीसरी पत्रिका 'बालबोधिनी' निकाली थी। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के साथ ही उसकी सहायता

खल जनन सों सज्जन दुखी मत होंहि हरि पद मति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै कर दुख कहै।
बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होइ जग आनन्द लहै।
तजि ग्राम कविता सुकबि जन की अमृत बानी सब कहै।

१ उसके मुख पृष्ठ पर ही अँगरेजी में उसकी रूप रेखा अंकित की गई----

"A monthly journal published in connection with the Kavivachan sudha containing articles on literary, scientific, political and Religious subjects, antiquities, reviews, dramas, history, novels poetical selections, gossip, humour and wit."

भी बन्द हो गई। तदनन्तर पत्रिका का भी अन्त हो गया।

भारतेन्दु के पत्रिका-प्रकाशन-सम्बन्धी सदुद्योग से उन विषम परिस्थितियों में भी लेखकों का एक अच्छा संघ स्थापित हो गया। उनकी दृढ़ता और स्वाभिमान ने हिन्दी-लेखकों के हृदय में हिन्दी के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। जन साधारण भी हिन्दी-सेवा की ओर ध्यान देने लगे। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। खेद है कि संपादकों ने अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व से अनभिज्ञ होने के कारण जनता की रुचि की अवहेलना करके अपनी ही रुचि को प्रधानता दी और अपने ही सिद्धांतों को पाठकों पर बलात् लादने का प्रयास किया। भारतेन्दु इस त्रुटि को पहिचानते थे। उन्होंने अपनी पत्रिकाओं में राजनैतिक सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि विविध-विषयक रचनाओं को स्थान दिया।

'प्रेमविलासिनी', 'सदादर्श' (१८७४ ई०), 'काशी पत्रिका' (१८७६ ई०), 'भारत-बन्धु' (१८७६ ई०). 'मित्रविलास' (१८७ ई०). 'आर्यदर्पण' (१८७७ ई०), आदि पत्रों ने न्यूनाधिक प्रचार के अतिरिक्त कोई उल्लेख्य कार्य नहीं किया। 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७ ई०) ने अपने विविध विषयक लेखों-द्वारा हिन्दीगद्य के उत्थान में विशेष योग दिया। 'भारत मित्र' (१८७७ ई०), राजनीति-प्रधान पत्र होकर निकला और अपनी जनप्रियता के कारण पाक्षिक से साप्ताहिक हो गया। १८७७ ई० में तत्कालीन जनसाहित्य का प्रतीक 'सार सुधानिधि' प्रकाशित हुआ। वातावरण के अनुकूल भावपूर्ण कविताओं, राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक आदि विषयों के लेखों, पुस्तकालोचन, नाटक, उपन्यासादि के प्रकाशन तथा रोचक और विचारपूर्ण सम्पादकीय टिप्पणियों ने उसके गौरव को बढ़ा दिया।

वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट द्वारा १८७८ ई० में लार्ड लिटन ने पत्रों की रही-सही स्वाधीनता का अपहरण करके उन्हें विवशता के बन्धन में बाँध दिया। फलस्वरूप चार वर्षों तक पत्र जगत् में कुछ विशेष उन्नति न हो सकी। 'उचितवक्ता' (१८७८ ई०), 'भारतसुदशाप्रवर्तक', (१८७८ ई०), 'सज्जनकीर्तिसुधाकर' (१८७९ ई०). 'क्षत्रियपत्रिका' (१८८१ ई०), 'देशहितैषी' (१८८२ ई०) आदि टिमटिमाते हुए मन्द प्रदीप की भाँति प्रकाश में आए। स्वदेशी प्रचार के आन्दोलन एवं सभासमितियों और व्याख्यानों के कोलाहल में 'आनन्द कादम्बिनी' कविता प्रधान पत्रिका के रूप में आई।[1]

---

१ उसके एक अंक की विषय सूची इस प्रकार है—

सम्पादकीय-सम्मति समीर (सार)

साहित्य सौदामिनी

लार्ड रिपन ने (१८८०–८४ ई०) लार्ड लिटन के अन्याय को दूर किया। १८८३ ई० में 'दिनकर प्रकाश', 'ब्राह्मण', 'शुभचिन्तक', 'सदाचार मार्तण्ड', 'हिन्दोस्थान', 'धर्म दिवाकर', 'प्रयाग समाचार', 'कविकुल कंज दिवाकर', 'पीयूष प्रवाह', 'भारत जीवन', 'भारतेन्दु' आदि अनेक पत्रिकाओं का जन्म हुआ। 'ब्राह्मण' की विशेषता थी उसका फक्कड़पन, व्यंग्य और हास्य। 'भारतेन्दु' की सामग्री विविधविषयक और रोचक थी। उसका प्रतिज्ञा-वाक्य था—'कार्य वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्'।

भारतेन्दु के उपरान्त 'भारतोदय' (१८८५ ई०), 'धर्म प्रचारक' (१८८५ ई०), 'आर्य सिद्धान्त' (१८८६ ई०), 'अग्रवालोपकारक' (१८८६ ई०), 'कृषिकारक' (१८६० ई०), 'हिन्दीपंच', 'उपन्यास' (१८६८ ई०) आदि प्रकाशित हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उपर्युक्त पत्रों के अतिरिक्त 'हिन्दी-बंगवासी', 'सुदर्शन', 'हितवार्ता', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'छत्तीसगढ़मित्र', 'कान्यकुब्जप्रकाश', 'रसिकपंच', 'काव्यामृतवर्षिणी', 'भारतभानु', 'बुद्धिप्रकाश', 'सुगृहिणी', 'भारतभगिनी', 'साहित्यसुधानिधि' आदि ने उत्तर भारत में पत्रों का एक जाल-सा विछा दिया।

भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी, किशोरी लाल गोस्वामी आदि अधिकांश हिन्दीलेखक सम्पादक थे। हिन्दी-प्रचारकों, राजनीतिज्ञों, समाज सुधारकों, कट्टरपंथियों आदि ने अपने अपने मतों के प्रतिपादन और प्रचार के लिए ही पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया। 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दीपंच' आदि राजनैतिक; 'मित्रविलास', 'आर्यदर्पण', 'भारतसुदशाप्रवर्तक', 'धर्मदिवाकर', 'धर्मप्रचारक', 'आर्यसिद्धान्त' आदि धार्मिक; 'अग्रवालोपकारक', 'क्षत्रियपत्रिका', आदि सामाजिक और 'कविवचनसुधा', 'हिन्दी प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'आनन्दकादम्बिनी' आदि साहित्यिक पत्र थे। असाहित्यिक पत्रों में भी साहित्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता था। भूगोल, विज्ञान आदि विशिष्ट विषयों की पत्रिकाओं का अभाव था।

सभी पत्रिकाओं की दशा शोचनीय थी। आर्थिक कठिनाइयों के कारण अधिकांश पत्रों

प्रेरितकलापि कलरव
काव्यामृत वर्षा
हास्यहरितांकुर (सार)
प्राप्ति स्वीकार वा समालोचना सीकर (सार)
अनुवादाम्बुप्रवाह
वृत्तान्तबलाकावली (सार)

'आनन्दकादम्बिनी'
मिर्ज़ापुर. चैत्र, सं० १६६१।

की इतिश्री हो जाती थी। "ब्राह्मण" का मूल्य केवल दो आना था तथापि ग्राहकों से चन्दा माँगते माँगते थककर ही प्रताप नारायण मिश्र को लिखना पड़ा था—

आठ मास बीते जजमान, अब तो करो दच्छिना दान।

जनसाधारण में पत्रपत्रिकाओं के पढ़ने की रुचि नहीं थी। श्रीसम्पन्न जन भी इस ओर से उदासीन थे। सरकार की तलवार भी तनी रहती थी। सम्पादकों के लाख प्रयत्न करने पर भी ग्राहकसंख्या न सुधरती थी। कार्तिक प्रसाद खत्री तो लोगों के घर जाकर पत्र पढ़कर सुना तक आते थे। इतने पर भी उनका पत्र कुछ ही दिन बाद बन्द हो गया। मूल्य अत्यन्त कम और प्रचार का उद्योग अत्यधिक होते हुए भी पत्रों की तीन सौ प्रतियाँ बिकना कठिन हो जाता था। अधिकांश पत्रिकाओं के लिए चार पाँच वर्ष तक की जीवनावधि बहुत बड़ी बात थी।

१६वीं शती के हिन्दी-पत्रों का आकार बहुत सीमित था। 'ब्राह्मण' के पहले अंक[1] में केवल १२ पृष्ठ थे। उसकी लेखसूची इस प्रकार थी—

प्रस्तावना
प्रेरित पत्र—काशीनाथ खत्री
होली—प्रताप नारायण मिश्र
स्थानीय समाचार
विज्ञापन

'हिन्दी प्रदीप' का आकार अपेक्षाकृत बड़ा था। उसके सितम्बर, १८७८ ई० के द्वितीय वर्ष के प्रथम अंक की विषय सूची निम्नांकित है—

	मुख पृष्ठ
एक बधाई का मलार	
प्रेस ऐक्ट के विरोध में हम चुप न रहें	२
पुराने और नए अवध के हाकिम	३
पश्चिमोत्तर के विद्याविभाग में अन्धा-धुन्ध	५
मलार	६
बंगाल और यहाँ के सुशिक्षित	
मच मत बोलो	८
पेट फूलने और अफरने की बीमारी	८
हम लोगों के दान का क्रम	१२
सभ्यता का एक नमूना	१३

[1] मार्च, १८८३ ई०।

'हिन्दी प्रदीप' को छोड़ कर अधिकतर पत्र 'ब्राह्मण' जैसे ही थे जिनकी इयत्ता और इयत्ता अतिनिम्न कोटि की थी। पत्रिका की लेख-पूर्ति बहुधा सम्पादक द्वारा ही अपने या अन्य नामों से हुआ करती थी। सामान्य लेखक भी विभिन्न नामों से लेख लिखते थे। प्रचार-प्रधान भावना के कारण लेखों में सार न था। विविध विषयों और लोकप्रवृत्ति की ओर ध्यान देने वाले 'ब्राह्मण' और 'हिन्दी प्रदीप' में भी इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, जीवनचरित आदि पर सुन्दर रचनाओं के दर्शन नहीं हुए।

इन पत्रों की भाषा की तो और भी दुर्दशा थी। एक ही पत्र अलग अलग भाषाओं में कई कालमों में छपता था, उदाहरणार्थ 'धर्म प्रचारक' हिन्दी और बंगला में तथा 'भारतोपदेशक' हिन्दी और संस्कृत में। 'समाचार सुधावर्षण' हिन्दी और बँगला में तथा 'कृषिकारक' हिन्दी और मराठी में अलग अलग प्रकाशित होते थे। उनके भाषा प्रयोग मनमाने होते थे। व्याकरण की शुद्धि की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता था। 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का नाम और मुख पृष्ठ पर उसका विवरण तक अँगरेजी में थे। 'ब्राह्मण' में स्थान स्थान पर कोष्ठक में (education national vigour and strength, character) आदि अँगरेजी शब्दों का प्रयोग मिलता है। फ़ारसी–अरबी के फ़िकरों के साथ ही साथ 'यावत् मिथ्या' और 'दरोग़ की क़िबलेगाह' जैसे विचित्र प्रयोगों का भी दर्शन होता है। 'आनन्द-कादम्बिनी' सम्पादक प्रेमघन अपने ही उमड़ते हुए विचारों और भावों को व्यक्त करने के लिए समाचार तक अलंकृत भाषा में छापते थे।[2] 'नागरीनीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' के शीर्षक तक सानुप्रास रूपक के रूप में होते थे, यथा-सम्पादकीय सम्मतिसमीर, हास्य–

---

१. किसी नाटक का जिसका नाम नहीं दिया।

२, उनके सम्पादकीय सम्मतिसमीर का एक झोंका इस प्रकार है—

"आनन्दकन्दनन्दनन्दन और श्री वृषभानुनन्दिनी की कृपा से आनन्दकादम्बिनी के द्वितीय प्रादुर्भाव का प्रथम वर्ष किसी प्रकार समाप्त हो गया और आज द्वितीय वर्ष के आरम्भ के शुभ अवसर पर हम उस जुगुल जोड़ी के चरणकमलों में अनेकानेक प्रणाम कर पुनः आगामि वर्ष को सकुशल पूर्ण साफल्य प्राप्ति पूर्वक परिसमाप्ति की प्रार्थना करने में प्रवृत्त हुए हैं।"

—'आनन्दकादम्बिनी'
मिर्जापुर, चैत्र सं० १९३३।

हरितांकुर', 'विज्ञापन-वीर-बहूटियाँ' आदि। उपर्युक्त पत्रिकाओं के आकार-प्रकार में सर्वत्र कमी थी। रचनाओं में गम्भीरता या ठोसपन न था। वस्तुयोजना और सम्पादकीय टिप्पणियाँ सुषमा और सुन्दरता से शून्य थीं। इनमें मनोरंजन का साधन तो था परन्तु ज्ञानवर्धन की सामग्री बहुत कम थी।

१८९७ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' ने हिन्दी-संसार में एक स्वर्णयुग का आरम्भ किया। उसने साहित्य, समालोचना, इतिहास आदि पर गम्भीर, गवेषणात्मक और पांडित्य-पूर्ण लेख प्रकाशित हुए तथापि हिन्दी में ऐसी पत्रिकाओं का अभाव बना रहा जिनमें साहित्य, इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, विज्ञान आदि विषयों पर उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक लेख तथा कविता, कहानी, आलोचना, विनोद आदि सब कुछ हो और जो हिन्दी के अभावों की सांगो-पांग यथायथ पूर्ति के साथ ही साथ पाठकों और लेखकों को समानरूप से लाभान्वित कर सकें। ऐसे योग्य सम्पादकों की आवश्यकता बनी रही जो निःस्वार्थ भाव से अपनी समस्त साधना द्वारा उपर्युक्त उद्देश्य को सिद्ध करके विपन्न हिन्दी को सम्पन्न बना सकें।

इसी उद्देश्य-पूर्ति की प्रतिज्ञा लेकर सरस्वती (१९०० ई०) नई सज-धज से हिन्दी-जगत में आई, परन्तु प्रथम तीन वर्षों तक अपना कर्तव्यपालन न कर सकी।

काव्य और तत्सम्बन्धी विषयोंके अतिरिक्त इतिहास, विज्ञान, समाजनीति, धर्म, राजनीति पुरातत्व आदि को भारतेन्दुयुग के साहित्यकारों ने साहित्य की सीमा से बाहर की वस्तु मान कर उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। भारतेन्दु ने 'काश्मीर कुसुम',[1] 'बादशाह दर्पण' लिख कर इतिहास की ओर और 'जयदेव की जीवनी' लिखकर जीवन चरित की ओर हिन्दीलेखकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा था। काशीनाथ खत्री ने 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के चरित्र', 'यूरोपियन धर्मशीला स्त्रियों के चरित्र', 'मातृ-भाषा की उन्नति किस विधि करना योग्य है', आदि अनेक पुस्तिकाएँ तथा लेख लिखे। वास्तव में द्विवेदी जी के पूर्व का विविध-विषयक साहित्य पत्रपत्रिकाओं में लेखों के रूप में ही प्रस्तुत किया गया। राजनीति, समाज, देश, ऋतुछटा, जीवन-चरित, इतिहास, भूगोल, जगत् और जीवन से सम्बन्ध रखने वाले 'आत्मनिर्भरता', 'कल्पना' आदि विषय, नागरी हिन्दी प्रचार, हास्यविनोद आदि पर बहु-विषयक रचनाएँ इन्हीं पत्रिकाओं में ही समय समय पर प्रकाशित हुई। एकाध अपवादों को छोड़कर वे उन्हीं के साथ विलीन भी होती जा रही हैं। इन रचनाओं में ठोसपन और सार, अतएव स्थायित्व नहीं है। इनकी महत्ता बीसवीं शती के विविधविषयक हिन्दी-साहित्य की भूमिकारूप में ही है।

---

१. 'राजतरंगिणी' का कुछ अंश।

संसार के इतिहास में उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पश्चिम में कार्लमार्क्स, डारविन, टाल्स्टाय आदि, भारत में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि महान् वैज्ञानिक, समाज सुधारक और साहित्यिक इसी युग में हुए। यह युग वैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी प्रकार के आन्दोलनों का था। चारों ओर सभा समाजों और व्याख्यानों की धूम मची हुई थी। असाहित्यिक आन्दोलनों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। हिन्दी साहित्य भी सभासमाजों की स्थापना में अपेक्षाकृत पीछे नहीं रहा। भारतेन्दु ने १८७० ई० में 'कविता-वर्धिनीसभा' और १८७३ ई० में 'तदीय समाज' की स्थापना की। तत्पश्चात् 'कविकुल-कौमुदी-सभा'[१], 'हिन्दीउद्धारिणी-प्रतिनिधिमध्य-सभा'[२], 'विज्ञान प्रचारिणी-सभा'[३], 'तुलसी स्मारक-सभा'[४], 'मित्र समाज'[५], 'भाषा संवर्धिनी-सभा'[६], 'कवि समाज'[७], 'मातृ-भाषा प्रचारिणी-सभा'[८], 'नागरी प्रचारिणी-सभा'[९] आदि की स्थापना हुई।

भारतेन्दु के समय में ही हिन्दीप्रचार का उद्योग हो रहा था। कवियों ने भी भाषा और साहित्य की समस्याओं पर कविताएँ लिखीं। उन्होंने हिन्दी का अहित करने वाली उर्दू और अँगरेजी का विरोध किया। १८७४ ई० में भारतेन्दु ने 'उर्दू का स्यापा' कविता लिखी—

भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइए।

१८७७ ई० में उन्होंने हिन्दीवर्धिनी-सभा (प्रयाग) के तत्वावधान में 'पद्य में हिन्दी की उन्नति' पर व्याख्यान दिया। तदुपरान्त प्रतापनारायण मिश्र ने 'तृप्यन्ताम्' (१८९१ ई०) राधाकृष्णदास ने 'मैकडानेल पुष्पांजलि' (९७ ई०) बालमुकुन्द गुप्त ने 'उर्दू का उत्तर' (१९०० ई०) मिश्रबन्धु ने 'हिन्दी अपील' (१९०० ई०) आदि कविताएँ लिखीं। पं० रविदत्त शुक्ल ने 'देवाक्षर चरित्र-प्रहसन' लिखा जिसमें उर्दू की गड़बड़ी के विनोदपूर्ण दृश्य अंकित किए गए। नागरी-प्रचारिणी-सभा के संस्थापक श्यामसुन्दरदास, रामनारायण

---

१. राधाचरण गोस्वामी द्वारा सं० १९३२ में स्थापित।
२. प्रयाग में १८८४ ई० में स्थापित।
३. सुधाकर द्विवेदी द्वारा काशी में स्थापित।
४. सुधाकर द्विवेदी द्वारा स्थापित।
५. कार्तिक प्रसाद खत्री द्वारा शिलांग में स्थापित।
६. अलीगढ़, स्थापक तोताराम।
७. पटना
८. रांची
९. काशी, १८९७ ई०।

मिश्र और शिवकुमारसिंह तथा पं० गौरीदत्त, लक्ष्मीशंकर मिश्र, रामदीनसिंह, रामकृष्ण वर्मा गदाधरसिंह आदि ने नागरीप्रचार की धूम बाँधी। सं० १९५५ में राजा प्रतापनारायण सिंह, राजा रामप्रतापसिंह, राजा बलवन्त सिंह, डा० सुन्दरलाल और पं० मदनमोहन मालवीय का प्रभावशाली प्रतिनिधिमंडल लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल अर्पित किया। मालवीय जी ने 'अदालती लिपि' और 'प्राइमरी शिक्षा' नामक अँगरेजी पुस्तक में नागरी को दूर रखने के दुष्परिणामों की बड़ी ही विस्तृत और अनुसन्धान पूर्ण मीमांसा की। सं० १९५६ में नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्राचीन ग्रन्थों की खोज और कवियों के वृत्तों के प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। सं० १९५७ में कचहरियों में नागरीप्रचार की घोषणा हो गई, परन्तु बहुत दिनों तक कार्य का रूप न धारण कर सकी। हिन्दीप्रचार का इतना उद्योग होने पर भी लोगों में मातृ-भाषा का का प्रेम न उमड़ सका। पढ़े लिखे लोग बोल-चाल, चिट्ठी-पत्री आदि में भी उर्दू या अँगरेजी का प्रयोग करते थे। हिन्दी गँवारू भाषा समझी जाती थी। सरकारी कार्यालयों में भी उसके लिये स्थान न था। घर में और बाहर सर्वत्र ही वह तिरस्कृत थी।[1]

अपरिपक्व हिन्दीगद्य की दशा शोचनीय थी। १८३७ ई० में सरकारी कार्यालयों की भाषा फारसी के स्थान पर अप्रत्यक्ष रूप से उर्दू हो गई। जीविका के लिए लोग देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा का विस्मरण करके अरबी लिपि और उर्दू भाषा सीखते थे। भारतेन्दु के पूर्व एक प्रभावशाली अनुसरणीय नेता के अभाव में हिन्दी के किसी सर्वसम्मत रूप की प्रतिष्ठा न हो सकी। वह हिन्दी का संकटकाल था। उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेजी और प्रारम्भिक का उर्दू था। अपने घर में भी हिन्दीकी पूछ न थी। सभ्य कहलाने के लिये उर्दू या अँगरेजी जानना अनिवार्य था केवल हिन्दी जानने वाले गँवार समझे जाते थे। सर सैयद जैसे प्रभविष्णु व्यक्ति उर्दू के समर्थक थे। राजा शिवप्रसाद के सतत उद्योग से हिन्दी प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम हुई। समस्या थी पुस्तकों की। सदासुखलाल के 'सुखसागर' की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊ, इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी'

१, "उस समय हिन्दी हर तरफ दीन हीन थी। उसके पास न अपना कोई इतिहास था, न कोष, न व्याकरण। साहित्य का खजाना खाली पड़ा हुआ था। बाहर की कौन कहे खास अपने घर में भी उसकी पूछ और आदर न था। कचहरियों में वह अछूत थी। कालेज में घुसने न पाती थी, स्कूलों में भी एक कोने में दबकी रहती थी। हिन्दू विद्यार्थी भी उससे दूर रहते थे। अँगरेजी और उर्दू में शुद्ध लिखने बोलने में असमर्थ हिन्दी भाषी भी उसे अपनाने में अपनी छुटाई समझते थे। सभा समाजों में भी प्रायः उसका बहिष्कार ही था।" 'आज' ६ नवम्बर, १९२५ ई०।

की हिन्दी लखनवी और लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' की ब्रजमिश्रित थी। सदल मिश्र की भाषा में पूर्वीपन और पुराना पन था। ईसाई धर्म प्रचारकों की रचनाएँ साहित्यिक सौन्दर्य से हीन थीं। उनका टूटाफूटा गद्य ग्राम्यप्रयोगों, गलत मुहावरों, व्याकरण की अशुद्धियों; निरर्थक शब्दों, शिथिल और असम्बद्ध वाक्यविन्यास से भरा हुआ था। राजा शिवप्रसाद ने इस अभावपूर्ति के लिए स्वयं और मित्रों द्वारा पाठ्य पुस्तकें लिखी लिखाईं। 'मानव धर्म सार' भूगोल हस्तामलक, आदि कुछ रचनाओं को छोड़कर उन्होंने देवनागरी लिपि में उर्दू का ही प्रयोग किया। हिन्दी का 'गवाँरपन' दूर करने तथा उसको 'फैशनेबुल' बनाने के लिए अरबी फारसी के शब्द भरे। अपने अफसरों के प्रसन्न करने से लिये हिन्दी का गला घोंटा। भाषा के इस विदेशी रूप को ग्रहण करने के लिए समाज तैयार न था। मु० देवीप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री ने सच्ची हिन्दुस्तानी लिखी। भाषा का यह रूप भी साहित्यिकों को न रुचा। प्रतिक्रिया के रूप में राजा लक्ष्मणसिंह विशुद्ध हिन्दी को लेकर आगे बढ़े। उनकी संस्कृतगर्भित भाषा भी कृत्रिम और त्रुटिपूर्ण थी।

भाषा की इस भूमिका में भारतेन्दु ने पदार्पण किया। जनता सरल, सुन्दर और सहज भाषा चाहती थी। गद्य में व्यापक प्रयोग न होने के कारण व्रजभाषा में गद्योपयुक्त शक्ति, सामग्री और साहित्य का अभाव था। खड़ी बोली व्यवहार और ग्रन्थों में प्रयुक्त हो चुकी थी। परन्तु उसका स्वरूप अनिश्चित था। भारतेन्दु ने चलते शब्दों या छोटे छोटे वाक्यों के प्रयोग द्वारा बोल चाल और संवाद के अनुरूप सरल एवं प्रवाहपूर्ण गद्य का बहुत ही शिष्ट और साधु रूप प्रस्तुत किया। भाषा के लिए उन्हें बड़ा ही घोर संग्राम करना पड़ा। १८८२ ई० में 'हंटर कमीशन' के सामने हिन्दीभाषी जनता द्वारा अनेक मेमोरियल अर्पित किए गए। सरकारी अफसरों के सीखने की भाषा उर्दू थी। अतः उनके अधीनस्थ भी उर्दू भक्त थे। गद्य की भाषा पर भी अवधी और ब्रजभाषा का प्रभाव था। परंपरागत भाषा का भंडार बहुत ही क्षीण था। वह विकृत, अप्रचलित और प्राचीन शब्दों से पूर्ण तथा कला और विचारप्रदर्शन के योग्य शब्दों से सर्वथा हीन थी। भारतेन्दु ने वाङ्मय के विविध अंगों की पूर्ति के लिए चलते, अर्थबोधक और साथ ही सरल गद्य के परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा की। यही नहीं, उन्होंने जनभाषा और जनसाहित्य की आवश्यकता को समझा, उपभाषाओं और ग्रामीण बोलियों में भी लोकहितकारी साहित्यरचना का निर्देश किया। आवश्यकतानुसार उन्होंने दो प्रकार की गद्यशैलियों में रचना की। एक सरल और बोलचाल की पदावली यदा-कदा अरबी-फारसी के शब्दों से रंजित है और वाक्य प्रायः छोटे हैं। चिन्तनीय विषयों के विषयानुकूल ओज या माधुर्य से पूर्ण, प्रायः समस्त और सानुप्रास है। उन्होंने अव्यवहृत शब्दों

का भरसक वहिष्कार किया। शब्दों के अंग-भंग और तोड़ मरोड़ को दूर किया। मुहावरों के प्रयोग द्वारा भाषा में सरसता और प्रभावोत्पादकता लाए, परन्तु अँगरेज़ी या उर्दू से प्रभावित नहीं हुए।

भाषानिर्माण के पथ पर भारतेन्दु अकेले नहीं थे। धर्मप्रचारक दयानन्द सरस्वती ने हिन्दीगद्य को भावाभिव्यंजन और कटाक्ष की शक्ति दी। प्रतापनारायण मिश्र ने स्वच्छन्द गति, बोलचाल की चपलता, वक्रता और मनोरंजकता दी। प्रेमघन ने गद्य काव्य की झलक, आलंकारिकता की आभा, सम्भाषण का अनूठापन और अर्थव्यंजकता दी। बालकृष्ण भट्ट ने अपनी चलती, चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण भाषा से, श्रीनिवासदास ने खड़ी बोली के शब्दों और मुहावरों से, जगमोहनसिंह ने दृश्यांकन और भावव्यंजना में समर्थ, स्निग्ध, संयत, सरल और सोद्देश्य शैली से तथा तत्कालीन अन्यलेखकों.स्वभावतः आनन्दी जीवों, ने अपनी सजीव और मनोरंजक शैलियों द्वारा विपन्न हिन्दी को सम्पन्न बनाने का प्रयास किया।

१९वीं शती के गद्य का उपर्युक्त मूल्यांकन उस युग और इतिहास की दृष्टि से है। वस्तुतः इन बातों के होते हुए भी भारतेन्दु-युग ने खड़ी बोली में पर्याप्त और उच्चकोटि की रचना नहीं की। उस युग की अशुद्ध और संकर खड़ी बोली प्रांजल, परिष्कृत और परिमार्जित न हो सकी। पद्य में तो ब्रजभाषा का एकच्छत्र राज्य था ही, गद्य को भी उसने और अवधी ने आक्रान्त कर रखा था। दयानन्द, भारतेन्दु आदि लेखकों की कृतियों में भी प्रान्तीयता की प्रधानता थी। प्रताप नारायण मिश्र इससे बुरी तरह प्रभावित थे। उन्होंने 'घूरे के लत्ता बीनैं, कनातन के डौल बाधैं', 'खरी बात शहिदुल्ला कहैं, सबके जी ते उतरे रहैं', मुँह बिचकाना', 'पख निकालना' आदि बैसवाड़ी कहावतों तथा मुहाविरों और 'टेंव', खौंखियाना', 'सैंतमेंत' आदि प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग किया है। जैनेन्द्रकिशोरकृत 'कमलिनी' उपन्यास में 'नाक बह रही है' के स्थान पर 'नासिका रन्ध्र स्फीत हो रहा है' का प्रयोग हास्यास्पद नहीं तो और क्या है? भीमसेन शर्मा एक पग और आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने उर्दू के दुश्मन', 'सिफारिस', 'चस्मा', 'शिकायत' आदि के स्थान पर क्रमशः 'दुःशमन', 'क्षिप्राशिष', 'चक्ष्मा', 'शिक्षायत्न' आदि प्रयोग करके संस्कृत का जननीत्व सिद्ध करने की चेष्टा की है। बालकृष्ण भट्ट आदि ने विदेशी शब्दों को मनमानी अपनाया है। 'अपव्यय या फ़िज़ूलखर्ची', 'सोहबत संगत' आदि में संस्कृत और अरबी फारसी के शब्दों का सपर्याय प्रयोग भाषा की निर्बलता का सूचक है। प्रेमघन की भाषा कहीं ('भारत-सौभाग्य' नाटक आदि में) उर्दू मिश्रित और कहीं ('आनन्द-कादम्बिनी' में) संस्कृत-गर्भित, शब्दाडम्बरपूर्ण, दीर्घवाक्यमयी और व्यर्थ आलंकारिक है। श्रीनिवासदास के पात्रों की अपनी अपनी भाषा बड़ी ही निराली है।

यद्यपि बंगला के प्रभाव से हिन्दी में कोमलता और अभिव्यंजना-शक्ति आ रही थी और अँगरेजी के प्रभाव से विराम आदि चिन्हों का प्रयोग होने लगा था तथापि यह सब शून्यवत् था। इन सबके अतिरिक्त तत्कालीन लेखकों ने व्याकरण-संबंधी दोषों के सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसके रूप में सर्वत्र अस्थिरता और असंयतता बनी रही। 'इनने' 'उनने', इन्हैं', 'उन्हैं', 'मुझै', 'सक्ती', 'जिस्में', 'परग', 'चिरौरी', 'मौंख', 'खीस' (जेब 'व्यारी' (रात्रि का भोजन) आदि प्रयोगों का बाहुल्य बना रहा। भारतेंदु और प्रतापनारायण मिश्र के बाद हिन्दी साहित्य प्रभंजनपीड़ित पतवारहीन नौका की भाँति ऊभचूभ होने लगा निरंकुश लेखक बगटुट घोड़ों की भाँति मनमानी सरपट दौड़ने लगे। उन्हें न भाषा की शुद्धता का ध्यान रहा न शैली की। सभी की अपनी अपनी तुँबड़ी थी और अपना अपना राग था। हिन्दी-भाषा और साहित्य में चारों ओर अराजकता फैल गई। हिन्दी को अनिवार्य अपेक्षा थी एक ऐसे प्रभविष्णु सेनानी की जो उस अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करे भ्रांत और अनजान लेखकों का पथप्रदर्शन कर सके।

साहित्य की इस ऊबड़खाबड़ पीठिका में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का आगमन हुआ। कविता के क्षेत्र में वे विषय, भाव, भाषा, शैली और छन्द की नवीनता लेकर आए हिन्दी के उच्छृंखल निबन्ध को निबन्धता, एकतानता दी, और पद्य निबन्धों की अभिनव परम्परा को आगे बढ़ाया। नाट्य साहित्य के उस पतनकाल में नाटककारों, पाठकों और दर्शकों को नाट्यकला का ज्ञान कराने के लिए 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों के कारण जनता की भ्रष्ट रुचि का परिष्कार करने तथा लेखकों के समक्ष भाषा और भाव का आदर्श उपस्थित करने के लिए आख्यायिकारूप में संस्कृत के अनेक काव्यग्रन्थों का अनुवाद किया। हिन्दी कालिदास और रीडरों की आलोचना के साथ ही हिन्दी समालोचना-प्रणाली का कायाकल्प किया। हिन्दी में आधुनिक आलोचनाशैली के सूत्रपात का श्रेय उन्हीं को है। सत्रह वर्षों तक 'सरस्वती' का सम्पादन करके उन्होंने हिन्दी के सामयिक साहित्य के अभावों की सुन्दर पूर्ति की। सम्पत्ति शास्त्र', 'शिक्षा', 'स्वाधीनता आदि विविध-विषयक मौलिक और अनूदित पुस्तकों की रचना करके हिन्दी के रिक्त कोष को भरने की चेष्टा की। ऐतिहासिक और पुरातत्वविषयक लेखों द्वारा विदेशी सभ्यता और संस्कृति से अभिभूत भारतीयों की हीनतानुभूति दूर करने और उनके हृदय में आत्मगौरव की भावना भरने का प्रयास किया। विज्ञापनबाज के नहीं, सच्चे मातृ-भाषा-प्रेमी के रूप में हिन्दी भाषा एवं साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया। असमर्थ तुतलाती हिन्दी को सक्षम और प्रौढ़रूप देकर उसके इतिहास को बदल दिया। उन्होंने साहित्य का ही नहीं, एक नवीन युग का निर्माण किया।

हिन्दी के अनन्य महारथी और एकान्त साधक की साहित्य-सेवा का समुचित मूल्यांकन करना हिन्दी के लिए परम गौरव का विषय है।

—:*:—

दूसरा अध्याय

चरित और चरित्र

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म वैशाख शुक्ल ४, संवत् १९२१ को उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गावं में हुआ। वहाँ के राम सहाय नामक एक अकिंचन ब्राह्मण को हमारे चरित-नायक का जनक कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जन्म के आध घंटे पश्चात् और जातकर्म के पूर्व शिशु की जिह्वा पर सरस्वती का बीजमंत्र[1] अंकित कर दिया गया। मंत्रविद्या अपने सुन्दरतम रूप में चरितार्थ हुई।

द्विवेदी जी के पितामह पंडित हनुमन्त द्विवेदी बड़े ही प्रकांड पंडित थे उनकी मृत्यु के उपरान्त उनकी विधवा पत्नी ने कल्याण-भावना से प्रेरित होकर कई छकड़े संस्कृत ग्रन्थ उनके एक मित्र को दे दिए।

पंडित हनुमन्त द्विवेदी के तीन पुत्र थे दुर्गा प्रसाद, राम सहाय और रामजन। असमय देहावसान के कारण वे अपने पुत्रों को सुशिक्षित न कर सके। रामजन का तो बाल्यावस्था में ही स्वर्गवास हो गया था। दुर्गा प्रसाद की जीविका के लिए बैसवाड़े में ही गौरा के तालुक-दार के यहाँ कहानी सुनाने की नौकरी करनी पड़ी। राम सहाय सेना में भर्ती हो गए। १८५७ ई० में अपने गुल्म के विद्रोही हो जाने पर वे वहाँ से भागे। मार्ग में सतलज की धारा उन्हें सैकड़ों मील तक बहा ले गई।[2] मूर्च्छित शरीर किनारे पर लगा। सचेत होने पर उन्होंने

१;
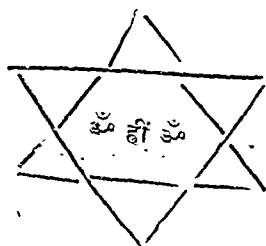
द्विवेदी जी की लिखी हुई 'नैषधचरित-चर्चा' से सिद्ध है कि इसी प्रकार चिन्तामणि मन्त्र उनकी वाणी पर लिखा गया था।

२. द्विवेदी जी का आत्मनिवेदन, 'साहित्य संदेश', एप्रिल १९३९ ई०

घास के डंठलों का रस चूसकर प्राणरक्षा की। साधुवेष में किसी प्रकार माँगते खाते घर पहुँचे। बम्बई जाकर पहले चिमन लाल और फिर नरसिंह लाल के यहाँ नौकरी करते रहे। ये बड़े ही भजनानन्दी जीव थे। पल्टन में भी पूजा-पाठ किया करते थे। १८८० ई० तक घर चले आए और १८९९ ई० में महाप्रस्थान किया।

राम सहाय के एक कन्या भी थी जो पुत्रीवती होकर स्वर्ग सिधारी। नतिनी की भी यही दशा हुई।

पिता को महावीर का इष्ट होने के कारण पुत्र का नाम महावीर सहाय रखा गया। बाल्यकाल में चचा ने 'शीघ्रबोध', 'दुर्गासप्तशती', 'विष्णुसहस्रनाम', 'मुहूर्त्त चिन्तामणि', और 'अमरकोश' के अंश कंठ कराए। बालक द्विवेदी ने ग्राम पाठशाला में हिन्दी, उर्दू और गणित की प्रारंभिक शिक्षा पाई। दो तीन फारसी पुस्तकें भी पढ़ीं। ग्राम-पाठशाला की शिक्षा समाप्त हो गई। प्रमाणपत्र में अध्यापक ने प्रमादवश महावीर सहाय के स्थान पर महावीर प्रसाद लिख दिया। आगे चलकर यही नाम स्थायी हो गया।

अँगरेजी का माहात्म्य उनके पिता और चाचा को अविदित न था। अतएव अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए महावीर प्रसाद राय बरेली के जिला-स्कूल में भर्ती हुए। तेईस वर्ष तक दस करोड़ हिन्दी-जनता का अविरल साहित्यिक अनुशासन करने वाले इस महान् साहित्यिक सेनानी की तत्कालीन जीवन-गाथा बड़ी ही हृदय-विदारक है। तेरह वर्ष का कोमल किशोर आटा, दाल पीठ पर लादकर अठारह कोस पैदल जाता था। पाक-कला में अनभिज्ञ होने के कारण दाल में आटे की टिकियाँ पकाकर ही पेटपूजा कर लिया करता था। एक बार तो जाड़े की ऋतु में सारी रात पैदल चलकर पाँच बजे सवेरे घर पहुँचे। द्वार बन्द था, माँ चक्की पीस रही थी। बालक की पुकार सुनकर ससम्भ्रम दौड़ पड़ी। किवाड़ खोल दिए। श्रान्त सन्तप्त वत्स को अपने स्निग्ध आँचल की शीतल छाया में कसकर समेट लिया। वात्सल्यमयी जननी का कोमल हृदय नयनों का द्वार तोड़कर बह निकला। धन्य है भगवान की महिमा! वह जिस पर कृपा करता है उसकी जीवन-प्याली में वेदना, अशान्ति और कठिनाइयाँ उँडेल देता है और जिस पर अप्रसन्न होता है उसे कंचन, कामिनी और कादम्ब की विलासभूमि का धराधीश बना देता है। उसके शाप और वरदान की इस रहस्यमयी प्रणाली को मर्त्यलोक के मायावशवर्ती क्षुद्र प्राणी कैसे समझ सकते हैं?

उस स्कूल के वैकल्पिक विषयों में संस्कृत न थी। विवश होकर उन्हें फारसी लेनी पड़ी

वहाँ किसी प्रकार एक वर्ष कटा। दौलतपुर से रायबरेली बहुत दूर था। अतः वे उन्नाव जिले के रनजीतपुरवा स्कूल में लाए गए। विधि का विधान, कुछ दिन बाद वह स्कूल ही टूट गया। तदनन्तर वे फतहपुर भेजे गए। वहाँ डबल प्रोमोशन न मिलने के कारण उन्नाव चले आए। यहाँ पर डबल प्रोमोशन मिल गया। फिर भी उनका जी न लगा। पाँच-छः महीने बाद वे पिता के पास बम्बई चले गए।

इसके पूर्व ही उनका विवाह हो चुका था।

बम्बई में उन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी, और अँगरेजी का थोड़ा बहुत अभ्यास किया। वहाँ पर पड़ोस में ही रेलवे के अनेक सार्टर और क्लर्क रहते थे। उनके फंदे में पड़कर द्विवेदी जी ने रेलवे में नौकरी कर ली। वहाँ से वे नागपुर गए। वहाँ भी उनका जी न लगा उनके गाँव के कुछ लोग अजमेर में राजपूताना रेलवे के लोको सुपरिंटेंडेंट के आफिस में क्लर्क थे। उन्हीं के आसरे वे अजमेर चले गए। पन्द्रह रुपए मासिक की नौकरी मिल गई। उसमें से पाँच रुपया वे अपनी माता जी के लिए घर भेजते थे, पाँच में अपना खर्च चलाते थे और अवशिष्ट पाँच रुपयों में एक गृह-शिक्षक रखकर विद्याध्ययन करते थे। हमारे विद्या-व्यसनी तपः पूत साहित्यव्रती की साधना कितनी कठिन थी !

अजमेर में भी जी न लगने के कारण वे पुनः बम्बई लौट आए। प्रतिभाशील व्यक्तियों की जिज्ञासा भी बड़ी प्रबल हुआ करती है। मुम्बादेवी के तार-घर में तार खटखटाते देख कर उन्हें तार सीखने की इच्छा हुई। तार सीख कर जी० आइ० पी० रेलवे में सिग्नलर हो गए। उस समय उनकी आयु लगभग बीस वर्ष की थी।

तार बाबू के पद पर रह कर द्विवेदी जी ने टिकटबाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, प्लेटियर आदि के काम सीखे। फलस्वरूप उनकी क्रमशः पदोन्नति होती गई। इंडियन मिडलैंड रेलवे के खुलने पर उसके ट्रैफिक मैनेजर डब्ल्यू० बी० राइट ने उन्हें झाँसी बुला लिया और टेलीग्राफ इन्सपेक्टर नियुक्त किया। कालान्तर में वे हेड टेलीग्राफ इन्सपेक्टर हो गए। दौरे से ऊब कर उन्होंने ट्रैफिक मैनेजर के दफ्तर में बदली करा ली। कुछ काल बाद असिस्टेंट चीफ क्लर्क और फिर रेट्स के प्रधान निरीक्षक नियुक्त हुए।

जब आइ० एम० रेलवे जी० आइ० पी० रेलवे में मिला दी गई तब वे कुछ दिन फिर बम्बई में रहे। वहाँ का वातावरण उन्हें पसन्द न आया। ऊँचे पद का लोभ त्याग कर उन्होंने फिर झाँसी का तबादला कराया। वहाँ डिस्ट्रिक्ट ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट के आफिस में

पाँच वर्ष तक चीफ क्लर्क रहे। द्विवेदी जी के वे दिन अच्छे नहीं कटे। उनके गौरांग प्रभु अपनी रातें बँगले या क्लब में बिताते थे। बेचारे द्विवेदी जी दिन भर दफ्तर में काम करते थे और रात भर अपनी कुटिया में बैठे बैठे साहब के तार लेते तथा उनका उत्तर देते थे। चाँदी के कुछ टुकड़ों के लिये बहुत दिनों तक उन्होंने इस अत्याचार का सहन किया।

कुछ काल-पश्चात् उनके प्रभु ने उनके द्वारा दूसरों पर भी वही अत्याचार कराना चाहा। सहनशीलता अपनी सीमा पर पहुँच गई थी। द्विवेदी जी ने स्वयं तो सब कुछ सहना स्वीकार कर लिया परन्तु दूसरों पर अत्याचार करने से नाहीं कर दी। बात बढ़ गई। उन्होंने निश्शंक भाव से त्याग-पत्र दे दिया। इस समय उनका का वेतन डेढ़ सौ रुपये था। त्याग-पत्र वापस लेने के लिये लोगों ने बहुत उद्योग किया, परन्तु सब व्यर्थ हुआ। इस विषय पर द्विवेदी जी ने अपनी धर्म-पत्नी की राय माँगी। स्वाभिमानिनी पतिव्रता ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—क्या कोई थूक कर भी चाटता है? उन्होंने सन्तोष की साँस ली। हिन्दी का अहोभाग्य था कि हमारे चरित-नायक ने कमला का क्षीरसागर त्याग कर सरस्वती की हिम-शिला पर पुजारी का आसन ग्रहण किया।

१९०३ ई० में उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन आरम्भ किया। १९०४ ई० तक झाँसी से कार्य-संचालन करने के अनन्तर वे कानपुर चले आए और जुही से सम्पादन करते रहे। शक्ति से अधिक परिश्रम करने के कारण वे अस्वस्थ हो गए। १९१० ई० में उनको पूरे वर्ष भर की छुट्टी लेनी पड़ी। सम्भवतः इसी वर्ष उनकी माता जी का भी देहान्त हुआ। सत्रह वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन करने के उपरान्त १९२० ई० में उन्होंने इस कार्य से अवकाश ग्रहण किया।

जीवन के अन्तिम अठारह वर्ष द्विवेदी जी ने अपने गाँव में ही बिताए। कुछ काल तक आनरेरी मुंसिफ का कार्य किया। तदनन्तर ग्राम-पंचायत के सरपंच रहे। उनके जीवन के अन्तिम दिन बड़े दुख से बीते। स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता गया। पं० शालग्राम शास्त्री आदि अनेक वैद्यों और डाक्टरों की दवा की परन्तु सभी औषधियाँ निष्फल सिद्ध हुईं। अन्न त्याग देना पड़ा। लौकी की तरकारी, दलिया और दूध ही उनका आहार था। अनेक रोगों से बार-बार आक्रान्त होने के कारण उनका शरीर शिथिल हो गया था। अन्तिम बीमारी के समय वे बराबर कहा करते थे कि अब मेरे महाप्रस्थान का समय आ गया है। जिस किसी से जो कुछ कहना था कह-सुन लिया। अक्टूबर, सन् १९३८ ई० के दूसरे सप्ताह में उनके भानजे कमलाकिशोर त्रिपाठी के समधी डाक्टर शंकरदत्त जी उन्हें रायबरेली ले गये। द्विवेदी

जी की तत्कालीन मानसिक और शारीरिक पीड़ा का ज्ञान उनके निम्नांकित पत्र से बहुत कुछ हो जाता है—

२. ११. ३८।

शुभाशिषः सन्तु,

....

मैं कोई दो महीने से नरक यातनाएँ भोग रहा हूँ। पड़ा रहता हूँ। चल फिर कम सकता हूँ। दूर की चीज भी नहीं देख पड़ती। लिखना पढ़ना प्रायः बन्द है। जरा सी दलिया और शाक खा लेता था। अब वह कुछ हजम नहीं होता। तीन पाव के करीब दूध पी कर रहता हूँ—तीन दफे में। सूखी खुजली अलग तंग कर रही है। बहुत दवायें की नहीं जाती।

शुभैषी

म० प्र० द्विवेदी।[1]

शंकरदत्त जी ने अनेक वैद्यों और डाक्टरों की सहायता तथा परामर्श से द्विवेदी जी की चिकित्सा की। सभी उपचार निष्फल हुये। २१ दिसम्बर को प्रातः काल पौने पाँच बजे उस अमर आत्मा ने नश्वर शरीर त्याग दिया। हिन्दी-साहित्य का आचार्यपीठ अनिश्चित काल के लिये सूना हो गया।

द्विवेदी जी का विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था। उनकी धर्म-पत्नी इतनी रूपवती न थी कि उनकी अलौकिक शोभा को देख कर किसी का सहज पुनीत मन क्षुब्ध हो जाता तथापि द्विवेदी जी ने आदर्श प्रेम किया।[2] उनके पत्नी प्रेम का प्रामाणिक इतिहास अतीव मनोरंजक है।

द्विवेदी जी की स्त्री की एक सखी ने कहा कि द्वार पर पूर्वजों द्वारा स्थापित महावीर जी की मूर्त्ति पड़ी है, उसके लिए पक्का चबूतरा बन जाता तो अच्छा होता। चबूतरा बनवा कर उनकी स्त्री ने महावीर शब्द की श्लिष्टता का उपयोग करते हुए कहा कि तुम्हारा चबूतरा मैंने बनवा दिया। सहृदय और प्रत्युत्पन्नमति द्विवेदी ने तत्काल उत्तर दिया—

---

१. किशोरीदास वाजपेयी को लिखित पत्र, 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २२२, २३
२. "विषय-वासनाओं की तृप्ति के लिये ही जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है वह नीच प्रेम है। वह निंद्य और दूषित समझा जाता है। निर्व्याज प्रेम ही उच्च प्रेम है। प्रेम अवान्तर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता। प्रेम-पथ से प्रयाण करते समय आई हुई बाधाओं को वह कुछ नहीं समझता। विघ्नों को देख कर वह केवल मुस्करा देता है। क्योंकि इन सब को उसके सामने हार माननी पड़ती है।"
'सरस्वती', भाग १२, पृ० ३३८।

तुमने हमारा चबूतरा बनवाया है, मैं तुम्हारा मन्दिर बनवाऊँगा। हास्य की इस वाणी ने आगे चलकर यथार्थ का रूप धारण किया।[1]

उनकी स्त्री को आरंभ से ही हिस्टीरिया का रोग था।[2] इसी कारण द्विवेदी जी उन्हें गंगास्नान को अकेले नहीं जाने देते थे। संयोग की बात, एक दिन वे ग्राम की अन्य स्त्रियों के साथ चली गईं। गंगा माता उन्हें अपने प्रवाह में बहा ले गईं। लगभग एक कोस पर उनका शव मिला।

द्विवेदी जी के कोई सन्तान न थी। पत्नी के जीते जी तथा मरने पर लोगों ने उन्हें दूसरा विवाह करने के लिए लाख समझाया परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अपने पत्नीव्रत और तत्सम प्रेम को साकार रूप देने के लिए स्मृति-मन्दिर का निर्माण कराया। जयपुर से एक सरस्वती और एक लक्ष्मी की दो मूर्त्तियाँ मँगाईं। वहीं से एक शिल्पी भी बुलाया। उसने उनकी स्त्री की एक मूर्ति बनाई। वह द्विवेदी जी को पसन्द न आई। फिर उसने दूसरी बनाई। सात-आठ महीने में मूर्त्ति तैयार हुई। लगभग एक सहस्र रुपया व्यय हुआ। स्मृति-मन्दिर में तीनों मूर्तियाँ स्थपित की गईं—मध्य में उनकी धर्म-पत्नी की, दाहिनी ओर लक्ष्मी और बाईं ओर सरस्वती की।[3]

---

१. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १९३।
२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २२१।
३. धर्म पत्नी की मूर्ति के नीचे द्विवेदी जी के स्वरचित निम्नांकित श्लोक खचित हैं—

नवपरणवभूसंख्ये विक्रमादित्यवत्सरे।
शुक्लकृष्णत्रयोदश्यामधिकापादमासि च॥
मोहमुग्धा गतज्ञाना असरोगनिपीडिता।
जन्हुजायाजले प्राप पंचत्वं या पतिव्रता॥
निर्मापितमिदं तस्याः स्वपत्न्याः स्मृतिमन्दिरम्।
व्यथितेन महावीरप्रसादेन द्विवेदिना॥
पत्युर्गृहे यतः सासीत्, साक्षाच्छ्रीरिवरूपिणी।
पत्याप्येकादृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता॥
एषा तत्प्रतिमा तस्मान्मध्यभागे तयोर्द्वयोः।
लक्ष्मीसरस्वतीदेव्योः स्थापिता परमादरात्॥

लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्ति के ऊपर क्रमशः अधोलिखित श्लोक अंकित हैं—

विष्णुप्रिया विशालाक्षी क्षीराम्भोनिधिसम्भवा।
इयं विराजते लक्ष्मी लोकेशैरपि पूजिता॥
हंसोपरि समासीना विद्याधिष्ठातृदेवता।
वरदा विश्ववन्द्येयं सर्वशुक्ला सरस्वती॥

स्त्री की मूर्ति स्थापित करने पर लोगों ने द्विवेदी जी की बड़ी हँसी उड़ाई। यहाँ तक कह डाला—"दुबौना कलजुगी है कलजुगी। आखौना, मेहरिया कै मूरति बनवाय कै पधराईसि इइ! यहौ कौनिउ वेद पुरान कै मरजाद आय?"[1] यही नहीं, सामने भी ताने कसते, गालियाँ तक बकते परन्तु द्विवेदी जी पर कोई प्रभाव न पड़ता। अपनी पत्नी के वियोग में वे कितने दुःखी थे, यह बात पं० पद्मसिंह शर्मा को लिखे गए निम्नांकित पत्र से स्पष्ट प्रमाणित होती है—

"

दौलतपुर

१३. ७. १२।

प्रणाम,

कार्ड मिला। क्या लिखूँ? यहाँ भी बुरा हाल है। पत्नी मेरी इस संसार से कूच कर गई। मैं चाहता हूँ कि मेरी भी जल्दी बारी आवे।

भवदीय

महावीरप्रसाद।"[2]

इतने सच्चे प्रेमी होकर भला वे अनर्गल और मिथ्या लोकनिन्दा की ओर क्यों ध्यान देते? ३ अक्टूबर १९०७ ई० के अपने मृत्यु-लेख में भी उन्होंने अपने पत्नी-प्रेम का परिचय दिया था।[3]

द्विवेदी जी को पारिवारिक सुख नहीं मिला। उनके मन में यह बात खटकती भी रहती थी। परन्तु उनका दुख सामान्यतः प्रकट नहीं होता था। अपनी दुःख कथा दूसरों को सुना कर उनके हृदय को कष्ट पहुँचाना उन्होंने अन्याय समझा। बाबू चिन्तामणि घोष की मृत्यु पर द्विवेदी जी ने स्वयं लिखा था—

"आज तक मेरे सभी कुटुम्बी एक एक करके मुझे छोड़ गए। मैं ही अकेला कल्पद्रुम बना हुआ अपने अन्तिम श्वासों की राह देख रहा हूँ।....कभी मैंने 'सरस्वती' में अपना रोना

---

१. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २२१।

२. 'सरस्वती', नवम्बर, १९४० ई०।

३. उन्होंने अपनी आय का ५० प्रतिशत अपनी स्त्री और शेष अपनी माँ और सरहज के लिए निर्धारित किया था। पत्नी के मानसिक सुख और शान्ति के लिए यहाँ तक लिखा था कि—

'Trustees will be good enough to leave her alone in the matter of her ornaments and will not injure her feelings in that respect by demanding an account of her ornaments or of their disposal,"

का० ना० प्र० सभा के कार्यालय में रक्षित मृत्यु-लेख।

नहीं रोया।…मेरी उस कष्ट-कथा से 'सरस्वती' का कुछ भी सम्बन्ध न था। अतएव उसे 'सरस्वती' के पाठकों को सुना कर उनका समय नष्ट करना मैंने अन्याय समझा।"[1] दैहिक और भौतिक वेदनाओं ने द्विवेदी जी के हृदय को इतना अभिभूत किया कि समय-समय पर वे अपनी पीड़ाओं को अभिव्यक्त किए बिना न रह सके। वे कभी कभी कुटुम्बियों के जंजाल से अधिक शोकाकुल हो जाया करते थे। १२. ८. ३३. ई० को उन्होंने किशोरीदास वाजपेई को पत्र में लिखा था—

"आप की कौटुम्बिक व्यवस्था से मिलता जुलता ही मेरा हाल है। अपना निज का कोई नहीं है। दूर दूर की चिड़ियाँ जमा हुई हैं। खूब चुगती हैं। पुरस्कार-स्वरूप दिन रात पीड़ित किए रहती हैं।"[2]

यह द्विवेदी जी का स्थायी भाव न था। उन्होंने अपनी विधवा बहन, बहन की विधवा लड़की, भानजे, उसकी बधू और लड़की को असाधारण आत्मीयता और प्रेम से अपनाया। यद्यपि कमलाकिशोर त्रिपाठी उनके सगे भानजे नहीं हैं तथापि द्विवेदी जी ने उनका और उनकी लड़कियों का विवाह अपनी बेटे-बेटियों की ही भाँति किया। अपने १६०७ ई० के मृत्यु-लेख में उन्होंने अपनी माँ, सरहज और स्त्री के पालनार्थ अपनी आय का क्रमशः तीस, बीस और पचास प्रतिशत निर्धारित किया था। जीवन के पिछले प्रहर में इनका देहान्त हो जाने के पश्चात् उन्होंने उस मृत्यु-लेख को व्यर्थ समझ कर भंग कर दिया। चल-सम्पत्ति का प्रायः सर्वांश दान कर के अपनी अचल-सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उपर्युक्त कल्पित भानजे कमलाकिशोर त्रिपाठी को बनाया।

'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण करने पर द्विवेदी जी अपने गाँव दौलतपुर में ही रहने लगे। बहुत दिनों तक आनरेरी मुंसिफ और तदुपरांत ग्राम पंचायत के सरपंच रहे। इन पदों पर रहते हुए उन्होंने न्याय का पूर्णतया निर्वाह किया। उनकी कठोर न्याय-प्रियता से अनेक लोग असन्तुष्ट भी हुए, किन्तु द्विवेदी जी ने इसकी कुछ भी परवा न की। न्याय की रक्षा के लिये यदि किसी अकिंचन को आर्थिक दंड दिया तो करुणा के वशीभूत होकर उसका जुर्माना अपने पास से चुकाया।

आधुनिक ग्रामसुधार-आन्दोलन के बहुत-पहले ही उन्होंने इसकी ओर ध्यान दिया था।

---

१. द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति' 'सरस्वती', १६२८ ई०, खंड २, पृ० २८२…

२. सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० ३२१।

अपने गावँ की सफाई के लिए एक भंगी को लाकर बसाया। गावँ में अस्पताल, डाकखाना मवेशीखाना आदि बनवाए। आमों के कई बाग भी लगवाए। उन्हों ने इस बात का अनुभव किया कि अशिक्षित ग्रामवासियों को शिक्षित करने से ही भारत की उन्नति हो सकती है।

उन्होंने वाणी की अपेक्षा कर्म-द्वारा ही उपदेश किया। मार्ग में गोबर, काँटा, काँचका टुकड़ा आदि पड़ा देख कर स्वयं उठाकर फेंक आते थे। इस आदर्श से प्रभावित होकर दूसरे व्यक्ति भी उनका अनुकरण करते थे। रेलवे में नौकरी करने के कारण जनसाधारण द्विवेदी जी को बाबू जी कहा करते थे। मामले-मुकदमे में राय लेने के लिए लोग उनके पास आते और वे समझा-बुझा कर आपस में ही फैसला करा देते थे। गरीब किसानों को साधारण 'सूद पर' बिना सूद के या अत्यन्त असहाय होने पर दान-रूप में भी धन दिया करते थे।

सुन्दर लम्बा डील-डौल, विशाल रोबदार चेहरा, प्रतिभा की रेखाओं से अंकित उन्नत भव्य भाल, उठी हुई असाधारण घनी भौंहें, तेजभरी अभिभावक आँखें और सिंह की सी अस्तव्यस्त फैली हुई मूछें द्विवेदी जी को एक महान् विचारक का ही नहीं, उस दिग्विजयी महाबलाधिकृत का व्यक्तित्व प्रदान करतीं थीं जो अपनी भयंकर गर्जना से समस्त भूमंडल को थर्रा देता है। उनकी मुखाकृति से ही विदित होता था कि उनमें गम्भीरता है, मनचले छोकरों का छिछोरापन नहीं। व्यक्तिगत जीवन के पदन्यास में या साहित्य की भूमिका में कहीं भी उन्होने उच्छृङ्खलता का परिचय नहीं दिया। उन्होंने प्रत्येक कार्य को अपना कर्तव्य समझ कर गम्भीरतापूर्वक आरम्भ किया और अन्त तक सफलता-पूर्वक निबाहा। साहित्यिक वाद-विवादों में किलकिलाकर वाग्बाणवर्षा होने पर भी उन्होंने यथा-सम्भव अपने संयम और गम्भीरता की रक्षा की।

गम्भीर होते हुए भी उनके व्यवहार में नीरसता या शुष्कता नहीं थी। वे स्वभावतः हास्य-विनोद के प्रेमी थे। जब साहित्य-सम्मेलन ने सर्व प्रथम परीक्षाएँ चलाईं तब द्विवेदी जी ने भी प्रथमा परीक्षा के लिए आवेदन-पत्र भर कर भेजा।[१]

उनकी रुचि शृंगारिक कविता की ओर कम थी। एक बार वे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से उन्हीं की मंडली में पूछ बैठे —"काहे हो बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी, सखी, सलोनी, प्राण को आयँ! तुम्हार कविता माँ इनका बड़ा जिकर रहत है। सब लोग हँस पड़े और नवीन जी झेंप गए।[२]

---

१. सरस्वती, भाग ४०, सं० २, पृ० १७३।
२. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २३४।

उनकी अरसठवीं वर्षगाँठ के समय किसी किसी ने सरसठवीं वर्षगाँठ मनाई। इस पर द्विवेदी जी ने लिखा—किसी किसी ने ६ मई १९३२ को सरसठवीं ही वर्षगाँठ मनाई है। जान पड़ता है इन सज्जनों के हृदय में मेरे विषय के वात्सल्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है। कौन माता, पिता या गुरुजन ऐसा होगा जो अपने प्रेमभाजन की उम्र कम बताकर उसकी जीवनावधि को और भी आगे बढ़ा देने की चेष्ठा न करेगा? अतएव इन महानुभावों का मैं और भी कृतज्ञ हूँ।[1]

उनके सम्भाषण की प्रत्येक बात में अनोखापन और आकर्षण था। एक बार केशव प्रसाद मिश्र द्विवेदी जी के अतिथि थे। द्विवेदी जी के आगमन पर वे उठ खड़े हुए। द्विवेदी जी ने हँसमुख भाव से उत्तर दिया—विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासन-मुज्झितं किम्?[2]

द्विवेदी जी बड़े स्वाभिमानी थे। आत्मगौरव की रक्षा के लिए ही उन्होंने डेढ़सौ रुपयों की आय को ठुकरा कर तेईस रुपए मासिक की वृत्ति स्वीकार की। नागरी प्रचारिणी सभा से मतभेद होने पर सभाभवन में पैर नहीं रखा। यदि किसी से मिलना हुआ तो बाहर ही मिले। बी० एन० शर्मा पर अभियोग चलाने का कारण उनका स्वाभिमान ही था। कमला-किशोर त्रिपाठी की विवाह-यात्रा के समय द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में एक विलायती साहब ने द्विवेदी जी से अपमानजनक शब्दों में स्थान खाली करने को कहा। उस अनाचार का उत्तर उन्होंने मिर्जापुरी डंडे से दिया।

हिन्दी कोविद-रत्न-माला के लिए १९१७-१८ ई० में श्यामसुन्दर दास के आदेशानुसार सूर्यनारायण दीक्षित ने द्विवेदी जी का एक संक्षिप्त जीवन-चरित तैयार किया और उसकी हस्तलिखित प्रति द्विवेदी जी को दिखाकर बाबू साहब के पास भेज दी। यत्र तत्र कुछ परि-वर्तन करने के बाद अन्त में बाबूसाहब ने यह बढ़ा दिया कि द्विवेदी जी का स्वभाव किञ्चित् उग्र है। जब द्विवेदी जी को यह ज्ञात हुआ तब वे आपे से बाहर हो गए। वस्तुतः इस उग्रता से उन्होंने बाबू साहब के कथन को चरितार्थ किया।

स्वाभिमानी और उग्र होते हुए भी वे ईश्वर में अटल विश्वास रखते थे। यद्यपि उन्हों-ने अपने को किसी धार्मिक बन्धनमें नहीं जकड़ा, दिखाने के लिए सन्ध्यावन्दनादि का पालन नहीं किया तथापि उनकी भगवद्भक्तिप्रधान कविताओं, विशेषकर 'कथमहं नास्तिकः' से

---

१. द्विवेदी-लिखित 'कृतज्ञता-ज्ञापन', 'भारत', २२. ५. ३२।
२. सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १८६।

सिद्ध है कि उन्होंने प्रत्येक कार्य ईश्वर का आदेश समझ कर किया।

उनकी तीव्र आलोचनाओं के आधार पर उन्हें उग्र और क्रोधी कहना भारी भूल है। साहित्य के ढीठ चोरों पर 'किन्तु परन्तु' और 'अगर मगर' वाली आलोचना का कोई प्रभाव न पड़ता। हिन्दी के वर्धमान कूड़ा-करकट को रोकने के लिए उसी प्रकार की कटु आलोचना अपेक्षित थी।

द्विवेदी जी ने अपनी साहित्यिक योग्यता का गर्व नहीं किया। तत्कालीन 'चाँद' सम्पादक रामरखसिंह सहगल के एक पत्र से विदित होता है कि द्विवेदी जी ने उन्हें कोई अभिमान सूचक बात लिखी थी।[१]

उनके कमरे में अनेक अस्त्र शस्त्रों के अतिरिक्त एक फरसा टँगा रहता था, जो उनके उग्र स्वभाव का द्योतक था। कदाचित् उसी को देख कर ही पं० वेंकटेशनारायण तिवारी ने उन्हें वाक्यशूर परशुराम कहा था।[२] वे निस्सन्देह उग्र थे परन्तु उनकी उग्रता में अनौचित्य या अन्यान्य के लिए अवकाश न था। जब अभ्युदय प्रेस के मैनेजर ने अपने 'निबन्ध नवनीत'[३] में द्विवेदी-लिखित प्रतापनारायण मिश्र का जीवनचरित और बाबू भवानीप्रसाद ने

---

१. "   १. १२. २३ ई०

....

...दोनों ही पत्र पढ़ कर बहुत दुःख हुआ। यदि कोई जाहिल ऐसे पत्र लिखता तो कोई बात नहीं थी किन्तु मुझे दुःख इस बात का है कि आपके पत्र से सदा अनुचित अभिमान और तिरस्कार की बू आती है जो सर्वथा अक्षम्य है। यह सच है कि साहित्य में आपका स्थान बहुत ऊँचा है और बहुत काल से आप हिन्दी की सेवा कर रहे हैं, फिर भी आप को कोई अधिकार नहीं है, कि दूसरों को जो आपकी विद्वता के सामने कुछ भी नहीं हैं, उन्हें आप तुच्छ दृष्टि से देखें और इस प्रकार उनका निरादर करें। मैं ही क्या कोई भी आत्माभिमानी इसे सह नहीं सकता। आप का लेख 'चाँद' में प्रकाशित होने से पत्र का मान बढ़ जायगा यदि आप का यह ख्याल है तो निश्चय ही आप का यह भ्रम है।...आप जैसे सुयोग्य विद्वानों के लेख अन्य पत्रिकाओं की शोभा भले ही बढ़ा सकें किन्तु मेरे पत्र के लेखक एक दूसरी ही श्रेणी के हैं और वे बहुत हैं।..."

द्विवेदी जी के पत्र, संख्या ४६,
नागरी प्रचारिणी सभा कार्यालय,
काशी।

२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २१९।

३. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कलाभवन, बंडल १।
अभ्युदय प्रेस के मैनेजर को लिखित पत्र की रूप रेखा।

उनकी कुछ कविताएँ अपनी 'शिक्षा-सरोज' तथा 'आर्य-भाषा-पाठावली'[1] में उनकी अनुमति के बिना ही संकलित कर लीं तब द्विवेदी जी उनके वंचक व्यवहार पर क्रुद्ध हुए। अन्त में मित्रों की मित्रता के कारण उन्हें क्षमा कर दिया।

द्विवेदी जी कठोर थे कपटाचारी, कृत्रिम, दिखावटी और चाटुकार जनों के लिए। वे किसी भी अनुचित बात को सह नहीं सकते थे। सच तो यह है कि वे अपने ऊँचे आदर्श की ईटका से दूसरों को भी नापते थे। यह उनकी महत्ता थी जिसे हम सांसारिक दृष्टि से निर्बलता कह सकते हैं।

एक बार बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में 'साकेत' की आलोचना की। उनकी कुछ बातों से गुप्त जी सहमत न हुए और १५ जनवरी, १६३२ ई० को उन्हें उत्तर दिया। उसी की प्रतिलिपि के साथ द्विवेदी जी को उन्होंने पत्र लिखा और उनकी सम्मति माँगी।[2] द्विवेदी जी ने अपनी राय देते हुए अपने अनन्य स्नेहभाजन मैथिलीशरण गुप्त को लिखा—"तुलसी की कविता से आपको अपनी कविता की तुलना करना शोभा नहीं देता।" गुप्त जी तिलमिला उठे और २८ जनवरी को लिखा—"आज पचीस वर्ष से ऊपर हुए, मैं आप की छत्रच्छाया में हूँ। यह बात औरों के कहने के लिए रहने दीजिये।····मैंने अपनी ध्यान समाधि में जैसा देखा वैसा लिखा।" पहली फरवरी को द्विवेदी जी ने उत्तर में लिखा "आपने मुझसे राय माँगी, मुझे जो कुछ उचित समझ पड़ा, लिखकर मैंने आप की इच्छा-पूर्ति कर दी। इस पर आप अपनी २८ जनवरी की चिट्ठी में विवाद पर उतर आए—जो राय मैंने दी उसका सर्वांश में खंडन कर डाला। इसकी क्या जरूरत थी? आप अपनी राय पर जमे रहते। ध्यान-समाधि लगाकर पुस्तक लिखने वालों को मेरे और बनारसीदास जैसे मनुष्यों की राय की परवा ही क्यों करनी चाहिए? वे अपनी राह जायं, आप अपनी। आप की राय ठीक, मेरी और बनारसीदास की गलत सही—तुष्यतु भवान्।"[3]

दयाशील द्विवेदी जी की उग्रता के मूल में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं होती थी। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि अपराधियों की क्षमायाचना सुनकर सच्चे हृदय से, सहर्ष और सस्नेह उन्हें क्षमा भी कर देते थे। मैथिलीशरण गुप्तने उपर्युक्त पत्र का उत्तर दिया था—

चिरगाँव, झाँसी

८. २. १६३२.

---

१ द्विवेदी जी के पत्र, सं० १३, 'सरस्वती', नवम्बर, १६४० ई०।

२. दौलतपुर में रक्षित मैथिलीशरण गुप्त के पत्र।

३. दौलतपुर में रक्षित द्विवेदी जी के पत्र की रूप रेखा।

पूज्यवर श्रीमान् पंडित जी महराज, प्रणाम।

कृपा कार्ड मिला। जिसे कहीं से अनुकूलता की आशा नहीं होती वह एकान्त में अपने देवता के चरणों में बैठकर, भले ही वह दोपी स्वयं हो, उसी को उपालम्भ देता है। ऐसे ही मैंने किया है—तस्मात्त्वास्मि नितरामनुकम्पनीयः।

मेरे सबसे छोटे भाई चारुशीलाशरण का बच्चा अशोक कभी-कभी खीझ कर मेरी टांगों में अपना शिर लगा देता है और मुझे ठेलता हुआ अपना अभिमान प्रकट करता है। समझ लीजिए, ऐसा ही मैंने किया है और मेरा यह व्यवहार सहन कर लीजिए—गीता के शब्दों में पितेव पुत्रस्य।

चरणानुचर

मैथिलीशरण"[1]

गुप्त जी के श्रद्धाशवलित पत्र ने द्विवेदी जी को पूर्ववत् प्रसन्न कर दिया। श्यामसुन्दर दास, बालमुकुन्द गुप्त, लक्ष्मीधर बाजपेयी, बी० एन० शर्मा, कृष्णकान्त मालवीय आदि साहित्यकारों से द्विवेदी जी की खटपट हुई। उनकी उग्रता या विवादों का कारण उनकी सत्यप्रियता, न्यायनिष्ठा, स्पष्टवादिता और इससे भी महत्तर हिन्दी-हितैषिता थी। यदि वे एक ओर उग्र और क्रोधी थे तो दूसरी ओर क्षमा और दया की राशि भी थे। वे परशुराम और तथागत गौतम के एक साथ अवतार थे। इसको पाप न कह कर पुण्य कहना ही अधिक युक्तियुक्त है।

द्विवेदी जी के चिन्तन, वचन और कर्म में, विचार और आदर्श में, अभिन्नता थी। दूसरों के प्रति वे वही व्यवहार रखते थे जिसकी दूसरों से आशा करते थे। उनकी वाणी से निम्नांकित श्लोक बहुधा मुखरित हुआ करता था—[2]

लज्जागुणौघजननीं जननीमिवस्यामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्॥

उनकी न्यायप्रियता इतनी ऊँची थी कि अपनी भी सच्ची आलोचना सुनकर वे प्रसन्न होते थे। २७. ५. १९१० ई० को पद्मसिंह शर्मा को लिखा था—

"इस हफ्ते का भारतोदय'अवश्य मनोरंजक है। कुछ पढ़ लिया। बाकी को भी पढ़ूंगा। 'शिक्षा' की समालोचना के लिए धन्यवाद। खूब है। पढ़ कर चित्त प्रसन्न हुआ। पर आप

1. दौलतपुर में रक्षित गुप्त जी का पत्र।
2. 'द्विवेदी मीमांसा', पृ० २३२।

का माफी मांगना अनुचित हुआ।"[1]

जब वैयाकरण कामताप्रसाद गुरु ने द्विवेदी जी के 'राजे', 'योद्धे', 'जुदा जुदा नियम', 'हजारहा' आदि चिन्त्य प्रयोगों की चर्चा की तब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया--आप मेरे जिन प्रयोगों को अशुद्ध समझते हैं उनकी स्वन्त्रता से समालोचना कर सकते हैं।[2] वे रिश्वत, झूठ आदि से डरने वाले धर्म भीरु थे। इस कथन की पुष्टि अधोलिखित पत्र से हो जाती है--

"श्रीमन्

मैं रिश्वत देना नहीं चाहता।...मैं झूठ बोलने से डरता हूँ। यह मुझे न करना पड़े तो अच्छा हो।..."[3]

सम्पादक, आनरेरी मुंसिफ और ग्राम-पंचायत के सरपंच के जीवन-काल में उन्हें न जाने कितने प्रलोभन दिए गए। द्विवेदी जी ने उन सबको ठुकरा कर कर्तव्य और न्याय की रक्षा की, उन पर तनिक भी आँच न आने दी। सम्पादनकाल में अपने हानिलाभ का ध्यान न रखकर सदा ही 'सरस्वती' के स्वामी और पाठकों का ध्यान रखा। न्यायाधीश के पद से, न्यायाधिकरण में व्यवहार चाहने वालों के पाप और पुण्य को निष्पक्ष भाव से न्याय की तुला पर तोला। सांसारिक शिष्टाचार और कृत्रिमता से दूर रह कर उन्होंने जीवन की सच्चाई को ही अपना ध्येय माना। दब कर किसी से बात नहीं की, क्योंकि उनमें स्वार्थ की भावना न थी। द्विवेदी जी की आलोचनाएँ उनकी निर्भीकता, स्पष्टता और सत्यवादिता प्रमाणित करती हैं। अपनी कर्तव्यपरायणता और न्यायनिष्ठा के कारण ही वे अनेक मायिक महानुभावों के शत्रु बन गये। यहाँ तक कि अध्ययनागार में भी उन्हें आत्मरक्षा के लिए तलवार, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्र रखने पड़े।

द्विवेदी जी सिद्धान्त और शुद्धता के पक्षपाती थे।[4] वे प्रत्येक कार्य में व्यवस्था, निय-

---

१. 'सरस्वती', नवम्बर, १९४० ई०।

२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १२४. २५।

३ 'सरस्वती', जुलाई १९४० ई०, पृ० ७४।

४ मेटन प्रेस, लन्दन के एक Indian Empire number प्रकाशित हो रहा था। कविता-विभाग के उप सम्पादक ने द्विवेदी जी से उनकी रचना माँगी। उक्त महोदय ने पत्र में द्विवेदी जी का नाम लिखा था Mahabur Prasad Devedi कविता भेजते हुए द्विवेदी जी ने उनसे निवेदन किया—

"If you accept it, please see that it is correctly printed, and send me a copy of the publication containing it, also see that my name

मितता, अनुशासन और काल का पालन करते थे। आवश्यक तथा सार्थक पत्रों का उत्तर लौटती डाक से देते और निरर्थक एवं अनावश्यक पत्रों के विषय में मौनधारण कर लेते थे। उनके हस्तगत सभी पत्रों पर नोट और तारीख सहित हस्ताक्षर हैं। जिस पत्र का उत्तर नहीं देना होता था उस पर No Reply लिख दिया करते थे। अनुशासन के इतने भक्त थे कि एक बार जूते का नाप भेजना था तो पत्र का लिफाफा अलग भेजा और नाप का धागा अलग।[1] अव्यवस्था और अशुद्धता उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं थी। वस्तुओं से ठसाठस भरा हुआ कमरा भी सदैव साफ सुथरा रहता था। वे अपने कमरे, सामान और पुस्तकों आदि की सफाई अपने हाथ से करते थे। प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्थान पर रखी जाती थी। कलम से कुछ लिखने के बाद उसकी स्याही पोंछ कर रखते थे। वस्तुओं का तनिक भी हेर फेर उन्हें खल जाता था। एक बार उनकी धर्मपत्नी ने थाली में रखे गए पदार्थों का नियमित क्रम भंग कर दिया तो उन्हें भर्त्सना सुननी पड़ी।[2] रवीन्द्रनाथ की गल्पों का एक संग्रह विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक को देते हुए कहा था--'इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं कलम या पेंसिल का निशान लगाइयेगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा और न पृष्ठ मोड़िएगा[3]'।

द्विवेदी जी की दिनचर्या बंधी हुई थी। झाँसी में वे बहुत सवेरे उठकर संस्कृत-ग्रन्थों का अवलोकन करते थे। फिर चाय पीकर ७ से ८ तक एक महाराष्ट्र पंडित से कुछ ग्रन्थोंके बारे में पूछतांछ करते थे। तदनन्तर बँगला, संस्कृत, गुजराती आदि की पत्रिकाओं का अवलोकन करते और स्वयं भी थोड़ा बहुत लिखते थे। लगभग १० बजे भोजन करके दफ्तर जाते थे। करीब दो बजे जलपान कर के अँगरेजी अखबार पढ़ते रहते और जो काम आता जाता था उसे समाप्त करते थे। लगभग चार पाँच बजे घर आते, हाथ मुंह धोते, कपड़े बदलते, द्वार पर बैठ जाते और आगत जनों से वार्तालाप करते थे। घंटे डेढ़ घंटे मनोरंजन करके पुस्तकावलोकन करते और फिर नव दस बजे सोने चले जाते थे।[4] उनके अफसरों ने उनकी पदोन्नति करके उन्हें अन्य स्थानों पर भेजना चाहा परन्तु इस भय से कि दिनचर्या और नियमितता में कहीं विघ्न न हो जाय, उन्होंने बराबर अस्वीकार किया।

---

is correctly spelt as shown below.

16, 6, 25."

द्विवेदी जी के पत्र की रूप रेखा, का० ना० प्र० सभा कार्यालय।

१. 'सरस्वती', भाग ४० सं० २, पृ० १४४. ४५।
२. ,, ,, ,, ,, १४५।
३. ,, ,, ,, ,, १६१।
४. ,, ,, ,, ,, १७१।

दौलतपुर में प्रतिदिन प्रातः काल उठ कर, शौचादि से निवृत्त होकर कुछ दूर खेतों की ओर टहलते थे। लौट कर सफाई करते थे। फिर बारह बजे तक आवश्यक चिट्ठी-पत्रियों का उत्तर देते, सम्मत्यर्थ आई हुई पुस्तकों और दो चार समाचार पत्रों का अवलोकन करते थे। दोपहर के समय पुनः शौच को जाते और तब स्नान करते थे। भोजनोपरान्त पत्रपत्रिकाएं पढ़ते थे। प्रायः दो बजे के बाद मुकदमें देखते थे। मुकदमों के अभाव में किंचित् विश्राम करके अखबार भी पढ़ा करते थे। सन्ध्या समय चार बजे के बाद अपने बागों और खेतों की ओर घूमने जाते, लौट कर थोड़ी देर तक द्वार पर बैठते, कोई आ जाता तो उससे बातें करते, तदनन्तर सोने चले जाते थे।[१]

यदि कभी उनके मुँह से यह निकल गया कि आप के घर अमुक दिन अमुक समय पर आऊँगा तो विघ्नसमूहों के होते हुए भी वचन का पालन करते थे। ज्येष्ठ मास के अपराह्न में भयंकर लू की अवहेलना करके कानों में डुपट्टा लपेटे,छाता लिए हुए ढाई कोस पैदल चल कर देवीदत्त शुक्ल के घर पहुँच जाया करते थे।[२]

एक बार एक आई. सी. एस. महोदय उनसे मिलने गए। द्विवेदी जी का मिलने का समय नहीं हुआ था। उन महाशय को आधे घंटे प्रतीक्षा करनी पड़ी। एक साधारण व्यक्ति के असाधारण कार्यक्रम पर वे अत्यंत अप्रसन्न हुए। द्विवेदी जी ने इसकी तनिक भी परवाह न की। कदाचित् इसी के परिणामस्वरूप जिलाधीश महाशय ने द्विवेदी जी को,'सरस्वती' के विज्ञापनों के बहाने, दंड देने का असफल प्रयास किया था।[३] बाबू चिन्तामणि घोष ने द्विवेदी जी की प्रशंसा करते हुए एक बार कहा था—'हिन्दुस्तानी सम्पादकों में मैंने वक्त के पाबन्द और कर्त्तव्यपालन के विषय में दृढ़प्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे हैं, एक तो रामानन्द बाबू और दूसरे आप।'[४]

द्विवेदी जी की असामान्य सफलता का एक मात्र रहस्य है उनका दृढ़ संकल्प और अध्यवसाय। एक अकिंचन ब्राह्मण की सन्तान ने, जिसके घर में पेट भरने के लिए भोजन और तन ढकने के लिये वस्त्र नहीं था, चौथाई शताब्दी तक दस करोड़ जनता का एकातपत्र

---

१. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २१८।

२ 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २०५।

३. इसकी चर्चा आगे चल कर 'साहित्यिक संस्मरण' अध्याय में की गई है।

४. द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति',
सरस्वती, १९२८ ई०, खंड २, पृ० २८२....।

साहित्यिक शासन किया--यह उसके अदम्य उत्साह का ही परिणाम था। वे प्रकृति के नियमों की भाँति अटल थे। शैशव से लेकर स्वर्गवास तक उनका सम्पूर्ण जीवन प्रतिकूल परिस्थितियों के विरुद्ध एक घोर संग्राम था। मतभेदों, विरोधों, प्रतिद्वंद्वियों और आपत्तियों की आँधी, बवंडर और तूफान उन्हें उनके प्रशस्त पथ से तनिक भी डिगा न सके। तन के अस्वस्थ रहने पर भी उनका मन सदा स्वस्थ रहा। दीनतारहित स्वावलम्बन, आजीवन हिंदी सेवा के व्रत का निर्वाह, 'अनस्थिरता' आदि वादों में अपनी बात को अकाट्य सिद्ध करने, का सफल प्रयास, न्याय, सत्य और लोककल्याण के लिये निजी हानि और कष्टों की चिन्ता न करना आदि बातें उनके संकल्पपालन और अप्रतिम प्रतिभा की द्योतक हैं।

वे अकर्मण्यता के कट्टर शत्रु थे। ढीले ढाले व्यक्तियों को तो बहुधा अप्रसन्न द्विवेदी की फटकार सहनी पड़ती थी।

माता, पिता, पत्नी आदि अनेक सम्बन्धियों की मृत्यु का वज्रपात हुआ, परन्तु द्विवेदी जी ने संसार के सामने अपना रोना नहीं रोया। कितनी ही आधि-व्याधियों ने उन्हें निपीड़ित किया तथापि उन्होंने साहित्य-सेवा को क्षति नहीं पहुँचने दी। सारी वेदनाओं को धैर्य्य और उत्साह से सहा। उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों, साहित्यिक और धार्मिक वादों को लेकर लोगों में उन्हें न जाने क्या-क्या कहा, गालियाँ तक बकीं। द्विवेदी जी हिमालय की भाँति अप्रभावित और अचल रहे। जहाँ आवश्यक समझा, सत्य और न्याय की रक्षा के लिये प्रतिवाद किया, अन्यथा मौन रहे। 'कालिदास की निरंकुशता'-विषयक विवाद के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने राय कृष्णदास को लिखा था--'मैं तो प्रतिवादों का उत्तर देने से रहा। आप उचित समझें तो किसी पत्र में दे सकते हैं।''[1] बदरीनाथ गीता-वाचस्पति को लिखा गया पत्र उनकी सहिष्णुता की विशेष व्यंजना करता है—

"...मेरी लोग निन्दा करते हैं या स्तुति, इस पर मैं कभी हर्ष, विषाद नहीं करता। आप भी न किया कीजिए। मार्गभ्रष्ट कभी न कभी मार्ग पर आ ही जाते हैं। मेरा किसी से द्वेष नहीं, न लखनऊ के ही किसी सज्जन से, न और ही किसी से। उम्र थोड़ी है। वह द्वेष और शत्रुभाव प्रदर्शन के लिए नहीं। मैं सिर्फ इतना करता हूँ कि जो मेरे हृद्गत भावों को नहीं समझते, उनसे दूर रहता हूँ।''[2]

द्विवेदी जी सस्ती ख्याति के भूखे न थे। इसी कारण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, अभिनन्दन,

---

१. २६. ६. ११ को लिखित, 'सरस्वती', नवम्बर, १६४४ ई०।
२. २१. ११. १४. को लिखित, सरस्वती, मई, सन् १६४० ई०।

मेले आदि से दूर रहना चाहते थे। उन्हें 'रायबहादुर' सरीखी उपाधियों की तनिक भी कामना न थी। उन्हें सच्चा सुख और सन्तोष दूसरों के सुख और शान्ति में मिलता था। उन्होंने स्वयं लिखा था—"जब बदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है तब मैं समझता हूँ कि मुझे कैसरे हिन्द का तमगा मिल गया।"[१] उन पर कुछ लिखने के लिए लोग द्विवेदी जी से उनकी अपटु–डेट कृतियों के उल्लेखसहित उनकी संक्षिप्त जीवनी माँगते, परन्तु द्विवेदी जी उनके इन पत्रों का उत्तर तक न देते थे।[२]

सूर्यनारायण ने जब उनकी जीवनी लिखकर संशोधन के लिए उनके पास भेजी तब द्विवेदी जी ने उसमें काटछांट की, कुछ घटाया बढ़ाया भी। कई बातें अपनी प्रशंसा में भी जोड़ीं, यथा "विद्याविषयक वादविवाद में भी द्विवेदी जी की बराबरी शायद ही कोई और हिन्दी लेखक कर सके। हिन्दी पत्रों के पाठक इस बात को भी भली भाँति जानते हैं।" या "द्विवेदी जी हिन्दी संस्कृत दोनों भाषाओं के उत्तम कवि हैं।"[३] इन बातों को लेकर उन्हें आत्मश्लाघी कहना उचित नहीं। संशोधनरूप में कलित इन पंक्तियों का कारण आत्मप्रशंसा न होकर सच्चे शिक्षक की सुधारक–मनोवृत्ति ही है।

द्विवेदी जी शिष्टाचार के पूरे पालक थे। जब कोई उनके पास जाता तो अपनी डिबिया से दो पान उसे देते और बात चीत समाप्त होने पर फिर दो पान देते जो इस बात का संकेत होता कि अब आप जाइये।[४] अपने प्रत्येक अतिथि की शुश्रूषा वे आत्मविस्मृत होकर करते थे। जुही में जब केशवप्रसाद मिश्र सोकर उठे तो देखा कि द्विवेदी जी स्वयं लोटे का पानी लिए हुए खड़े हैं। मिश्र जी लज्जित हो गए। द्विवेदी जी ने उत्तर दिया "वाह! तुम तो मेरे अतिथि हो।"[५]

उनके शिष्टाचार में किसी प्रकार की मायिकता या आडम्बर नहीं था। वे वास्तविक अर्थ में शिष्ट आचार के समर्थक थे। किसी की थोड़ी भी अशिष्टता उन्हें खल जाती थी। एक बार वे कामताप्रसाद गुरु से बातें कर रहे थे। गुरु जी बीच ही में बोल उठे। द्विवेदी जी ने चेतावनी दी—आप से बातचीत करना कठिन है। गुरु जी नतमस्तक हो गए।[६]

---

१. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २७५ पर उद्धृत।
२. दौलतपुर में रक्षित वैद्यनाथ मिश्र विह्वल का पत्र, २५. ४. २६।
३. द्विवेदी जी के पत्र, बंडल ३ च, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कार्यालय।
४. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २३।
५. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १८६।
६. ,, ,, ,, ,, १३३।

देवीदत्त शुक्ल, हरिभाऊ उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, केदारनाथ पाठक, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि ने उनके शिष्टाचार की भूरि भूरि प्रशंसा की है।[१]

द्विवेदी जी सम्भाषणकला में भी पटु थे। वार्तालाप के समय बीच बीच में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू आदि के सुभाषितों का बड़ा ही चुभता हुआ साधिकार प्रयोग करते थे। उनके भावपूर्ण उद्गारों—'अनुमोदन का अन्त', 'कौटिल्य कुठार', 'सम्पादक की विदाई', द्विवेदी-मेले के समय आत्मनिवेदन आदि—में यह शैली सौन्दर्य की सीमा पर पहुँच गई है। उनकी रचनाओं में सर्वत्र ही प्रभावशाली वक्ता का मनोहर स्वर सुनाई पड़ता है।

द्विवेदी जी बड़े ही वत्सल और प्रेमी थे। बच्चों के प्रति उनका स्नेह अगाध था। अपनी माता जी में इतनी श्रद्धा और उनके दुख सुख का इतना ध्यान रखते थे कि जब पन्द्रह रुपए की नौकरी करते थे तब भी पाँच रुपया मासिक उन्हें भेजा करते थे। उनके पत्नी-प्रेम का पावन प्रतीक स्मृति-मन्दिर तो आज भी विद्यमान है। अपनी विधवा सरहज के प्रति उनका स्नेह कम न था। अपने १६०७ ई० के मृत्यु-लेख[२] में उन्हें भी विशिष्ट स्थान दिया था। वृद्धावस्था में उनके परिवार में भानजा, भानजे की वधू, और एक लड़की थी। ये दूर के सम्बन्धी थे परन्तु द्विवेदी जी उन्हें आदर्श पिता की भाँति प्यार करते थे। वे पर-दुख-कातर और प्रेमी थे। सम्बन्धियों और मित्रों के बाल-बच्चों, आश्रित जनों और दास-दासियों तक की सहायता और पालना उन्होंने जिस स्नेह और उदारता से की वह सर्वथा श्लाघ्य है।

मित्र या भक्त के लिए उनके मन में संकोच का लेश भी नहीं था।[३] सम्बन्धियों के स्मरण मात्र से ही उनकी आँखें सजल हो जाती थीं। उनके विरोधी भी उनके प्रेमभाव के कायल थे। अपने समीप आने वालों को वे प्रेम से मोह लेते थे। केदारनाथ पाठक की चर्चा ऊपर हो चुकी है। पंडित हरिभाऊ उपाध्याय आदि ने भी द्विवेदी जी के वात्सल्य का मुक्तकंठ से गुणगान किया है— "सम्पादक, विद्वान्, आचार्य द्विवेदी को सारा हिन्दी-संसार जानता है। परन्तु सहृदय, वत्सल पिता द्विवेदी को कितने लोग जानते होंगे? निश्चय ही सम्पादक द्विवेदी से यह पिता द्विवेदी अधिक महान् था।"[४]

---

१. इस सम्बन्ध में 'हंस', का 'अभिनन्दनांक', 'बालक', का 'द्विवेदी-स्मृतिअंक', 'द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'साहित्य-सन्देश' का 'द्विवेदी-अंक' और 'सरस्वती' का 'द्विवेदी-स्मृति-अंक' विशेष द्रष्टव्य हैं।
२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित।
३. राय कृष्णदास को लिखित पत्र; 'सरस्वती', भा० ४५, सं० ४, पृ० ४६७।
४. 'सरस्वती', भा० ४०, सं० २, पृ० १३८।

द्विवेदी जी सहानुभूति, करुणा कोमलता और भावुकता के अवतार थे। उनके व्यक्तिगत व्यवहारों के अतिरिक्त, 'अनुमोदन का अंत',[१] 'सम्पादक की विदाई',[२] हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से किया गया भाषण, अभिनन्दन के समय आत्मनिवेदन, द्विवेदी-मेले का भाषण आदि उनकी कोमल भावनाओं के स्पष्ट प्रमाण हैं। प्रयाग के साहित्यिक मेले में तो भाषण के समय उनकी आखों में आँसू भर आए थे। अनुशासन की कठोरता और आलोचनाओं की तीव्रता के आधार पर उनकी भावुकता को कुण्ठित समझना न्याय के प्रति घोर अन्याय होगा। उत्सव में नाचती हुई वेश्या के मुख से 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' और स्त्रियों के 'बिछुड़ गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा' जैसे गीत सुन कर मूर्च्छित हो जाते थे। मनुष्य की सहृदयता का इससे अधिक और कौन सा प्रमाण चाहिए?

वे गुणग्राहक और उदार थे, 'हम चुनी दीगरे नेस्त' और हठधर्मी से बहुत दूर। अपनी आलोचनाओं में उन्होंने व्यक्तियों की महिमा और लघिमा पर ध्यान न देकर उनकी रचनाओं के गुणों और अवगुणों की अनुकूल या प्रतिकूल आलोचना की। जीवनवृत्तों में गुणी व्यक्तियों को ही स्थान दिया। जिस नागरी प्रचारिणी सभा की बुराइयों की निन्दा की, उसी के गुणों की श्लाघा भी की। अपने सम्पादन-काल में जिस किसी भी व्यक्ति को प्रतिभाशील और योग्य समझा उसे ही अपनी प्रार्थना, उपदेश, शिक्षा या कृपा से हिन्दी के सेवा-पथ पर अपना सहयात्री बना लिया। बनारसीदास चतुर्वेदी जी को लिखे गए अपने ३१.१२ २४ ई० के पत्र में उनकी उदारता और सहृदयता का गुणगान किए बिना न रह सके—

"....आपके सत्संग से जो शिक्षाएँ मैंने ग्रहण की हैं उन्हें मैं अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करूँगा।...आपके उदारतापूर्ण स्वभाव के कारण मुझे अपनी क्षुद्रता पर लज्जित होना पड़ा है। आप की सहृदयता पर मुग्ध हूँ।"[३]

द्विवेदी जी के विचार उन्नत और उदार थे। व्यक्तिगत और साहित्यिक जीवन दोनों में ही उनका व्यवहार निष्पक्ष और न्याय संगत रहा। तथापि वे मानवसमाज के अपवाद न थे। महाकवि कालिदास के शब्दों में 'भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः'। काशी विश्वविद्यालय के सेंट्रल हिन्दू स्कूल में उन्होंने एक छात्रवृत्ति प्रदान की और उसके अधिकारी का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया—

---

१. 'सरस्वती', १९०९ ई०, पृ० ५७।
२. 'सरस्वती', १९२० ई०, पृ० १।
३. द्विवेदी जी के पत्र सं० २२, ना० प्र० सभा, कार्यालय, काशी।

१. दौलतपुर (द्विवेदी जी के गाँव) का कोई कान्यकुब्ज छात्र
२. रायबरेली जिले का कान्यकुब्ज छात्र
३. अवध का कोई कान्यकुब्ज विद्यार्थी
४. कहीं का कान्यकुब्ज विद्यार्थी
५. कोई अन्य ब्राह्मण छात्र

इतने प्रतिबन्ध ने अधिकारियों को संकट में डाल दिया। अपने १९०७ ई० के मृत्युलेख में भी उन्होंने इसी प्रकार की एक पक्षपातपूर्ण शर्त लिखी थी।[1]

द्विवेदी जी दानवीर थे। अपनी गाढ़ी कमाई के ६४०० रुपए उन्होंने काशी विश्वविद्यालय को दान कर दिए। गरीबों की लड़कियों के विवाह में, निर्धनों की विपन्नावस्था में, विधवाओं के संकटकाल में तथा अनाथों की निस्सहाय दशा में वे यथाशक्ति उनकी सहायता करते थे। परोपकार में ही उन्हें परमानन्द मिलता था। झाँसी में उन्होंने सैकड़ों नहीं हजारों आदमियों की नौकरी लगवाई।[2] आत्माभिमानी होते हुए भी एक विद्यार्थी को विलायत भेजकर शिक्षा दिलाने की मंगलभावना से प्रेरित होकर उन्होंने चापलूसी की, 'अयोध्याधिपस्य प्रशस्ति' लिखी।[3] वे इतने लोभरहित थे कि भानजियों के विवाहादि में भी लोगों को निमन्त्रण नहीं देते थे। किशोरी दास वाजपेयी के उपालम्भ देने पर उन्हें लिखा था—'निमन्त्रण देना मानों कुछ माँगना है।'[4] सम्पादनकाल में तो यदि कोई उन्हें आर्थिक सहायता देना चाहता था तो वे उससे 'सरस्वती' की सहायता करने के लिए निवेदन करते थे।[5]

---

1. The interest on my money should be utilised---by sending to Japan or any other suitable co ıntry an enterprising and deserving youth kanyakubja Brahman......"

द्विवेदी जी की will, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कार्यालय।

२. सूर्यनारायण दीक्षित-लिखित द्विवेदी जी की जीवनी पर स्वयं द्विवेदी जी द्वारा कलित नोट, द्विवेदी जी के पत्र, बंडल ३ च, का० ना० प्र० सभा, कार्यालय।
३. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २०५।
४. ,, ,, ,, ,, २२२।
५. आपने अपने पत्र में लिखा है कि हम अपने लिए श्रीमान् को तकलीफ देना नहीं चाहते। जो 'सरस्वती' के सहायतार्थ देंगे वह सधन्यवाद स्वीकृत होगा।" जनार्दन झा द्वारा द्विवेदी जी को लिखित पत्र, द्विवेदी जी के पत्र, सं० १११,

काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय।

दानशील द्विवेदी की संग्रह-भावना भी सराहनीय थी। पैकटों की डोरियां, लेबल के कागज, लिफाफे आदि संभाल कर रखते तथा उनका उपयोग करते थे [१]। उनके पास आई हुई चिट्ठियाँ, अनेक पत्रों की रूप-रेखाएं, रसीदें आदि आज भी उपलब्ध हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित सरस्वती के स्वीकृत और अस्वीकृत लेखों की हस्तलिखित प्रतियां उनकी निजी रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ, पत्रपत्रिकाओं की कतरनें, कलाभवन और कार्यालय में लगभग तीस हजार पत्र, सैकड़ों पत्रिकाओं की फुटकल प्रतियां, दस आल्मारी पुस्तकें, दौलतपुर में रक्षित पत्र, कतरनें, न्यायसम्बन्धी कागदपत्र, नकशे, चित्र, हस्तलिखित रचनाएं आदि एक महान् पुरुष की संग्रह–भावना की साक्षी हैं।

द्विवेदी जी में वदान्यता और मितव्ययिता का असाधारण संयोग था। वे अपनी आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित रखते थे। झांसी में आय के एक तिहाई भाग में ही सब काम चला लेते थे। अपने 'सम्पत्तिशास्त्र' के नियमों को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ किया। उनका सिद्धान्त था––

इदमेव हि पांडित्यमियमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्यय: ॥

वे अपने आय-व्यय का पैसे पैसे का हिसाब रखते थे। बाहर से आनेवाले पत्रों. अखबारों, पैकटों आदि के बन्धनों और सादे कागदों का मितव्ययिता के साथ उपयोग करते थे।

उनके अशन और वसन सभी में सादगी थी [२]। वे निरामिष सादा भोजन करते थे वृद्धावस्था में तो दूध, साग और मोटा दलिया ही एकमात्र आहार–था। पहले पान और तम्बाकू खाते थे, फिर वह भी छोड़ दिया। यदा कदा देशी तम्बाकू का थोड़ा सेवन कर लिया करते थे। पहले चाय बहुत पिया करते थे, परन्तु कालान्तर में उसका स्थान दूध को दे दिया।

रेलवे की नौकरी और सम्पादन के आरम्भिक काल में वे देशी कपड़े का कोट पतलून पहनते थे। बाद में साधारण मोटऊ धोती, कुरता, चार छः आने की मामूली टोपी और चमरौधा जूता ही उनकी वेषभूषा थी। घर में मेजकुर्सी नहीं थी। लकड़ी के तखत पर

---

१. 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० ५३३।

२ राय कृष्णदास को लिखित पत्र, ३०. ६. १५, 'सरस्वती'. भा० ४६, सं० १, पृ० ३८
८. ७. २० ,, ,, ,, २ ८२

तकिए के सहारे बैठते और घुटने पर तख्ती रखकर लिखते थे। पैड की कभी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई साधारण कागद पर ही पत्र लिखते थे। कभी कभी तो पत्र या सम्पादकीय नोट रद्दी लिफाफे फाड़कर उसकी दूसरी ओर या अखबारों के रैपर आदि पर लिखते थे।[1]

उनकी अतिशय सादी वेषभूषा बहुधा लोगों को भ्रम में डाल देती थी। एक बार केशव प्रसाद मिश्र द्विवेदी जी से मिलने गए। द्विवेदी जी एक अमौवे की बंडी और पंडिताऊ कंटोप पहने बैठे थे। मिश्र जी ने उन्हें कोई ग्रामीण समझ कर उन्हीं से द्विवेदी जी से मिलने की इच्छा प्रकट की।[2] विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक को भी कुछ ऐसी ही भ्रान्ति हुई। द्विवेदी जी पैर लटकाकर एक खरहरी चारपाई पर बैठे हुए थे। उनके शरीर पर बंडी, घुटनों तक धोती और पैर में खडाऊँ था। कौशिक जी ने संकोच के साथ कहा--मैं द्विवेदी जी से मिलना चाहता हूँ।[3]

स्वदेशी वस्तुओं के प्रति उनके हृदय में अगाध प्रेम था। एक बार लखनऊ में एक रेशमी और दूसरा गाढ़ा सूट सिलाने गये। दर्जी को निर्देश किया--देखो टेलर मास्टर! रेशमी सूट में कोई त्रुटि हो जावे तो कोई बात नहीं, लेकिन गाढ़े के सूट में कोई त्रुटि न होने पावे और आधे घंटे तक यही बात उसे समझाई।[4] यह थी उनकी गाढ़े के प्रति ममता! उस समय स्वदेशी-आन्दोलन का सूत्रपात भी नहीं हुआ था। बरहज आश्रम में हाथ के बने हुये कागद का विज्ञापन पढ़कर एक रुपये का कागद वी. पी. पी. से मंगाया और अपने पत्र में ग्रामोद्योग के लिये प्रसन्नता प्रकट की।[5]

जान पड़ता है कि आरम्भ में द्विवेदी जी अंगरेजी शासन के भक्त थे। 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' में उन्होंने लिखा था--

"इस पुस्तक को हमने साद्यन्त पढ़ा,परन्तु इसमें ऐसा कोई पाठ हमको न मिला, जिसमें अंगरेजी राज्य की प्रशंसा अथवा कथा होती। नादिरशाह का वृत्तान्त है, भारतेश्वरी विक्टोरिया का नहीं। बाबर की कथा बड़े प्रेमसे वर्णन की है,किसी वाइसराय की नहीं। जिसके राज्य में हम लोग सुखसे शयन करते हैं, जिसके राज्यमें हिन्दी पाठशालाएँ नियत हुई हैं और जिस के राज्य में, आज, किताबें लिखने का सौभाग्य हमको प्राप्त हुआ है, उसका अथवा उसके

---

१. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० २२७ २८।
२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २ पृ० १८६।
३ 'सरस्वती, भाग ४०, सं० २, पृ० १६०।
४. ,, ,, ,, ,, ,, १४६।
५ ,, ,, ,, ,, ,, १८६।

किसी प्रतिनिप्रधि का परिचय लड़कों को दिलाना क्या कोई अनुचित बात थी ?"[१] बृटिश सरकार की इससे बढ़कर चापलूसी और क्या हो सकती है ? परन्तु यह उनका व्यभिचारी भाव था जो आगे चलकर विलीन हो गया।

वस्तुत: उनका हृदय देश-प्रेम से ओतप्रोत था। यद्यपि साहित्य-सेवा से अवकाश न मिलने के कारण उन्होंने राजनैतिक उन्मेष में सक्रिय योग नहीं दिया तथापि राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी। गान्धी जी में उनका विशेष श्रद्धाभाव था। महात्मा जी के उपवास की चर्चा पत्रों में पढ़ कर उन्होंने स्वयम् उपवास किया और रोये भी। एक बार लिखा—'गान्धी जी को तो आधुनिक सांचे में पला हुआ महर्षि समझना चाहिए। उनके लेखों और व्याख्यानों में व्यक्त किये गये उनके विचारों से हम लोगों को यथाशक्ति लाभ उठाना चाहिए।'[२]

द्विवेदी जी को हिन्दी-भाषा और साहित्य से ही नहीं,अपनी बैसवाड़ी बोली से भी विशेष प्रेम था। 'कल्लू अल्हइत' का 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' और निराला जी के पत्र[३] इस कथन का समर्थन करते हैं। भारतीयों का विदेशी भाषा में लिखना उन्हें बहुत खलता था। वे चाहते थे कि भारत भर में हिन्दी का प्रचार हो। कचहरियों, विश्वविद्यालयों और कालेजों से हिन्दी का बहिष्कार और घर के काम-काज, चिठी-पत्री, खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा आदि में अँगरेजी का आधिपत्य, उनकी दृष्टि में, हिन्दी-भाषियों के पतन की चरम सीमा था। उनका हार्दिक विश्वास था कि अपने देश, अपने जनसमुदाय और अपने प्रान्त के सर्वांगीण कल्याण की रामबाण ओषधि है हिन्दी भाषा का प्रचार। मातृभाषा के प्रति उदासीन शिक्षित लोगोंको लज्जित करने के लिये उन्होंने विदेशियों तक से निवेदन किया। आर० पी० ड्यूहर्स्ट को एक पत्र में लिखा--

"···हमारे देशबन्धु अँगरेजी ऐसी क्लिष्ट भाषा लिखकर उसके साहित्य को तो गंदला करते हैं पर अपनी मातृभाषा में लिखने की चेष्टा नहीं करते। यह दुर्भाग्य की बात है। क्या ही अच्छा हो यदि आप मातृ-भाषा-विषयक मनुष्य का कर्तव्य या इसी तरह के किसी और विषय पर हिन्दी में एक लेख लिख कर इन लोगों को लज्जित करें। डाक्टर ग्रियर्सन से हमने प्रार्थना की थी, उन्होंने शालीनतासूचक यह उत्तर दिया कि हिन्दी में उनकी यथेष्ट

१. 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना', पृ० ३३।
२. 'सरस्वती', सितम्बर, १९१८ ई०, पृ० १६८।
३. निराला जी के पत्र दौलतपुर में रक्षित हैं।

गति नहीं। आशा है सरस्वती में आपको जो त्रुटियाँ मिलें उनकी सूचना देकर आप हमें अपना कृतज्ञताभाजन बनावेंगे। हम एक बहुत ही अल्पज्ञ जन हैं।

विनयावनत

महावीरप्रसाद द्विवेदी"[१]

द्विवेदी जी ने स्वयं भी अपने पत्रों और लेखों में अँगरेजी शब्दों का का प्रयोग किया है। 'वन्देमातरम्' कविता की पहुँच पर सत्यनारायण कविरत्न को लिखा था—

"·····वन्देमातरम् पहुँचा। कविता बड़ी मनोहर है। थैंक्स। ऐसे ही कभी कभी लिखा कीजिए। और सब कुशल है।···"[२]

जिन पत्रों का उत्तर नहीं देना होता था उन पर प्रायः अँगरेजी में ही No Reply लिखा करते थे। 'सरस्वती' के हस्तलिखित लेखों की प्रतियों में द्विवेदी जी के हस्ताक्षरों में अंकित आदेश बहुधा अँगरेजी में ही हैं।[३] हिन्दी-साहित्यकारों और अपने सम्बन्धियों तक को उन्होंने अंगरेजी में पत्र लिखे हैं।[४] आगे चलकर उन्होंने अपना सुधार किया और यह आदत छोड़ दी। इस विषय में अपने एक सम्बन्धी को उन्होंने लिखा था—"एक ही प्रान्त के निवासी और एक ही मातृभाषाभाषी दो समीपी सम्बन्धी छः सहस्र मील दूरस्थ द्वीप की भाषा में पत्र-व्यवहार करें यह दृश्य देवताओं के देखने

---

१. ६. ३. १९०७ ई० को लिखित, द्विवेदी जी के पत्र, सं० ६४७, का० ना० प्र० सभा, कार्यालय।

२. 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १९८।

३. उदाहरणार्थ, सितम्बर, १९०५ ई० के अंक में प्रकाशित 'महाश्वेता' के विषय में आदेश किया था—"Note---This is a picture by Ravi Verma reproduce it. You have it already. M. P. D.

'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, कलाभवन, ना० प्र० सभा, काशी।

४. अंगरेजी में लिखित पत्र का मूल इस प्रकार है— Jhansi

30 th October. 1903.

·····The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I will ask you kindly to come to see me at G. I. P. Ry. Agra City Booking Office in Rawatpara. Your description of Hemant will appear in 'Saraswati' either in December or January.

Yours sincerely

Mahavir Prasad.

सत्यनारायण कविरत्न को लिखित, 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १९७, ९८।

योग्य है। ऐसा अस्वाभाविक चित्र भारत जैसे पतित देश में ही सम्भव है।"[1] अपनी भाषा की उन्नति देखकर उन्हें परमानन्द और उसकी अवनति देखकर आन्तरिक क्लेश होता था।[2] अपने मातृभाषाप्रेम को प्रमाणित करने के लिए ही उन्होंने प्रयाग के द्विवेदी-मेले के अवसर पर पचास रुपए का पुरस्कार देकर 'मातृभाषा की महत्ता' विषय पर निबन्ध-प्रतियोगिता कराई।[3]

द्विवेदी जी के लाख उद्योग करने पर भी जब बहुतेरे हिन्दी-भाषियों में अपनी भाषा और साहित्य के प्रति यथेष्ट राग उत्पन्न न हो सका तब उन्होंने अपने भाषण में उनकी धज्जी उड़ाई। हिन्दी-साहित्य के प्रति उदासीन जनों की भर्त्सना करते हुए उन्होंने कहा—

"समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किं बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।"[4] मातृ भाषा को छोड़ कर अन्य भाषाओं में लिखनेवालों पर भी उन्होंने कठोर प्रहार किया—

"अपनी मां को निस्सहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़ कर जो मनुष्य दूसरे की मां की सेवा शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।"[5]

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने किस प्रकार और कितना सुधार किया, इसकी समीक्षा आगे की जायगी। उनकी रचनाओं में कल्पना की ऊँची उड़ान, कला की गहराई और चिन्तन की गम्भीरता नहीं है। उनका वास्तविक गौरव शुद्ध सात्विक प्रेरणा, लगन की आभा और शिक्षक की मनोवृत्ति पर ही निर्धारित है। साहित्येतर क्षेत्रों में भी

१- अंगरेजी में लिखित मूल पत्र इस प्रकार है—

"That two persons being closely related to eaeh other, and being natives of the sama province, and speaking the same mother-tongue-should carry on correspondence in a language of an island six thousand miles away is a spectacle for gods to see. Such an unnatural scene is possible only in a wretched country like this."

'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० ५६७।

२. द्विवेदी-मेले के अवसर पर द्विवेदी जी का भाषण, पृ० १ और ६

३. ,, ,, ,, ,,—अन्तिम पृष्ठ।

४. हि० सा० स० के कानपुर अधिवेशन में द्विवेदी जी का भाषण, पृ० २३।

५. हि० सा० स० के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्षपद से द्विवेदी जी का भाषण, पृ० २३।

उन्होंने सुधार किया। अपने सुधारों द्वारा अपने गाँव को आदर्श बनाया। जो कोई भी नौसिखिया उनके सम्पर्क में आया उसका कुछ न कुछ सुधार अवश्य हुआ।

'अनन्यसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्।'

कालिदास की उपर्युक्त उक्ति को चरितार्थ करते हुए कुछ लोगों ने द्विवेदी जी के चरित्र पर आक्षेप भी किया। उन्हें नास्तिक, अभिमानी, क्रोधी आदि विशेषणों से विशिष्ट तो किया ही, व्यभिचारी तक कह डाला। उन्हें नास्तिक समझने वालों की भ्रान्ति दूर करने के लिए उनका 'कथमहं नास्तिकः' ही पर्याप्त है। वे अभिमानी और क्रोधी अवश्य थे परन्तु अकारण और सज्जनों के प्रति नहीं।

द्विवेदी-जी स्वाभिमानी थे। उन्होंने किसी के समक्ष कुछ पाने की आशा से शीश नहीं झुकाया। 'अयोध्याधिपस्य प्रशस्ति' परोपकार के लिए की गई। परन्तु राजा कमलानन्द की प्रशस्ति[1] का एक मात्र आधार स्वार्थ ही प्रतीत होता है। यह बात 'स्वाधीनता' के समर्पण और द्विवेदी जी के पत्रव्यवहार से पुष्ट भी हो जाती है।[2] इस स्वार्थ में भी हिन्दीसेवा का भाव था।

धन के प्रति उन्हें मोह नहीं था। वृद्धावस्था में सब कुछ दान कर के वे दरिद्र हो गए--समस्त जलराशि को भूतल पर बरसा देने वाले बादल की भाँति। दरिद्रता से अभिभूत हो कर उन्होंने जौनपुर के राजा स्वर्गीय श्री कृष्णदत्त जी दुबे को आर्थिक सहायता के लिए पत्र लिखा था।[3] घनश्यामदास बिड़ला के एक पत्र से सिद्ध होता है कि द्विवेदी जी ने उनसे भी आर्थिक सहायता माँगी थी।[4] रघुवंश कुमारी, राजमाता दियरा, उन्हें अपना बड़ा भाई समझतीं और समय-समय पर रुपया भी भेजती रहती थीं।

१६२४ ई० में वे काशी विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के परीक्षक थे। विश्य-

---

१. द्विवेदी जी के पत्र सं० २५१६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित द्विवेदी जी के पत्र।

३. वह पत्र रक्षित नहीं है। वर्तमान राजा साहब और जौनपुर राज कालेज के अध्यापक पं० नागेन्द्र नाथ जी उपाध्याय के कथनानुसार उसका सारांश था —आपका दुबे राज्य है, इसीलिये आप से सहायता की प्रार्थना की है।

६ मार्च, १६२८ ई०

४. "पूज्य पंडित द्विवेदी जी से नमस्कार,

आप का पत्र मिला और आपको यदि मैं किसी प्रकार की सहायता कर सकूँ तो मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी, मैं आपका पत्र पंडित हरिभाऊ जी उपाध्याय जो सस्ता-साहित्य-मंडल के प्रबन्धक हैं उनके पास भेजता हूँ। उनका उत्तर आनेपर फिर आप से पत्रव्यवहार

विद्यालय का आदेश था कि आप प्रश्नपत्र, ड्राफ्ट या कापी नहीं रख सकते। द्विवेदी जी ने इस आदेश की अवहेलना करके प्रश्नपत्र की एक कापी अपने पास रख ली। जो आज भी उपलभ्य है।[1]

ये अपवाद मनुष्य की सहज प्रवृत्ति के परिणाम हैं। चरित्रदोष की कोटि में इन्हें स्थान देना हृदयहीनता है। द्विवेदी जी मनुष्य थे जो सदा अपूर्ण है। मानव का गौरव इस बात में है कि वह विघ्नबाधाओं को ठेलता हुआ जीवनप्रासाद के कितने तल ऊपर चढ़ा है, लोक-कल्याण के पथ पर कितने पग आगे बढ़ा है। महान् वह है जो असंख्य जनसमुदाय के शरीर पर नहीं, हृदय पर शासन करता है। इस अर्थ में द्विवेदी जी महान् थे और रहेंगे।

करूंगा।

विनीत

घनश्यामदास बिड़ला।

दौलतपुर में रक्षित पत्र।

१. दौलतपुर में रक्षित विश्वविद्यालय के कागद-पत्रों के आधार पर।

तीसरा अध्याय

साहित्यिक संस्मरण और रचनाएं

जिस जनपद में द्विवेदी जी का जन्म हुआ था वह अनेक विद्वानों के यशःसौरभ से सुवासित था। पंडित सुखदेव मिश्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० वंशीधर वाजपेयी ('सज्जन कीर्ति सुधाकर' के सम्पादक) आदि वैसवाड़े के ही थे। द्विवेदी जी के पितामह और मातामह स्वयं उद्भट विद्वान् थे। जीवनी-भाग में कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी की प्रवृत्ति आरंभ से ही विद्याध्ययन की ओर थी। कहा नहीं जा सकता कि उनके इस विद्याविषयक संस्कार-निर्माण का श्रेय किसको है—पिता को, पितामह को, मातामह को, उपर्युक्त वातावरण को या निजी पूर्वजन्म के कृतकर्म को। बचपन से ही उनका अनुराग तुलसीकृत रामचरितमानस और ब्रजवासीदास के 'ब्रजविलास' पर हो गया था। लड़कपन में ही उन्होंने सैकड़ों कवित्त कंठस्थ कर लिए थे।[1]

आरंभ से ही उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। एक बार ग्राम-पाठशाला के शिक्षक महोदय एक पद का गलत अर्थ बता रहे थे। बालक द्विवेदी ने उसका ठीक अर्थ बतलाया। अध्यापक जी अपनी गलती स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। द्विवेदी जी के विवाद करने पर वे पंडितराज मंजीवन के अर्थ को प्रामाणिक मानने पर सहमत हुए। द्विवेदी जी उपर्युक्त पंडित जी के घर गए और उनसे ठीक अर्थ लिखा लाए। उन्होंने द्विवेदी जी के ही अर्थ का समर्थन किया।[2] अंगरेजी स्कूल में डबल प्रोमोशन पाना भी उनकी कुशाग्रबुद्धि का प्रमाण है।[3]

यद्यपि किशोरावस्था में ही स्कूल छोड़ कर उन्हें नोन-तेल लकड़ी के कर्मक्षेत्र में जुतना पड़ा था, तथापि सेवावृत्ति की विषम परिस्थितियों में भी उनका विद्याव्यसन दिन दिन बढ़ता गया। बम्बई, अजमेर, हुशंगाबाद, झाँसी आदि स्थानों में उन्होंने स्वयं और शिक्षक रखकर

---

१. द्विवेदी जी का आत्मनिवेदन, 'साहित्य-सन्देश', एप्रिल, १९३६ ई०।
२. गंगाप्रसाद पाण्डेय, 'निबन्धिनी', पृ० ६९-७० ।
३. इसकी चर्चा जीवनी में हो चुकी है।

हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, बंगला, अंगरेजी और विशेषकर संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। तत्कालीन अराजकतापूर्ण हिन्दी-संसार को द्विवेदी-जैसे अतिरथ सेनानी की ही आवश्यकता थी।

सरस्वती और लक्ष्मी का शाश्वत वैर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के विषय में विशेष रूप से चरितार्थ होता है। शिशु की वाणी पर वाणी का बीजमंत्र अंकित किया गया था, इसी-लिए अप्रसन्न लक्ष्मी ने उसे अपना कृपापात्र नहीं बनाया। सम्पादन-काल में यद्यपि उनकी आय उत्तरोत्तर बढ़ती गई, तथापि दैहिक और दैविक तापों ने उनके जीवन में आनन्द का संचार न होने दिया। वे भोजन और वस्त्र से विशेष अधिक न कमा सके।

वृद्धावस्था के प्रथम प्रहर में ही उन्होंने अपनी चल सम्पत्ति दान कर दी। उनके पत्रों और 'रसज्ञ-रंजन' की भूमिका आदि से पता चलता है कि वृद्धावस्था में उन्होंने एक अस-हाय साहित्यिक भिखारी का जीवन बिताया। अनेक प्रकाशकों ने द्विवेदी जी को अत्यन्त कष्ट और धोखा दिया।[1] दुःख की बात है कि हिन्दी-साहित्य के पाठकों और प्रकाशकों ने अपने सिद्धहस्त साहित्यसाधक की समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया।

नवम्बर, १६०५ ई० में छत्रपुर के राजा साहब ने द्विवेदी जी से कहा था कि आप प्रतिवर्ष एक अच्छे अंगरेजी ग्रन्थ का अनुवाद कीजिए। पारिश्रमिकरूप में मैं आप को पांच सौ रुपया दिया करूंगा। सितम्बर १६०७ ई० में द्विवेदी जी ने हर्बर्ट स्पेंसर की 'एजुकेशन' पुस्तक का अनुवाद 'शिक्षा' के नाम से प्रस्तुत किया और उपयुक्त राजा साहब को पत्र लिखा इसके पहले द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' २४६ पृष्ठों में छप चुकी थी। राजा कमलानन्दसिंह ने पांच सौ रुपया पुरस्कार दिया था। ५०० पृष्ठों की 'शिक्षा' के लिए द्विवेदी जी के नए संरक्षक ने पचीस रुपया देने की बात कही। द्विवेदी जी को उनकी हृदयहीनता पर अत्यन्त खेद हुआ। उन्होंने राजा साहब को कस कर पत्र लिखा जो द्विवेदी जी के चरित्र और हिन्दी की तत्कालीन अवस्था के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[2] द्विवेदी जी झाँसी में थे।

---

१. क. रसज्ञ-रंजन, दूसरे संस्करण की भूमिका, १६३३।
   ख. राय कृष्णदास को लिखित पत्र, सरस्वती, भाग ४६, संख्या ४, पृष्ठ ४६८, ६६ पर प्रकाशित।
   ग. राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, जबलपुर के मन्त्री नर्मदाप्रसाद मिश्र को लिखित पत्र की रूपरेखा, तिथि-रहित, सम्भवतः १६३३ ई०, दौलतपुर में रचित।

२. "हमें चाहे कहीं से पुरस्कार या परिश्रम का बदला मिले चाहे न मिले, हिन्दी की सेवा हम जरूर करेंगे। पर इस तरह करें जिसमें यथासम्भव भोजन वस्त्र की हमें तकलीफ न हो। अतएव हम ऐसी ही किताबें विशेष करके लिखेंगे जिनकी कुछ बिक्री

उनकी कुछ समालोचनाएं प्रकाशित हो चुकी थीं। उन्हीं दिनों इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित "हिन्दी शिक्षावली तृतीय रीडर" नामक एक पुस्तक तहसीली स्कूलों में पाठ्यपुस्तक होकर आई। वह अत्यन्त सदोष थी। एक अध्यापक महोदय ने द्विवेदी जी से उसकी आलोचना करने का निवेदन किया। उन्होंने उसकी मार्मिक आलोचना प्रकाशित की। फलस्वरूप इंडियन प्रेस को घाटा उठाना पड़ा।[1] यह था द्विवेदी जी और इंडियन प्रेस का प्रथम परिचय।

उसी प्रेस मे प्रकाशित 'सरस्वती' की आयु तीन बरस की हो चुकी थी। उसके एक मात्र सम्पादक श्यामसुन्दरदास भी जाना चाहते थे। रीडरों के प्रतिभाशील और प्रभविष्णु आलोचक से प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष पहले ही प्रभावित हो चुके थे। १९०२ ई० में श्यामसुन्दरदास ने भी द्विवेदी जी को ही सम्पादक बनाने की राय दी।[2] लिखापढ़ी आरम्भ हुई। घोष बाबू के प्रणयानुरोध से द्विवेदी जी ने सम्पादन स्वीकार कर लिया। द्विवेदी जी के सम्पादक होने पर कुछ लोगों ने बड़ा कोलाहल मचाया। उन्होंने घोष बाबू से यहां तक कहा कि "यह मनुष्य बड़ा घमंडी है, बड़ा कलहप्रिय, बड़ा तुनुक-मिजाज है। इससे तुम्हारी कभी न पटेगी। तुमने बड़ी भूल की। साल के भीतर ही यह महाभारत मचा देगा।"[3] परन्तु घोष बाबू ने उनके अनर्गल प्रलापों पर कोई ध्यान नहीं दिया। समय ने उनकी भ्रांति को निर्मूल सिद्ध कर दिया। द्विवेदी जी ने लगभग सत्रह वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन किया परन्तु सम्पादक और स्वामी में कदापि अनबन न हुई। घोष बाबू ने अपना कर्तव्य पालन किया और द्विवेदी जी ने अपना।

द्विवेदी जी कानपुर से पत्रिका का सम्पादन करते थे। एक बार लाहौर के किसी

हो जिनसे हमें काफी आमदनी भी हो। ....हमें कुछ ऐसा परिताप हुआ है कि शायद आज से हम कभी राजदरबार में न जायं और किसी समर्पण के बखेड़े में न पड़ें। आशा है आप हमारे इस स्पष्टवाद को क्षमा करेंगे:—

अयि दलदरविंद स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृंगाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥

१ आत्मनिवेदन. 'साहित्य-संदेश'. एप्रिल, १९३९ ई०, पृ० ३०१।
२. 'सरस्वती' भाग ४०, सं २, पृ० १६६।
३. द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति" सरस्वती १९२८ ई०, खंड २, पृ० २८२......

सज्जन ने 'सरस्वती' में लाटरी-सम्बन्धी विज्ञापन छपाया जो सरकारी विधान के विरुद्ध था। इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने पत्रिका के सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक को सम्मन द्वारा तलब किया। अभियोग की सम्भावना करके द्विवेदी जी ने घोष बाबू से कहा कि कानपुर से बार बार प्रयाग आने में बड़ा झंझट होगा। उन्होंने प्रेमपगी वाणी में उत्तर दिया "अगर हम लोगों की सम्भावना सही निकली तो आज से आप और आपके कुटुम्बी मेरे कुटुम्बी हो जायेंगे और इस मुकदमे में इंडियन प्रेस की सारी विभूति खर्च कर दी जायगी।"[1] उनका यह अभिवचन सुन कर द्विवेदी जी का कंठ भर आया और शरीर पुलकित हो उठा। वस्तुतः द्विवेदी जी का उस विज्ञापन से कोई संबंध न था। वे भूल से तलब किए गए थे। उसकी चेतावनी मुद्रक तथा प्रकाशक को मिलनी चाहिए थी और उन्हें मिली। दो बजे लौट कर द्विवेदी जी इंडियन प्रेस आए तो देखा कि घोष बाबू निराहार बैठे हुए उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्होंने द्विवेदी जी को भोजन कराकर तब स्वयं भोजन किया। उनका द्विवेदी जी पर इतना अगाध प्रेम था कि जब वे उन्हें पहुँचाने जाते तब गठरी स्वयं ढोते और चपरासी खाली जाता। बाबू चिन्तामणि घोष ने सम्पादक की स्वतंत्रता का कभी अपहरण नहीं किया। उन्होंने सम्पादक के विरुद्ध कभी भी कुछ भी इंडियन प्रेस में छपने न दिया। एक बार एक महाशय के लेखों का संग्रह पुस्तक-रूप में छपा। जब उन्हें यह पता चला कि उसके एक दो लेखों में सरस्वती-सम्पादक पर अनुचित आक्षेप किया गया है, तब उन्हें बहुत परिताप हुआ। फलस्वरूप उस पुस्तक की सहस्रों प्रतियां कटिंग मशीन को अर्पित कर दी गईं।[2]

एक बार द्विवेदी जी बीमार पड़े। बचने की आशा न थी। उन्होंने तीन महीने की सामग्री प्रेस को भेजी और लिखा कि मेरे मरने के बाद भी इसी से तीन महीने 'सरस्वती' का सम्पादन करना तब तक कोई न कोई सम्पादक मिल ही जायगा, जिससे यह सूचना न देनी पड़े कि सम्पादक के मर जाने से 'सरस्वती' देर में निकली या बन्द रही। घोष बाबू ने अपने मैनेजर गिरिजाकुमार जी को भेजा। प्रथम श्रेणी का डिब्बा रिजर्व कराने के लिए कहकर वे द्विवेदी जी के यहाँ गए और कहा कि सब लोग इलाहाबाद चलिए। कुटुम्बियों ने द्विवेदी जी को जाने न दिया। घोष बाबू के प्रेम और औदार्य पर सभी चकित थे।

सम्पादक द्विवेदी की साहित्यसेवाओं का विवेचन 'सरस्वती-सम्पादन' अध्याय में किया

---

१. द्विवेदी-लिखित "बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति", 'सरस्वती', १६२८ ई०, खंड २, पृष्ठ २८२

२. ,, ,, ,, ,, ,, ,,

जायगा। उन्होंने 'सरस्वती' के मालिकों का विश्वास-भाजन बने रहने की सदैव चेष्टा की और इतने सचेत रहे कि उन्हें कभी भी उलझन में न पड़ने दिया। सम्पादन के अन्तिम वर्षों में उनकी आय उतनी ही हो गई थी जितनी नौकरी छोड़ने के समय थी। इसका कारण था द्विवेदी जी की कर्तव्य-परायणता और बाबू चिन्तामणि घोष की उदारता। घोष बाबू और उनके उत्तराधिकारियों ने द्विवेदी जी को सर्वदा ही अपना कुटुम्बी समझा। 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण करने पर उन्हें पेंशन दी और उनके दुःख-सुख का ध्यान रखा।[1] द्विवेदी जी और इंडियन प्रेस का सम्मिलन, मैत्री और मेलजोल का एक लम्बा रेकर्ड है। स्वामी प्रकाशक और सेवक सम्पादक का यह संबंध संसार के लिए आदर्श है।

जनवरी १६०१ ई० की 'सरस्वती' में श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी-भाषा का संक्षिप्त इतिहास लिखा। उसमें उन्होंने अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा किए गए सुधार का उल्लेख नहीं किया। इस पर अप्रसन्न खत्री जी ने बाबू साहब को पत्र लिखा और श्रीधर पाठक आदि से पत्रव्यवहार किया। फरवरी १६०३ ई० में द्विवेदी जी ने 'हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य' लेख लिखा। जिसमें जनवरी १६०१ ई०, जून १६०१ ई० और सितम्बर १६०२ ई० के लेखों की चर्चा करना भूल गए। खत्री जी ने पत्र लिख कर उन्हें इसका स्मरण दिलाया। द्विवेदी जी ने चिढ़ कर लिखा—नुक्ताचीनी करना छोड़ दीजिए। खत्री जी का पारा गरम हो गया। उन्होंने 'प्रयाग-समाचार' आदि पत्रों में "छोटी-छोटी बातों पर नुक्ताचीनी" शीर्षक से अनेक लेख प्रकाशित किए-कराए और द्विवेदी जी की बातों की तीव्र आलोचना की। उसी शीर्षकसे पैम्फलेट भी छपाए जो काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कार्यालयमें सुरक्षित हैं[2]।

नवम्बर, १६०५ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' लेख लिखा। हिन्दी के अशुद्ध प्रयोगों की सोदाहरण आलोचना करते हुए उन्होंने बालमुकुन्द गुप्त के भी दोष दिखाए। उसी लेख में प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर क्रुद्ध गुप्त जी ने 'आत्माराम' के नाम से 'भाषा की अनस्थिरता' लेखमाला प्रकाशित की जो 'भारतमित्र' की दस संख्याओं में छपी। 'आत्माराम' के प्रतिवाद का मुँहतोड़ उत्तर गोविंदनारायण मिश्र ने अपनी 'आत्माराम की टें-टें' लेखमाला द्वारा दिया जो 'हिन्दी-बंगवासी' में प्रकाशित हुई। 'वेंकटेश्वर-समाचार,' 'सुदर्शन' आदि पत्रो ने भी इष्ट-मित्रों का पक्ष लेकर इसमें भाग लिया।[3]

---

१. द्विवेदी-लिखित 'बाबू चिन्तामणि घोष की स्मृति',
'सरस्वती', १६२८ ई०, खंड २, पृ० २८२।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय, द्विवेदी जी के पत्र, बंडल ज और ञ, पत्र तथा कतरनें।

३. इस विवाद से संबंधित अनेक पत्र तथा कतरनें का० ना० प्र० सभा के कलाभवन में रक्षित हैं।

बालमुकुन्द गुप्त ने 'हम पंचन के ट्वाला मां' लेख लिख कर द्विवेदी जी की बोली बैसवाड़ी का उपहास किया। क्षुब्ध द्विवेदी जी ने उत्तर में 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'-शीर्षक आल्हा 'कल्लू अल्हइत' के नाम से जनवरी, १६०६ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। गुप्त जी ने अपनी खिसियाहट मिटाने के लिए प्रत्युत्तर दिया—'भाई वाह ! कल्लू अल्हइत का आल्हा खूब हुआ। क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न।' फरवरी १६०६ ई० में द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में व्यंग्यपूर्ण, युक्ति-युक्त और प्रभावोत्पादक ढंग से गुप्त जी की उक्तियों का विस्तृत खंडन किया।

'भारतमित्र' और 'सरस्वती' का यह झगड़ा बरसों चला। उस वाद-विवाद में लोग सौजन्य, सहृदयता और शिष्टता को भूल गए। साहित्य के दिग्गज विद्वानों ने उसमें जो ओछापन दिखलाया वह भारती-मन्दिर के सम्माननीय और सिद्ध पुजारियों को तनिक भी शोभा नहीं देता।

विवाद के उपरान्त जब गुप्त जी ने द्विवेदी जी के चरणों पर सिर रख दिया तब द्विवेदी जी ने उन्हें हृदय से लगा लिया।[1]

द्विवेदी जी के समय में विभक्ति-विचार का जो वाद-विवाद चला उसमें उन्होंने कोई भाग नहीं लिया। परन्तु उनके द्वारा इस विषय की रक्षित कतरनों से[2] निस्सन्देह विदित होता है कि इसमें उनकी रुचि अवश्य थी।

भाषा और व्याकरण के आन्दोलन ने हिन्दी-संसार में एक नवीन जागृति की सृष्टि की। भाषा की शुद्धि और अशुद्धि की चर्चा ने और भी व्यापक रूप धारण किया। हिन्दी में विभक्तियाँ सटाकर लिखी जानी चाहिएं या हटाकर—इस विषय को लेकर एकाएक बड़ा ही रोचक वाद-विवाद १६०६ ई० में छिड़ गया। सटाऊ–सिद्धान्त के प्रतिपादक थे गोविंदनारायण मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि। हटाऊ-सिद्धान्त के समर्थक थे रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन, भगवान-दास हालना आदि। द्विवेदी जी विभक्तियों को अलग लिखने के पक्ष में थे, परन्तु इस खंडन-मंडन से दूर ही रहे। उनका मत था कि अपने सुभीते के अनुसार लेखक विभक्तियों का प्रयोग सटाकर या हटाकर कर सकता है।[3]

---

१. 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ पृ०', ५३२।

२. कलाभवन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

३. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से भाषण, पृ० ५१-५२-५३।

१६०७ ई० में द्विवेदी जी ने बी० एन्० शर्मा का एक लेख नहीं छापा। इस पर वे क्रुद्ध हुए और 'वेंकटेश्वर-समाचार' में द्विवेदी जी को अनुचित बातें कहीं। फाल्गुन,संवत् १६६४ के 'परोपकारी' में पद्मसिंह शर्मा ने बी०एन्० शर्मा की 'शिक्षा-मञ्जरी' की आलोचना की। वह शर्मा जी को पसन्द न आई। उन्होंने उसका उत्तर दिया। आषाढ़ संवत् १६६५ के 'परोपकारी' में उनकी पुनः खबर ली गई। 'आर्यमित्र' के दो अंकों में (२४ सितम्बर और १ अक्टूबर, १६०८ ई०) द्विवेदी जी के 'आर्य-शब्द की व्युत्पत्ति' लेख (सरस्वती, सितम्बर, १६०८ ई०)की आलोचना करते हुए शर्माजी ने उनपर व्यक्तिगत आक्षेप किए।[1] उनका यह आक्रमण द्विवेदी जी को असह्य हुआ। उन्होंने शर्मा जी पर बीस हजार रुपये का मानहानि का दावा कर दिया। राय देवीप्रसाद द्विवेदी जी के वकील हुए।

द्विवेदी जी के पत्रों से पता चलता है कि उन्होंने मुकदमा दायर करने में जल्दी नहीं की।[2] वे चाहते थे कि बी० एन्० शर्मा और 'आर्यमित्र' अपने इस अपराध का मार्जन करें। बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करने के बाद भी जब उन लोगों की निद्रा भंग न हुई तब द्विवेदी जी ने कचहरी का दवार देखा। अनेक पत्रपत्रिकाओं ने द्विवेदी जी के इस कार्य की निन्दा भी की।[3]

द्विवेदी जी का नोटिस पाकर बी० एन्० शर्मा पानी पानी हो गए। क्षमा-प्रार्थना

---

१. द्विवेदी जी की डायरी, कलाभवन, नागरी प्रचारणी सभा, काशी।

२. क. "'आप लोग हमें पीछे से उलाहना न दें, इससे हम अब तक कचहरी नहीं गए। पर अब बहुत दिन तक यह मामला इस तरह नहीं पड़ा रह सकता। यदि आपका उत्तर शीघ्र न आया तो हम समझेंगे कि आप और प्रतिनिधि सभा हमें मुकदमा दायर करने के लिए मजबूर करती हैं।

निवेदक

म० प्र० द्विवेदी"

पं० रुद्रदत्त जी को लिखित पत्र १७.६.१६०६ ई० कला भवन, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

ख. "''' मैंने सब बातों का दूर तक विचार किया है। जहां तक संभव था मैंने इस बात का भी प्रयत्न कर देखा है कि यह मामला न्यायालय तक न जाय। इसी लिये एक वर्ष तक मैं ठहरा रहा। पर अब लड़कों की इच्छा न्यायालय में ही न्याय कराने की है तो यही सही।

विनयावनत

म० प्र० द्विवेदी"

पं० रुद्रदत्त जी को लिखित पत्र. १७.६.१६०६ ई० कलाभवन ना०. प्र० सभा।

३. पत्रों की कतरनें, कला भवन, नागरी प्रचारिणी सभा. काशी।

द्वारा संधि करना ही उन्होंने अधिक श्रेयस्कार समझा। द्विवेदी जी के ही बनाये हुए मशविरे के अनुसार बी० एन्० शर्मा और 'आर्यमित्र' वालों की ओर से पं० भगवानदीन ने क्षमा-प्रार्थना की।[1] पत्र-पत्रिकाओं में क्षमा-याचना प्रकाशित होने के बाद शर्मा जी ने द्विवेदी जी को एक पत्र में लिखा था—

मान्यवर द्विवेदी जी हमने जो भूल करके आप को कष्ट पहुँचाया था उसे आपने अवश्य ही अपनी उदारता से क्षमा कर दिया और हम क्षमा पा चुके किन्तु हमें अब भी कभी कभी परिताप होता है कि आप से विद्वान पुरुष को हमने कष्ट पहुँचाया, देखें यह परिताप कब दूर होता है।

आपका कृपाकांक्षी वशम्वद
बी० एन० शर्मा[2]

'सरस्वती' नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित थी। अक्टूबर १६०४ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने सभा की खोज-पूर्ण रिपोर्ट की आलोचना की। सभा और उसके मंत्री श्यामसुन्दर दास पर भी आक्षेप किए। तदनन्तर 'पायनियर', 'इंडियन पीपुल 'एडवोकेट' और 'इंडियन स्टूडेंट' में सभा के खोज-संबंधी काम की बड़ी प्रशंसा की गई। अपने ५ नवम्बर, १६०४ ई० के पत्र में सभा ने इंडियन प्रेस के मालिक को हिदायत की—आगे के लिए आशा है कि आप सभा के विषय में शंकापूर्ण लेख सभा से निर्णय कराके तब छापेंगे। यह पत्र दिसम्बर, १६०४ ई० की सरस्वती' में छापकर द्विवेदी जी ने इसकी ओजपूर्ण आलोचना की।

सभा की ओर से पं० केदार नाथ पाठक कानपुर में द्विवेदी जी के यहाँ गए और जाते ही गरज कर पूछा—सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा? 'विषस्य विषमौषधम' की नीति का अवलम्बन करना पड़ेगा? द्विवेदी जी अन्दर चले गए और मिठाई, जल तथा एक मोटी लाठी लेकर आए। मुसकराते हुए कहा—सुदूर प्रवास से थके मांदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुंह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ, तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। अपने उस प्रश्न तथा उद्दंड व्यवहार के प्रति ऐसा नम्रता-पूर्ण उत्तर और भद्रोचित सद्व्यवहार देखकर पाठक जी पर सौ घड़े पानी पड़ गया, क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। वे द्विवेदी जी के भक्त हो गए।[3]

---

1. द्विवेदी जी के पत्र, संख्या २-३, 'सरस्वती', नवम्बर, १६४० ई०।
2. कला-भवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
3. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५३०।

जनवरी, १९०५ ई० में सभा ने बाबू चिन्तामणि घोष को पत्र[1] लिखकर आदेश किया कि नागरी प्रचारिणी सभा की अनुमति के बिना उसके संबंन्ध में 'सरस्वती' कुछ न छापे अन्यथा उससे सभा का नाम हटा दिया जाय। घोष बाबू ने द्विवेदी जी के निर्णय को प्रधानता दी और 'सरस्वती' से सभा का नाम निकाल दिया।

फरवरी,१९०५ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने सहृदयता और मार्मिक दुःख के साथ 'अनुमोदन का अन्त' प्रकाशित किया जो उनकी भावुकता ,प्रतिभा,विद्वत्ता और शिष्टता का द्योतक है। विपक्षी के प्रति भी इतना सौम्य भाव ! सज्जनता और सदाशयता की सीमा हो गई। वस्तुतः द्विवेदी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों की समालोचना हिन्दी के हित के लिए की थी, सभा या सभ्यों की निन्दा के लिए नहीं।

द्विवेदी जी और नागरी प्रचारिणी सभा का विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा। अगस्त, १९०६ ई० में सभा ने द्विवेदी जी से चन्दा मांगा। द्विवेदी जी ने कभी भी उक्त सभा का सदस्य बनने का निवेदन नहीं किया था। सभा ने अपने को गौरवान्वित करने के लिए ही उन्हें अपना सदस्य बनाया। इस वाद-विवाद से क्षुब्ध होकर द्विवेदी जी ने अपना ५७ फुलस्केप पृष्ठों का वक्तव्य लिखकर विचारणार्थ सभा को भेजा. अपने को निर्दोष और सभा को दोषी प्रमाणित किया।[2]

उस लेख में वर्णित दोषों को दूर करने का नागरी प्रचारिणी सभा ने कोई उद्योग नहीं किया। सभा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना ही उन्होंने अधिक श्रेयस्कर समझा। उपर्युक्त वक्तव्य को द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में प्रकाशित नहीं किया क्योंकि उसके प्रकाशित होने पर कुछ सज्जनों की संकीर्णहृदयता के कारण सारी सभा की बदनामी और हानि होती। एतद्विषयक एक नोट भी 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिए उन्होंने लिखा परन्तु उसे भी उपर्युक्त कारण से छपने के लिए नहीं भेजा।

'भारतमित्र' में श्यामसुन्दरदास ने द्विवेदी जी की उदारता पर लेख लिखा और अन्त में क्षमा-प्रार्थना की।[3] उत्तर में द्विवेदी जी ने 'हिन्दी बंगवासी' में 'शीलनिधान जी की शालीनता' लेखमाला लिखी।[4] प्रत्येक अंक के आरम्भ में और बीच-बीच में भी हिन्दी या संस्कृत

१. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित।

२. सम्पूर्ण वक्तव्य काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित है।

३ २५.५.१९०७ ई०,१.६ १९०७ई०, और १५.६.१९०७ ई०।
ये कतरनें काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित हैं।

४.१०.६.१९०७ ई०,१७ ६.१९०७ ई,२४.६.१९०७ ई०,१.७.१९०७ ई०.८.७.१९०७ ई०, १५.७.१९०७ ई०,२२.७.१९०७ ई० और २९.७ १९०७ ई०।

के पद उद्धृत करते हुए उन्होंने बाबू साहब की तीखी व्यंग्यात्मक प्रत्यालोचना की।[1] पूर्वोक्त वक्तव्य के परिवर्द्धित रूप में द्विवेदी जी ने एक ग्रन्थ ही लिख डाला --'कौटिल्य-कुठार।'[2]

विवाद के उपरान्त भी बहुत वर्षों तक द्विवेदी जी ने सभा के घेरे में, लोगों के आग्रह करने पर भी, पदार्पण नहीं किया।[3] बहुतदिन बीत जाने पर श्यामसुन्दरदास ने पत्र लिखकर क्षमाप्रार्थना की और अपने अपराधों का मार्जन कराया।[4] बलवान् समय ने लोगों का मनोमालिन्य दूर कर दिया। जब द्विवेदी जी १९३१ ई० की जनवरी में काशी पधारे तब नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिया। कुछ दिन बाद शिवपूजन सहाय ने प्रस्ताव किया कि द्विवेदी जी की सत्तरवीं वर्षगांठ के शुभ अवसर पर उनके अभिनन्दनार्थ एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय।[5]

---

१. यह प्रत्यालोचना काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित कतरनों में देखी जा सकती है।

२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित 'कौटिल्यकुठार', का अन्तिम अवच्छेद इस प्रकार है—

"'आपने अपने ही मुंह से अपने क्षत्रियत्व की घोषणा की है। यह बड़ी खुशी की बात है। इस वर्णाश्रमधर्म-हीन युग में कौन ऐसा अधम होगा, जिसे यह सुनकर आनन्द न हो कि आप अपना धर्म समझते हैं। हम आप को क्षत्रियकुलावतंस मानकर रघु, दिलीप, दशरथ, युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र और कर्ण की याद दिलाते हैं, और बड़े ही नम्रभाव से प्रार्थना करते हैं, कि हमारे लेखों में कही गई मूल बातों का रघु की तरह उदारता-पूर्वक युधिष्ठिर की तरह धर्मज्ञता-पूर्वक और हरिश्चन्द्र की तरह सत्यतापूर्वक विचार करें, और देखें, कि ब्राह्मणों के साथ आपने कोई काम ऐसा तो नहीं किया, जो इन क्षत्रिय शिरोमणियों को स्वर्ग में खटके। जिन ब्राह्मणों के लिए क्षत्रियों का यह सिद्धान्त था कि "भारत हू पां परिय तिहारे" उन्हीं ब्राह्मणों को सभा मे निकालने की तजवीज़ में आप ने सहायता दी या नहीं? उन्हीं ब्राह्मणों की किताब का मुकाबला करने में आपने दूले से कुछ ज़ियादह शब्दों को प्रायः तिगुना बताया या नहीं? ब्राह्मणों की लिखी हुई पुस्तक उन्हीं को न दिखाना आपने न्याय्य समझा या नहीं? उन्हीं ब्राह्मणों के द्वारा की हुई सभा की सेवापर ख़ाक डालकर आपने उनसे चिट्ठियों तक का महसूल वसूल करके सभा की आमदनी बढ़ाई या नहीं?...यदि आप को सचमुच ही पश्चात्ताप हो तो कहिए--पुनन्तु मां ब्राह्मणपादरेणवः। उस समय यदि आप के सारे अपराध सदा के लिए भुला कर क्षमापूर्वक आपका दृढ़ालिंगन न करें तो आप उस दिन से हमें ब्राह्मण न समझिए।

३. राय कृष्णदास को द्विवेकी जी का पत्र २.१२.१९१०, 'सरस्वती', भाग ४५, सं० ४, पृ० ४६६

४. द्विवेदी जी के पत्र, सं० १६३, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, कार्यालय।

५. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, भूमिका, पृ० १।

फाल्गुन सं० १९९८ में सभा ने द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ का प्रकाशन निश्चित करके अपनी गुणग्राहकता और हृदय की विशालता दिखलाई। सामग्री एकत्र की गई इंडियन प्रेस ने ग्रन्थ को निःशुल्क छापकर अपनी मैत्री और उदारता का परिचय दिया। वैशाख, शुक्ल ४, सं० १९९० को अभिनन्दनोत्सव सम्पन्न हुआ। अभिनन्दन के समय कुछ लोगों ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि द्विवेदी जी काशी न जायँ और उत्सव असफल रहे। प्रत्येक विघ्न व्यर्थ सिद्ध हुआ। यहीं पर यह भी कह देना समीचीन होगा कि श्यामसुन्दर दास चाहते थे कि काशी विश्वविद्यालय द्विवेदी जी को डाक्टर की उपाधि दे। उत्सव के समय उन्होंने द्विवेदी जी से कहा कि आप अपना भाषण मालवीय जी की वक्तृता के पश्चात् पढ़िए। अनुशासन-पालक द्विवेदी जी ने बिगड़ कर कहा कि यह कार्यक्रम में नहीं है। रामनारायण मिश्र से ज्ञात हुआ कि द्विवेदी जी के वक्तव्य का प्रभाव मालवीय जी पर अच्छा नहीं पड़ा।[1] कदाचित् इसीलिए द्विवेदी जी को डाक्टर की उपाधि नहीं मिली।

अभिनन्दनोत्सव के समय द्विवेदी जी ने एक बन्द लिफाफा सभा को दिया था और आदेश किया था कि यह लिफाफा और पत्रों के कुछ बंडल मेरे देहावसान के उपरान्त खोले जायँ। सभा ने उनकी आज्ञा का पालन किया। द्विवेदी जी का स्वर्गवास होने पर लिफाफा और बंडल खोले गए। लिफाफे में दो सौ रुपए थे जो द्विवेदी जी के निर्देशानुसार सभा के छोटे नौकरों को पुरस्कार और वेतन के रूप में वितरित कर दिए गए।[2] द्विवेदी जी के पत्र सभा के कार्यालय में आज भी सुरक्षित हैं।

जिस सभा ने द्विवेदी-कृत आलोचनाओं की निन्दा की थी, 'सरस्वती' की जननी होकर भी जिसने उससे अपना सम्बन्ध तोड़ देने का कठोर आदेश किया था और अपनी पत्रिका में सरस्वती' की कविता को 'भद्दी' कहकर उसकी प्रतिकूल आलोचना की थी, उसी सभा ने अपने आलोचक, दोषदर्शक महावीर प्रसाद द्विवेदी के अभिनन्दन की आयोजना की और उसे सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। साहित्य-देवता के एकान्त उपासक की यथोचित अर्चना करके उसने अपने को, द्विवेदी जी और हिन्दी-संसार को धन्य प्रमाणित किया। जिस द्विवेदी जी ने एक दिन नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट की भयंकर आलोचना की थी अपनी टेक निभाने के लिये 'अनुमोदन का अन्त' करके सभा और 'सरस्वती' का सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया था, सभा द्वारा दी गई चेतावनी, उसके पत्र और कोरे सिद्धान्त

---

१ श्यामसुन्दरदास की 'मेरी कहानी', 'सरस्वती', अगस्त, १९४१ ई०. पृ० १४९।

२. नौकरों के लिए दातव्य पुरस्कार पर ही द्विवेदी जी ने इतना प्रतिबन्ध लगाया था—यह बात विश्वसनीय नहीं जंचती।

की छीछालेदर की थी, उसी द्विवेदी जी ने नागरी प्रचारिणी सभा को अपनी समस्त साहित्यिक सम्पत्ति का सच्चा उत्तराधिकारी समझा, अपना गृहपुस्तकालय, 'सरस्वती' की स्वीकृत-अस्वीकृत रचनाओं की हस्तलिखित मूल प्रतियां, समाचारपत्रों की साहित्यिक वादविवाद-सम्बन्धी कतरनें, पत्र आदि बहुत कुछ सामग्री सभा को दान करके अपना और सभा का गौरव बढ़ाया।

द्विवेदी जी और सभा के सम्बन्ध का इतिहास वस्तुतः द्विवेदी जी और श्यामसुन्दरदास–दो साहित्यिक महारथियों—के सम्बन्ध की कहानी है जिनके पारस्परिक प्रेमप्रदेश में ही नहीं संग्रामक्षेत्र में भी रस की धारा दृष्टिगत होती है। उनके संघर्ष की धारा असुन्दर प्रतीत होती हुई भी वास्तव में सुन्दर, पावन और कल्याणकारिणी है। उनके विवाद सामयिक थे, उनमें किसी भी प्रकार की नीचता या दुर्भाव नहीं था। इसके अकाट्य प्रमाण हैं—सभा द्वारा द्विवेदी जी का अभिनन्दन, सभा को दिया गया द्विवेदी जी का दान [१] और उससे भी महत्त्वपूर्ण है इन दोनों का पत्र-व्यवहार। [२]

अभिनन्दनोत्सव में पठित आत्मनिवेदन को द्विवेदी जी ने कई खंडों में विभाजित किया था। एक खंड का शीर्षक था 'मेरी रसीली पुस्तकें'। उसमें उन्होंने अपनी दो अप्रकाशित पुस्तकों–'तरुणोपदेश' और 'सोहागरात'–की चर्चा की थी। 'सोहागरात' के विषय में उन्होंने निवेदन किया था—"ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला ज़रूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। ...आजकल तो वह नाम बाज़ारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। ... अपने बूढ़े मुँह के भीतर धंसी हुई ज़बान से आप के सामने उस नाम का उल्लेख करते हुए मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी, पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए आप पंचसमाजरूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही पड़ेगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—'सोहागरात'।"

द्विवेदी जी की धर्मपत्नी ने उन पुस्तकों को अश्लील समझ कर छपने नहीं दिया। उनकी मृत्यु के उपरान्त भी उन्हें प्रकाशित करने में द्विवेदी जी ने अपना और साहित्य का कलंक समझा—"मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पंकपयोधि में डूबने से बचा लिया आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें, तो बड़ी कृपा हो।"

---

१. द्विवेदी जी के दान की पूर्ण सूची परिशिष्ट संख्या १ में दी गई है।
२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यालय में रक्षित पत्र, सं० ७१६ से ९२४ तक

'सोहागरात या बहूरानी को सीख' के रचयिता कृष्णकान्त मालवीय के मित्रों ने उन्हें सुझाया कि अपने निवेदन में द्विवेदी जी ने आप पर आक्षेप किया है। अभिनन्द-नोत्सव के समय द्विवेदी जी ने पं० मदनमोहन मालवीय को बोलने का समय नहीं दिया था। सम्भवत: इस कारण भी कृष्णकान्त मालवीय द्विवेदी जी से असन्तुष्ट थे। उन्होंने ११ जून. १९३३ ई० के 'भारत' में 'मेरी रसीली पुस्तकें' लेख लिखा जिसमें द्विवेदी जी की उक्तियों का खंडन किया—"···द्विवेदी जी की इन बातों को पढ़कर विद्वानों की दृष्टि में हिन्दी के विद्वानों का मान कम होगा, वे कहेंगे कि ये कहां पड़े हुये हैं। सेक्स के साहित्य को ये पाप और पंकपयोधि समझते हैं।···द्विवेदी जी इस अवसर पर यह सब कहकर जब कि चारों ओर से विद्वानों की दृष्टि उनकी ओर फिरी हुई थी, हिन्दी-साहित्यसेवियों की हंसी न कराते, उन्हें कूपमंडूक न सिद्ध करते तो अच्छा था। हिन्दी वाले जिन्हें आचार्य कहकर पूजते हैं, उसके विचार ये हैं, यह जानकर संसार क्या कहेगा?"

मालवीयजी का यह आक्षेप अतिरंजित और असंगत था। अपनी 'सोहागरात' के प्रति द्विवेदी जी को किसी भी प्रकार की दृढ़ीभूत धारणा रखने का अधिकार था। और उनकी पुस्तक को देखे या उसके विषय में ज्ञान प्राप्त किए बिना उसकी आलोचना करना मालवीय जी की अनधिकार चेष्टा थी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि उनकी 'सोहागरात' प्रकाशित हो जाती तो वे साहित्य के पंकपयोधि में डूब जाते। यदि मालवीय जी उनकी पुस्तक देख लिए होते तो इस प्रकार की लोचनहीन आलोचना कदापि न करते।

द्विवेदीजी ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। २४,२५ जून, ३३ ई० के 'भारत' में उन्होंने 'क्षमाप्रार्थना' प्रकाशित की जो आद्योपान्त व्यंग्योक्तियों और व्यक्तिगत आक्षेपों से व्याप्त थी। 'सोहागरात या बहूरानी की सीख' के नामकरण, उसके लेखक के उद्देश्य आदि की आलोचना तीखी अतएव अप्रिय, किन्तु सत्य थी। बारम्बार क्षमाप्रार्थना करके अपने को मूर्ख और मालवीय जी को विद्वान्, अपने को टकापंथी और उनको त्यागशील आदि कहकर उन्हें लज्जित करने का अमोघ प्रयास किया। २-७.३३ई० के 'भारत' में मालवीय जी ने 'क्षमाप्रार्थना का वितंडावाद, प्रकाशित किया। उस प्रत्युतर में उन्होंने द्विवेदी जी के क्षमाप्रार्थना के ढंग की उचित आलोचना करके अन्त में निवेदन किया—"मैंने जो कुछ लिखा उसके लिए मैं आप से विनीतभाव से क्षमा मांगता हूँ।···आशा है आप उदारता से विचार करेंगे और यह सब लिखने के लिए मुझे क्षमा कर देंगे अब इस सम्बन्ध में मैं कुछ लिखूंगा भी नहीं।"

द्विवेदी जी ने उनकी प्रार्थना मौनभाव से स्वीकार कर ली।

द्विवेदी जी के साहित्य-सम्मेलन-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार से सिद्ध है कि लोगों के बारम्बार आग्रह करने पर भी उन्होंने सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकृत नहीं किया।[1] उनके निवेदन को अस्वीकृत करते हुए द्विवेदी जी तारों के पेटेन्ट उत्तर दिया करते थे— अस्वस्थता के कारण स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। क्या सम्मेलन के लिए द्विवेदी जी सर्वदा ही अस्वस्थ रहे? जो व्यक्ति अस्वस्थ रहकर भी असाधारण और घोर परिश्रम द्वारा 'सरस्वती' का इतना सुन्दर सम्पादन कर सकता था, क्या वह सम्मेलन के सभापतित्व के लिए अपना कुछ समय और शक्ति नहीं दे सकता था? उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, 'सरस्वती' का कार्य ही उनकी शक्ति से अधिक था, आदि कारण यदि निराधार नहीं तो गौण अवश्य थे। उनके पत्र की निम्नांकित रूपरेखा ध्यान देने योग्य है—

"......मेरे सिवा किसी अन्य व्यक्ति के आसीन होने से सभापति के आसन का यथेष्ट गौरव न होगा—इत्यादि आपकी उक्तियां भ्रमजात नहीं तो कौतूहलवर्द्धक अवश्य हैं। यदि मैं भूलता नहीं तो कलकत्ते में पहले भी सम्मेलन हो चुका है और उस सम्मेलनका अधिपति कोई और ही था पर न तो कलकत्ते में हिन्दीप्रेमी निराश ही हुए, न हिन्दी साहित्य की लाज ही गई और न बंगला के विद्वानों की दृष्टि में सम्मेलन के सभापति के पद का गौरव कम हुआ। अपनी इस धारणा के प्रतिकूल मुझे तो किसी का कोई लेख या किसी का कोई वक्तव्य पढ़ने या सुनने को नहीं मिला। मुझे तो सब तरफ से सफलता ही सफलता के समाचार मिले। अतएव आप का भय निर्मूल जान पड़ता है।...स्वागतकारिणी सभा खुशी से किसी अन्य व्यक्ति को सभापति वरण करे।

सम्मेलन के सभापति का पद प्राप्त कराने के लिए अपने मनोनीत सज्जनों के पक्षपातियों में, गत वर्ष तक, परस्पर व्यंग्यवचनों की बौछार, अशिष्टाचार, आक्षेप-प्रक्षेप और यदाकदा गाली गलौज तक होता आया है। ईश्वर ने बड़ी कृपा की जो मेरा नैरोग्य नाश करके मुझे ऐसे पद की प्राप्ति के योग्य ही न रक्खा।

विनय

महावीर प्रसाद द्विवेदी"[2]

इस पत्र के अन्तिम दो वाक्य विशेष महत्व के हैं। उनसे स्पष्ट प्रमाणित है कि सम्मेलन

---

१. क. नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित पत्र-व्यवहार का बंडल।
ख. द्विवेदी जी के पत्र और अनेक पत्रों की रूप-रेखाएं,
" " " संख्या, ३४. ३९. ४७, आदि, ना० प्र० सभा कार्यालय काशी।

२. द्विवेदी जी के पत्र की रूप-रेखा, १०. २. २१ ई०, सम्मेलन-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार, कलाभवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

के उपर्युक्त दूषित वातावरण के प्रति द्विवेदी जी के मन में अत्यन्त घृणा थी। वे इस प्रकार के विडम्बनापूर्ण बाजारू जीवन और उसकी थुक्काफजीहत से दूर रहकर ही एकान्त भाव से साहित्यसेवा करना चाहते थे।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का तेरहवां अधिवेशन कानपुर में होने वाला था। द्विवेदी जी सार्वजनिक भीड़भक्कड़ और सभा-समाजों से विरक्त जीव थे। उन्हें साहित्य-सम्मेलन के जनसम्मर्द में खींच लाना सहज न था। स्वागतकारिणी समिति का अध्यक्ष बनाने के विचार से लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि उन्हें मनाने गए। यद्यपि 'आर्यमित्र' के सम्पादक वाजपेयीजी ने आर्यसमाज की ओर से द्विवेदी जी के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा और छापा था तथापि उदार-हृदय द्विवेदी जी ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन लोगों के विशेष आग्रह पर किसी प्रकार अनुमति दे दी।[1]

३० मार्च, १६२३ ई० को उन्होंने स्वागताध्यक्ष-पद से अपना भाषण पढ़ा। शैली की दृष्टि से उनका यह भाषण उनकी समस्त रचनाओं में अपना निजी स्थान रखता है जिसके समकक्ष उनका कोई अन्य लेख या भाषण नहीं आ सका है। उनकी भाषा और शैली का आदर्श इसी में है। आरम्भ में उपचार और कानपुर की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहने के अनन्तर उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य की सभी प्रधान आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के उपायों की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकृष्ट किया।

साहित्य-सम्मेलन के सदस्यों में बहुत दिनों से द्विवेदी जी का अभिनन्दन करने की चर्चा चल रही थी। श्रीनाथ सिंह ने प्रस्ताव किया कि प्रयाग में एक साहित्यिक मेले का आयोजन करके उसमें द्विवेदीजी का अभिनन्दन किया जाय।[2] श्री चन्द्र शेखर और कन्हैयालाल जी ऐड-वोकेट ने उसका समर्थन किया।[3] सन् १६३२ ई० की ४ सितम्बर की बैठक में गोपाल शरण सिंह, कन्हैयालाल, धीरेन्द्र वर्मा, रामप्रसाद त्रिपाठी आदि ने मेले का निश्चय किया।[4] द्विवेदी जी ने अपनी राय मेले के विरुद्ध दी।[5] इसका समाचार सुनकर उन्हें कष्ट भी हुआ।[6] इस मेले को उन्होंने अपना उपहास समझा और रोकने की आज्ञा दी।[7] बहुत वादविवाद और

---

१. 'सरस्वती', भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ १५० ।
२. 'भारत', ११. ८. ३२ ई० ।
३. साप्ताहिक 'प्रताप', २८. ८. ३२ ई० और 'लीडर', ८. ६. ३२ ई० ।
४. 'प्रताप', ६. ६. ३२ ई० ।
५ दौलतपुर में रक्षित देवीदत्त शुक्ल का पत्र, २०. १०. ३२ ई० ।
६. दौलतपुर में रक्षित श्रीनाथ सिंह का पत्र, २८. १०. ३२ ई० ।
७ दौलतपुर में रक्षित कन्हैयालाल का पत्र, ३०. १०. ३२ ई० ।

लिखा-पढ़ी के पश्चात् उन्होंने अपनी सम्मति दे दी[1]।

४.५.६. मई, १६३३ ई० को मेले का उत्सव मनाया गया । पं० मदनमोहन मालवीय ने उद्घाटन और डा० गंगानाथ झा ने सभापतित्व किया। सी० वाइ० चिन्तामणि, जस्टिस उमाशंकर वाजपेयी आदि महान् व्यक्ति भी मंच पर विराजमान थे। अपने भाषण में डा० झा ने द्विवेदी जी को अवरुद्ध कंठ से अपना गुरु स्वीकार किया और उनका चरण-स्पर्श करने के लिए झुक पड़े। द्विवेदी जी झट कुर्सी छोड़कर अलग जा खड़े हुए। समस्त जनता इस दृश्य को मंत्रमुग्ध की भाँति देखती रही। आवेग शान्त होने पर द्विवेदी जी ने कहा—"भाइयो, जिस समय डाक्टर गंगानाथ झा मेरी ओर बढ़े, मैंने सोचा, यदि पृथ्वी फट जाती और मैं उसमें समा जाता तो अच्छा होता।"[2]

पश्चिमीय देशों के लिए यह मेला कोई नूतन वस्तु भले ही न हो परन्तु हिन्दी-संसार के लिए तो यह निराला दृश्य था। हिन्दी-प्रेमियों ने तो इस मेले का आयोजन किया था अपने साहित्य के अनन्य पुजारी द्विवेदी जी की पूजा करने के लिए परन्तु अपने वक्तव्य में द्विवेदी जी ने इसका कुछ और ही कारण बतलाया—"आप ने कहा होगा–बूढ़ा है, कुलद्रुम है, आधि-व्याधियों से व्यथित है, निःसहाय है, सुतदार और बन्धु-बान्धवों से रहित होने के कारण निराश्रय है। लाओ, इसे अपना आश्रित बना लें। अपने प्रेम, अपनी दया और अपनी सहानुभूति के सूचक इस मेले के साथ इसके नाम का योग करके इसे कुछ सान्त्वना देने का प्रयत्न करें, जिससे इसे मालूम होने लगे कि मेरी भी हितचिन्तना करने वाले और शान्तिदान का सन्देश सुनाने वाले सज्जन मौजूद हैं"।[3] द्विवेदी जी अपनी शालीनता और ऋजुता की रक्षा के लिए चाहे जो कुछ कहें, द्विवेदी-मेले के प्रबन्धकों ने इस अभूतपूर्व योजना द्वारा अपने साहित्य-प्रेम का परिचय देकर हिन्दी का मस्तक ऊंचा किया।

कवि- सम्मेलन के अवसर पर "कुछ छिछोरे छोकरों"[4] के विघ्न करने पर भी मेले की सफलता में कोई अन्तर नहीं पड़ा। द्विवेदी जी के आदेशानुसार 'मातृभाषा की महत्ता' विषय पर एक निबन्ध-प्रतियोगिता की गई और उनका प्रदत्त सौ रुपए का पुरस्कार १ मई, ३४ ई० को सैयद अमीर अली मीर को प्रदान किया गया।[5]

---

१. क. दौलतपुर में रक्षित कन्हैयालाल का पत्र ६. ११. ३२ ई०।
   ख. मेले के समय द्विवेदी जी का भाषण, पृष्ठ ८।
२. 'सरस्वती', भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ १६४।
३. मेले के अवसर पर द्विवेदी जी का भाषण, पृ० ६।
४. 'भारत', १ ६. ३३ ई०।
५. 'भारत', १६. ५. ३४ ई०।

अपने शिमला अधिवेशन में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने द्विवेदी जी को 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि दी।[1]

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक कृतियां अधोलिखत हैं--

पद्य:

अनूदित

१. विनय-विनोद--रचनाकाल १८८६ ई०, भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का दोहों में अनुवाद।

२. विहार-वाटिका--१८६० ई०, संस्कृत वृत्तों में जयदेव के 'गीतगोविन्द का संक्षिप्त भावानुवाद।

३. स्नेहमाला--१८६० ई०, भर्तृहरि के 'शृंगारशतक' का दोहों में अनुवाद।

४. श्रीमहिम्नस्तोत्र--१८८५ ई० में अनूदित किन्तु १८६१ ई० में प्रकाशित, संस्कृत के 'महिम्नस्तोत्रम्' का संस्कृत वृत्तों में सटीक हिन्दी अनुवाद।

५. गंगालहरी--१८६१ ई०, पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का सवैयों में अनुवाद।

६. ऋतुतरंगिणी--१८६१ ई०, कालिदास के 'ऋतुसंहार' की छाया लेकर 'देवनागरी-छन्दों में षड्ऋतु वर्णन'।

उपर्युक्त कृतियों की द्विवेदी-लिखित भूमिकाओं से सिद्ध है कि उन्होंने मूल संस्कृत रचनाओं की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने और हिन्दी में संस्कृत वृत्तों का प्रचार कराने के लिए ही ये अनुवाद प्रस्तुत किए।

७. सोहागरात--(अप्रकाशित) १६०० ई०, अंग्रेज कवि बाइरन के "ब्राइडल नाइट" का छायानुवाद।

८. कुमारसम्भवसार--१६०२ ई०, कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पांच सर्गों का पद्यात्मक सारांश। खड़ीबोली पद्य में कालिदास के भावों की व्यंजना का आदर्श उपस्थित करने के लिए ही द्विवेदी जी ने इस अनुवाद-पुस्तक की रचना की थी।

मौलिक

१. देवी-स्तुति-शतक--१८६२ ई०, गणात्मक छन्दों में चंडी की स्तुति।

२. कान्यकुब्जलीवतम्-- १८६८ ई०, कान्यकुब्ज-समाज पर तीखा व्यंग्य।

३ समाचारपत्रसम्पादकस्तवः--१८६८ ई०, सम्पादकों पर आक्षेप।

४ नागरी--१६०० ई०, नागरी-विषयक चार कविताओं का संग्रह।

---

१. साहित्य सम्मेलन का पत्र, मिती सौर १, ४, १६६४, दौलतपुर में रक्षित।

५. काव्यमंजूषा—१६०३ ई०, १८६७ ई० से १६०२ ई० तक रचित संस्कृत और हिन्दी की मौलिक फुटकल कविताओं का संग्रह ।

६. कान्यकुब्ज-अबला-विलाप—१६०७ ई०, कान्यकुब्ज-समाज की विवाह-सम्बन्धी कुप्रथाओं पर आक्षेप ।

७. सुमन—१६२३ ई०, 'काव्यमंजूषा' का संशोधित संस्करण ।

८. द्विवेदी-काव्यमाला—१६४० ई०, द्विवेदी जी की उपर्युक्त रचनाओं और प्रायः अन्य समस्त कविताओं का संग्रह ।

६ कविता-कलाप—१६०६ ई०, द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित, महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम 'शंकर', कामता प्रसाद गुरु और मैथिली शरण गुप्त की कविताओं का प्रायः सचित्र संग्रह ।

गद्य

अनूदित

१. भामिनी-विलास—१८६१ ई०, संस्कृत-कवि पंडितराज जगन्नाथ की संस्कृत पुस्तक 'भामिनी-विलास' का समूल अनुवाद । यह द्विवेदी जी की प्रारंभिक गद्यभाषा का एक सुन्दर उदाहरण है ।

२ अमृत-लहरी—१८६६ ई०, उक्त पंडितराज के 'यमुनास्तोत्र' का समूल भावानुवाद ।

'भामिनी-विलास 'और' अमृत-लहरी' की भूमिकाओं से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने केवल हिन्दी जानने वालों को मूल संस्कृत रचनाओं की सरस वाणी की आनन्दानुभूति कराने के लिए ही ये अनुवाद किए । सौन्दर्य की दृष्टि से इन कृतियों का कोई महत्त्व नहीं है किंतु द्विवेदी जी की भाषा के विकास का अध्ययन करने में ये विशेष उपयोगी हैं । आज व्याकरण की दृष्टि से असंगत कही जाने वाली तत्कालीन अनेक व्यापक प्रवृत्तियों का इन रचनाओं में दर्शन होता है ।

३ बेकन-विचार-रत्नावली—१८६६ ई० में लिखित और १६०१ ई० में प्रकाशित, अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद ।

बेकन के ५६ निबन्धों में से २३ को द्विवेदी जी ने यह कह कर छोड़ दिया है कि उनका विषय वस्तुतः ऐसा है जो एतद्देशीय जनों को तादृश रोचक नहीं है । उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है । 'Of Ambition, Of Fame' आदि निबन्ध पर्याप्त सुंदर तथा उपयोगी हैं । और अनूदित होने चाहिएँ थे । पादटिप्पणी में दिए गए ऐतिहासिक नामों के संक्षिप्त विवरण और पुस्तकान्त में व्यक्तिवाचक नामों की सूची ने अनुवाद की उपयोगिता को और भी बढ़ा

दिया है। बेकन के निबन्धों और संस्कृत के सुभाषित श्लोकों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए प्रत्येक निबन्ध के शीर्ष पर एक या दो श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। इन श्लोकों में निबन्धों की भांति विचारात्मक सामग्री नहीं है, ये विचारों के निष्कर्षमात्र हैं।

४ शिक्षा—१९०६ ई०, प्रसिद्ध तत्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेंसर की 'एज्यूकेशन' नामक पुस्तक का अनुवाद। उस समय समूचे देश में शिक्षा की दुर्दशा थी। मराठी, बंगला आदि में तो इस विषय पर ग्रन्थरचना हो रही थी किन्तु हिन्दी इससे वंचित थी। मौलिक रचनाओं की प्रतीक्षा न करके द्विवेदी जी ने अनुवाद के द्वारा ही इस अभाव की पूर्तिका प्रयास किया। इस ग्रन्थ में बुद्धि, शरीर और चरित्र की समंजस शिक्षा की विस्तृत विवेचना की गई है। ठीक ठीक अर्थग्रहण कराने के लिए अनुवादक द्विवेदी ने व्याख्या के बीच में ही व्यक्तिवाचक नामों का कुछ परिचय भी दे दिया है। उन्होंने जिन नामों को परिवर्तनीय समझा है उनके स्थान पर हिन्दी-भाषियों के परिचित भारतीय नामों का प्रयोग किया है। अपने विचारों की पुष्टि और प्राभाविक अभिव्यक्ति करने के लिए आवश्यकतानुसार अपने यहां के प्राचीन तथा अर्वाचीन उदाहरणों की योजना की है। मूल लेख के गूढ़ भावों को उन्होंने 'अर्थात्' आदि के प्रयोगों द्वारा सविस्तार समझाने की चेष्टा की है। पारिभाषिक कठिन शब्दों को या तो निकाल दिया है या आवश्यकतानुसार उस अवच्छेद के आशय को मनमानी शब्दों द्वारा व्यक्त किया है।

५ स्वाधीनता—१९०७ ई०. जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' निबन्ध का अनुवाद इस ग्रन्थ में प्रस्तावना और मूल लेखक की जीवनी के पश्चात् विचार और विवेचना की स्वाधीनता, व्यक्तिविशेषता, व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा और इनके प्रयोग की समीक्षा है। मिल के दीर्घ, जटिल और क्लिष्ट वाक्यों के स्थान पर द्विवेदी जी के वाक्य छोटे, सरल और सुबोध हैं। इस भावानुवाद की भाषा उर्दूमिश्रित हिन्दी और शैली वक्तृतात्मक तथा 'अर्थात्' आदि प्रयोगों से व्याप्त है।

६ जल चिकित्सा—१९०७ ई०, जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंगरेजी अनुवाद का अनुवाद।

७ हिन्दी-महाभारत—१९०८ ई०, संस्कृत-'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर।

८. रघुवंश—१९१२ ई०, कालिदास के रघुवंश' महाकाव्य का हिन्दी गद्य में भावार्थबोधक अनुवाद

९ वेणी-संहार—१९१३ ई०, संस्कृत-कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का आख्यायिका के रूप में अनुवाद।

१०. कुमार-सम्भव—१९१५ ई० कालिदास के 'कुमार-सम्भव' का गद्यात्मक अनुवाद।

११. मेघदूत—१९१७ ई०, कालिदास के 'मेघदूतम्' का गद्यात्मक अनुवाद ।
१२. किरातार्जुनीय—१९१७ ई०, भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का गद्यानुवाद ।

उपर्युक्त उत्तम और लोकप्रिय काव्यों के गद्यानुवाद का उद्देश था तिलिस्मी, जासूसी और ऐयारी आदि उपन्यासों के कुप्रभाव को रोकना और आख्यायिका-रूप में सुन्दर पठनीय सामग्री देकर हिन्दी पाठकों की पतनोन्मुख रुचि का परिष्कार करना । ये अनुवाद असंस्कृतज्ञ हिन्दी-पाठकों को कालिदास, भारवि, भट्टनारायण आदि महाकवियों की रचना, विचार-परम्परा और वर्णनवैचित्र्य के साथ ही साथ भारत की प्राचीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था से भी परिचित करते हैं । ये मनोरंजक भी हैं और ज्ञानप्रद भी ।

इनकी ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विशिष्टता तथा महत्ता का ज्ञान तुलनात्मक संमीक्षा द्वारा ही हो सकता है । जिस समय द्विवेदी जी ने 'रघुवंश' का अनुवाद किया था उस समय हिन्दी में उसके चार अनुवाद विद्यमान थे । लाला सीता राम तथा पंडित सरयू प्रसाद मिश्र के पद्यबद्ध और राजा लक्ष्मण सिंह एवं पंडित ज्वाला प्रसाद मिश्र के गद्यात्मक । ये अनुवाद भाषा और भाव सभी दृष्टियों से हीन थे ।[1] किरातार्जुनीय का भाषान्तर करते समय द्विवेदी जी ने श्रीनारायण चितले एण्ड कम्पनी के मराठी, बाबू नवीन चन्द्र दास के बंगला, मेहरा हरिलाल नरसिंह राम व्यास के गुजराती और श्री गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य के बंगला-

---

१. उदाहरणार्थ—

कालिदास का मूल श्लोक था—

तौ स्नातकर्बन्धुमता च राज्ञा
पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्था-
वार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥
'रघुवंश', ७, २८ ।

राजा लक्ष्मणसिंह ने अनुवाद किया—

सोने के आसन पर बैठे हुए इन दूल्हा-दुलहिन ने स्नातकों का और बान्धवों सहित राजा का और पतिपुत्रवालियों का बारी बारी से आले धान बोना देखा ।

ज्वालाप्रसाद ने अनुवाद किया—

सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वह वर और वधू स्नातकों और कुटुम्बियों सहित राजा का तथा पति और पुत्र वालियों का क्रम क्रम से गीले धान बोना देखते हुए ।

द्विवेदी जी का अनुवाद—

इसके अनन्तर सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वर और वधू के सिर पर रोचनारंजित गीले अक्षत डाले गए । पहले स्नातक गृहस्थों ने अक्षत डाले, फिर बन्धुबान्धवों सहित राजा ने, फिर पतिपुत्रवती पुरवासिनी स्त्रियों ने ।

हिन्दी-अनुवादों का अवलोकन किया था। इस हिन्दी-अनुवाद की भी दशा अत्यन्त शोचनीय थी।[1]

द्विवेदी जी के इन अनुवादों की भाषा प्रांजल और बोधगम्य, शब्दस्थापना गौण तथा भाव ही प्रधान हैं। भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के छोड़ने और जोड़ने में उन्होंने स्वच्छन्दता से काम लिया है। आबालवृद्धवनिता सबके पठनयोग्य बनाने के लिए विशेष शृंगारिक स्थलों का या तो परित्याग कर दिया है या परिवर्तित रूप में प्रकारान्तर से उल्लेख किया है।[2] विशिष्ट संस्कृत-पदावली के कारण चमत्कारपूर्ण श्लोकों के अनुवाद में मूल की सरसता की रक्षा नहीं हो सकी है।[3] भाषान्तर के इस असम्भव कार्य के लिए अनुवादक तनिक भी दोषी नहीं है। एकाध स्थलों पर द्विवेदी जी द्वारा किया गया अर्थ सुन्दर नहीं जंचता।[4] फिर भी, इसके कारण, उनके अनुवादों की महत्ता और उपयोगिता में

---

१. यथा—

गोगण शेषरात्रि के विचरण स्थान से प्रत्यावर्तन करने वेग से भूपथ में दौड़ नहीं सकती थीं ....।

२. यथा—'प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैः' (रघुवंश, ६, ७), दुर्योधन और भानुमती का विलास (वेणीसंहार, अंक २) आदि छोड़ दिए गए हैं।

३. यथा—ननोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नो नुन्नो ननुन्नेनो नानेनो नुन्ननुन्ननुत् ॥ १५, १४।
देवाकानिनि कावादे वाहिकास्वस्वकाहि वा।
काकारे भभरे काका निस्वभव्यव्यभस्वनि ॥ १५, २५।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्जणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः ॥ १५, ५२।

४. यथा—कालिदास की मूल पंक्ति थी—
हरिचक्रेण तेनास्य कंठे निष्कमिवार्पितम्।
कु० स०, सर्ग २।

द्विवेदी जी ने अर्थ किया—
"कंठ काट देना तो दूर रहा वह चक्र वहाँ पर वैसे ही कुछ देर चिपका रहा और तारक के कंठ का आभूषण बन गया।"

चक्रसुदर्शन का तारक के कंठ में चिपक कर निष्क (कंठहार) की भाँति आभूषण बनना सर्वथा असंभव और असंगत जंचता है। इसमें कोई सौंदर्य नहीं है। उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—

तारक के कंठ को काटने में असमर्थ चक्रसुदर्शन उसके कंठ के चारों ओर टकराता रहा। इस टक्कर से उत्पन्न चिनगारियों ने तारक के कंठ में चमकता हुआ हार-सा पहना दिया।

कालिदास के इसी भाव को सुस्पष्ट करते हुए माघ ने लिखा—

कोई अन्तर नहीं पड़ता।

१३. प्राचीन पंडित और कवि—१९१८ ई०, अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर भवभूति आदि प्राचीन कवियों और पंडितों का परिचय।

१४. आख्यायिका-सप्तक—१९२७ ई०, अन्य भाषाओं की आख्यायिकाओं की छाया लेकर लिखित सात आख्यायिकाओं का संग्रह।

मौलिक

१. तरुणोपदेश—१८९४ ई० अप्रकाशित और दौलतपुर में रचित कामशास्त्र पर उपदेशात्मक ग्रन्थ।

२. हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना—१८९९ ई०।

३. नैषधचरितचर्चा—१९०० ई०, श्रीहर्षलिखित 'नैषधीयचरितम्' नामक संस्कृत-काव्य की परिचयात्मक आलोचना।

४ हिन्दी कालिदास की समालोचना—१९०१ ई०, लाला सीतारामकृत 'कुमारसम्भव भाषा, 'मेघदूत भाषा' और 'रघुवंश भाषा' की तीखी समालोचना।

५ वैज्ञानिक कोष—१९०१ ई०।

६. नाट्यशास्त्र—१९०३ ई० में लिखित किन्तु १९१० ई० में प्रकाशित पुस्तिका।

७. विक्रमांकदेवचरितचर्चा—१९०७ ई०, संस्कृत-कवि विल्हण के 'विक्रमांकदेवचरितम्' की परिचयात्मक आलोचना।

८. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति—१९०७ ई०।

९. सम्पत्तिशास्त्र—१९०७ ई०।

इस ग्रन्थ में द्विवेदी जी ने सम्पत्ति के स्वरूप, वृद्धि, विनिमय, वितरण और उपयोग एवं व्यावसायिक बातों, साख, बैंकिंग, बीमा, व्यापार, कर तथा देशान्तरगमन की विस्तृत व्याख्या और समीक्षा की है। अंग्रेजी, मराठी, बंगला, गुजराती और उर्दू के अनेक ग्रन्थों से सहायता लेने पर भी उन्होंने मौलिक ढंग से विषयविवेचन किया है। अतिविस्तार, क्लिष्टता और जटिलता के भय से उन्होंने सम्पत्तिशास्त्र-ज्ञाताओं के वादविवाद की समीक्षा नहीं की है और पश्चिमीय सिद्धान्तों को वहीं तक माना है जहाँ तक उन्हें भारतकेलिए लाभदायक समझा है। आज भी, हिन्दी-साहित्य के इतना आगे बढ़ जाने पर भी, द्विवेदी जी का 'सम्पत्तिशास्त्र' पूर्ववत् उपादेय और पठनीय है।

बृहच्छिलानिष्ठुरकंठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विपः।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णुवैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम्॥ 'शिशुपालवध', सर्ग १।

१०. कौटिल्य-कुठार---१९०७ ई०, अप्रकाशित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित।

११. कालिदास की निरंकुशता---१९११ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित।

१२. हिन्दी की पहली किताब-- १९११ ई०
१३. लोअर प्राइमरी रीडर
१४. अपर प्राइमरी रीडर
१५. शिक्षा-सरोज
१६. बालबोध या वर्णबोध
१७ जिला कानपुर का भूगोल
} बालोपयोगी तथा स्कूली रीडरें

१८. अवध के किसानों की बरबादी।

१९ वनिता-विलास---१९१८ ई०, 'सरस्वती' में समय समय पर प्रकाशित विदेशी और भारतीय नारियों के जीवन-चरितों का संग्रह।

२०. औद्योगिकी—१९२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२१. रसज्ञरंजन—१९२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित साहित्यिक लेखों का संग्रह। इस संग्रह का दूसरा लेख श्रीयुत विद्यानाथ (कामता प्रसाद गुरु) का है।

२२. कालिदास और उनकी कविता—१९२० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२३. सुकवि-संकीर्तन---१९२२ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित कवियों और विद्वानों के जीवन-चरित।

२४. तेरहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (कानपुर अधिवेशन) के स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, १९२३ ई०।

२५ अतीत-स्मृति—१९२३.२४ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२६. साहित्य-सन्दर्भ—१९२४ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

२७. अद्भुत-आलाप— ,, ,, ,, ,,

२८ महिला-मोद---१९२५ ई०, स्त्रियोपयोगी लेखों का संग्रह।

२९. आध्यात्मिकी—१९२६ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह।

३०. वैचित्र्य-चित्रण-- ,, ,, ,, ,,

३१. साहित्यालाप-- ,, ,, ,, ,,

३२ विज्ञ-विनोद-- ,, ,, ,, ,,

३३ कोविद-कीर्तन--१९२७ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवन-चरितों का संग्रह।

३४ विदेशी-विद्वान्—१९२७ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवन चरितों

का संग्रह ।

३५. प्राचीन-चिन्ह--'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

३६. चरित-चर्या--१९२७ ई० 'सरस्वती' में प्रकाशित जीवनचरितों का संग्रह ।

३७. पुरावृत्त-- ,, ,, ,, लेखों ,,

३८. दृश्य-दर्शन--१९२८ ई० ,, ,, ,, ,,

३९. आलोचनांजलि-- ,, ,, ,, ,, ,,

४०. समालोचनासमुच्चय-,, ,, ,, ,, ,,

४१. लेखांजलि- ,, ,, ,, ,, ,,

४२. चरित-चित्रण-१९२९ ई० ,, ,, जीवनचरितों ,,

४३. पुरातत्त्व प्रसंग- ,, ,, ,, लेखों ,,

४४. साहित्य-सीकर- ,, ,, ,, ,, ,,

४५. विज्ञानवार्ता-१९३० ई० ,, ,, ,, ,,

४६. वाग्विलास-१९३० ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

४७. संकलन-१९३१ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

४८ विचार-विमर्श-१९३१ ई०, 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों और टिप्पणियों का संग्रह ।

४९ आत्म-निवेदन-१९३३ ई०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किए गए अभिनन्दन के अवसर पर ।

५०. भाषण-१९३३ ई०, प्रयाग में आयोजित द्विवेदी मेले के अवसर पर ।

कुल रचनाएँ--८१[1]

---

१. द्विवेदी जी की रचनाओं की सूची प्रस्तुत करने में निम्नांकित सूचियों का विशेष ध्यान रखा गया है--
'हंस' के 'द्विवेदी-अभिनन्दनांक' में शिव पूजन सहाय ने द्विवेदी जी की रचनाओं की एक सूची प्रस्तुत की है। उसमें उन्होंने लिखा है कि मैंने अपनी और यज्ञदत्त शुक्ल बी० ए० की सूची मिलाकर द्विवेदी जी के पास भेजी थी और उसमें द्विवेदी जी ने यत्र तत्र संशोधन भी किया। शिव पूजन सहाय का एतत्सम्बन्धी पत्र (२७. ३. ३३ ई०) दौलत-पुर में रक्षित है वह संशोधित सूची 'हंस' के उपर्युक्त अंक में इस प्रकार दी गई है--

पद्य

१. देवी-स्तुति
२. विनय-विनोद
३. महिम्न-स्तोत्र
४. गंगा लहरी
५. स्नेह-माला
६. विहार-वाटिका
७. काव्य-मंजूषा
८. कुमार-सम्भव-सार

९ कविता-कलाप (संपादित).

१०. सुमन (काव्य-मंजूषा का संशोधित-संस्करण)

११. अमृत-लहरी---यमुना लहरी का अनुवाद।

गद्य

१. भामिनी-विलास
२. वेकन-विचार रत्नावली
३. हिन्दी कालिदास की समालोचना
४. हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना
५. अतीत-स्मृति
६. स्वाधीनता
७. शिक्षा
८. सम्पत्तिशास्त्र
९. नाट्यशास्त्र
१०. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति
११. हिन्दी-महाभारत
१२. रघुवंश
१३. मेघदूत
१४. कुमारसंभव
१५. किरातार्जुनीय
१६. नैषधचरित चर्चा
१७. विक्रमांकदेवचरितचर्चा
१८. कालिदास की निरंकुशता
१९. आलोचनांजलि
२०. आख्यायिका-सप्तक
२१. कोविद-कीर्तन
२२. विदेशी-विद्वान
२३. जलचिकित्सा
२४. प्राचीन-चिन्ह
२५. चरित-चर्या
२६. पुरावृत्त
२७. लोअर प्राइमारी रीडर
२८. अपर प्राइमरी रीडर
२९. शिक्षा-सरोज रीडर ५ भाग
३०. बालबोध या वर्णबोध प्राइमर
३१. जिला कानपुर का भूगोल
३२. आध्यात्मिकी
३३. औद्योगिकी
३४. रसज्ञरंजन
३५. कालिदास
३६. वैचित्र्य-चित्रण
३७. विज्ञान-वार्ता
३८. चरितचित्रण
३९. विज्ञ-विनोद
४०. समालोचना-समुच्चय
४१. वाग्विलास
४२. साहित्य-सन्दर्भ
४३. वनिता-विलास
४४. महिला-मोद
४५. अद्भुत-आलाप
४६. सुकवि-संकीर्तन
४७. प्राचीन पंडित और कवि
४८. संकलन
४९. विचार विमर्श
५०. पुरातत्व-प्रसंग
५१. साहित्यालाप
५२. लेखांजलि

५३ साहित्य-सीकर
५४. दृश्य-दर्शन
५५. अवध के किसानों की बरबादी
५६. कानपुर के साहित्य-सम्मेलन में स्वागताध्यक्षपद से भाषण
५७. अभिनन्दन के समय आत्मनिवेदन

इस सूची में द्विवेदी जी की सभी अप्रकाशित तथा अनेक प्रकाशित रचनाएं छोड़ दी गई हैं। इसकी प्रामाणिकता इस बात में है कि इसमें परिगणित सभी कृतियां द्विवेदी जी की ही हैं।

दूसरी आलोच्य सूची प्रेम नारायण टंडन–कृत 'द्विवेदी-मीमांसा' की है—

१ विनय-विनोद
२ विहार-वाटिका
३ स्नेहमाला
४ ऋतु-तरंगिणी
५ गंगा-लहरी
६ देवी-स्तुति-शतक
७ महिम्न-स्तोत्र
८ कुमार-सम्भव-सार
९ काव्य-मंजूषा
१० कविता-कलाप
११ सुमन
१२ अमृत लहरी
१३ बेकन-विचार-रत्नावली
१४ भामिनी-विलास
१५ नैषधचरितचर्चा
१६ हिन्दी कालिदास की समालोचना
१७ हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना
१८ वैज्ञानिक कोष
१९ नाट्यशास्त्र
२० जलचिकित्सा
२१ शिक्षा
२२ स्वाधीनता
२३ विक्रमांकदेवचरितचर्चा
२४ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति
२५ हिन्दी महाभारत
२६ संपत्तिशास्त्र
२७ कालिदास की निरंकुशता
२८ रघुवंश
२९ कुमारसंभव
३० मेघदूत
३१ किरातार्जुनीय
३२ आलोचनांजलि
३३ आख्यायिका सप्तक
३४ कोविद्-कीर्तन
३५ विदेशी-विद्वान्
३६ प्राचीन-चिन्ह
३७ चरित-चर्या
३८ पुरावृत्त
३९ लोअर प्राइमरी रीडर
४० अपर प्राइमरी
४१ शिक्षा-सरोज
४२ बालबोध या वर्णबोध
४३ जिला कानपुर का भूगोल
४४ आध्यात्मिकी
४५ औद्योगिकी

तीन अप्रकाशित पुस्तकें

१. तरुणोपदेश.

हिन्दी में अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गई थी जो तरुणों को स्वास्थ्य, संयम और ब्रह्मचर्यपालन का मार्ग दिखाकर उन्हें अनिष्ट कृत्यों से बचा सके। १८९४ ई० में 'तरुणोपदेश' की रचना करके द्विवेदी जी ने इस अभाव की सुन्दर पूर्ति की। परन्तु 'रसीली' और 'अश्लील' समझी जाने के कारण यह पुस्तक छपी नहीं। २१० पृष्ठों की हस्तलिखित पुस्तक ४ अधिकरणों में विभाजित है। सामान्याधिकरण के ७ परिच्छेदों में तारुण्य, पुरुषों में क्या क्या स्त्रियों को प्रिय होता है, विवाहकाल, दाम्पत्यसंगम, इच्छानुकूल पुत्र अथवा कन्योत्पादन, अपत्यप्रतिबन्ध और सन्तान न होने के कारण, वीर्याधिकरण के तीन परिच्छेदों में वीर्यवर्णन, ब्रह्मचर्य की हानियाँ और अतिप्रसंग की हानियां, अनिष्टविदाधिकरण के चार परिच्छेदों में निषिद्ध मैथुन, हस्तमैथुन, वेश्यागमन-निषेध तथा मद्यप्राशन

---

४६ रसज्ञरंजन
४७ कालिदास
४८ वैचित्र्य-चित्रण
४९ विज्ञान-वार्ता
५० चरितचित्रण
५१ विज्ञ-विनोद
५२ समालोचना-समुच्चय
५३ वाग्विलास
५४ साहित्य-सन्दर्भ
५५ वनिता-विलास
५६ सुकवि-संकीर्तन
५७ प्राचीन पंडित और कवि
५८ संकलन
५९ विचार-विमर्श
६० पुरातत्व-प्रसंग
६१ साहित्यालाप
६२ लेखांजलि
६३ साहित्य-सीकर
६४ दृश्य-दर्शन
६५ अवध के किसानों की बरबादी
६६ वक्तृत्व कला
६७ आत्म-निवेदन
६८ वेणीसंहारनाटक
६९-७० स्पेन्सर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसायें

इस सूची के भी कुछ दोष समालोच्य हैं। लेखक ने द्विवेदी जी की किसी भी अप्रकाशित रचना का उल्लेख नहीं किया है। द्विवेदी जी की अनेक रचनाएं छोड़ दी गई हैं। कहीं कहीं रचना का नाम भी गलत दिया गया है, यथा 'वक्तृत्वकला' और 'कालिदास' इन दोनो के मुखपृष्ठ पर क्रमशः 'भाषण' और 'कालिदास और उनकी कविता' नाम दिए हुए हैं। स्पेंसर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसाओं के अनुवादक द्विवेदी जी नहीं हैं। उनके लेखक लाला कन्नोमल हैं।

इन दो सूचियों के अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 'रूपाभ', 'साहित्यसन्देश' आदि में अनेक स्थलों पर द्विवेदी जी की रचनाओं की सूची दी गई है किन्तु वे सभी सर्वथा अपूर्ण और अनालोच्य हैं। इन अपूर्ण सूचियों ने भी पूर्ण सूची प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता की है।

और रोगाधिकरण के चार परिच्छेदों में अनिच्छित वीर्यपात, मूत्राघात, उपदंश एवं नपुंसकत्व का विवेचन किया गया है। तरुणों के लिए ज्ञातव्य सभी बातों का बोधगम्य भाषा में प्रतिपादन हुआ है।

संस्कृत ग्रन्थों में स्त्रियों की वयःसन्धि पर तो बहुत कुछ है परन्तु पुरुषों पर अत्यल्प। प्रस्तुत ग्रन्थ में द्विवेदी जी ने पुरुषों के वर्णन में 'नैषधचरित', 'सहृदयानन्द', विक्रमांकदेवचरित' आदि काव्यों से भी पर्याप्त उदाहरण दिए हैं। वात्स्यायन, डा० गंगादीन, डा० धन्वतरि आदि भारतीय एवं डा० फाउलर, डा० सिक्स्ट, रावर्ट डेल ओयन आदि पश्चिमीय विद्वानों के मतों को भी यथास्थान उद्धृत किया है। पूरे ग्रन्थ में आद्योपान्त ही अश्लीलता का नाम नहीं है। इस ग्रन्थ की भाषा और शैली द्विवेदी जी की आरम्भिक रचनाओं की-सी है।

२.सोहागरात.

अप्रकाशित 'सोहागरात' द्विवेदीजी की विशेष उल्लेखनीय अनूदित कृति है। यह अंगरेज कवि बाइरन की 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद है। "पहले ही पहल पति के घर आई हुई एक बाला स्त्री का उसकी मैत्रिणी को पत्र है।" इस पचास पदों के पत्र में नव-विवाहिता शशी ने अपनी अविवाहिता सखी कलावती के प्रति सोहागरात में की गई छः बार की रति का प्रस्तावनासहित आद्योपान्त सविस्तार वर्णन किया है। यह वही 'सोहागरात' है जिसकी चर्चा द्विवेदी जी ने अभिनन्दन के समय आत्मनिवेदन में की थी और जिसको लेकर कृष्णकान्त मालवीय ने निरर्थक और अनुचित विवाद उठाया था। यह रचना इतनी अश्लील है कि इसके उद्धरण देने में अत्यन्त संकोच हो रहा है। और ऐसा करना द्विवेदी जी के प्रति अन्याय होगा। यह तो सच्चरित्र, संयमशील और आदर्श द्विवेदी जी की कृति ही नहीं प्रतीत होती। पुस्तकान्त में द्विवेदी जी ने लिखा है--

देखो दो वेदों का पढ़नेवाला भी यह कहता है--
सुख भोगो, दुनिया में आकर कौन बहुत दिन रहता है ?

३. कौटिल्यकुठार.

साहित्यिक संस्मरण के सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ की चर्चा भी हो चुकी है। इस ग्रंथ के आरम्भ में राय देवी प्रसाद द्वारा अंगरेजी में लिखी हुई एक संक्षिप्त भूमिका है। शेष पुस्तक तीन खंडों में विभक्त है—

क. सभा की सभ्यता
ख. वक्तव्य

ग. परिशिष्ट

द्विवेदी जी के चरित्र और उनकी शैली के अध्ययन की दृष्टि से यह रचना विशेष महत्व-पूर्ण है । स्थान स्थान पर द्विवेदी जी ने अपने क्रोध और उग्रता की अभिव्यक्ति की है। इस पुस्तक में उनकी वक्तृतात्मक और व्यंग्यात्मक शैलियां अपनी ओजस्विता की सीमा पर पहुँच गई हैं। 'भाषा और भाषासुधार' अध्याय में व्याख्यात इन शैलियों की सभी विशिष्टताएं इसमें व्याप्त हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ का अन्तिम अवच्छेद पृष्ठ ७१ पर उद्धृत किया जा चुका है।

चौथा अध्याय

कविता

'कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझें हमें तो एक तरह दुस्साध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का आयास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्राय: बन्द कर दिया।''[1]

द्विवेदी जी की उपर्युक्त उक्ति में शालीनोचित कोरी नम्रता ही नहीं सत्यता भी है। श्रेष्ठ काव्य की स्थायी प्रदर्शिनी में उनकी कविताओं का ऊंचा स्थान नहीं है। उनके निबन्धों को 'बातों के संग्रह' कहने वाले उनकी कविताओं को भी एक अज्ञ की तुकबन्दी कह सकते हैं। द्विवेदी जी ने स्वयं भी उन्हें काव्य या कविता न कहकर तुकबन्दी या पद्य ही माना है।[2] परन्तु आधुनिक हिन्दी काव्य के इतिहास में उनकी कविताओं के लिए एक विशिष्ट पद

---

१. द्विवेदी जी की उक्ति, 'रसज्ञरंजन' पृ० २० ।

२. 'सुमन' की भूमिकामें उसके प्रकाशन की चर्चा करतेहुए मैथिलीशरणगुप्त ने लिखा है--

''परन्तु स्वयं द्विवेदी जी महाराज इस ओर से उदासीन थे। जब मैंने इसके लिए उनसे प्रार्थना की तब उन्होंने इसे व्यर्थ का परिश्रम कहकर मुझे इस काम से विरत करना चाहा। गुरुजनों के साथ विवाद करना अनुचित समझ कर मैंने उनकी बात का विरोध न करके अपनी बात का अनुरोध बारम्बार किया। झूठ क्यों कहूं, मन ही मन विरोध भी किया। द्विवेदी जी महाराज को कुछ भी जानने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त है उन्हें ज्ञात है कि वे कितने कृपालु और वत्सल हैं। इच्छा न रहने पर भी वे बालहठ को न टाल सके। मुझे किसी तरह आज्ञा मिल गई। परन्तु फिर भी एक प्रतिबन्ध लगा दिया गया। वह इस तरह--

मुझे अपने कोई पद्य पसंद नहीं।....आप की सलाह है, इससे चुनकर भेजता हूं। नाम पुस्तक का आप ही रख दीजिए। नाम में पद्य हो, काव्य या कविता नहीं। नाम बिल्कुल ही महत्वहीनतासूचक होना चाहिए।....एक छोटी सी भूमिका आप ही लिख दीजिए। पद्यों की तारीफ में कुछ न कहिए।

ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हिन्दी में बोलचाल की भाषा का जो स्रोत उमड़ रहा है और कवितागत भाव में जो परिवर्तन दिखाई दे रहा है, उसका उद्गम और मार्गनिर्देश इन रचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। क्या यही एक कारण इनके प्रकाशित किए जाने के लिए पर्याप्त नहीं है?

मैथिलीशरण गुप्त''

'सुमन' की भूमिका।

सुरक्षित रहेगा—सौंदर्यमूलक आलोचना के आधार पर नहीं, किन्तु जीवनीमूलक और ऐतिहासिक समीक्षा की दृष्टि से।

निस्सन्देह द्विवेदी जी की कविता में वह काव्यसौन्दर्य नहीं है जिसके बल पर वे जयदेव, पंडितराज जगन्नाथ या मैथिली शरण गुप्त की भांति गर्व करते।[1] उनकी कविता में वह विशेषता भी नहीं है जो उन्हें कालिदास, तुलसी या हरिऔध की भांति विनम्र सिद्ध कर सके।[2] उन्हें अपनी कविता के सफल होने की आशा भी नहीं थी, अन्यथा वे भी भवभूति आदि की भांति अपने सन्देहसंकुल चित्त को किसी न किसी प्रकार अवश्य समझा लेते।[3]

क्षेमेन्द्र ने काव्यशास्त्र का अध्ययन करने वाले शिष्यों के जो तीन प्रकार 'कविकंठाभरण' में बताए हैं उसके अनुसार द्विवेदी जी अल्पप्रयत्नसाध्य और कृच्छ्रप्रयत्नसाध्य की मिश्रकोटि में रखे जा सकते हैं। उन्होंने अपनी कविताओं की रचना कालिदास आदि की भाँति यश-प्राप्ति की लालसा से नहीं की।[4] उनमें धावक आदि प्राचीन एवं रेडियो और सिनेमा के

---

१. क. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकथासु कुतूहलम्
मधुरकोमलकान्तपदवलिं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥
जयदेव, 'गीतगोविन्द'।

ख. माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता।
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायां मम सुधाकविता॥
जगन्नाथ, 'भामिनीविलास'।

ग. ये प्रासाद रहें न रहें पर अमर तुम्हारा यह साकेत।
मैथिली शरण गुप्त, 'साकेत'।

कर्म-विपाक कंस की मारी दीन देवकी सी चिरकाल।
लो अबोध अन्तःपुरि मेरी अमर यही माई का लाल॥
मैथिली शरण गुप्त, 'द्वापर'।

२. क. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ 'रघुवंश'।

ख. कवि न होउँ नहि चतुर कहाऊँ। या—'कवित विवेक एक नहिं मोरे।'
'रामचरितमानस'।

ग. मेरी मतिबीन तो मधुर ध्वनि पैहै कहां, एरी बीनवारी, जो न तेरी बीन बजिहै।'
'रसकलश'।

३. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां, जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी॥
भवभूति, 'मालतीमाधव'।

४. क. मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। 'रघुवंश'।

ख. मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।

भक्त अर्वाचीन कवियों की धनकामना भी न थी ।[१] और न उनकी काव्यनिबन्धना तुलसी आदि की भांति स्वान्तःसुखाय ही हुई थी। उनकी अधिकांश कविताओं का प्रयोजन है 'कान्तासम्मिततयोपदेश' । अपने कवि-जीवन के आरम्भिक वर्षों में हिन्दी-पाठकों को संस्कृत की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने, संस्कृत के सुन्दर वर्णवृत्तों को हिन्दी में प्रचलित करने और अतिशृंगारिक काव्यों को सबके पढ़ने योग्य बनाने के लिए उन्होंने संस्कृत के 'वैराग्य-शतक', 'गीतगोविंद', 'शृंगारशतक', 'महिम्नस्तोत्र', 'ऋतुसंहार' और 'गंगास्तवन', के छन्दोबद्ध अनुवाद किए। बाद की रचनाओं में सुधारक का स्वर विशेष प्रधान है। उनमें उनका उद्देश गद्य और पद्य की भाषा एक करके साहित्यसामग्री को समाजव्यापी बनाना रहा है। कवि द्विवेदी पर संस्कृत और मराठी का प्रभाव एवं खड़ी बोली तथा हिन्दू-संस्कृति के प्रति पक्षपात की प्रवृत्ति सर्वत्र ही स्पष्ट है।

द्विवेदी जी की काव्यकसौटी पर एकबार उनकी कविताओं को परख लेना सर्वथा समीचीन होगा। उन्होंने कविता की कोई मौलिक परिभाषा न देकर संस्कृतसाहित्य-शास्त्रियोंके काव्यलक्षणों का निष्कर्ष मात्र निकाला है—

> सुरम्यरूपे ! रसराशिरंजिते ! विचित्रवर्णाभरणे ! कहां गई ?
> अलौकिकानन्दविधायिनी ! महाकवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो कहां ?
> सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है, अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे ?
> शरीर तेरा सब शब्दमात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही, यही ॥[२]

उनके गद्यनिबन्ध—'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'कवि और कविता', 'कविता' आदि—भी उपर्युक्त लक्षण की पुष्टि करते हैं ।[३] कविता को कान्ता का उपमेय मानना संस्कृत के साहित्यकारों की परम्परागत साधारण बात है ।[४] संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने 'शरीर ताव-

---

भगवान, भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती ॥ 'भारत-भारती' ।

१. धावक
"धावकादीनामिव धनम्"
'काव्यप्रकाश', प्रथम उल्लास, दूसरी कारिका की वृत्ति ।

२. द्विवेदी–काव्यमाला, पृ० २६१ और २६५ ।

३. 'रसज्ञरंजन', पृ० २०, ३० और ५० ।

४. क. 'अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमंडला' ।
भामह, ३, ५७ ।

ख. यामिनीवेन्दुना मुक्ता नारीव रमणं विना ।
लक्ष्मीरिव ऋते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसा ॥

दिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'[1] आदि उक्तियों के द्वारा काव्य के शरीर का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, विश्वनाथ आदि ने बहुत पहले ही रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था।[2] आनन्दवर्धन, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने काव्यगत रम्यता को उसकी कांति माना है।[3] 'विविक्तवर्णाभरणासुखश्रुतिः'[4] आदि प्राचीन कथनों के आधार पर ही द्विवेदी जी ने अलंकृत वर्णों को कविताकान्ता का आभरण कहा है। अभिनव गुप्त, मम्मट, पंडितराज आदि ने अपने साहित्यग्रन्थों में रस की अलौकिकता की विवेचना की है।[5] द्विवेदी जी ने पंडितराज जगन्नाथ के काव्यलक्षण को ही सर्वमान्य घोषित किया है।[6]

रस की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं में काव्यसौंदर्य ढूंढ़ने का प्रयास निष्फल होगा। उनके 'विनयविनोद' में शान्त तथा 'विहारवाटिका', 'स्नेहमाला', 'कुमारसम्भवसार' और 'सोहागरात' में शृंगाररस की व्यंजना हुई है। इन अनुवादों की रसात्मकता का श्रेय मूल रचनाकारों को ही है। द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओं में केवल 'बालविधवाविलाप' ही रसानुभूति कराने में समर्थ हैं। उसमें अंकित बालविधवा की कारुणिक दशा का चित्र निस्सन्देह मर्मस्पर्शी है--

उच्छिष्ट, रूक्ष, अरु नीरस अन्न खैहौं,
चांडालिनीव मुख बाहर मूँदि जैहौं।
गालिप्रदान निशिवासर नित्य पैहौं,
हा हन्त! दुःखमय जीवन यों बितैहौं॥
'रंडे! तुही अवसि मत्सुत लीन खाई'
त्वन्मातु नाथ! जब तर्जिहै यों रिसाई।

ग यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।
'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योत, चतुर्थ कारिका।

१. दंडी 'काव्यादर्श', १, ६।
२. क. 'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योत, कारिका ५ और उसी पर अभिनव गुप्त का लोचन
ख. 'साहित्यदर्पण', प्रथम परिच्छेद, तीसरी कारिका।
३. क. 'ध्वन्यालोक', प्रथम उद्योत, चौथी कारिका।
ख. 'रसगंगाधर', प्रथम आनन, पृ० ४।
४. भारवि, 'किरातार्जुनीय'
५. 'काव्य-प्रकाश', पृ० ५१ और 'रसगंगाधर', पृ० ४।
६. ''साहित्यदर्पण' के मत में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और सर्वमान्य 'रसगंगाधर' में 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इस प्रकार की व्याख्या की गई है।''
'हिन्दी कालिदास की समालोचना', पृ० ६७।

ह्वैहै इहै जब मदीय मताधिकाई,
पृथ्वी फटै त्वरित आउँ तहाँ समाई ॥[1]

कविता कवि की प्रत्यक्ष अथवा स्मृतिजन्य अनुभूति का रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दचित्र है। अपनी अनुभूति को पाठक की अनुभूति बना देने में ही कवि की सफलता है। काव्य का आनन्द लेने के लिए पाठक या श्रोता में सहृदयता और अध्ययन के विशेष भाव तथा स्वगतत्व एवं परगतत्व के विशेष अभाव की नितान्त आवश्यकता है। सौन्दर्य की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं को इतिवृत्तात्मकमात्र कहना हृदयहीनता है। उनकी सभी रचनाएं आद्योपान्त पढ़ जाइए, उनमें रति, करुणा, हास्य, निर्वेद, जुगुप्सा, क्रोध आदि भावों की विविधता है। इन विविध भावों के ऊपरी तल के नीचे एक अन्तःसलिला सरस्वती की धारा भी है—हिन्दी के प्रति उनका अमायिक और सात्विक पूजाभाव। यही उनकी कविताओं का स्थायी भाव है।[2] किसी भी कारण से सही, कवि को जहां कहीं से जो कुछ भी मिला है उसे उसने मातृभाषा के मन्दिर में श्रद्धा के साथ चढ़ा दिया है।

'समाचारपत्रसम्पादकस्तवः', 'नागरी तेरी यह दशा' आदि रचनाएँ हिन्दी को ही विषय मानकर लिखी गई हैं। अन्य विषयों पर लिखी गई 'आशा', 'विधिविडम्बना' आदि कविताओं में भी द्विवेदी जी का कवि हिन्दी को नहीं भूला है। 'आशा, का गौरवगान करने के पश्चात् अन्त में उसने हिन्दी की राजाश्रयप्राप्ति की ही प्रार्थना की—

कछू प्रार्थना है हमारी सुनीजै.
जगद्धात्रि आशे ! कृपाकोर कीजै।
सबै देन को देवि ! सामर्थ्य तेरी,
यही धारणा है सविस्वास मेरी ॥
गुणग्राम की आगरी नागरी है,
प्रजा की जु सन्मानसोजागरी है।
मिलै ताहि राजाश्रयक्षेमकारी,
यही पूजियौ एक आशा हमारी ॥[3]

'विधिविडम्बना' में उसने विधाता की अन्य भूलों का निदर्शन करके अन्त में, अपनी हिन्दी-हितकामना के कारण ही, हिन्दी-साहित्य की दुर्दशा के प्रति विधाता की जघन्यतम अपटुता का निर्देश किया—

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २१३, २१४।
२. यहां पर 'स्थायी' शब्द अपने शाब्दिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।
३. द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २२२।

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके करसे नए नए अखबार।[1]

और फिर मातृभाषाद्रोहियों की सृष्टि बन्द करने के लिए प्रार्थना की है —

विधे ! मनोज्ञमातृभाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़[2]

मातृभाषाभक्त कवि हिन्दी-हितैषियों के प्रति भी अपने आभार और प्रसन्नतासूचक मनोवेगों को व्यक्त किए बिना न रह सका—

तोसों कहौं कछु कवे ! एम ओर जोवौ।
हिन्दी दरिद्र हरि तासु कलंक धोवौ।[3]

इस प्रकार की रचनाओं में काव्यकला का अभाव होने पर भी तत्कालीन संकटापन्न हिन्दी के पुजारी कवि के छलरहित हृदय की अमायिक और धार्मिक व्यञ्जना जीवनीमूलक आलोचना की दृष्टि से अपना निजी सौंदर्य रखती है।

'विनयविनोद', 'विहारवाटिका' आदि आरम्भिक अनुवादों में उन्होंने समर्थ साहित्य-सेवी बनने की तैयारी की है। संस्कृत के 'महिम्नस्तोत्र' और 'गंगास्तवन' के अनुपम काव्य का आस्वाद केवल हिन्दी जानने वालों को कराने के लिए उनके हिन्दी-अनुवाद किए।[4] 'ऋतुतरंगिणी' और 'देवीस्तुति-शतक' द्वारा संस्कृतयोग्य छन्दों में ही काव्यकथन करके देव-नागरी भाषा के काव्यों की पुस्तकमालिका में 'गणात्मक वृत्तों के अभाव की पूर्ति' करने का प्रयास किया।[5] हिन्दी कविता में कालिदास के भावों की अभिव्यक्ति का आदर्श उपस्थित करने के लिए 'कुमारसम्भव' का अंशानुवाद किया।[6] मौलिक रचनाओं में उनके सहृदय कविहृदय की व्यंजना अनेक स्थलों पर बड़ी ही मनोहर हुई है। निम्नांकित पंक्तियों में

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २६१।
२. ,, ,, ,, ,,
३. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृष्ठ २६२।
४. 'महिम्नस्तोत्र' और 'गङ्गालहरी' की भूमिका के आधार पर।
५. 'ऋतु-तरंगिणी' और 'देवीस्तुतिशतक' की भूमिका के आधार पर।
६. "हिन्दी कालिदास की समालोचना' लिखने के अनन्तर जब किसी ने उनसे ये व्यंग्यात्मक शब्द कहे कि भला आप ही कुछ लिखकर बतलाइए कि हिन्दी कविता में कालिदास के भाव कैसे प्रकट किए जांय तब नमूने के तौर पर द्विवेदी जी ने कुमारसंभव के आरम्भ के पांच सर्गों का अनुवाद कर 'कुमारसंभवसार' के नाम से प्रकाशित किया।"

—पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल,
—'सरस्वती', भाग ४०, पृष्ठ २०३।

दुर्भिक्ष-पीड़ित जनों का करुणाकारक चित्र विशेष मर्मस्पर्शी है—

लोचन चले गए भीतर कहँ, कंटक सम कच छाए।
कर में खप्पर लिए अनेकन जीरण पट लपटाए।
मांसविहीन हाड़ की ढेरी, भीषण भेष बनाए,
मनहु प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाए॥
शक्ति नहीं जिनके बोलन की, तकि तकि मुँह फैलावैं,
सींक समान पैर लीन्हें बहु, रोवत गोबर खावैं।
गुठली खान हेत बेरन की, ढूँढ़त सोउ न पावैं,
पग पग चलैं गिरैं पग पग पर, आरत नाद सुनावैं॥[1]

'कान्यकुब्ज-लीलामृतम्' का पहला ही पद पाखंडी कान्यकुब्ज ब्राह्मण की हृदयसंवादी रूपरेखा खींच देता है—

सदैवशुक्लारुणपीतवर्णपाटीरपंकावृतसर्वभाल!
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन्! हे कान्यकुब्जद्विज! ते नमोस्तु॥[2]

'काककूजितम्' में दुष्टों के हृदय में स्थित ईर्ष्या और निन्दाभाव की सुन्दर निबन्धना की गई है, यथा—

त्वं पंचमेन विरुतं विजहीहि नूनं
वक्तुं वसंतसमयेपि न तेधिकारः।
सम्प्रत्यहं दशासु दिक्षु सदा सहर्षं
तारस्वरेण मधुरेण रवं करिष्ये॥[3]

साहित्यमर्मज्ञों ने निर्विवादरूप से ध्वनि को श्रेष्ठकाव्य माना है। द्विवेदी जी की कविता में व्यंग्यार्थ की सुन्दरता भी कम नहीं है। 'कान्यकुब्जलीलामृतम्', 'ग्रन्थकारलक्षण' आदि में काक्वाक्षिप्त व्यंग्य की मनोहरता है, यथा—

इसी सम्बन्ध में 'सुदर्शन'-सम्पादक माधवप्रसाद मिश्र ने द्विवेदी जी को लिखा था—

"लाला सीताराम के आयुष्मान् को धन्य है जिसकी बात पर आपने अपनी प्रतिभा का निदर्शन तो दिखाया। पर इतने तर्जन गर्जन और आस्फालन का यही फल न हो कि आप इसे यों ही अधूरा छोड़ दें।"

—द्विवेदी जी के पत्र, संख्या ११८३, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा का कार्यालय।

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १७४।
२ ,, ,, ,, १८१।
३. ,, ,, ,, २८६।

अहो दयालुत्वमतः परं किं
यथेहितं यद्द्रविणं गृहीत्वा ।
निन्द्यानपि त्वं विमलीकरोषि
तदीयकन्याकरपीडनेन ॥[1]

'गर्दभकाव्य', 'बलीवर्द', 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं', जम्बुकी न्याय', 'टेसू की टाँग' आदि में अन्योक्तियों या अप्रस्तुनविधानों के द्वारा प्रस्तुत विषय का हास्यमिश्रित व्यंग्यपूर्ण वर्णन है, उदाहरणार्थ—

हरी घास खुरखुरी लगै अति, भूसा लगै करारा है,
दाना भूलि पेट यदि पहुंचै काटै अस जस आरा है।
लच्छेदार चीथड़े, कूड़ा जिन्हें बुहारि निकारा है,
सोई सुनो सुजान शिरोमणि, मोहनभोग हमारा है ॥[2]

सदसद्विवेकहीनता के कारण सुन्दर रचनाओं का बहिष्कार और असुन्दर का स्वागत करने वाले सम्पादक का उपर्युक्त व्यंग्यशब्दचित्र बड़ी सफलता से अंकित किया गया है। गर्दभ में सम्पादक का आरोप करके लक्षणा के सहारे अभीष्ट भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति की गई है। (हरी घास=सरस और सुन्दर रचनाएं, भूसा=नीरस रचनाएं, दाना=सारगर्भित लेख आदि, चीथड़े...=रद्दी रचनाएं मोहनभोग=ग्रहणीय प्रिय वस्तु)। आदरणीय और महान् अभ्यागत के मानापमान का ध्यान न करनेवाले अभिमानी पुरुष के उपमानरूप में बलीवर्द का स्वीकार भी सुन्दर हुआ है—

गज भी जो आवै तुम उसकी ओर न आंख उठाते हो,
लेटे कभी, कभी बैठे हो, कभी खड़े रह जाते हो।[3]

निम्नांकित पंक्तियों में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार लोकोत्तर है —

इन कोकिलकंठी कामिनियों ने जो मधुर गीत गाये,
सुधासदृश कानों से पीकर वे मुझको अति ही भाये।
इनका यह गाली गाना भी चित में जब यों चुभ जाता,
यदि ये कहीं और कुछ गातीं विना मोल मैं बिक जाता ॥[4]

---

१. द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १८२।
२. ,, ,, ,, २१६।
३. ,, ,, ,, २७५।
४ ,, ,, ,, ४५१।

'कोकिलकंठी कामिनियां', 'गीत गाये', 'सुधा-सदृश 'आदि में अनुप्रास का लालित्य है। 'सानन्द सुनकर' की व्यंजना के लिए 'कानों से पीकर' में प्रयुक्त प्रयोजनवती लक्षणा सुन्दर है! 'मधुर गीत' को 'सुधासदृश' मानकर कवि ने ठीक समय पर उपमा अलंकार का ग्रहण किया था और 'कानों से पीकर' में उचित समय पर उसका त्याग कर दिया। उसे दूर तक व्यर्थ ही खींचा नहीं। यदि वे नारियां गाली के बदले कवि के प्रति प्रणयनिवेदन के गीत गातीं तो वह आत्मसमर्पण कर देता। 'गाली गाना', 'चुभ जाता' तथा 'और कुछ' की ध्वनि ने पद के सौन्दर्य को और भी उत्कृष्ट बना दिया है।

उनकी कविता में कहीं अलंकार-विधान के सहारे काव्यसौंदर्य की सृष्टि की गई है, यथा—

अभी मिलेगा व्रजमंडलान्त का सुभुक्त भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीरसंगी करके उसे सदा, विराग होगा तुझको अवश्य ही॥
इसीलिए ही भवभूतिभाविते! अभी यहां हे कविते! न आ, न आ॥
बता तुही कौन कुलीन कामिनी सदा चहेगी पट एक ही वही॥[१]

वह खड़ीबोली का निर्माणकाल था। उसके पद्यों में कवित्व नहीं आ रहा था। व्रज-भाषा के समर्थक इस बात को लेकर आलोचना की धूम बाँधे हुए थे। इस भाव की भूमिका में कवि ने उत्प्रेक्षालंकार की योजना की है। सुन्दर वेषभूषा में सहजप्रवृत्ति रखने वाली कुलीन कामिनी एक ही सुभुक्त वस्त्र पर जीवननिर्वाह नहीं कर सकती। कामिनी से कविता की उपमा परम्परागत होते हुए भी नवीन विशेषणों के कारण अधिक मनोहर हो गई है। कहीं मानव-हृदय की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति ने कवित्व की सृष्टि की है, उदाहरणार्थ—

हे भगवान! कहाँ सोये हो? विनती इतनी सुन लीजै,
कामिनियों पर करुणा करके कमले? जरा जगा दीजै।
कनवजियों में घोर अविद्या जो कुछ दिन से छाई है,
दूर कीजिए उसे दयामय! दो सौ दफे दुहाई है॥[२]

नारी स्वभावतः कोमलता और करुणा की मूर्ति होती है। सजातीय के प्रति सहानुभूति रखना भी स्वाभाविक ही है। इसी कारण कामिनियों के कल्याणार्थ भगवान् को जगाने के लिए कवि ने कमला से प्रार्थना की है। कहीं हास्य का पुट देकर कवि-समय के सहारे रमणीय पंक्तियों की रचना की गई है, यथा—

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २६४।
२. ,, ,, ,, ४३७।

जरा देर के लिए समझिए, आप षोडषी क्वांरी हैं.
(क्षमा कीजिए असभ्यता को हम ग्रामीण अनारी हैं)।
मान लीजिए नयन आपके कानों तक बढ़ आये हैं,
पीन-पयोधर देख आपके कुञ्जर-कुंभ लजाये हैं ॥[१]

द्विवेदी जी की भाषा और भावव्यञ्जना के सात्विक और शिष्ट होने पर भी उनकी कविता में एकाध स्थलों पर ग्राम्यता और अश्लीलता का दोष आ ही गया है। अधोलिखित पद में वे अभिमानी व्यक्ति के मुखदर्शन की अपेक्षा वृषभ के अंडकोष का अवलोकन करना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं—

मैं कुबेर, मैं ही सुरगुरु हूँ, मेरा ही सब कहीं प्रमाण,
यह घमण्ड रखने वालों का मुखदर्शन है पापनिधान।
तदपेक्षा हे वृषभ! तुम्हारा पीवर अंडकोष समुदाय,
अवलोकन करना अच्छा है, सच कहते हैं भुजा उठाय ॥[२]

अपनी उन्नीसवीं शती की रचनाओं, विशेषकर 'विहार-वाटिका', 'स्नेहमाला' और 'ऋतुतरंगिणी' में ही द्विवेदी जी ने बरबस अलङ्कार-योजना की चेष्टा की है।[३] 'ऋतुतरंगिणी में तो आद्योपान्त ही शब्दालङ्कार ठूंस ठूंस कर भरे गए हैं। कहीं कहीं अलङ्कारसौंदर्य लाने के लिए भाव की निर्दयतापूर्वक हत्या कर दी गई है। भावाभिव्यञ्जन में असमर्थ यमकच्छटामयी पदावली का एक उदाहरण निम्नांकित है—

सुबिच कैरव कैरव राजहीं।
रुत सना रसना रस लाजहीं ॥
सुनत सारस सारस गान हीं
बधिक बान नवान न तानहीं ॥[४]

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४३८।
२. ,, ,, ,, २७६।
३. उदाहरणार्थ—

सुधा वाहा थाहा सुथल अवगाहा हरि तवै।
प्रिया भाई लाई हियहि सुख पाई छकि जवै ॥
कही बामा श्यामा मुदित अभिरामा रस भरे।
गहो बाँही नाहीं करि कि कर जाहीं कर करे ॥

'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २२।

४. 'ऋतुतरङ्गिणी', 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ६३।

यदि पुस्तक की पादटिप्पणी में शब्दार्थ न दिया गया होता तो उपर्युक्त पंक्तियों में निहित कवि के अभिप्राय को अन्तर्यामी के अतिरिक्त और कोई न समझ पाता। यह अलङ्कारदोष उनकी प्रारंभिक हिन्दी-रचनाओं तक ही सीमित है। इस अलङ्कारप्रेम का कारण संस्कृत-कवियों, विशेष कर अश्वघाटीकार पंडितराज जगन्नाथ, और हिन्दी-कवि केशवदास का प्रभाव ही है। द्विवेदी जी की संस्कृत और खड़ीबोली की कविताओं में अनायास ही सन्निविष्ट उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, अनुप्रास आदि अलंकार अपने नाम को वस्तुतः सार्थक करते हैं, यथा--

क मामनादृत्य निशान्धकारः पलाय्य पापः किल यास्यतीति।
ज्वलन्निवक्रोधभरेण भानुरंगाररूपः सहसाविरासीत् ॥[1]

अन्धकार ने सूर्य का कभी अपमान नहीं किया, वह कभी भागा नहीं और सूर्य उसके प्रति क्रोध से कभी जला नहीं। फिर भी हेतूत्प्रेक्षा के सहारे कवि ने विलीन होते हुए अन्धकार और प्रभातकालीन रक्तिम सूर्य का रमणीयार्थप्रदिपादक चित्रांकन किया है। ज्यों ज्यों चन्द्रमा की छाया बढ़ती जा रही थी त्यों त्यों सूर्य का तेज मन्द पड़ता जा रहा था। इस दृश्य को लेकर द्विवेदी जी ने निम्नांकित पद में सुन्दर अर्थान्तरन्यास किया है--

छायां करोति वियति स्म यदा यदेन्दुः,
श्यामप्रभां वितनुते स्म तदा तदार्कः।
आपत्सु दैवविनियोगकृतागमासु,
धीरोपि याति वदने किल कालिमानम ॥[2]

अधोलिखित पंक्तियों में श्लेष और अनुप्रास का मनोहर चमत्कार है--

सुरम्यरूपे! रसराशिरंजिते! विचित्रवर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानन्दविधायिनी! महाकवीन्द्रकान्ते! कविते! अहो कहाँ ॥[3]

पहली पंक्ति में 'र', 'ण' और 'व' की तथा दूसरी में 'क' और 'न' की आवृत्ति के कारण पद में अधिक लालित्य आ गया है। कान्तारूपिणी कविता के लिए श्लिष्ट विशेषणों का प्रयोग भी मनोहर है। जिस प्रकार कान्ता सुरम्यरूपा (रमणीय रूपवाली), रसराशिरंजिता (सुन्दर अनुराग के भावों से भरी हुई), विचित्रवर्णाभरणा (रंगबिरंगे आभूषणों से सजी हुई) अलौकिकानन्दविधायिनी (असाधारण आनन्द देनेवाली) और कवीन्द्रकान्ता (कवियों के काम

---

1. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १६६।
२. ,, ,, ,, २०६।
३. ,, ,, ,, २६१।

की वस्तु) है, उसी प्रकार कविता भी सुरम्यरूपा (रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली शब्दस्वरूपा), रसराशिरंजिता (शृंगार आदि रसों से पूर्ण), विचित्रवर्णा भरणा (अनेक प्रकार के चित्रमय शब्दालंकारों से समन्वित), अलौकिकानन्दविधायिनी (लोकोत्तर चमत्कार की सृष्टि करनेवाली) और कवीन्द्रकान्ता (महाकवियों की अभिप्रेत) वस्तु है।

कवित्वसौन्दर्य का उपस्थापन करने के लिए कल्पना की ऊंची उड़ान अनिवार्य नहीं है। द्विवेदी जी के यथार्थवादी पदों में भी कहीं कहीं उत्तम काव्यचमत्कार है—

केचिद्वधूवदनचन्द्रविलोकनाय, केचिद्धनस्य हरणाय परस्य केचित्
कूलेययुर्ग्रहणदुष्परिणामदुःखनाशाय सन्निकटवर्तिजलाशयस्य ॥[1]

ग्रहण आदि अवसरों पर मेलों में जाने वाले सज्जन और असज्जन लोगों का यह चित्र परम स्वाभाविक है। कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो अमायिक धर्मभावना से प्रेरित होकर स्नानादि के निमित्त जाते हैं। प्रायः दुष्टजनों की ही अधिकता रहती है जो पाप-भावना से प्रेरित होकर उस अवसर का दुरुपयोग करते हैं।

द्विवेदी जी की 'विनय-विनोद', 'विहार-वाटिका', 'स्नेहमाला' आदि आरंभिक कृतियों में ओज और प्रसाद गुणों की न्यूनता होते हुए भी माधुर्य की मनोहरता है।[2] उनमें भी कहीं कहीं प्रसन्नता दिखाई पड़ जाती है।[3] ऋतुतरंगिणी में प्रासादिकता का सार्वत्रिक अभाव है। उनकी संस्कृत और खड़ीबोली की कविताएं व्यापक रूप से प्रसादगुण-सम्पन्न हैं, यथा—

किं विद्यया किं तव वर्षणेन व्यापारवृत्या किमु चापि भृत्या
जयत्यहो स श्वशुरालयस्ते त्वं कल्पवृक्षीयसि यं सदैव ॥[4]

अथवा—

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते हैं?

---

१. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २०४।

२. उदाहरणार्थ—

वसन आसन आसनि दास के,
विलग पी रस की हँसि हाँस के।
दग लसैं विलसैं अलसैं गहीं,
सुमनहार विहार विहाय हीं ॥—'द्विवेदी-काव्यमाला', ३१

३. यथा—

शरणागत मांगत प्रभो हे अनाथ के नाथ।
युगुलचरणअरविन्द महँ राखन दीजे माथ ॥—'द्विवेदी-काव्यमाला', १५।

४. 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १८४।

घोर घमंडी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक ?
चिन्ह देख जिसमें सब उनको पहचानते निशंक ॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंग्य का बहुत कुछ चमत्कार है। संस्कृत-श्लोक में उन कान्यकुब्ज ब्राह्मणों पर आक्षेप किया गया है जो विद्याध्ययन, खेती, व्यापार या नौकरी न करके अपनी ससुराल को कल्पवृक्ष समझते और उसी के धन से सानन्द जीवन-यापन करते हैं। हिन्दी-पद में मिथ्यावादियों के सिर पर सींग उगवाने और घमंडियों की कटि टेढ़ी करा देने की कवि-कल्पना निस्सन्देह चमत्कारकारिणी है। परन्तु द्विवेदी जी की अधिकांश कविताओं में अर्थ की अतिशय प्रकाशता होने के कारण प्रसन्नता का यह गुण दोष बन गया है।[2] 'आगे चले बहुरि रघुराई'-जैसे नीरस किन्तु स्पष्ट पद पद-पद पर मिल सकते हैं।[3]

पद्य-निबन्धों की वर्णनात्मकता और अतिप्रकाशता के कारण द्विवेदी जी की कविताएं प्रायः इतिवृत्तात्मक हैं। उनकी सभी पद्यकृतियां कविता नहीं हैं। इन इतिवृत्तात्मक रचनाओं में भी स्थान स्थान पर कवित्व है। यह उपर्युक्त विवेचन और उद्धरणों से प्रमाणित है। उनकी कविताओं की इतिवृत्तात्मकता और नीरसता के अनेक कारण हैं। द्विवेदी जी ने अपनी अधिकांश कविताओं की रचना अराजकता-काल में की थी, द्विवेदी-युग में नहीं। उस समय हिन्दी-साहित्य के भीतर और बाहर सर्वत्र ही अराजकता थी। भूमिका में वर्णित राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि आन्दोलन कवियों की एकान्त साधना में बहुत कुछ बाधक हुए। एक ओर तो यह दशा थी और दूसरी ओर द्विवेदी जी का ज्ञानसम्बल संस्कृत-साहित्य और पुरानी परिपाटी के पंडितों के अध्यापन पर ही अवलम्बित था। उनका

---

१. द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २६० ।

२. नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ़ः ।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्,
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥ —राजशेखर ।

३. यथा—
घर में सबको भाती है यह, पति का चित्त चुराती है यह ।
सखियों में जब आती है यह, मधु मीठा टपकाती है यह ॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३७८ ।

या—
'शरीर ही से पुरुषार्थ चार, शरीर की है महिमा अपार ।
शरीररक्षा पर ध्यान दीजै, शरीरसेवा सब छोड़ कीजै ॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४१४ ।

कवि एक संस्कृत पढ़े-लिखे देहाती के कूपमंडूकत्व से ऊपर नहीं उठ सका था। अनध्याय, अनभ्यास और असंगति के कारण वे परम्परागत हिन्दी-काव्यभाषा व्रज और अवधी पर अधिकार नहीं कर सके थे। इसी कारण उनके भावों में सचाई और सुन्दरता के होते हुए भी उनकी रचनाओं में कविता का लालित्य नहीं आ पाया। आगे चलकर जिस प्रकार द्विवेदी जी ने मैथिलीशरण गुप्त आदि का गुरुत्व किया यदि उसी प्रकार उन्हें भी कोई गुरु मिल गया होता तो बहुत सम्भव था कि वे भी एक अच्छी कोटि के कवि हो गए होते।

सम्पादक द्विवेदी की ज्ञानभूमिका का असाधारण रूप से विस्तार हुआ किन्तु उसके साथ ही उनके कर्तव्य की परिधि भी अनन्तरूप से विस्तृत हो गई। अर्धशिक्षित हिन्दी-पाठकों को शिक्षित करना था। हिन्दी के प्रति उदासीनों को हिन्दी का प्रेमी बनाना था। पथभ्रष्ट समाज, लेखकों और पाठकों को प्रशस्त मार्ग पर लाना था। हिन्दी-साहित्य को दूषित करने वाले कूड़ाकरकट को साफ करना था। अभिव्यंजन में असमर्थ हिन्दी को प्रौढ़, संस्कृत और परिष्कृत रूप देना था। तिरस्कृत देवनागरी लिपि और हिन्दी-भाषा की उचित प्रतिष्ठा करनी थी। विपन्न हिन्दी-साहित्य को सम्पन्न बनाने के लिए विविधविषयक साहित्यकारों के निर्माण की आवश्यकता थी। इस प्रकार की सर्वतोमुख आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए द्विवेदी जी के कवि को, अपना निजत्व खोकर, शिक्षक, उपदेशक, आलोचक, सुधारक और निर्माता बन जाना पड़ा। वह काव्यभाषा खड़ीबोली का शैशवकाल था। अभिव्यंजना का निर्बल माध्यम कलासौन्दर्य धारण ही नहीं कर सकता। इसीलिए खड़ीबोली की तत्कालीन रचनाओं में कविता की अभीष्ट रमणीयता न आ सकी। द्विवेदी-युग का प्रथम चरण योग्य माध्यम-निर्माण की साधना में ही व्यतीत हो गया।

द्विवेदीसम्पादित 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं का काव्योचित संशोधन इस बात का साक्षी है कि द्विवेदी जी में भी कविप्रतिभा थी। गोपाल शरण सिंह की मूल पंक्तियां थीं --

मधुपपंक्ति नित पुष्पप्रेमधारा में बहती
या वह अति अनुरक्त बौर पर भी है रहती।[1]

द्विवेदी जी ने उसका संशोधन किया--

मधुपपंक्ति जो पुष्पप्रेमरस में नित बहती,
आम्रमंजरी पर क्या वह अनुरक्त न रहती?

रस', 'आम्रमंजरी' और प्रश्नवाचक चिन्ह की योजना ने इस पद को निस्सन्देह सरस, मार्मिक

---

1. 'माता की महिमा', 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां, १९१२ ई०,
काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कलाभवन में रक्षित।

और अधिक भावाभिव्यंजक बना दिया है। उनके पत्रों में भी कहीं कहीं काव्य की रमणीयता मिलती है।[1] यत्र तत्र सरस, रमणीय और कवित्वमय होने पर भी ये कविताएं द्विवेदीजी को कवि के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकतीं। इनका वास्तविक महत्व छन्द, भाषा और विषय की दृष्टि से है।

विधान की दृष्टि से द्विवेदी जी की कविताओं के पाँच रूप हैं —
प्रबन्ध, मुक्तक, प्रबन्धमुक्तक, गीत और गद्यकाव्य। उन्होंने खंडकाव्य या महाकाव्य के रूप में कोई काव्यरचना नहीं की। उनकी प्रबन्धात्मक कविताओं को पद्यप्रबन्ध कहना ही अधिक युक्ति-युक्त है। ये रचनाएं भी दो प्रकार की हैं–कथात्मक और वस्तुवर्णनात्मक। कथात्मक पद्यप्रबन्धों में गद्य की लघु कहानी की भांति किसी नन्हें-से यथार्थ या कल्पित कथानक का उपस्थापन किया गया है, यथा 'सुतपंचाशिका' 'द्रौपदी-वचन-बाणावली,' 'जंबुकीन्याय', 'टेसू की टाँग' आदि। ये पद्य खंडकाव्य के भी संक्षिप्त रूप हैं। वस्तुवर्णनात्मक पद्यप्रबन्धों में बिना किसी कथानक के किसी वस्तु या विचार का प्रबन्धकाव्य की भाँति कुछ दूर तक निर्वाह किया गया है और फिर कविता समाप्त होगई है, यथा 'भारतदुर्भिक्ष' 'समाचारपत्रसंपादकस्तव' 'गर्दभकाव्य'. 'कुमुदसुन्दरी' आदि। द्विवेदी जी की अधिकांश कविताएं इसी वर्ग की हैं। भारतेन्दुयुग और द्विवेदीयुग में पद्यप्रबन्धों की अपेक्षाकृत अधिकता का प्रधान कारण उन युगों की हलचल और खड़ीबोली की अप्रौढ़ता ही है। मुक्तकों की काव्यमाधुरी लाने के लिए अपरिपक्व खड़ीबोली की गागर में सागर भरना असम्भव था। खण्डकाव्य या महाकाव्य लिखने के लिए पर्याप्त अवकाश की आवश्यकता थी। बहुधंधी कवि इन परिस्थितियों के ऊपर न उठ सके।

द्विवेदी जी के काव्यविधान का दूसरा रूप मुक्तक है। उनकी मुक्तक रचनाओं के मूल में दो प्रधान प्रवृत्तियां काम करती रही हैं–सौन्दर्यमूलक और उपदेशात्मक। 'विहारवाटिक', 'स्नेहमाला' आदि अनुवादों और 'प्रभातवर्णनम्', 'सूर्यग्रहणम्' आदि मौलिक रचनाओं का उद्देश्य सौन्दर्यनिरूपण ही था।[2] 'शिवाष्टकम्', 'कथमहं नास्तिकः' आदि आत्म-निवेदनात्मक कविताओं में भी भावसौन्दर्य का चित्रण होने के कारण सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति की ही प्रधानता

१. यथा—
राय कृष्णदास को लिखित पत्र १५. ६. ३०।
'सरस्वती', भाग ४२, खण्ड २, संख्या ४, पृ० ४६६।

२. यथा— सुपक्व जम्बूफल गुच्छकारी, इतै उठी श्याम घटा करारी।
महावियोगानलदग्ध बाला, उतै परी मूर्छित ह्वै बिहाला॥
'ऋतुतरङ्गिणी', 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ८९।

है। उपदेशात्मक मुक्तकों में नीति आदि का उपदेश देने के लिए मुक्त विचारों की निबन्धना की गई है, यथा-विनय-विनोद, 'विचार करने योग्य बातें' आदि।[1] द्विवेदी जी की कविता के तीसरे रूप प्रबन्ध मुक्तकों में एक ही वस्तु या विचार का वर्णन होने के कारण प्रबन्धता और प्रत्येक पद दूसरे से मुक्त होने के कारण मुक्तत्व दोनों ही एक साथ हैं, उदाहिरणार्थ-- 'विधिविडम्बना', 'ग्रन्थकार-लक्षण' आदि। भारतेन्दुयुग से चली आने वाली समस्यापूर्ति की प्रवृत्ति ने द्विवेदी जी को मुक्तकरचना के प्रति प्रभावित नहीं किया। सम्भवतः इसका वास्तविक कारण यह है कि वे तादृश समस्यापूरक कवि-समाजों के निकट संपर्क में कभी रहे ही नहीं।

कतिपय गीतों ने द्विवेदी जी की कविता का चौथा रूप प्रस्तुत किया। मौलिकता की दृष्टि से इन गीतों के चार प्रकार हैं। 'भारतवर्ष[2]' में वे संस्कृत के 'गीत गोविन्द' से, 'वन्देमातरम्[3]' में बंगला से और 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं[4]' में लोक-प्रचलित आल्हे से प्रभावित हैं। इस अंतिम गीत में प्रबन्धता होते हुए भी लोकप्रचलितगेयता के कारण इसकी गणना गीतों के अन्तर्गत की गई है। कहीं कहीं उन्होंने भारतीय परम्परा का ध्यान किए बिना ही स्वतन्त्र रूप से भी गीतों की रचना की है। 'टेसू की टांग' और 'महिला परिषद् के गीत' इसी प्रकार के हैं। इनकी लय पर उर्दू का बहुत कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है।[5]

---

१. यथा— यौवन वन नव तन निरखि मूढ़ अचल अनुमानि।
हठि जग कारागार मँह परत आपदा आनि॥
—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ५।

२. यथा— इष्टदेव आधार हमारे, तुम्हीं गले के हार हमारे,
भुक्ति मुक्ति के द्वार हमारे, जै जै जै जै देश॥
जै जै सुभग सुवेश॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४५४।

३. यथा— मलयानिल मृदु मृदु बहती है, शीतलता अधिकाती है.
सुखदायिनि वरदायिनि तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है।
वन्देमातरम्॥
--'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३८३।

४. होत बनिअई आई हमरे, को अब तुमसे झूठ बताय,
हमहूँ थिउ बरसन ठ्यांचा है छोटी बड़ी बजारन जाय।
हियां की बातैं हियैं रहि गईं, अब आगे का सुनौ हवाल,
गाउँ छाँड़ि हम सहर सिधायन लागेन लिखैं चुटकुला ख्याल॥
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३८८।

५. यथा— विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है,
क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा।
'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३८३।

शरीर की दृष्टि से ये गीत दो प्रकार के हैं—एकछन्दोमय और मिश्रछन्दोमय। उदाहरणार्थ—'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं', 'मेरे प्यारे हिन्दुस्तान' आदि एक छन्दोमय और 'भारतवर्ष' आदि मिश्र छन्दोमय हैं। द्विवेदी जी की कविता का पांचवां रूप गद्य-काव्य है। 'समाचार-पत्रों का विराट रूप' और 'प्लेगराजस्तव' इसी रूप की रचनाएं हैं। इन गद्यकाव्यों में न तो संस्कृत-गद्यकाव्यों की-सी कवि-कल्पना का उत्कर्ष ही है और न हिन्दी-गद्य-काव्यों की-सी धार्मिक भाव-व्यञ्जना। किन्तु ये हिन्दी-गद्यकाव्य के प्रारम्भिक रूप हैं अतएव इनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

द्विवेदी जी ने 'विनयविनोद' की रचना अभ्यासार्थ और स्वान्तःसुखाय ही की थी। तब हिन्दी की न्यूनतापूर्ति की भावना उनमें न थी। हिन्दी के परम्परागत दोहा का ही प्रयोग उन्होंने उसमें किया। मराठी और संस्कृत के अध्ययन ने उन्हें संस्कृत-वृत्तों की ओर प्रवृत्त किया। 'विहारवाटिका' में हिन्दी के दोहा और हरिगीतिका के कुछ पदों के अतिरिक्त सारी पुस्तक संस्कृत के स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, शिखरिणी, भुजंगप्रयात मालिनी, मन्दाक्रान्ता, नाराच, चामर, वसन्ततिलका, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा इन्द्रवज्रा और इन्द्रवंशा में ही हैं। 'स्नेहमाला' में उन्होंने फिर दोहोंका ही प्रयोग किया किन्तु आगे चलकर 'महिम्नस्तोत्र' के अधिकांश पद शिखरिणी, मालिनी, भुजंगप्रयात, तोमर और प्रज्भाटिका छन्दों में ही रचे गये। 'ऋतुतरंगिणी' की रचना उन्होंने वसंततिलका, मालिनी, द्रुतविलम्बित, इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा में की। 'गंगालहरी' में सवैयों का ही विशेष प्रयोग हुआ किन्तु उनकी आगामी कृति 'देवीस्तुतिशतक' आद्योपान्त वसन्ततिलका में ही लिखी गई। इस गणना का अभिप्राय केवल यह सिद्ध करना था कि अपने कविजीवन के आरम्भिक काल में द्विवेदी जी ने संस्कृत के छन्दों की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया था। उस युग की प्रवृत्ति की दृष्टि से यह बात अनुपेक्षणीय जंचती है। आगे चलकर भी उन्होंने 'शिवाष्टकम्', 'प्रभातवर्णनम्', 'काककूजितम्' आदि में भी गणात्मक छन्दों का प्रयोग किया। वस्तुतः छन्द के क्षेत्र में द्विवेदी जी की देन गणात्मक छन्दों की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। हिन्दी-साहित्य में केशवदास ने इस ओर ध्यान दिया था। उनके पश्चात् हिन्दी-कवियों ने छन्द की इस प्रणाली के प्रति विशेष प्रवृत्ति नहीं दिखलाई। द्विवेदी जी ने इन छन्दों का प्रयोग करके हिन्दी में इनकी विशेष प्रतिष्ठा की। इस प्रकार 'प्रियप्रवास' आदि गणात्मक-छन्दोमय काव्यों की भूमिका प्रस्तुत हुई। कवि द्विवेदी की अपेक्षा युगनिर्माता द्विवेदी ने इस दिशा में भी अधिक कार्य किया। संस्कृत-छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने उर्दू, बंगला, अंगरेजी आदि के तथा स्वतन्त्र छन्दों के प्रयोग और प्रचार के लिए हिन्दी-कवियों को

प्रोत्साहित किया। उनके प्रयास के फलस्वरूप खड़ीबोली इन छन्दों की सुन्दरता से भी सम्पन्न हुई। इसकी प्रमाणसम्मत विवेचना 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय में आगे चलकर की गई है।

भाषा की दृष्टि से द्विवेदी जी के कविता-काल के तीन विभाग किए जा सकते हैं—

क. १८८९ ई० से १८९२ ई० तक।

ख. १८९७ ई० से १९०२ ई० तक।

ग. १९०२ ई० के उपरान्त।

'विनयविनोद' (१८८९ ई०), 'विहारवाटिका' (१८९० ई०), 'स्नेहमाला' (१८९० ई०), 'महिम्नस्तोत्र' (१८९१ ई०), 'ऋतुतरंगिणी' (१८९१ ई०), 'गंगालहरी' (१८९१ ई०), और 'देवीस्तुतिशतक' (१८९२ ई०) ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। उनका यह काल प्रायः अनुवादों का ही है। उस समय हिन्दी की काव्यभाषा संक्रान्ति की अवस्था में थी। भारतेन्दुकृत खड़ीबोली के प्रयोगों के पश्चात् श्रीधर पाठक आदि ने खड़ीबोली का व्यवहार प्रचलित रखा। अयोध्याप्रसाद खत्री आदि के खड़ीबोली-आन्दोलन ने भी हलचल मचादी थी। तत्कालीन ब्रजभाषा के कवि उसका कोई सर्वसम्मत आदर्श रूप उपस्थित न कर सके। इसका भी कुछ न कुछ प्रभाव द्विवेदी जी पर अवश्य पड़ा होगा। द्विवेदी जी ने संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद प्रायः संस्कृत-छन्दों में ही किए। उनका हिन्दी-भाषा और साहित्य का ज्ञान भी अपरिपक्व था अतएव उनकी उपर्युक्त प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा का रूप काव्यमय और निखरा हुआ नहीं है।[1]

द्वितीय काल में उन्होंने ब्रजभाषा, खड़ी बोली और संस्कृत तीनों ही को कविता का माध्यम बनाया। १९०२ ई० में प्रकाशित 'काव्यमंजूषा' इसी प्रकार की कविताओंका संग्रह है।

---

१. क. यथा—

विधाता है कैसो रचत त्रय लोके किमि सुई।
धरे कैसी देही, सकल किन वस्तू निरमई॥
कुतर्के है मूर्खा कहि सुइमि माया भ्रम परे।
न जाने ऐश्वर्यों सकत नहिं जो खण्डन धरे॥

—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १६६।

ख. दूषित भाषा के संबंध में द्विवेदी जी का निम्नांकित निवेदन अवेक्षणीय है—

"इसमें बहुत सा संस्कृत वाक्य प्रयोग होने से रोचकता में विरोध हुआ है परन्तु असाधारण छन्द होने के कारण नियतस्थान में शुद्ध हिन्दी शब्द की योजना नहीं हो सकी। इस न्यूनता का मुझे बड़ा खेद है।"

—'ऋतुतरङ्गिणी' की भूमिका।

उनकी 'संस्कृत-पदावली विशेष प्रसन्न,धाराधाहिक तथा काव्योचित है।[1] 'सरस्वती'-सम्पादनके पूर्व द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था इसीलिए उनकी खड़ी-बोली की तत्कालीन रचनाओं की भाषा को ब्रज, अवधी आदि के पुट ने विकृत कर दिया है।[2] १६०२ ई० में 'कुमारसम्भव-सार' के द्वारा उन्होंने काव्य-भाषा के रूप में खड़ीबोली की विशेष प्रतिष्ठा की।[3] यत्र तत्र ब्रजभाषा, अवधी या तोड़े मरोड़े हुए शब्दों का प्रयोग उसके महत्व को घटा नहीं सकता।[4] उनकी काव्य भाषा में मुहावरों और कहावतों का अभाव-सा है। लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता या चित्रात्मकताका समावेश भी नगण्य ही है। तथापि हिन्दी-काव्य-भाषा के एकातपत्र सिंहासन पर खड़ीबोली को आसीन कर देने का प्रायः समस्त श्रेय सम्पादक-द्विवेदी को ही है।[5] उन्होंने स्वयं तो सरल, प्रांजल, प्रवाह-युक्त और व्याकरण-सम्मत खड़ीबोली में पद्यात्मक रचनाएं कीं ही; अपने आदर्श, उपदेश और प्रोत्साहन से अन्य कवियों को भी खड़ीबोली में कविता लिखने के लिए प्रेरित किया। इसका विस्तृत विवेचन 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय में यथास्थान किया गया है।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में, विविध आन्दोलनों के कोलाहल में, भी संस्कारजन्य धार्मिक भावना ने नवयुवक द्विवेदी के हृदय को विशेष प्रभावित किया। भारतेन्दु-युग की धार्मिक कविता में भक्ति-काल की परम्परा का निर्वाह, जनता की धार्मिक भावना का प्रतिबिम्ब

---

१. 'प्रभातवर्णनम्', 'समाचारपत्रसम्पादक स्तवः' आदि कविताएं उदाहरणीय हैं, यथा—

> कुशेशयैः स्वच्छजलाशयेषु
> वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु ।
> वनेषु पुष्पैः सवितुः सपर्य्यां
> तत्पादसंस्पर्शनया कृतालीव ॥
>
> —'द्विवेदी काव्यमाला', पृ० १६६।

२. यथा— 'दिखा पड़ै है तव रम्बरूपता' आदि

—'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २६१।

३.—

> क्यों तुम एकादश रुद्र अधोमुख सारे ?
> हैं गये कहां हुंकार कठोर तुम्हारे ?
> क्या तुमसे भी बलवान देवगण कोई
> जिसने तुम सब की आज प्रतिष्ठा खोई ? ॥
>
> —'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३१५।

४. यथा— 'लगाय' सर्ग १, पद २६, 'प्रणामामी' सर्ग ६, पद २, 'जाला' सर्ग २, पद ४, 'टपकै है' सर्ग ५, पद ६७ आदि।

५. उसी काल में ठेठ अवधी में लिखित और जनवरी, १६०३ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' भाषाविषयक एक अपवाद है।

और उपदेशक का स्वर स्पष्ट है। द्विवेदी जी संस्कृत की काव्य-सरसता और भावपूर्ण स्तुति की ओर विशेष आकृष्ट हुए। 'महिम्नस्तोत्र' और 'गंगालहरी' इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। संस्कृत के परमेश्वरशतक, सूर्यशतक, चंडीशतक आदि की पद्धति पर दैहिक तापों से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने १८९२ ई० में 'देवीस्तुतिशतक' की रचना की। धर्मों के परस्पर संघर्षकाल में भी वे मतमतान्तर और धार्मिक वाद-विवाद से दूर ही रहे। उनकी रचनाएँ युग की धार्मिक भावना से परे और एकान्त भक्तिप्रधान हैं। उनमें आराध्य देवता का स्तवन और उसके प्रति आत्मनिवेदन है। उनका यह निवेदन कहीं तो निजी कल्याण भावना से और कहीं लोककल्याण भावना से अनुप्राणित है। उदाहरणार्थ 'देवीस्तुतिशतक' में उन्होंने अपने अमंगलनाश के लिए और अन्य कविताओं में स्थान स्थान पर देश, जाति, समाज आदि के मंगल के लिए देवी-देवताओं एवं ईश्वर से प्रार्थना की है।[1]

शोकार्त बालविधवाओं की दयनीय दशा से अभिभूत द्विवेदी जी ने हिन्दू-धर्म की कठोर रूढ़ियों के विरुद्ध लेखनी चलाई और विधवाविवाह को धर्मसंगत बतलाया।[2] टीकाधारी कट्टर कान्यकुब्जों ने क्रोधान्ध होकर उन्हें नास्तिक तक कह डाला। 'कथमहं नास्तिकः' द्विवेदी जी के उसी आहत हृदय की धार्मिक अभिव्यक्ति है। उस एक ही रचना में उनकी धार्मिक भावनाओं का समन्वय है। परम्परागत धर्माचार के नाम पर बालविधवाओं को बलात् अविवाहित रखना समाज की मूढ़ता, हठधर्म, दम्भ, धर्माडम्बर और नृशंसता है। ईश्वर की प्रसन्नता मूर्तिपूजन, गंगास्नान या सविध सन्ध्योपासन में नहीं है। सत्यनिष्ठा में ही मंत्रजप की पावनता, सज्जनों के प्रति भक्तिभाव में ही भगवद्भक्ति, उनकी पूजा में ही देवपूजा और प्राणिमात्र के प्रति दया तथा परोपकार में ही निखिल व्रतों का फल एवं शाश्वत शान्ति है। एकमात्र करुणा ही समस्त सद्धर्मों का सार है।

भारतेन्दुयुग से ही हिन्दीकवि-समाज असाधारण मानवता से साधारण समाज की ओर आकृष्ट होता आ रहा था। काल की इस अनिवार्य गति का प्रभाव द्विवेदी जी पर भी पड़ा। उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा समाजसुधार का भी प्रयास किया। वे चाहते थे कि भारतीय समाज अपनी सभ्यता-संस्कृति को अपनावे, साहित्यकार सच्चे ज्ञान का प्रसार करें, समाज की

---

१. यथा—
किए विलम्ब प्रलय पूरी इत ह्वैहै तब पछितैहौ,
रचकर बनाये को बिगारि के अंत ताप हिय पैहौ।
नहिं नहिं अस कदापि करिहौ नहि, दयादृष्टि तुम देहौ,
प्रणतपाल यहि काल उबारन ऐहौ, ऐहौ, ऐहौ ॥
'द्विवेदी काव्यमाला', पृ० ३८१।

२. 'बालविधवविलाप', 'द्विवेदी काव्यमाला', पृ० २१०।

धार्मिक दृष्टि उदार और व्यापक तथा उसके हृदय में पीड़ितों के प्रति सहानुभूति हो। उनकी सामाजिक भावना चार विशिष्ट रूपों में व्यक्त हुई। कहीं तो उन्होंने पीड़ित और दयनीय वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखलाई,[1] कहीं समाजसुधार का स्पष्ट उपदेश दिया,[2] कहीं धार्मिक कट्टरपंथियों तथा साहित्यिक वंचकों आदि का व्यंग्यात्मक उपहास किया[3] और कहीं समाज के पथभ्रष्ट हठधर्मियों की कठोर भर्त्सना की।[4]

भारतेन्दुयुग ने समाज की अधोगति के विविध चित्र अंकित किए थे। यज्ञ, श्राद्ध, जातिपाँति, वर्णाश्रमधर्म, स्त्रीशिक्षा, छुआछूत, अन्धविश्वास, धर्मपरिवर्तन, विधवाविवाह, बालविवाह, गोरक्षा, विदेशगमन, मूर्तिपूजा आदि पर लेखनी चलाई थी। सबको सब कुछ कहने की चाट थी। कवियों की रूढ़िवादिता या सुधारवादिता के कारण उनकी रचनाओं में सहानुभूति की अपेक्षा आलोचनाप्रत्यालोचना का ही स्वर अधिक प्रधान था। द्विवेदी जी ने समाज के सभी अंगों पर लेखनीचालन नहीं किया, किसी एक विषय पर भी बहुत सी रचनाएँ नहीं कीं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के धर्माडम्बर, बालविधवाओं की दुरवस्था और ठहरौनी की कुप्रथा ने उन्हें विशेष प्रभावित किया। 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' में पाखंडी समाज का चित्रण भारतेन्दु-युग की सामाजिक कविताओं की आलोचना-पद्धति पर किया गया है। 'बालविधवाविलाप', 'कान्यकुब्जअबलाविलाप' और 'ठहरौनी' में बालविधवाओं और अबलाओं के प्रति समानुभूति की निदर्शना परवर्ती द्विवेदी-युग की सामाजिक कविता की विशेषता है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में देश और स्वदेशी पर रचित कविताओं में निहित भावनाओं

---

१. उदाहरणार्थ—'भारतदुर्भिक्ष, 'त्राहि नाथ त्राहि' आदि कविताएं 'द्विवेदीकाव्यमाला', में संकलित।

२. यथा—

हे देश! सप्रण विदेशज वस्तु छोड़ो,
सम्बन्ध सर्व उनसे तुम शीघ्र तोड़ो।
मोड़ो तुरन्त उनसे मुंह आज से ही,
कल्याण जान अपना इस बात में ही॥

'द्विवेदीकाव्यमाला', पृ० ४२३।

३. यथा— 'जन्मभूमि', 'ग्रन्थकारलक्षण', कर्त्तव्यपञ्चदशी आदि 'द्विवेदीकाव्यमाला' में संकलित।

४. यथा—

क्यों हैं तुझे पट विदेशज देश भाये?
क्यों है तदर्थ फिरना मुंह निन्द्य बाये?
तूने किया न मन में कुछ भी विचार,
धिक्कार भारत तुझे शत कोटि बार!

'द्विवेदीकाव्यमाला', पृ० ४२३।

के क्रमिक इतिहास की रूपरेखा इस प्रकार है। भारतेन्दु-युग के कुछ कवियों ने भारत के अतीत गौरव की ओर संकेत करके अभिमान का अनुभव किया, देश की दयनीयता का चित्रांकन करके उसे दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की। द्विवेदी-युग के अधिकांश कवियों ने अतीत की अपेक्षा वर्तमान पर ही अधिक ध्यान दिया, भगवान् से सहायतार्थ प्रार्थना करने के साथ ही आत्मबल का भी अनुभव किया। वर्तमान क्रान्तिवादी युग तो प्रस्तुत समस्याओं को लेकर अपने ही बल पर संसार को उलट देने के लिए कटिबद्ध है। इस विकास-क्रम में द्विवेदी जी की कविताएं भारतेन्दुयुग और द्विवेदीयुग की मध्यस्थ शृंखला की भाँति हैं। शासकों के गुणगान और भारत के सहायतार्थ ईश्वर से प्रार्थना करने में वे भारतेन्दु-युग के साथ हैं। किन्तु अतीत को छोड़कर वर्तमान के ही चित्र खींचने में वे भारतेन्दु-युग से एक पग आगे बढ़कर द्विवेदी-युग की भूमिका में खड़े हुए हैं।

द्विवेदी जी की राजनैतिक या राष्ट्रीय कविभावना चार रूपों में व्यक्त हुई है। पहला रूप शासकों के गुणगान का है। 'कृतज्ञताप्रकाश' आदि रचनाओं में कुछ सुविधाएं देने वाली सरकार की मुक्तकंठ से प्रशंसा और हर्ष की इतनी असंवृत अभिव्यक्ति की है मानो किसी बच्चे को अभीष्ट खिलौना मिल गया हो। परन्तु ये कविताएं द्विवेदीयुग के पूर्व की हैं। अपने जीवन के आरम्भिक वर्षों में द्विवेदी जी विदेशी सरकार के भक्त थे—यह बात 'चरित और चरित्र' अध्याय में सप्रमाण कही जा चुकी है। इसके दो प्रधान कारण परिलक्षित होते हैं—एक तो भारतेदु-युग से चली आनेवाली राजभक्ति की परम्परा और दूसरे अंग्रेजों द्वारा देश में स्थापित की गई शान्ति तथा उन्हें प्रसन्न करके हिन्दी के लिए कुछ प्राप्त करने की भावना। राजनैतिक कविता के दूसरे रूप में द्विवेदी जी ने देश की वर्तमान अधोगति के प्रति क्षोभ प्रकट किया है।[१] इस सम्बन्ध में एक विशेष अवेक्षणीय बात यह है कि उन्हों ने भारतेन्दु की मुकरियों या द्विवेदीयुग के राष्ट्रीय कवियों की भांति अंग्रेजों को देश की दुर्दशा का कारण नहीं माना है और इसीलिए कहीं भी उनके अत्याचारों का निरूपण नहीं किया है। उनकी राजनैतिक कविता का तीसरा रूप भारत के गौरवगान का है। इस भाव की अभिव्यक्ति मुख्यतः चार रूपों में हुई है। कहीं तो उन्होंने भारत के अतीत वैभव की महिमा का वर्णन

---

१. यथा—

यदि कोई पीड़ित होता है,
उसे देख सब घर रोता है।
देशदशा पर प्यारे भाई
आई कितनी बार रुलाई

'द्विवेदीकाव्यमाला', पृ० ३६७।

किया है,[१] कहीं देवरूप में उसकी प्रतिष्ठा की है,[२] कहीं उसके रमणीय प्राकृतिक दृश्यों का रूपांकन किया है[३] और कहीं देश तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रति सरल प्रेम की व्यंजना की है।[४] पांचवें रूप में कवि द्विवेदी की स्वतंत्रता की आकांक्षा का व्यक्तीकरण हुआ है। यह अभिव्यक्ति प्रधानतया पाँच प्रकार से हुई है। कहीं देश के कल्याण के लिए देवीदेवताओं की दुहाई दी गई है,[५] कहीं उत्थान के लिए देशवासियों को विनम्र प्रोत्साहन दिया गया है,[६] कहीं अतीत की तुलना में वर्तमान का चित्रण करके भविष्य सुधारने की चेतावनी दी गई[७] है, कहीं राष्ट्रीय जागृति के लिए मेलजोल का राग अलापा गया है[८] और कहीं देश के उद्धार के लिए बाहुबल से क्रान्ति कर देने का संकेत किया गया है।[९]

---

१. यथा— जहां हुए व्यास मुनि प्रधान, ।
रामादि राजा अति कीर्तिमान ।
जो थी जगत्पूजित धन्यभूमि
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥ 'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ४०६ ।

२. यथा— इष्टदेव आधार हमारे
तुम्हीं गले के हार हमारे,
जै जै जै जै देश। 'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ४५४ ।

३. यथा— वह जंगल की हवा कहां है ? वह इस दिल की दवा कहां है ?
कहां टहलने का रमना है ? लहरा रही कहां जमुना हैं ?
वह मोरों का शोर कहां है ? श्याम घटा घनघोर कहां है ?
कोयल की मीठी तानों को , सुन सुख देते थे कानों को ?
'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ३९१ ।

४. यथा—'जन्म भूमि' में, 'द्विवेदी-काव्यामाला' में संकलित ।

५. यथा— आलस्य, फूट, मदिरा, मद दोष सारे,
छाये यहां सब कहीं टरते न टारे ।
हे भक्तवत्सल ! उन्हें उनमे बचाओ,
हस्तारविन्द उनके सिर पै लगाओ। 'द्विवेदीकाव्यमाला' पृ०३६२

६. यथा 'द्विवेदी-काव्यमाला' में संकलित 'जन्मभूमि' में।

७. यथा 'द्विवेदी-काव्यमाला' में संकलित 'आर्यभूमि' और 'देशोपालम्भ' में।

८ उदाहरणार्थ—
हिन्दू मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई भाई,
सबके सब तेरे शैदाई, फूलो फलो स्वदेश।
'द्विवेदी-काव्यमाला' 'पृ०४५३, ४५४ ।

९. यथा कवि—हे स्वतंत्रते ! जन्म तुम्हारा कहां ? बता यह प्रश्न हमारा।
स्वतंत्रता—शूर देशहित तजते जहां प्राण जन्म मम है वहां ।
'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ४२० ।

हिन्दी-भाषा और साहित्य के पुजारी द्विवेदी जी हिन्दी की दीन दशा से विशेष प्रभावित थे। साहित्यसम्बन्धी विषयों पर लिखित उनकी कविताएं तत्कालीन साहित्य का बहुत कुछ आभास देती हैं। उनमें कहीं मायावी सम्पादकों की वंचक लीलाओं का निरूपण है,[१] कहीं हिन्दीभाषियों द्वारा नागरी के त्यागे जाने और विदेशी भाषाओं के अपनाए जाने पर खेदप्रकाश है,[२] कहीं सरकारी कार्यालयों, कचहरियों आदि में हिन्दी को उचित स्थान दिलाने के लिए निवेदन है,[३] कहीं संस्कृत बंगला, मराठी, अँगरेजी आदि के सामने हिन्दी की हीनता, तुक्कड़ों की अलंकारवादिता, कवित्वहीन पद्यरचना और समस्यापूरकों तथा खड़ीबोली के विरोधी ब्रजभाषाभक्तों की विडम्बना से व्यथित कविहृदय का व्यक्तीकरण है,[४] कहीं यशोलोलुप, ईर्ष्यालु, चोर और अपंडित हिन्दी ग्रन्थकर्ताओं की यथार्थ झांकी है,[५] कहीं कविता का अंगभंग करने वाले हिन्दीपद्यकारों के प्रति क्रोध, शोक तथा उपहास की व्यंजना है[६] और कहीं हिन्दी को आश्रय देने के लिए देशी नरेशों से विनय की गई है।[७] यही प्राग्द्विवेदीयुग—अराजकता-युग—का चित्र है। 'समय नहीं है', 'मुझे लिखना नहीं आता' आदि बहानों के आधार पर विदेशीभाषाप्रेमी हिन्दुओं और हिन्दीभाषियों को हिन्दीसेवा के पथ का पथिक बनाने के लिए ही युगनिर्माता द्विवेदी ने 'संदेश' की रचना की।

रविवर्मा आदि चित्रकारों के चित्रों ने हिन्दीकवियों का ध्यान विशेष आकृष्ट किया। उन चित्रों की वस्तु पर द्विवेदी जी ने स्वयं कविताएं लिखीं और दूसरों से भी लिखवाईं। द्विवेदी-सम्पादित 'कविताकलाप' इसी प्रकार की कविताओं का संग्रह है। द्विवेदी जी की 'रम्भा', 'कुमुद-सुन्दरी', 'महाश्वेता', 'उषास्वप्न' आदि चित्रपरिचयात्मक रचनाओं का आलम्बन पौराणिक या आधुनिक युग की नारी है। आदर्श नारियों के चरित्र अंकित करके वे भारतीय नारी-समाज को सुधारना और सरल, परिष्कृत तथा मंजी हुई पद्यभाषा खड़ीबोली की प्रतिष्ठा एवं प्रचार करना चाहते थे। रविवर्मा के चित्रों का गुणानुवाद भी इन रचनाओं का उद्देश जान पड़ता है। द्विवेदी जी ने हिन्दी-हितैषियों की प्रशंसा में और अवसर-विशेष पर भी अनेक कविताएं लिखीं।[८] 'बलीवर्द', 'काककूजितम्', 'जम्बुकी-न्याय', 'टेसू की टांग'

---

१ यथा—'द्विवेदी-काव्यमाला' में संकलित 'समाचारपत्रसम्पादकस्तवः' में।
२. ,, ,, ,, 'नागरी तेरी यह दशा' में।
३. ,, ,, ,, 'नागरी का विनयपत्र' में।
४ ,, ,, ,, 'हे कविते' में।
५. यथा—द्विवेदी-काव्यमाला' में संकलित 'ग्रन्थकारलक्षण' में।
६. ,, ,, ,, 'स्वप्न' में।
७. ,, ,, ,, 'प्रार्थना' में।
८. ,, ,, ,, 'श्रीहार्नालीपंचक', 'विवाहसंबंधी कवितायें' आदि।

आदि में व्यक्तिगत आक्षेप भी है किन्तु उसका विवेचन उचित नहीं प्रतीत होता।

द्विवेदी जी के प्रकृतिवर्णन में वस्तु की नवीनता नहीं है। 'ऋतुतरंगिणी', 'प्रभात-वर्णनम्', 'सूर्यग्रहणम्', 'शरत्सायंकाल', 'कोकिल', 'वसन्त' आदि कविताओं में उन्होंने प्रकृति के रूढ़िगत विषयों को ही अपनाया है। उनका महत्व विधानशैली की दृष्टि से है। वस्तुतः द्विवेदी जी प्रकृति के कवि नहीं हैं। प्रकृति पर उन्होंने कुछ ही कविताएं लिखी हैं जिनका न्यूनाधिक महत्व ऐतिहासिक आलोचना की दृष्टि से है। भाव की दृष्टि से उनकी कविताओं में कहीं तो प्रकृति का भावचित्रण हुआ है और कहीं रूपचित्रण। भावचित्रण में उन्होंने प्रकृतिगत अर्थ का ग्रहण कराने का प्रयास[1] और रूपचित्रण में प्रकृति के दृश्यों का चित्र-सा अंकित किया है।[2] सौन्दर्य की दृष्टि से द्विवेदी जी ने प्रकृति के कोमल और मधुर रूप को ही देखा है, उसके उग्र और भयंकर रूप को नहीं जैसा कि सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने 'परिवर्तन'[3] में किया है। 'ऋतुतरंगिणी' में ग्रीष्म का वर्णन यथार्थ होने के कारण द्विवेदी जी की उग्रताविषयक प्रवृत्ति का द्योतक नहीं हो सकता। निरूपित और निरूपयिता की दृष्टि से द्विवेदी जी के प्रकृति-वर्णन में केवल दृश्य-दर्शक सम्बन्ध की व्यंजना हुई है, तादात्म्य-सम्बन्ध की नहीं। यही कारण है कि उनकी प्रकृतिविषयक कविताओं में गहरी अनुभूति की अपेक्षा वर्णनात्मकता ही अधिक है। विधान की दृष्टि से उन्होंने प्रकृति-निरूपण दो प्रकार से किया है--प्रस्तुत-विधान और अप्रस्तुत-विधान। उदाहरणार्थ-'ऋतुतरंगिणी' आदि में प्रकृतिचित्रण ही कवि का लक्ष्य रहा है किन्तु 'काककूजितम्' आदि में अप्रस्तुत काक आदि के चित्रण के द्वारा कवि ने प्रस्तुत दुष्टों के चरित्रचित्रण का ही प्रयास किया है। विभाव की दृष्टि से उन्होंने प्रकृति का चित्रण दो रूपों में किया है-- उद्दीपनरूप में और आलम्बनरूप में। रीतिकालीन परम्परा ने प्रकृति के विविध दृश्यों को शृंगार के उद्दीपनरूप में ही प्रायः अंकित किया था। जगमोहन सिंह और श्रीधरपाठक उसके आलम्बन-पक्ष की ओर भी प्रवृत्त हुए। प्राकृतिक दृश्यों का आलम्बनरूप में चित्रांकन करके द्विवेदी जी ने इस

---

१. यथा—कुमुदपुष्पसुवाससुवासिता, वकुलचम्पकगन्धविमिश्रिता।
मृदुल बात प्रभात भये बहै, मदनवर्द्धक अर्द्धकला कहैं॥
'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० ८२।

२. यथा--क्व मामनादृत्य निशान्धारः पलाय्य पापः किल यस्तीति।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानुरंगाररूपः सहसाविरासीत्॥
'द्विवेदी काव्यमाला' पृ० १६६।

३. 'आधुनिक कवि' २ 'में संकलित।

प्रणाली को और आगे बढ़ाया।[1] इसी काव्यभूमिका में गोपाल शरण सिंह, राम नरेश त्रिपाठी, रामचन्द्र शुक्ल, सुमित्रानन्दन पन्त आदि ने आलम्बनरूप में प्राकृतिक दृश्यों का अर्थग्रहण और बिम्बग्रहण कराया।

---

१. यथा—

विशुष्क पत्र द्रुम से अनेका, धसे धसे कीचक एक एका।
अनन्त जीवान्तक दुःखदाई, दशों दिशा पावक देत लाई॥

'द्विवेदी काव्यमाला' पृ० ८०।

या – समाचिरात् सम्भविता समाप्तिः शुचा हदीतीव विचिन्तयन्ती।
उषः प्रकाशप्रतिभामिषेण विभावरी पांडुरतां बभार॥

'द्विवेदी-काव्यमाला' पृ० १६८।

पांचवां अध्याय

आलोचना

पश्चिमीय साहित्य में समालोचना का अर्थ किया जाता है रचना के विषय के इतिहास, सौंदर्यसिद्धान्त, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुणदोष और रचनाकार की अन्तर्वृत्तियां तथा प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन। संस्कृत-साहित्यकारों ने इस अर्थ में न तो आलोचना ही की है और न उस शब्द का ही प्रयोग किया है। हिन्दी में प्रचलित समालोचना, समालोचन, आलोचना और आलोचन एक ही अर्थवाचक शब्द हैं। ये शब्द संस्कृत के होते हुए भी अंगरेजी के 'क्रिटिसिज़्म' के समानार्थी हैं। समीक्षा और परीक्षा भी आलोचन के पर्याय हैं। 'क्रिटसिज़्म' के लिए इन शब्दों के चुनाव का आधार क्या है? अपने "ध्वन्यालोकलोचन' में अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लिखा है—

"अपने लोचन (ज्ञान या मन) द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या करता हुआ मैं काव्यालोक (ध्वन्यालोक) को जनसाधारण के लिए विशद (स्पष्ट) करता हूँ।"[1]

'चन्द्रिका" (ध्वन्यालोक पर लिखी गई व्याख्या) के रहते हुए भी लोचन के विना लोक या ध्वन्यालोक का ज्ञान असम्भव है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत रचना में (पाठकों की) आँखें खोलने का प्रयास किया है।"[2]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोचन लोचक द्वारा भावक को दिया गया वह ज्ञानलोचन है जिसकी सहायता से वह लोचित रचना का उचित भावन कर सके। परीक्षा और समीक्षा शब्द भी इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। संस्कृत के लक्षणग्रन्थों का नामकरण भी इसी अर्थ की भूमिका पर आलम्बित दिखाई देता है। आनन्दवर्धन, मम्मटाचार्य, शारदा-

---

१. यत्किंचिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्य-
लोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥
'ध्वन्यालोकलोचन', पृ० २।

२. किं लोचनं विना लोको भाति चन्द्रिकयापिहि ।
[illegible] ॥

तनय, जयदेव, विश्वनाथ आदि के 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'भावप्रकाश', 'चन्द्रालोक', 'सहित्यदर्पण' आदि शब्द लोचन के उपर्युक्त अर्थ के ही समर्थक हैं 'सम्' और 'आ' उपसर्गों के सहित लोचन ही समालोचन है। व्याकरण, दर्शन, इतिहास आदि-विषयक ग्रन्थों की समालोचना भी समालोचना ही है। समालोचना की चाहे जो भी परिभाषा की जाय, उसका निम्नांकित लक्षण सर्वव्यापक है--साहित्यिक समालोचना वह रचना है जो आलोचित साहित्यिक कृति के अर्थ या बिम्ब का भली भाँति ग्रहण करने में पाठक, श्रोता या दर्शक की सहायता करे।

इस उद्देश की दृष्टि से संस्कृत ही नहीं, हिन्दी-साहित्य में भी छः प्रकार की आलोचना-पद्धतियां दिखाई देती हैं।

१. आचार्य-पद्धति
२. टीका-पद्धति
३. शास्त्रार्थ-पद्धति
४. सूक्ति-पद्धति
५. खंडन-पद्धति
६. लोचन-पद्धति[1]

द्विवेदी जी की आलोचना भी इन्हीं छः वर्गों के अन्तर्गत होती है।

संस्कृत के आचार्य अपने लक्षणग्रन्थों में काव्यादि के लक्षणों का निरूपण करते थे। जिन लक्ष्यग्रन्थों को वे उत्कृष्ट समझते थे उन्हें रस, अलंकार आदि के सुन्दर उदाहरणों के रूप में और जिन्हें निकृष्ट समझते थे। उन्हें अधम काव्य या दोषों के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करके उनके गुणदोषों की यथोचित समीक्षा करते थे। 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। हिन्दी-आचार्यों ने अपने रीतिग्रन्थों में मम्मट आदि का अनुकरण न करके पंडितराज जगन्नाथ आदि का अनुकरण किया–सिद्धान्त-निरूपण में दूसरों की रचनाओं के स्थान पर अपनी ही रचनाओं के उदाहरण दिए और दोष-प्रकरण की अवहेलना कर दी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी संस्कृत की आचार्यपद्धति पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए--जैसे गुलाब राय का 'नवरस', कन्हैया लाल पोद्दार का 'काव्य-

---

१. पंडित रामचन्द्र शुक्लको संस्कृत-साहित्य में आलोचना के केवल दो ही ढंग दिखाई पड़े हैं–आचार्यपद्धति और सूक्तिपद्धति। उनका यह मत है कि 'समालोचना का उद्देश हमारे यहां गुणदोष-विवेचन ही समझा जाता रहा है।'

'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६३०-६३।

शुक्ल जी का यह चिन्त्य निर्णय अंशतः सत्य है।

कल्पद्रुम', अर्जुन दास केडिया का 'भारती-भूषण', अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'रस-कलस' आदि। इस पद्धति में सिद्धान्तनिरूपण ही प्रधान और उदाहृत रचनाएं गौण हैं। अतएव यह पद्धति वस्तुतः आलोचना की पीठिका है।

'रसज्ञरंजन', 'नाट्यशास्त्र' आदि आलोचनाएं द्विवेदी जी ने आचार्यपद्धति पर की हैं। उनकी आचार्यपद्धति और संस्कृत की परम्परागत आचार्यपद्धति में रूप का ही नहीं आत्मा का भी अन्तर है। सिद्धान्त का निरूपण करते समय उन्होंने संस्कृत-आचार्यों की भांति सगुण या दुष्ट रचनाओं का न तो उद्धरण दिया है और न उनका गुणदोषविवेचन ही किया है यत्र तत्र आए हुए एक दो उदाहरण अपवादस्वरूप हैं।[1] द्विवेदी जी की आचार्य-पद्धति पर की गई आलोचनाओं की पहली विशेपता यह है कि उन्होंने हिन्दी-विद्यापीठ के वसतविक आचार्यपद से ही सिद्धान्तसमीक्षा की है। छन्द-अलंकारादिनिदर्शक के आसन से कोरा सिद्धान्तनिरूपण ही उनका ध्येय नहीं रहा है।[2] नाटक के क्षेत्र में यथार्थ नाट्यकला से अनभिज्ञ नाटककारों और 'इन्द्रसभा', 'गुलेबकावली' आदि में रुचि रखने वाले दर्शकों को प्रशस्त पथ पर लाने के लिए उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की।[3] हिन्दी-कविता अतिशय

---

१. 'रसज्ञरंजन' में 'रामचरितमानस' पृ० ४१.४२.४३ और 'एकान्तावासी योगी' पृ० ४५ के उद्धरण।

२ क "छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुई उन्हीं पर जोर देना अविवेकता-प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं।" 'विचार-विमर्श', पृ० ४५।

ख. "ये सब पूर्वोक्त भेद हमने; यहां पर वाचकों के जानने के लिए दिखा तो दिए हैं, परन्तु हमारा यह मत है कि हिन्दी में नाटक लिखने वालों के लिए इन सब भेदों का विचार करना आवश्यक नहीं। इन भेदों का विचार करके इन में से किसी एक शुद्ध प्रकार का नाटक लिखना इस समय प्रायः असम्भव भी है। देश, काल और अवस्था के अनुसार लिखे गये सभी नाटक, जिनसे मनोरंजन और उपदेश मिले प्रशंसनीय हैं। वे चाहे हमारे प्राचीन आचार्यों के सारे नियमों के अनुकूल बने हों चाहें न बनें हों उनसे लाभ अवश्य ही होगा। इससे यह अर्थ न निकालना चाहिए कि नाट्यशास्त्र के आचार्यों में हमारी श्रद्धा नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये सब जटिल नियम उस समय के लिए थे जिस समय भरत और धनंजय आदि ने अपने ग्रंथ लिखे हैं। इस समय उनको यदि कोई परिवर्तितदशा में प्रयोग करे, और ऐसा करके, यदि वह सामाजिकों का मनोरंजन कर सके, तथा, अपने खेल के द्वारा वह सदुपदेश भी दे सके, तो कोई हानि की बात नहीं।"
'नाट्यशास्त्र', पृ० २६।

३. "नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो, और चाहे जिसने उसे बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटकार का प्रयत्न व्यर्थ है और दर्शकों

शृंगारिकता से आक्रान्त थी। लोग कविता के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ रहे थे। भाषा आदि बहिरंगों को लेकर विवाद चल रहा था। ऊर्मिला-जैसी नारियों के प्रति उपेक्षा थी। सम्पादक, समालोचक, लेखक सभी अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन थे। द्विवेदी जी ने इन बातों की ओर ध्यान दिया। हिन्दी की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उन्होंने आलोचनाएं कीं। 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'कवि और कविता', 'कविता', 'नायिका-भेद', 'कवियों की ऊर्मिलाविषयक उदासीनता', 'उर्दू शतक', 'महिषशतक की समीक्षा', 'आधुनिक कविता', 'बोलचाल की हिन्दी में कविता', 'सम्पादकों, समालोचकों तथा लेखकों के कर्तव्य' आदि लेखों में स्थान स्थान पर साहित्य और आलोचना का शास्त्रीय विवेचन करते समय वे सचमुच ही आचार्य बन गए हैं।

उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उनका सिद्धान्तनिरूपण सभी आलोचनाओं में यथास्थान बिखरा हुआ है। इसका कारण यह है कि उन्होंने संस्कृत-आचार्यों की भांति सिद्धान्तों को साध्य और लक्ष्य रचनाओं को साधन न मानकर लक्ष्य रचनाओं को ही साध्य और सिद्धान्तों को ही साधन माना है। लेखक या उसकी कृति की आलोचना करते समय जहां कहीं अपने कथन को प्रमाणित या पुष्ट करने की आवश्यकता पड़ी है वहां पर उन्होंने अपने या अन्य आचार्यों के सिद्धान्तों का उपस्थापन किया है।[1]

उनकी सिद्धान्तमूलक आलोचनाओं की तीसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने सिद्धान्तों को किसी वाद के बन्धन में नहीं बांधा है। वे न तो भरत, विश्वनाथ आदि की भाँति रसवादी हैं, न भामहादि की भांति अलङ्कारवादी हैं, न वामन आदि की भांति रीतिवादी हैं न कुन्तक आदि की भाँति वक्रोक्तिवादी हैं, न आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि की भांति ध्वनिवादी हैं, न पंडितराज जगन्नाथ की भांति चमत्कारवादी हैं और न पश्चिमीय समीक्षाप्रणाली से प्रभावित आलोचक की भांति अन्तःसमीक्षावादी हैं। उनकी आलोचनाओं में सभी वादों के सार का समन्वय है। उन्होंने अपनी आलोचनाओं में व्यवहारबुद्धि से काम लिया है, किन्तु कोरे उपयोगितावादी भी नहीं हैं। उन्होंने किसी वाद का खंडन

का नेत्रव्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग 'इन्दर-सभा' और गुलेबकावली' आदि खेल, जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्रायः खेलते हैं, देखने जाते हैं उन्हें अपना हानि-लाभ सोचकर वहां पधारना चाहिए।"

'नाट्यशास्त्र' पृ० ५३।

१. उदाहरणार्थ, कालिदास के ग्रन्थों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—"जिस साहित्य में समालोचना नहीं वह विटपहीन महीरुह के समान है। उसे देखकर नेत्रानन्द नहीं होता। उसके पाठ और परिशीलन से हृदय शीतल नहीं होता। वह नीरस मालूम होता है।"

'कालिदास और उनकी कविता', पृ० १११।

मंडन करने के लिए लेखनी नहीं उठाई। अतएव उनकी रचनाओं को किसी वाद के उपनयन से देखने का मार्ग सर्वथा गलत है।

साहित्य और मनुष्यत्व में बहुत गहरा सम्बन्ध है। द्विवेदी जी का कथन है कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनीशक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जायं और आत्मगौरव की उद्भावना हो।[1] महाकवि इस काम को समुचित रूप से कर सकते हैं। महाकवि वस्तुतः है भी वही जिसने उच्च भावों का उद्बोधन किया है। उसे भी आचार्यों के नियमों का न्यूनाधिक अनुशासन मानना ही पड़ता है। महाकवि का काव्य उच्च, पवित्र और मङ्गलकारी होता है।[2] वह कवि के स्वान्तःसुखाय ही नहीं होता। वह परार्थ को स्वार्थ से अधिक श्रेयस्कर समझता है। उसका लक्ष्य बहुजनहिताय है।[3] अन्तःकरण में रसानुभूति कराकर उदार विचारों में मन को लीन कर देना कविता का चरम लक्ष्य है। कविता एक सुखदायक भ्रम है जिसके उपभोग के लिए एक प्रकार की भावुकता, सात्विकता और भोलेपन की अपेक्षा है।[4] कविता कवि की कल्पना द्वारा अंकित अन्तःकरण की वृत्तियों का चित्र है।[5] सुन्दर कविता का विषय मनुष्य के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। वह उसकी आत्मा और आध्यात्मिकता पर गहरा असर डालता है।[6] कवि की प्रतिभा द्वारा किया गया जीवन के सत्य का चमत्कारपूर्ण उपस्थापन आनन्द की सृष्टि करता है।[7] कवि के कल्पना-प्रधान जगत् में सर्वत्र सम्भवनीयता ढूंढ़ना व्यर्थ है।[8] कविता और पद्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी ने बतलाया कि वास्तव में कविकर्म बहुत कठिन है। वह पिंगलशास्त्र के अध्ययन और समस्यापूर्ति के अभ्यास का ही परिणाम नहीं है।[9] वह किसी एक ही भाषा की सम्पत्ति नहीं है।[10] उस सक्रान्ति-काल के हिन्दी-कवियों के लिए उन्होंने

---

१. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवेंअधिवेशन के अवसर पर स्वागताध्यक्षपद से द्विवेदी जी द्वारा दिए गए भाषण के पृ० ३२ के आधार पर।
२. 'समालोचना-समुच्चय', 'हिन्दी-नवरत्न', पृष्ठ २२८ के आधार पर।
३. 'समालोचना-समुच्चय', 'भारतीय चित्रकला', पृष्ठ २६ के आधार पर।
४ 'रसज्ञरंजन', 'कविता', पृष्ठ ४९ के आधार पर।
५. 'रसज्ञरंजन', 'कविता', पृ० ५० के आधार पर।
६ 'विचार-विमर्श', 'आधुनिक कविता' के आधार पर।
७. 'रसज्ञरंजन', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', पृष्ठ २६ के आधार पर।
८. 'समालोचना-समुच्चय', 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ २१८ के आधार पर।
९. 'रसज्ञरंजन', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', पृष्ठ २० के आधार पर।
१०. 'समालोचना-समुच्चय', 'उर्दू शतक', पृष्ठ १४३ के आधार पर।

स्पष्ट सन्देश दिया था। रस, भाव, अलङ्कार, छन्दःशास्त्र और नायिकाभेद से मानवजाति का बहुत ही कम उपकार हो सकता है। उसका त्याग आवश्यक है। इस प्रकार का साहित्य समाज की दुर्बलता का चिन्ह है। इसके न होने से साहित्य का लाभ होगा।[1] लोक-रुचि के अनुसार सहज मनोहर काव्य-रचना की अपेक्षा है जिससे जनता में नवीन कविता के प्रति अनुराग उत्पन्न हो। नवीन भाव-विचार को लेकर कल्पित अथवा सत्य आख्यान के द्वारा सामाजिक, नैतिक आदि विषयों पर काव्य-निबन्धना होनी चाहिए।

आलोचना के विषय में भी द्विवेदी जी के विचार निश्चित थे। 'हिन्दी कालिदास' की समालोचना में उन्होंने सुबन्धु की 'वासवदत्ता' के निम्नांकित श्लोक को उद्धृत करके आलोचना के अर्थ और प्रयोजन की ओर संकेत किया था--

गुणिनामपि निजरूपप्रतिपत्तिः परत एव संभवति।
स्वमहिमदर्शनमक्ष्णोर्मुकुरकरतले जायते यस्मात्॥

अपने इस विचार को उन्होंने 'कालिदास और उनकी कविता' में स्पष्ट किया है--

"कवि या ग्रन्थकार जिस मतलब से ग्रन्थरचना करता है उससे सर्वसाधरण को परिचित कराने वाले आलोचक की बड़ी ही जरूरत रहती है। ऐसे समालोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है और कवियों के गूढ़ाशय मामूली आदमियों की समझ में आ जाते हैं। कालिदास की शकुन्तला, प्रियम्वदा और अनसूया में क्या भेद है? उनके स्वभावचित्रण में कवि ने कौन कौन सी खूबियां रक्खी है? उनसे क्या क्या शिक्षा मिलती है? ये बातें सब लोगों के ध्यान में नहीं आ सकतीं अतएव वे उनसे लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं। इसे थोड़ी हानि न समझिए। इससे कवि के उद्देश का अधिकांश ही व्यर्थ जाता है। योग्य समालोचक समाज को इस हानि से बचाने की चेष्टा करता है। इसी से साहित्य में उसका काम इतने आदर की दृष्टि से देखा जाता है--इसी से साहित्य की उन्नति के लिए उसकी इतनी अवश्यकता है।"[2]

परम्परागत भारतीय समालोचनाप्रणाली के भक्त होते हुए भी द्विवेदी जी ने पाश्चिमात्य नवीन प्रणाली के गुणों को अपनाया।[3] दोषदर्शन को उन्होंने बुरा नहीं समझा। उनका कथन है कि समालोचक को न्यायाधीश की भांति निष्पक्ष और निर्भय होना पड़ता है। सच्चे समालोचक को बड़े बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहास-लेखक और वक्ताओं की कृतियों पर

१. 'रसज्ञरंजन', 'नायिकाभेद', पृष्ठ ६२ के आधार पर।
२. 'कालिदास और उनकी कविता', पृ० १३।
३. 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना', 'आलोचनांजलि', पृ० ३।

फैसला सुनाने का अधिकार होता है। ढंग सभ्यतापूर्ण और युक्ति-संगत होना चाहिए। पांडित्यसूचक आलोचना भूलों के प्रदर्शन तक ही रह जाती है। प्रमुख बात तो आलोचक की वस्तूपस्थापन-शैली, मनोरंजकता, नवीनता, उपयोगिता आदि है। जिसके कार्य या ग्रन्थ की समालोचना करनी है उसके विषय में समालोचक के हृदय में अत्यन्त सहानुभूति का होना बहुत आवश्यक है। लेखक, कवि या ग्रंथकार के हृदय में घुसकर समालोचक को उसके हर एक परदे का पता लगाना चाहिए। अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या अवस्था थी, उसका आशय क्या था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने वह उक्ति कही थी—यह जब तक समालोचक को नहीं मालूम होगा तब तक वह उस उक्ति की आलोचना कभी न कर सकेगा। किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। वह तबतक संभव नही जब तक कवि और समालोचक के हृदय में कुछ देर के लिए एकतान स्थापित हो जाय।[1] व्यवहार के क्षेत्र में आकर समालोचकों को अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। समाज के भय की चिन्ता न करके विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक उपस्थित करने का उनमें गुण होना चाहिए। उनका कथन स्पष्ट, सोद्देश्य, तर्कसम्मत और साधिकार होना चाहिए।[2] आलोचन का लक्ष्य मत का निर्माण और रुचि का परिष्कार है। अनर्गल बातें और अत्युक्तियां तो सर्वथा त्याज्य हैं।[3] जहां पारस्परिक तुलना और श्रेष्ठता का प्रश्न हो वहां युग, परिस्थिति, व्यक्ति, लक्ष्य, कल्याणकारिता आदि पर भलीभांति विचार करना पड़ता है। आलोचक की तुली हुई और संयत भाषा में गहरे चिन्तन एवं मूल्यांकन का आभास मिलना चाहिए। द्विवेदी जी ने अपने उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का भरसक प्रयास किया परन्तु युग की बहुमुखी आवश्यकताओं ने पूर्ण सफलता न पाने दी। इसकी समीक्षा आगे की जायगी।

टीकापद्धति ने सिद्धान्त की अपेक्षा आलोच्य कृति को अधिक महत्व दिया है। मल्लिनाथ आदि कोरे टीकाकार ही न थे, समालोचक भी थे। टीका लिखते समय उन्होंने कवि के आशय को तो स्पष्ट करके बता ही दिया है, उसकी उक्तियों की विशेषताएं भी बताई हैं और रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि का भी उल्लेख किया है। इस पद्धति ने रचनागत अर्थ और व्याकरणपक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया। सम्भवतः संस्कृत के उस उत्थान-काल में काव्य-जैसे सरल विषय की विस्तृत आलोचना अनपेक्षित समझी गई थी। रूपकों के टीकाकारों

---

१. 'कालिदास और उनकी कविता', पृ० ११२।
२. 'समालोचना-समुच्चय', 'हिन्दी नवरत्न', पृ० २००, २११, २३३ के आधार पर।
३. 'समालोचना-समुच्चय', हिन्दी नवरत्न, पृ० २३५ के आधार पर।

ने स्थान स्थान पर शास्त्रीय दृष्टि से उनकी बहुत कुछ आलोचना की है, यथा नान्दी, प्रस्तावना, सन्धियां, सन्ध्यङ्गां आदि के अवसरों पर। व्याकरण, दर्शन आदि काव्येतर विषयों की आलोचना पर्याप्त और विशद हुई, उदाहरणार्थ पंतजलि का 'महाभाष्य', 'शांकरभाष्य' आदि। इस पद्धतिकी विशेषता अर्थव्याख्या के साथ साथ रस, अलङ्कार आदि के निर्दशन में है। हिन्दी में 'मानसपीयूष', पद्मसिंहशर्मा की 'बिहारी-सतसई', जगन्नाथदास का 'बिहारी-रत्नाकर' आदि इसी कोटि की कृतियाँ हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ समालोचक रामचन्द्र शुक्ल भी अपनी आलोचनाओं के बीच बीच में इस पद्धति पर चले बिना नहीं रह सके हैं।[1]

केवल हिन्दी जानने वालों को 'भामिनी-विलास' आदि की काव्यमाधुरी का आस्वाद कराने के लिए द्विवेदी जी ने उनके हिन्दी-भाषान्तर प्रस्तुत किए। उन अनुवादों में आलोचनात्मक टीकापद्धति की कोई विशेषता नहीं है। संस्कृत-टीकापद्धति का उद्देश था सरल वर्णनात्मक शैली में पाठकों को आलोचित ग्रंथ के अर्थ और गुणदोषका ज्ञान कराना। इस उद्देश और शैली के अनुकूल चलने वाली द्विवेदीकृत आलोचना में हम इस पद्धति के तीन विकसित या परिवर्तित रूप पाते हैं। पहला रूप है उनके द्वारा की गई काव्य-चर्चा।[2] 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' में 'नैषधचरित' और 'विक्रमांकदेवचरित' की परिचयात्मक आलोचना है। काव्य के रचयिता और कथा के परिचय के साथ कहीं कहीं कवित्वमय सुन्दर स्थलों की व्याख्या भी की गई। 'कालिदास की वैवाहिकी कविता',[3] 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल'[4] आदि व्याख्यात्मक आलोचनाएं संस्कृत-टीकापद्धति के अधिक समीप हैं। दूसरा रूप है 'सरस्वती' में प्रकाशित पुस्तक-परिचय। इसमें संस्कृत टीकापद्धति की भांति पदगत अर्थ या गुणदोषविवेचन आलोचक का लक्ष्य नहीं है। पुस्तक की परीक्षा व्यापक रूप में की गई है। द्विवेदीलिखित व्याख्यात्मक आलोचना के तीसरे रूप में साहित्यकारों की जीवनियां हैं। 'कोविदकीर्तन

---

१ 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में सूर की आलोचना।

२. "संस्कृत ग्रन्थों की समालोचना हिन्दी में होने से यह लाभ है कि समालोचित ग्रन्थों का सारांश और उनके गुणदोष पढ़ने वालों को विदित हो जाते हैं। ऐसा होने से सम्भव है कि संस्कृत में मूल ग्रन्थों को देखने की इच्छा से कोई कोई उस भाषा का अध्ययन करने लगें, अथवा उसके अनुवाद देखने की अभिलाषा प्रकट करें। अथवा यदि कुछ भी न हो, संस्कृत का प्रेममात्र उनके हृदय में अंकुरित हो उठे, तो इसमें भी थोड़ा बहुत लाभ अवश्य ही है।"

'विक्रमांकदेवचरितचर्चा', पृ० १।

३. 'सरस्वती', जून, १९०५ ई०।

४. 'सरस्वती', एप्रिल, १९११ ई०

'प्राचीन पण्डित और कवि', 'सुकविसङ्कीर्तन' आदि इसी प्रकार की आलोचना-पुस्तकें हैं। संस्कृत-साहित्य में रचना की व्याख्या में रचनाकार को कोई स्थान नहीं दिया गया था। इसका कारण था उन आलोचकों का दृष्टिभेद। वे अर्थ की व्याख्या करते चले जाते थे और जहां प्रयोजन समझते थे, न्यूनाधिक आलोचना भी कर देते थे। उन आलोचकों के समक्ष एक ही प्रश्न था--आलोच्य वस्तु क्या है? उसके रचनाकार तक जाना उन्होंने निष्प्रयोजन समझा। द्विवेदी जी ने रचयिताओं की आलोचनाद्वारा उनकी कृतियों से भी पाठकों को परिचित कराया। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त 'अश्वघोषकृत सौन्दरानन्द',[१] 'महाकवि भास के नाटक',[२] 'वेंकटेश्वर प्रेस की पुस्तकें',[३] 'गायकवाड़ की प्राच्यपुस्तकमाला'[४] आदि फुटकल लेख भी इसी कोटि में हैं।

पूर्ववर्ती समीक्षकों से असहमत होने के कारण उनके परवर्ती आलोचकों ने तर्कपूर्ण युक्तियों के द्वारा दूसरों के मत का खंडन और अपने विचारों का मंडन करने के लिए शास्त्रार्थपद्धति चलाई। इन आलोचकों ने विपक्ष के दोषों और अपने पक्ष के गुणों को ही देखने की विशेष चेष्टा की। कहीं तो समीक्षक ने तटस्थभाव से ईर्ष्यामत्सरादिरहित होकर सूक्ष्म विवेचन किया, यथा आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में और मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ और पंचम उल्लास में। कहीं पर उसने गर्व के वशीभूत होकर पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का खंडन और अपने विचारों का मंडन किया यथा पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में। और कहीं पर उसने शत्रुभाव से विपक्ष का सर्वनाश करने की चेष्टा की। इस दृष्टि से महिमभट्ट का व्यक्ति-विवेक' अत्यन्त रोचक और निराला है। आधुनिक हिन्दी के आलोचना-साहित्य में भी 'बिहारी और देव', 'देव और बिहारी' आदि शास्त्रार्थपद्धति पर की गई रचनाएं हैं।

'चरित और चरित्र' अध्याय में यह कहा जा चुका है कि किसी विषय में विवाद उपस्थित हो जाने पर द्विवेदी जी अपने कथन को पांडित्य और तर्क के बल से अकाट्य प्रमाणित करके ही छोड़ते थे। आलोचनाक्षेत्र में भी उनकी यह विशेषता कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'नैषधचरितचर्चा और सुदर्शन',[५] 'भट्टी कविता',[६] 'भाषा और व्याकरण',[७] 'कालिदास की

---

१. 'सरस्वती', १९१३ ई०, पृ० २८०।
२. 'सरस्वती'', १९१३ ई० ,, ९३।
३ ,, १९१७ ई०, ,, १४०, १९७, २६४।
४. ,, १९१६ ई०, ,, १९३।
५. 'सरस्वती', १९०१ ई०, ,, ३४५।
६. ,, १९०६ ई०, ,, ३९३।
७. ,, ,, ,, ६०।

निरंकुशता पर विद्वानों की सम्मतियां',[1] 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना'[2] आदि उनकी आलोचनाएं शास्त्रार्थपद्धति पर की गई हैं। विपक्ष का खंडन और स्वपक्ष का मंडन करते समय उन्होंने कठोर तर्क से काम लिया है। ओज लाने के लिए उन्होंने निस्संकोचभाव से संस्कृत, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग किया है। कहीं कहीं आक्षेपों की तीव्रता असह्य हो गई है।[3] स्थान स्थान पर सन्दर्भों, सिद्धान्तों आदि का सन्निवेश करके अपने मत को पुष्ट सिद्ध करने में उन्हें सफलता मिली है।[4]

सुन्दर जॅचनेवाली वस्तु की प्रशंसा करना मनुष्य का स्वभाव है। संस्कृत-काव्यों और कवियों के विषय में भी प्रशंसात्मक सुभाषित लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हुए यथा—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

---

१. ,, १९११ ई०, पृ० १६२।

२. ,, ,, ,, १५६, २२३, २७२।

३. "अपने पहले लेख में एक जगह हमने लिखा—मन में जो भाव उदित होते हैं वे भाषा की सहायता से दूसरों पर प्रकट किए जाते हैं। इस पर उम्र भर कवायददानों की सोहबत और ज़ुबांदानों की खिद्मत करके नामपाने वाले हमारे समालोचकों में से एक समालोचकशिरोमणि ने दूर तक मसखरापन छांटा है। आप की समझ में यहां पर सहायता गलत है। अब आप को चाहिए कि ज़रा देर के लिए ज़ुबांदानी का चोग़ा उतार कर मेक्समूलर के सामने आवें। या अगर उर्दू फारसी ही के जाननेवाले आप की समझ में सर्वज्ञ हों तो हेचमदानी का जामा पहन कर आप पंडित इक़बाल कृष्ण कौल एम० ए० के ही सामने सिर झुकावें। 'रिसाले तालीम व तरबियत' नाम की अपनी किताब के शुरू ही में पंडित साहब फ़रमाते हैं—"अशयाए खार्जिया का इल्म हमको इन्ही कुव्वतों के ज़रिए होता है। ...हवास के ज़रिए जो खयालात पैदा होते हैं...।" लेकिन दूसरों को भी कुछ समझने और उनकी बात मानने वाले जीव और ही होते हैं। बहुत तरफ की बातें फांकने का ख्याल आते ही इन जीवों को तो जूड़ी आ जाती है। वे इन्हें हज़म ही नहीं होतीं। हज़म होती है सिर्फ एक चीज़—प्रलाप। उसे वे इतना खा जाते हैं कि उगलना पड़ता है।"

सरस्वती, 'भाग ७, सं० २, पृ० ६३।

४. "योग्य समालोचक के लिए यह कोई नहीं कह सकता कि जिसकी पुस्तक की तुम समालोचना करना चाहते हो उसके बराबर विद्वत्ता प्राप्त कर लो तब तो समालोचना लिखने के लिए कलम उठाओ। होमर ने ग्रीक भाषा में 'इलियड' काव्य लिखा है। वाल्मीकि और कालिदास ने संस्कृत में अपने काव्य लिखे हैं। फिरदौसी ने फारसी में 'शाहनामा' लिखा है। कौन ऐसा समालोचक इस समय है जो इन भाषाओं में पूर्वोक्त विद्वानों के सदृश योग्यता रखने का दावा कर सकता हो?"

"आलोचनांजलि', पृ० ३।

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ।।
रुचिरस्वरवर्णपदा नवरसरुचिरा जगन्मनोहरति ।
किं सा तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ।।

अपनी तथा दूसरों की प्रशंसा में महान् कवियों और आचार्यों ने भी सूक्तियों की रचना की।[1] हिन्दी में भी प्रशंसात्मक सूक्तियां लोकप्रचलित हुईं, यथा—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास ।
अब के कवि खद्योत सम जहं तहं करहिं प्रकास ।।
कविताकर्त्ता तीन हैं तुलसी केसव सूर ।
कविता खेती इन लुनी कांकर बिनत मंजूर ।।
तुलसी गङ्ग दुऔ भए सुकविन के सरदार ।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ।।
साहित्यकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः ।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ।।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी सूक्तिपद्धति पर रचनाएं हुई हैं। डाक्टर रसाल का 'उद्धवशतक' का प्राक्कथन, 'शेषस्मृतियां' की रामचन्द्र शुक्ल-लिखित भूमिका आदि कृतियां आधुनिक समालोचना के सांचे में ढली हुई प्रवर्द्धित, संस्कृत, गद्यमय और प्रशंसात्मक

---

१. क. नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता ।
वृथैव दंडिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥
विज्जिका देवी ।

ख. कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया ।
बाणभट्ट, 'हर्षचरित' की भूमिका ।

ग. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकथासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलिं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥
जयदेव, 'गीतगोविन्द' की भूमिका ।

घ. भासनाटकचक्रेपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोभून्न पावकः ॥
बाण—'हर्षचरित'

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगंगाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता—
मलंकारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥
पंडितराज जगन्नाथ, 'रसगंगाधर', पृ० २३ ।

सूक्तियां ही हैं। मैत्री, विज्ञापन आदि से अप्रभावित गुणवाचक आलोचना भी रचनाकारों और भावकों का विशेष हित कर सकती है।

द्विवेदी जी द्वारा सूक्तिपद्धति पर की गई आलोचनाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। 'महिषशतक की समीक्षा'-जैसे लेख 'गर्दभकाव्य' और 'बलीवर्द' का औचित्य सिद्ध करने और 'हिन्दी-नवरत्न'[1] आदि दोषान्वेषण के अयश से बचने के लिए ही लिखे गए जान पड़ते हैं। श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा', मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'गोपालशरण सिंह की कविता' आदि की जो आलोचनाएँ द्विवेदी जी ने की हैं वे वस्तुतः प्रशंसात्मक हैं।[2] परम्परागत सूक्तिपद्धति और द्विवेदीकृत सूक्तिसमीक्षा में केवल रूप और आकार का ही अन्तर है। द्विवेदी जी की आलोचनाएं गद्यमय और विस्तृत हैं। हां, प्रभावोत्पादकता लाने के लिए कहीं कहीं प्रशंसात्मक पदों की योजना अवश्य कर दी गई है।[3] द्विवेदी जी की सूक्तियों में किसी प्रकार की मायिकता या पक्षपात नहीं है।[4] धर्मसंकट की दशा में जिस रचना की प्रशंसा करना उन्होंने अनुचित समझा उसकी आलोचना करना ही अस्वीकार कर दिया।[5]

---

१. 'सरस्वती', १९१२ ई०, पृ० ३०।

२. ये तीनों आलोचनाएँ 'सरस्वती' में क्रमशः जनवरी, १९०५ ई०, अगस्त, १९१४ ई० और सितम्बर, १९१४ ई० में प्रकाशित हुई थीं।

३. "यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।
यहि अमरन को ओक, यहीं कहुं बसत पुरन्दर॥

ऐसे ही मनोहर पद्यों में आपने 'काश्मीर-सुषमा' नाम की एक छोटी सी कविता लिखकर प्रकाशित की है काश्मीर को देखकर आपके मन में जो जो भावनाएं हुई हैं उनको उसमें आपने मधुमयी कविता में वर्णन किया। पुस्तक के अन्त में आपकी 'शिमलाप्रेक्षणम्' नाम की एक छोटी सी संस्कृत कविता भी है। हम कहते हैं कि—

ताहि रसिकवर सुजन अवसि अवलोकन कीजै।
मम समान मनमुग्ध ललकि लोचनफल लीजै।"

'सरस्वती', भाग ६, पृ० २।

४. "मित्रता के कारण किसी की पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं।"

द्विवेदी जी—'विचार-विमर्श', पृ० ४५।

५. " 'साधना' उत्कृष्ट छपाई और बंधाई का आदर्श है। देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ बाबू मैथिली शरण पर और आप पर भी मेरा जो भाव है वह मुझे इस पुस्तक की समालोचना करने में बाधक है। अपनी चीज को समालोचना ही क्या? अतएव क्षमा कीजिएगा।"

रायकृष्ण दास को लिखित, २१.७.१९१८ ई०, 'सरस्वती', भाग ४६ सं० २, पृ० ८२।

मनुष्य के जो लोचन केवल गुण ही देख सकते हैं, उनमें केवल दोष ही देखने की भी प्रवृत्ति है। इसी सहजबुद्धि ने पंडितराज जगन्नाथकृत 'चित्रमीमांसाखण्डन' आदि को जन्म दिया। हिन्दी-समालोचनासाहित्य में कृष्णानन्द गुप्त-लिखित 'प्रसाद जी के दो नाटक' आदि इसी प्रकार की रचनाएं हैं। संस्कृत-साहित्य में आचार्यपद्धति में भी दूसरों का खण्डन किया गया था। परन्तु वह खंडन-पद्धति से बहुत कुछ भिन्न था। वह केवल खंडन के लिए न था। वह साध्य नहीं था, साधन था। अपने मत को भली भांति पुष्ट और आप्त सिद्ध करने के लिए विरोधी मतों का समुचित खंडन अनिवार्य था। खंडनपद्धति सोलहों आने दोषदर्शनप्रणाली है। ईर्ष्या, द्वेष आदि से रहित होकर की गई दोषवाचक आलोचना भी, दूषित और भ्रष्ट रचनाओं का प्रचार रोकने तथा साहित्यकारों को त्रुटियों और दोषों के प्रति सावधान करने लिए, साहित्य की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

संस्कृत-साहित्य में खंडनपद्धति के दो रूप मिलते हैं। एक तो आचार्यों द्वारा उन सिद्धान्तों या अर्थों का खंडन जिनको उन्होंने स्वीकार नहीं किया; उदाहरणार्थ अभिनव गुप्त-कृत भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक और भट्ट नायक की रस-विषयक व्याख्या का दोषनिरूपण। इसका उद्देश था वास्तविक ज्ञान का प्रचार। दूसरे रूप में वह खंडन है जिसमें मत्सरादिग्रस्त आलोचक ने अपने पांडित्य और आलोचित की अज्ञता या हीनता का प्रदर्शन करने का प्रयास किया है, यथा जगन्नाथ राय का 'चित्रमीमांसा-खंडन'। इस पद्धतिकी विशेषता है केवल त्रुटियों या अभावों की समीक्षा। द्विवेदी जी की खंडनपद्धति दो प्रकार की है — अभाव-मूलक और दोषमूलक। पहली का उद्देश था हिन्दी के अभावों की आलोचना द्वारा उनकी पूर्त्ति के लिए हिन्दी-साहित्यकारों को प्रेरित करना। इसके दो रूप हैं—एक का उदाहरण है 'हिन्दी-साहित्य'[1] सरीखे व्यंग्यचित्र और दूसरी के उदाहरण 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता'[2] आदि लेख हैं जिनमें हिन्दी की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिया गया है। 'हिन्दी-नवरत्न' आदि लेखों में भी यत्र तत्र आलोचना की इस पद्धति का पुट है।[3]

१. 'सरस्वती', १६०२ ई०, पृ० ३५।

२. 'रसज्ञरंजन' में संकलित।

३. "वे दिखलाते कि कौन कौन सी बातें होने से किसी कवि की गणना रत्न कवियों में हो सकती है। फिर कविरत्नों की कवितादीप्ति की भिन्न भिन्न प्रभाओं की मात्रा निर्दिष्ट करते, जिससे यह जाना जा सकता कि कितनी प्रभा होने से वृहत्, मध्य और लघुवर्ग में उन कवियों को स्थान दिया जा सकता है। यदि वे ऐसा करते तो उनके बतलाए हुए लक्षणों की जांच करने में सुभीता होता, तो लोग इस बात की परीक्षा कर सकते कि जिन गुणों के होने से लेखकों ने कवि को कविरत्न की पदवी के योग्य समझा है वे गुण

द्विवेदी जी की दोषमूलक आलोचना के अनेक उद्देश थे। हिन्दी में बढ़ते हुए कूड़ाकर-कट के संहार के लिए 'भाषा-पद्य-व्याकरण' आदि की खंडनप्रधान तीव्र आलोचना[1] की अनिवार्य अपेक्षा थी। लाला सीताराम आदि लेखकों के अनुवादों की दोषमूलक समीक्षा का लक्ष्य था कालिदासादि महान् कवियों के गौरव की रक्षा।[2] 'हिन्दी-नवरत्न' आदि की आलोचना द्वारा वे लेखकों को सुधार कर साहित्य-रचना के आदर्श मार्ग पर लाना चाहते थे।[3] 'कालिदास की निरंकुशता'-जैसी समीक्षा साहित्यमर्मज्ञों के मनोरंजनार्थ लिखी गई थी।[4] इन समालोचनाओं के शरीर भी अनेक प्रकार के थे। 'कलासर्वज्ञसम्पादक',[5] 'काशी

वैसे ही हैं या नहीं, और वे प्रस्तुत कवियों में पाये भी जाते हैं या नहीं।"

'समालोचना-समुच्चय', पृ० २०७।

१. आपने कैसे पद्य में व्याकरणविषय सिखाये हैं सो भी देख लीजिए। अनुवाद विषय पाठ आप यों पढ़ते हैं--

प्रथम स्वभाषा वाक्य को स्यामपटल पर लिखौ।
बालकगण स्वकापी पर प्रतिलेख सबै लिखौ॥
प्रथम कर्ता क्रिया कहैं अन्य भाषा जानैं।
प्रश्नद्वारा शब्द रचैं तुल्य कारक जानैं॥
क्रियापद स्थान देखि क्रियापदे प्रकाशैं।
कर्ता कर्म क्रिया जोड़ि लघुवाक्य प्रकाशैं॥

भगवान् पिंगलाचार्य ही आपके इस छन्द का नामधाम बतावैं तो बता सकते हैं, और आपके इस समग्र पाठ का अर्थ भी शायद कोई आचार्य ही अच्छी तरह बता सके।...

आपने पुस्तकादि में जो एक छोटी सी भूमिका लिखी है, उसका पहला ही वाक्य है 'मैंने यह पुस्तक बड़े परिश्रम से बनाई है और आज तक ऐसी पुस्तक भारतवर्ष में किसी से नहीं लिखी गई।' सचमुच ही न लिखी गई होगी। आपके इस कथन में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं। भारतवर्ष ही में क्यों शायद और भी किसी देश में भी ऐसे पद्य में ऐसा व्याकरण न लिखा गया होगा।...

आचार्य जी ने अपने व्याकरण का आरम्भ इस प्रकार किया है-

श्री गुरु चरण सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि।
रचौं व्याकरण पद्य में जो दायक फल चारि॥

सो अब धार्मिक हिन्दुओं को चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए पूजापाठ, दानपुण्य छोड़कर केवल आपके व्याकरण का पारायण करना चाहिए। तुलसीदास पर जो आपने कृपा की है उसके लिए हम गोसाईं जी की तरफ से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

'विचार-विमर्श', पृ० १८५-८६।

२. देखिए 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', पृ० ७२

३. 'समालोचना-समुच्चय', पृ० २८६।

४. देखिए 'कालिदास की निरंकुशता', पृ० ३।

५. 'सरस्वती', १९०३ ई०, पृ० ३६।

का साहित्य-वृक्ष',[1] 'शूरवीर समालोचक'[2] आदि व्यंग्यचित्र हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' और 'कालिदास की निरंकुशता'[3] पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं। 'नायिकाभेद',[4] 'हिन्दी-नवरत्न',[5] आदि आलोचनात्मक निबन्ध हैं। 'हे कविते'[6] 'ग्रन्थकारलक्षण',[7] आदि कविताओं में भी आलोचना की प्रधानता है। 'भाषा-पद्य व्याकरण',[8] आदि की आलोचनाएं पुस्तक-परिचय के रूप में लिखी गई थीं। इन आलोचनाओं के लेखकरूप में उन्होंने अपना नाम न देकर कल्पित नामों का भी प्रयोग किया है। 'समाचारपत्रों का विराट् रूप'[9] के लेखक पंडित कमला किशोर त्रिपाठी और 'राम कहानी की समालोचना'[10] के श्री कंठ पाठक एम० ए० हैं। इन आलोचनाओं की अभिव्यंजनाशैली अपेक्षाकृत अधिक व्यंग्यात्मक, आक्षेपपूर्ण और कहीं कहीं हास्यमिश्रित है।[11] द्विवेदी-कृत खंडनात्मक, आलोचनाओं का कारण किसी प्रकार का ईर्ष्याद्वेष नहीं है। हिन्दी का सच्चा उपासक उसके मन्दिर में किसी भी प्रकार का व्यभिचार नहीं देख सका है। इसीलिए उसमें कटुता आ गई है किन्तु वह सार्वत्रिक न होकर यथास्थान है। सच तो यह है कि हिन्दी-साहित्य के ढीठ चोरों और कलंककारियों की असंगतगति को रोकने के लिए द्विवेदी जी-जैसे सैनिक समालोचक की ही आवश्यकता थी।

संस्कृत-साहित्य में आलोचना का उत्कृष्टतम रूप लोचनपद्धति में दिखाई देता है। यह पद्धति पूर्वोक्त पांचों पद्धतियों के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें आलोचक आलोच्य विषय के अर्थ को पूर्णतया हृदयंगम करके रचनाकार की अन्तर्दृष्टि की विशद समीक्षा करता है। यह टीका-पद्धति से अनेक बातों में भिन्न है। टीका-पद्धति का क्षेत्र व्यापक किन्तु दृष्टि सीमित है। उसकी पहुँच काव्य, साहित्य आदि

---

१. 'सरस्वती', १९०३ ई०, पृ० ४०६।
२. 'सरस्वती', १९०३ ई०, ,, २९५।
३ पहले लेखरूप में 'सरस्वती' १९१२ ई० पृ० ७,७५ और १०७ में प्रकाशित।
४. 'सरस्वती', १९०१ ई०, पृ० १९५।
५. ,, १९१२ ई०, ,, ६६।
६. ,, १९०१ ,, १९८।
७. ,, ,, २५५।
८. ,, अगस्त १९१३ ई०।
९. ,, १९०४ ई० पृ० ३९७।
१०. ,, १९०६ ई०, ,, ४५०।
११. क. हिन्दी शिक्षावलीतृतीय भाग की समालोचना, पृ० ६।
ख. 'भाषा और व्याकरण', 'सरस्वती' भाग ७, नं० ?, पृ० ११ और ८?।

के सभी विषयों तक है। परन्तु वह रचनागत साधारण अर्थ, व्याकरण, रस, अलङ्कार आदि से आगे नहीं बढ़ सकी है। लोचन-पद्धति की दृष्टि रचनाकार की अंतःसमीक्षा और तुलनात्मक आलोचना तक आगे तो बढ़ी किन्तु उसका विषय साहित्यशास्त्र तक ही सीमित रह गया। काव्यों पर इस प्रकार की आलोचनाएं नहीं हुईं। सम्भवतः उन कवियों ने काव्यसरीखी रचनाओं की विस्तृत समीक्षा को व्यर्थ समझा। संस्कृत में अभिनवगुप्त का 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'अभिनवभारती' आदि इसी प्रकार की रचनाएं हैं। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास आदि की समीक्षा-शैली इसी लोचन-पद्धति और पाश्चात्य समालोचना-प्रणाली का मिश्ररूप है। संस्कृत में लोचन-पद्धति पर की गई आलोचना सौन्दर्यमूलक रही है। भारतीय 'आलोचक ने आलोच्य रच सुन्दर या असुन्दर क्यों है' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये रचनाकार की जीवनी, विषय के इतिहास, तत्कालीन समाज आदि को दृष्टि में रखकर आलोचना नहीं की। ये विशेषताएं पश्चिमीय साहित्य ने ही हिन्दी को दी हैं।

'मेघदूत-रहस्य',[1] 'रघुवंश' और 'किरातार्जुनीय' की भूमिकाएं आदि लोचन-पद्धति पर द्विवेदी जी द्वारा की गई आलोचनाएं हैं इनमें उन्होंने रचना के विषय में मुख्यतः चार दृष्टियों से विचार किया है— सौन्दर्य, इतिहास, जीवनी और तुलना। सौन्दर्य-दृष्टि से उन्होंने केवल रचना के अन्तर्गत सौन्दर्य तथा उसके गुण-दोष का विवेचन किया है। इतिहास-दृष्टि से रचनाविषयक इतिहास और रचनाकाल की सामाजिक आदि परिस्थितियों की भूमिका में उसकी समीक्षा की है। जीवनी-दृष्टि से रचना में रचनाकार के व्यक्तित्व, अनुभव आदि का प्रतिबिम्ब खोजते हुए उसकी आलोचना की है। तुलना-दृष्टि से उसी वर्ग की अन्य रचनाओं या रचनाकारों की तुलना में प्रस्तुत रचना या रचनाकार की उत्कृष्टता या निकृष्टता की जाँच की है। भारवि पर लिखी गई आलोचना इस पद्धति का विशिष्ट आदर्श है। उसमें उन्होंने भारवि की काव्य-कला पर उपर्युक्त सभी दृष्टियों से विचार किया है।[2] 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य' में सौन्दर्य, 'अकबर के राजत्वकाल में

---

१. 'सरस्वती', अगस्त, १९१२ ई०।

२. उदाहरणार्थ—

क. तुलनात्मक—"शिशुपालवध के कर्ता माघ पंडित भारवि के बाद हुए हैं। जान पड़ता है, माघ ने किरातार्जुनीय को बड़े ध्यान से पढ़कर अपने काव्य की रचना की है। क्योंकि दोनों में कथावतरणसम्बन्धिनी अनेक समताएं हैं।......"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० १३, १४।

ख. सौन्दर्यमूलक—"भारवि को लिखना था महाकाव्य। पर कथानक उन्होंने ऐसा चुना जिसके विस्तार के लिए यथेष्ट सुभीता न था।... आलंकारिकों की आज्ञा के पाश में फंसने के कारण ही भारवि को कथा का अस्वाभाविक विस्तार करना पड़ा और ऐसी ऐसी विशेषताएं रखनी पड़ीं जिनसे काव्यानन्द की प्राप्ति में कमी आ जाती है।"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० २७ और ३०।

हिन्दी'[1] में इतिहास और 'गोपालशरणसिंह की कविता'[2] में जीवनी की ही दृष्टि प्रधान है। लोचनपद्धति की ही नहीं अन्य पद्धतियों की आलोचनाओं में भी उन्होंने आलोच्य रचनाकार की अन्तर्दृष्टि का आवश्यकतानुसार विवेचन किया है। टीका या परिचय की पद्धति पर 'नैषधचरित' की अथवा खंडन-पद्धति पर 'हिन्दी कालिदास' या कालिदास की सौन्दर्यमूलक आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने रचनाकारों के भावों की-तह तक जाने का प्रयास किया है।[3] 'हिन्दी-नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने किसी सारगर्भित और तर्क-सम्मत विवेचन के बिना ही रत्नकोटि में कवियों की मनमानी आयोजना की थी। उनके आलोचन की समालोचना में द्विवेदी जी ने एक रत्न कवि की विशिष्टताओं, उसकी ऐतिहासिक और तुलनात्मक छानबीन को विशेष गौरव दिया।[4]

आलोचनापद्धतियों का पूर्वोक्त वर्गीकरण गणित का-सा नहीं है। एक पद्धति की विशिष्टताएं दूसरी पद्धति की आलोचनाओं में अनायास ही समाविष्ट हो गई हैं। उनके विशिष्ट व्यपदेश का एकमात्र कारण प्राधान्यही है। द्विवेदी जी की आलोचनाओं की उपर्युक्त समीक्षा प्रायः सौन्दर्य–दृष्टि से की गई है। केवल सौन्दर्य के आधार पर उनकी आलोचनाओं को चर्चा या परिचयमात्र कह कर टाल देना आधुनिक समालोचना की दृष्टि से बुद्धि-संगत नहीं है। उनकी आलोचनाओं का वास्तविक मूल्य ऐतिहासिक, तुलनात्मक और जीवनीमूलक दृष्टियों से आँका जा सकता है। उनकी आलोचना-पुस्तकों पर अलग से भी कुछ कह देने की आवश्यकता है।

ग. ऐतिहासिक—"भारवि के जमाने में इन बातों (अप्रासंगिक विस्तार और रचनाविषयक चातुर्य) की गणना शायद दोषों में न होती रही हो। सब प्रकार के वर्णन करना और कठिन से कठिन शब्द चित्र लिख डालना, अब भी पुराने ढंग के कितने ही पंडितों की दृष्टि में दोष नहीं, प्रशंसा की बात है।"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० ३७।

घ. जीवनीमूलक—"उनके काव्य में दार्शनिक विचार बहुत कम, पर नैतिक विचार बहुत अधिक हैं। वे नीतिशास्त्र के बहुत बड़े पंडित थे। सम्भव है, वे किसी राजा के सभापंडित, धर्माध्यक्ष, न्यायाधीश या और कोई उच्चपदस्थ कर्मचारी रहे हों।··· जहां कहीं मौका मिला है वहां वे नीति की बात कहे बिना नहीं रहे।···राजनीतिज्ञ, नैयायिक और सुकवि होने ही के कारण भारवि ने अपनी वक्तृताओं में अपूर्व योग्यता प्रकट की है"

'किरातार्जुनीय' की भूमिका, पृ० ३३, ३४ और ३५।

१. 'समालोचना-समुच्चय में संकलित।
२. 'विचार-विमर्श' में संकलित।
३. उदाहरणार्थ 'नैषधचरित चर्चा', पृ०१३ या 'कालिदास की निरंकुशता', पृ० २।
४. समालोचना-समुच्चय पृ० २०८, २११, २३४, २३५ आदि।

जीवन के क्षेत्र में रूपरंग पहचानने की जो शक्ति है, मन के क्षेत्रमें वह स्मृति, चिन्तना तथा तुलना के रूप में प्रकट होती है। साहित्यिक जगत् में जब वह नीरक्षीरविवेक का रूप धारण करती है तब उसे हम आलोचना कहते हैं। आलोचना की सहज प्रवृत्ति युग, व्यक्ति, विषय, तत्कालीन बौद्धिक स्थिति, रूढ़ि, भावों के प्रकाशन की सुविधा, सम्प्रेषण के साधन आदि बातों के कारण विशिष्ट रूप धारण किया करती है। आलोचक की अभिरुचि, उसकी मानसिक भूमिका, उसका सिद्धान्त-पक्ष, उसकी सहृदयता, उसकी सूक्ष्मदर्शिता आदि व्यक्तित्व के आवश्यक उपकरण उसकी आलोचना के आकार और प्रकार का निर्धारण करते हैं। युग की समस्याएं, समाज की आवश्यकताएं, साहित्य की कमियाँ, अच्छाइयाँ या बुराइयाँ किसी न किसी रूप में आलोचना का अंग बन ही जाती हैं। पश्चिम के विज्ञानवादी समाज ने आलोचना की व्याख्यात्मक प्रणाली को जन्म दिया। भारत के निःस्पृह, आत्मविस्मृत और सिद्धान्तवादी आलोचक ने जीवनीमूलक आलोचना की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। आलोचना की निर्णयात्मक, प्रभावाभिव्यंजक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक आदि सभी प्रणालियों के पीछे युग, साहित्य आवश्यकताएं तथा व्यक्ति छिपे हुए हैं। द्विवेदी जी के युगनिर्मातृत्व को भूल कर हम उन की रचनाओं की यथार्थ परख नहीं कर सकते। युग को पहचान कर, एक उच्च आदर्श से प्रेरित हो कर, अनवरत साधना के बल पर, आजीवन तपस्या करके उस तपस्वी ने युग-निर्माण के रूप में भावी समाज को जो वस्तु दी है वह कुछ साधारण नहीं है। आज वे समस्याएं नहीं हैं। आज वह युग नहीं है। आज वे प्रश्न नहीं हैं। वर्तमान हिन्दी-साहित्य-भवन के सप्तम तल पर विराजमान समालोचक को यह भी विचारना होगा कि उसके निचले तलों के निर्माता को कितना घोर परिश्रम और बलिदान करना पड़ा था। द्विवेदी जी के प्रत्येक पक्ष को समझने के लिये सतर्कता, दृष्टि-व्यापकता और सहृदयता की आवश्यकता है।

द्विवेदी जी ने आलोचक का बाना युग-निर्माण के महान् कार्य के निर्वाह के लिए ही धारण किया था। उनकी आलोचनाओं का वास्तविक मूल्य उनके व्यक्तित्व में है। द्विवेदी जी ने आलोचनाशास्त्र पर कोई पोथा नहीं लिखा और न तो स्थूल और ठोस आलोचनात्मक ग्रन्थों ही की रचना की। युग ने उन्हें ऐसा न करने दिया। ऐसे ग्रन्थों के पढ़ने और समझने वाले ग्राहक ही नहीं थे। इसीलिए उनकी आलोचनाओं ने सरल पुस्तिकाओं और निबन्धों का ही रूप स्वीकार किया। उस समय केवल उपदेष्टा समालोचक की नहीं, क्रियात्मक और सुधारक समालोचक की अपेक्षा थी। इसीलिये समालोचक द्विवेदी सम्पादक के आसन पर बैठे थे। उनकी आलोचनाओं को उनके युगने उत्पन्न किया। उन्होंने अपने

युग को आत्मसात् किया था, इसीलिए उनकी आलोचनाओं में उनके व्यक्तित्व के अतिरिक्त उनका युग भी बोल रहा है। वह युग प्राचीन और नवीन के संघर्ष का था। नवीन के प्रति उत्कट औत्सुक्य होते हुए भी उसके मन में प्राचीन के प्रति दुर्दमनीय निष्ठा थी। वह नूतन गवेषणाओं को कुतूहलपूर्वक सुनकर उनकी तुलना में अपने पूर्व पुरुषों के ज्ञान-विज्ञान की भी जाँच कर लेना चाहता था। यह संघर्ष राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि सभी दिशाओं में व्याप्त था। द्विवेदी जी का आलोचक भी अपने युग का प्रतिनिधि है क्योंकि उसने अपनी आलोचनाओं में प्राच्य और पाश्चिमात्य दोनों ही पद्धतियों का समावेश किया है।

युग-निर्माता आलोचक द्विवेदी की प्रवृत्तियों के दो पक्ष हैं। एक ओर तो प्राचीन कवियों की आलोचना, उनकी विशेषता, प्राचीन और पाश्चात्य काव्यसिद्धान्तों का निरूपण आदि है। दूसरी ओर अस्तव्यस्तता, अनिश्चितता, दिशालक्ष्य-उद्देशशून्यता, अध्ययन, संकुचित दृष्टि, चिन्तन के अभाव, साहित्यसर्जन के लिए आपेक्षिक सच्चाई और नैतिकता की कमी, भाषा की निर्बलता, व्याकरण की अव्यवस्था, हिन्दीभाषियों की विदेशी प्रवृत्ति, मातृभाषा के प्रति निरादर, लोभ, सस्ती ख्याति, धन के लिए साहित्य-संसार में धाँधली आदि बातों को दूर कर हिन्दी-पाठकों के ज्ञानसंवर्द्धन का प्रयास है। द्विवेदी जी के समक्ष हिन्दी में आलोचना की कोई परम्परागत आदर्श प्रणाली नहीं थी। भूमिका में वर्णित आलोचनाएं नाममात्र की आलोचनाएं थीं। द्विवेदी जी को अपना मार्ग निश्चित करने में बड़ी कठिनाई हुई। उन्होंने हिन्दी का हित करने के लिए संस्कृत, बँगला, मराठी, अँगरेजी आदि के साहित्यों का कठोर अध्ययन और चिन्तन किया। हिन्दी-साहित्य ने भारतीय आलोचक की दोषवाचकप्रणाली की अवहेलना कर दी थी। हिन्दी के प्रथम वास्तविक आलोचक द्विवेदी में उसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। साहित्य का सुन्दर भवन बनने के पहले वहाँ का झाड़-झंखाड़ काट डालना आवश्यक था। निर्माता द्विवेदी की प्रारंभिक आलोचनाओं को युग की आवश्यकताओं ने स्वयं ही संहारात्मक बना दिया।

१८९६ ई० के आरम्भ में 'काशीपत्रिका' में द्विवेदी जी की 'कुमारसम्भव भाषा' की समालोचना प्रकाशित हुई। उसका अन्तिम भाग 'हिन्दोस्थान' में छपा। 'ऋतुसंहार भाषा' की समालोचना १८९७ ई० के नवम्बर से १८९८ ई० के मई तक 'वेंकटेश्वर-समाचार' में छपी। १९०१ ई० में जब 'हिन्दी कालिदास' की समालोचना प्रकाशित हुई तब उसमें 'मेघदूत' और 'रघुवंश' की समालोचनाएं भी जोड़ दी गईं। हिन्दी-साहित्य में किसी एक ही रचनाकार पर लिखी गई यह पहली आलोचना-पुस्तक थी। लाला सीताराम के अनुवादों ने महाकवि कालिदास के काव्य-सौन्दर्य पर पानी फेर दिया था। साहित्य-पुजारी आलोचक

का यह भी कर्तव्य था कि वह सर्वसाधारण को अनुवाद की निकृष्टता और कालिदास की कविता की उत्कृष्टता के विषय में सावधान कर देता। इन आलोचनाओं से यह सिद्ध है कि आलोचक द्विवेदी ने संस्कृत-काव्यों का सच्चाई के साथ अध्ययन किया है और उनकी आलोचनाओं के सिद्धान्त-पक्ष का आधार संस्कृत साहित्य है। 'कुमार संभव,' 'ऋतुसंहार,' 'मेघदूत' और 'रघुवंश' की आलोचनाओं के आरम्भ में क्रमशः 'वासवदत्ता' ('सुबन्धु') 'श्रीकंठचरित' और 'शृंगारतिलक' (अंतिम दो में) के श्लोक द्विवेदी जी ने उद्धृत किए हैं। 'शाखाचांक्रमण,' 'उपमा का उपमर्द' 'अर्थ का अनर्थ' 'भाव का अभाव' दोषों की यह प्रणाली भी संस्कृत की है। आलोचक का पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व सर्वत्रही व्यक्त है।

जनता को पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिए द्विवेदी जी ने सची और उचित आलोचना की। उस समय पत्र-पत्रिकाओं का नया युग था, पत्रों और पुस्तकों के नये पाठक तथा लेखक थे सभी की बुद्धि अपरिपक्व और सभी को पथप्रदर्शक की आवश्यकता थी। युग के सामयिक साहित्य की इस माँग को द्विवेदी जी ने स्वीकार किया। यही कारण है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ पत्रिकाओं के लेखरूप में ही प्रकाशित हुईं। वे सत्य की अभिव्यंजना करके उपेक्षा, निन्दा, अनादर, गाली आदि सभी कुछ सहने को प्रस्तुत थे। उनकी आलोचनाओं की प्रमुख विशेषता हिन्दी के प्रति पूजाभाव, असामयिकता, आराधना और तप में है। कोरा आलोचक होने और अपनी साधना के बल पर युग का मानचित्र परिवर्तित कर देने में कौड़ी-मुहर का-सा अन्तर है।

यह संयोग की बात थी कि द्विवेदी जी ने आलोचना का प्रारम्भ अनूदित ग्रन्थों से किया। भाषान्तर होने के कारण आलोचक द्विवेदी का सच्चा रूप उसमें निखर नहीं पाया। मूलग्रन्थों में वर्णित पात्र, स्थल, वस्तुवर्णन, शैली आदि को छोड़कर उन्हें यह देखना पड़ा कि मूल का पूरा पूरा अनुवाद हुआ है अथवा नहीं, कवि का भाव पूर्णतय तद्वत् आया है अथवा नहीं और भाषान्तर की भाषा दोषरहित तथा अनुवादक के अभीष्ट अर्थ की व्यंजक हुई है अथवा नहीं। उनका ध्यान भाषासंस्कार और व्याकरण की स्थिरता की ओर बरबस आकृष्ट हो गया। हिन्दी का कोई भी आलोचक एक साथ ही हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि साहित्यों का पंडित, सम्पादक, भाषासुधारक और युगनिर्माता नहीं हुआ। इसीलिए द्विवेदी जी अद्वितीय हैं। यही कारण है कि वे आज के समालोचक के द्वारा निर्धारित श्रेणी-विभाजन को स्वीकार करके अपनी आलोचनाओं को विशिष्ट वर्गों में प्रतिष्ठित न कर सके। यदि आधुनिक

समालोचक की कसौटी पर द्विवेदी जी की आलोचनाएं सोना नहीं जँचतीं तो इसमें द्विवेदी जी का कोई अपराध नहीं, वस्तुतः आलोचक की कसौटी ही गलत है। वह भ्रान्तिवश यह मान बैठा है कि आलोचनाएं प्रत्येक देशकाल में एक ही रूप और शैली ग्रहण करेंगी। वह इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि साहित्यिक समालोचना मौखिक या चित्रमय भी हो सकती है, टीका, भाष्य, सूक्ति, शास्त्रार्थ आदि का भी रूप धारण कर सकती है। वह अपने ही युग को अपरिवर्त्य और आप्त समझ कर दूसरे युग की भूमिका, आवश्यकताओं, व्यक्तियों और विशेषताओं को समझने में असमर्थ है।

द्विवेदी जी की आलोचनाओं में दो प्रकार के द्वन्द्व की परिणति है। एक तो बाह्य-जगत में नवीन और प्राचीन, पूर्व और पश्चिम का द्वन्द्व है और दूसरा अन्तर्जगत् में कटु सत्य तथा कोमल सहृदयता का द्वन्द्व है। इन्हीं संघर्षों के अनुरूप द्विवेदी जी की आलोचनाएं भी दो धाराओं में बंट गई हैं। एक धारा का उद्गम है सहृदयता और प्राचीनता के प्रति प्रेम जिसमें आलोचना का विषय संस्कृत-साहित्य है। दूसरी धारा नवीनता और सत्य के आकर्षण से निकली है जिसमें प्रायः सम्पादक और सुधारक द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य और उससे सम्बन्ध रखने वाली बातों पर आलोचनाएं की हैं। पूर्व और पश्चिम के समन्वित सिद्धान्तनिरूपण की तीसरी धारा भी कहीं कहीं दृष्टिगोचर हो जाती है। यद्यपि द्विवेदी जी की आलोचनाएं हिन्दी-पुस्तकों, 'हिन्दी कालिदास' और 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग' को लेकर प्रारम्भ हुई तथापि उनकी भूमिकारूप में द्विवेदी जी के मस्तिष्क में संस्कृत-साहित्य का अध्ययन उपस्थित था। यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

'कालिदास की निरंकुशता' कालिदास की मर्यादा का एक एकांगी चित्र है। उसकी रचना का उद्देश केवल मनोरंजन था। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल का निम्नांकित कथन विचारणीय है—

"द्विवेदी जी की तीसरी पुस्तक 'कालिदास की निरंकुशता' में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किए गए हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी वालों के या संस्कृत वालों के फायदे के लिए लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता।"[1]

जो वस्तु लाभ की दृष्टि से लिखी ही नहीं गई उसमें [illegible] आलोचना लेखक के प्रति अत्याचार है। ऐसे आलोचकों को सावधान करने के लिए ही द्विवेदी जी ने अपना

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ५२८

पुस्तक के आरम्भ में ही अनेक बार चेतावनी दे दी थी—"जिनके विचार हमारे ही ऐसे हैं उन्हीं का मनोरंजन हम इस लेख से करना चाहते हैं।....इसे आप केवल वाग्विलास समझिए। यह केवल आपका मनोरंजन करने के लिए है।"[१] प्रस्तुत पुस्तक के भाव संस्कृत-टीकाकारों के हैं पर उनकी उपस्थापनशैली द्विवेदी जी की है। कालिदास में द्विवेदी जी की अतिशय श्रद्धा होने पर भी इतना बवंडर उठा क्योंकि दोषदर्शन की प्रणाली हिन्दी-संसार के लिए एक अपरिचित वस्तु थी।[२]

संस्कृत-साहित्य का अध्ययन तथा परिचय कराने की भावना और मासिकपत्र के के लिए सामयिक निबन्ध लिखने की आवश्यकता ने द्विवेदी जी को 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' लिखने के लिए प्रेरित किया। इन आलोचनाओं में द्विवेदी जी ने संस्कृत-साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने और पश्चिमीय विद्वानों के अनुसन्धान द्वारा प्राप्त संस्कृतसम्बन्धी बातों से हिन्दी-संसार को परिचित कराने का प्रयास किया है। इन आलोचनाओं में द्विवेदी जी की दो प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। पहली यह कि उनका सिद्धान्तपक्ष संस्कृत-साहित्य पर ही नहीं आश्रित है अपितु उन्होंने पश्चिम के सिद्धान्तों पर भी विचार और स्वतन्त्र चिन्तन किया है। अतएव उनका आलोचना का प्रतिमान अपेक्षाकृत व्यापक, उदार और नवीन है। उनकी दूसरी प्रवृत्ति है कवि की कविता को सुन्दरतर बनाने की चेष्टा न करते हुए उसके उदाहरण पाठक के सामने रखकरके चुप हो जाना। सम्भवतः 'कविता के अच्छे नमूने' शीर्षक को देखकर ही शुक्ल जी ने आक्षेप किया है कि पंडितमंडली में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबी पर साधुवाद है। खरा सत्य तो यह है कि पद्य को गद्य में परिणत करके, काव्य को बुद्धिप्रधान आकार देकर, सौन्दर्य को तार्किकता और वाग्जाल का बाना पहना देने में ही आलोचना का चरम उत्कर्ष नहीं है। सीधी सादी उद्धरणप्रणाली या सामान्य अर्थव्यंजक टीकापद्धति की भी हमारे जीवन में आवश्यकता है और इसीलिए साहित्य में उनका भी महत्व है।

'आलोचनांजलि' स्वरूप और उद्देश में उपर्युक्त चर्चाओं से भिन्न है। यह सन १९०१ और १९१७ ई० के बीच लिखे गए निबन्धों का एक संग्रह है। प्रत्येक निबन्ध की अपनी विशेषता है। वे भिन्न भिन्न आवश्कताओं को ले कर लिखे गए हैं। उनकी बहुत कुछ समीक्षा विभिन्न पद्धतियों के सन्दर्भों में हो चुकी है। आगे चल कर जब द्विवेदी जी

---

१ 'कालिदास की निरंकुशता' पृ० ३।

२. इनकी चर्चा 'साहित्यिक संस्मरण' अध्याय में हो चुकी है।

ने 'रघुवंश' और 'किरातार्जुनीय' का अनुवाद किया तब कालिदास और भारवि पर आलोचनात्मक भूमिकाएँ भी लिखीं। इस प्रकार की भूमिका लिखने की प्रेरणा पश्चिमीय साहित्य के अध्ययन का फल जान पड़ती है। कालिदास पर हिन्दी में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई थी अतएव उन्होंने 'कालिदास और उनकी कविता' प्रकाशित की।[1] यह सन् १९०५ से लेकर १९१८ ई० तक लिखे गए निबन्धों का संग्रह है। अधिकांश लेख १९११-१२ ई० के हैं।

'कालिदास और उनकी कविता' का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के लिए उस युग को ध्यान में रख लेना होगा। उस समय पाठकों की दो कोटियां थीं। एक में तो साधारण जनता कालिदास से नितान्त अनभिज्ञ थी और दूसरी में वे पंडित थे जो 'कौमुदी के कीड़े' और 'महाभाष्य के मतंगज' थे। वे कालिदास का एक भी शब्दस्खलन नहीं सह सकते थे और उसे सही सिद्ध करने के लिए पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन की भी उक्तियों पर हरताल लगाने की चेष्टा करते थे।[2] समालोचकों और समालोचनाओं की दशा भी शोचनीय थी। यदि किसी सम्पादक ने किसी आलोचक की आलोचना अप्रकाशनीय समझ कर न छापी तो उसकी समालोचना होने लगी। यदि किसी पत्र ने किसी अन्य पत्र के साथ विनिमय नहीं किया तो सम्पादक पर ही वाग्बाणों की वर्षा होने लगी। फिर उस समालोचना में उसके घरद्वार, गाड़ी-घोड़े, नौकरचाकर, वस्त्राच्छादन तक की खबर ली जाने लगी।[3] पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई भारतीय पुरातत्वसंबन्धी खोज ने हिन्दी-जनता को भी आकृष्ट किया। ऐतिहासिक अनुसंधान के नवीन उपनयन को पाकर टुटपुँजिए समालोचकों ने कालिदासादि का कालनिर्णय करके यश लूट लेने का उपक्रम किया। इस क्षेत्र में भी पदार्पण करके अज्ञान का निरोध और ज्ञान का प्रचार करना द्विवेदी जी ने अपना कर्तव्य समझा। 'कालिदास और उनकी कविता' के आरंभिक बहत्तर पृष्ठ उनकी गवेषणात्मक और ठोस आलोचना के साक्षी हैं। इसमें उन्होंने अनेक प्राच्य और पाश्चिमात्य विद्वानों के मतों का उल्लेख, उनकी परीक्षा और और अपने मत की युक्तियुक्त स्थापना की है। 'नैषधचरितचर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' में द्विवेदी जी संस्कृत-साहित्य के ऐतिहासिक पक्ष के अन्वेषी होकर प्रकट हुए थे। प्रस्तुत पुस्तक में उनका वह रूप अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ है। आद्योपान्त ही सूक्ष्म अध्ययन और गंभीर चिन्तन की छाप है। 'कालिदास की दिखाई हुई प्रचीन भारत की एक झलक' में आलोचक द्विवेदी ने अतीत और वर्तमान की विशेषताओं को लेकर कालिदास की

---

१. 'कालिदास और उनकी कविता', निवेदन।
२. ,, ,, पृ० १२१।
३. ,, ,, ११२।

कविता में तत्कालीन समाज की विशेषताओं को निरखा है। 'कालिदास की वैवाहिकी कविता' 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल' और 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य' में द्विवेदी जी के सहृदय कविहृदय का प्रतिबिम्ब है। यह तीसरा निबन्ध तो द्विवेदी जी के हृदय का भी रहस्य है। इसमें प्रेमी-हृदय के विश्लेषण और व्याख्या के रूप में द्विवेदी जी ने अपने ही प्रेमी हृदय की अभिव्यक्ति की है। प्रेम के संसार से गहरा परिचय होने के कारण ही उनकी लेखनी से अनायास ही प्रेम की सुन्दर व्याख्याएँ निकल पड़ी हैं।[१] प्रेम की कठिनाइयों और कठोरताओं का भोगी होने के कारण ही उनका हृदय यक्ष के हृदय के समान अनुभूति कर सका है। प्रेम की अकथनीयता और प्रेमयोग को लेकर साहित्य में बहुत कुछ लिखा जा चुका है किन्तु सात्विकता, निर्मलता, अमायिकता और भोलेपन से ओतप्रोत द्विवेदी जी के प्रेमी हृदय का यह स्वर निराला है'।[२]

संस्कृत-साहित्य पर द्विवेदी जी के द्वारा की गई आलोचनाओं के मूल में तीन प्रधान कारण थे—पुरातत्वसम्बन्धी अनुसन्धान में निरत वह युग, रह रह कर अतीत की ओर देखने वाला द्विवेदी जी का व्यक्तित्व और अहिन्दी-काव्यों की आलोचना द्वारा हिन्दीलेखकों की दृष्टि व्यापक बनाने की बलवती आकांक्षा। संस्कृत को लेकर आलोचना की जो शृंखला द्विवेदी जी ने चलाई वह उन्हीं के साथ लुप्त हो गई। उनके विश्राम ग्रहण करने पर हिन्दी-आलोचकों के लोचनों में अनेक वादों का मद छा गया। इसकी समीक्षा 'युग और व्यक्तित्व' अध्याय में यथास्थान की जायगी। द्विवेदी जी की आलोचनाओं की धारा संस्कृत और हिन्दी के कूलयुग्म में बही है। संस्कृत-विषयों की आलोचना करते समय हिन्दी को और हिन्दी-विषयों की आलोचना करते समय संस्कृत को वे नहीं भूले हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' हिन्दी-पुस्तक की आलोचना होते हुए भी संस्कृत से प्रभावित है। यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। 'नैषधचरित', 'विक्रमांकदेवचरित', कालिदास आदि की आलोचनाएँ संस्कृत की होने पर भी हिन्दी के लिए लिखी गई हैं।

'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' का आरम्भ भर्तृहरि की 'अहो! कष्टं सापि प्रतिदिनमधोधः प्रविशति' पंक्ति से होता है। इस उक्ति में छिपी कष्टभावना उनकी सभी खंडनप्रधान आलोचनाओं के मूल में है। 'भाषादोष', 'कवितादोष', 'मनुस्मृतिप्रकरण-दोष', 'सम्प्रदायदोष', 'व्याकरणदोष', 'स्फुटदोष'—दोषदर्शन में ही पुस्तक की समाप्ति हुई है। द्विवेदी जी को इस बात का दुख है। हिन्दी पाठकों और लेखकों के कल्याण के लिए ही

१. 'कालिदास और उनकी कविता', पृ १३०, १३१, १३६, १३७, १३८।
२. ,, ,, ,, उपर्युक्त पृष्ठों के अतिरिक्त १२४, १२७, १२८, १२६, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४।

विवश होकर संहारात्मक आलोचना करनी पड़ी है। वे कहते हैं—"हम यह जानते हैं कि किसी कृति में दोष दिखलाना बुरा है। परन्तु जिससे सर्वसाधारण को हानि पहुँचती हो; ऐसे दोषों को प्रकाश करके उनको दूर करने की चेष्टा करना बुरा नहीं है। इस प्रकार का दोषाविष्करण यदि लाभदायक न होता तो हमारी न्यायशीला गवर्नमेंट पुस्तकों और राजकीय कार्यों की समालोचना की अपराधों की तालिका में गणना करके उसके लिए भी पेनलकोड में दंड निर्धारित करती। फिर जिस लेखक के दोष दिखलाए जाते हैं, वह यदि शान्तचित्त होकर विचार करे तो समालोचना से उसका भी लाभ ही होता है, हानि नहीं होती। ऐसे अनेक लोग हैं जो अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी योग्यता का पूरा पूरा विचार किए बिना ही पुस्तकें लिखकर ग्रन्थकार बनने का गर्व हाँकते हैं। अपने दोष अपने ही नेत्रों से उनको नहीं देख पड़ते। उन्हीं को क्या मनुष्यमात्र को अपने दोष प्रायः नहीं दिखाई देते। अतएव उनके दोष उनको दिखलाने के लिए दूसरे ही की अपेक्षा होती है।"[1]

द्विवेदी जी का महान् आलोचक ठोस आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन न कर सका। वह भाषासुधार, रुचिपरिष्कार और लेखकनिर्माण तक ही सीमित रह गया। उसने जान-बूझकर इन संकुचित सीमाओं को स्वीकार किया—युग की मांगों को पूरा करने के लिए। 'सरस्वती' उनकी इन आलोचनाओं का वाहन बनी। उसमें प्रकाशित सभी आलोचनात्मक लेखों की समीक्षा करना यहां कठिन है। 'समालोचना-समुच्चय', 'विचारविमर्श' और 'रसज्ञरंजन' में संकलित लेखों की संक्षिप्त आलोचना अवश्य अपेक्षित है। पहली पुस्तक को हम आधुनिक अर्थ में समालोचना का समुच्चय नहीं कह सकते। सामयिक पुस्तकों की परीक्षारूप में लिखे गए ये निबन्ध हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं हैं। परन्तु यह भी स्मरण रखने की बात है कि स्थायित्व और अमर यश ही आलोचना का एकान्त उद्देश नहीं है, साहित्यसर्जन भी कोई वस्तु है। इन आलोचनाओं का महत्व लेखकों और कवियों के उचित पथप्रदर्शन में है। द्विवेदी जी की पुस्तक-समालोचना की पद्धति इस पुस्तक के अन्तिम निबन्ध 'हिन्दी-नवरत्न' में अपने सुन्दरतमरूप में प्रकट हुई है। इसका अनुमान उसकी विषयसूची से ही हो जाता है।[2] मूलग्रन्थ से प्रायः ६४ उद्धरण देकर उसकी दोष-प्रधान, विस्तृत और अकाट्य समालोचना की गई है। आलोचक ने दोषों के परिष्कार

---

१. 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना', पृ० २।

२. उसकी विषय सूची इस प्रकार है—

पुस्तकसम्बन्धिनी साधारण बातें, लेखकों का विचार स्वातन्त्र्य, पुस्तक की उपादेयता, काल्पनिक चित्र, कवियों का श्रेणीविभाग, तुलसीदास, मतिराम, देव, बिहारीलाल, हरिश्चन्द्र, भाषादोष, शब्ददोष, फुटकर दोष, उपसंहार।

और साहित्य के सुधार के लिए अदम्यता के साथ पदन्यास किया है। उसकी आलोचना में आद्योपान्त ही तर्क, चिन्तन, और संयम से काम लिया गया है। इतिहासलेखक को जब जब बीसवीं शती ई० के प्रथम चरण के हिन्दी-साहित्य को देखने और समझने की आवश्यकता होगी तब तब द्विवेदी जी का यह 'समालोचनासमुच्चय' स्थायी साहित्य की निधि न होने पर भी अनुपेक्षणीय होगा।

'विचारविमर्श' में 'आधुनिक कविता', 'पुरानी समालोचना का एक नमूना', 'हिन्दी के समाचारपत्र', 'बोलचाल की हिन्दी में कविता', 'सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्तव्य', 'ठाकुर गोपाल शरण सिंह की कविता', 'भारतभारती का प्रकाशन' आदि कुछ ही निबन्ध आलोचनात्मक हैं। ये भी सामयिकता और पुस्तक-परिचय की सीमाओं में बंधे हुए हैं। आलोचना और मनोरंजकता के सुन्दर समन्वय के कारण 'रसज्ञरंजन' की विशेषता ही निराली है उसके रसज्ञ पाठकों की दो कोटियाँ-सी कर दी गई हैं। पहली कोटि में रसज्ञ कवि हैं जिनको लक्ष्य करके प्रथम पांच लेख लिखे गए हैं और दूसरी कोटि में रसज्ञ कविता-प्रेमी हैं जिनके मनोरंजनार्थ अन्तिम चार निबन्धों की रचना हुई है। संस्कृत से अनुप्राणित युगनिर्माता द्विवेदी का स्वर सर्वव्यापक है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' को जन्म देने का मुख्य श्रेय इसी संग्रह के 'कवियों की उर्मिलाविषयक उदासीनता'[१] निबन्ध को ही है।

आलोचक द्विवेदी का सच्चा स्वरूप उनकी कृतियों के कतिपय संग्रहों में नहीं है, वह उस युग के साहित्य के साथ एक हो गया है। उन्होंने आलोचना को तप के रूप में स्वीकार किया। उनकी संहारात्मक समीक्षाओं ने लेखकों को सावधान करके, भाषा को सुव्यवस्थित करके हिन्दी-साहित्य की ईदृक्ता और इयत्ता को उन्नत करने की भूमिका प्रस्तुत की, साहित्यिक जगत् में जागृति उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप आगे चलकर मननीय ठोस ग्रन्थों की रचना हो सकी। उनकी सर्जनात्मक सकर्मक आलोचनाओं ने मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्यकारों का निर्माण किया जिनके यशःसौरभ से हिन्दी-संसार सुवासित है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य में आधुनिक आलोचना की पद्धति चलाई। आलोचक द्विवेदी युग का निर्माण करने के लिए सम्पादक बने, भाषासुधारक बने, गुरु और आचार्य बने। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वे अपने समसामयिक आलोचकों—पद्म सिंह शर्मा, मिश्रबन्धु आदि—से अत्यधिक महान् हैं। सच तो यह है कि द्विवेदीजी जैसा—युगनिर्माता आलोचक हिन्दी-साहित्य में कोई नहीं हुआ।

---

१. यह निबन्ध रवीन्द्र नाथ ठाकुर के 'काव्य में उपेक्षिताएं' नामक निबन्ध पर आधारित है।

'रसज्ञरंजन' की भूमिका।

छठा अध्याय

निबन्ध

संस्कृत-साहित्य में 'निबन्ध' शब्द प्रायः किसी भी रचना के लिए प्रयुक्त हुआ है, तथापि उसमें भी निबन्धों की एक परम्परा थी जो भाष्य और टीका से आरम्भ होकर साहित्यिक धार्मिक, दार्शनिक आदि विषयों के विवेचन में परिणत हुई। उदाहरणार्थ पंडितराज जगन्नाथ का 'चित्रमीमांसा-खंडन' एक आलोचनात्मक निबन्ध ही है। आधुनिक हिन्दी-निबन्ध के रूप या शैली पर संस्कृत के निबन्ध का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा है। वर्तमान 'निबन्ध' शब्द अङ्गरेजी के 'एसे' का समानार्थी है। हिन्दी में गद्यभाषा तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के साथ ही निबन्धलेखन का आरम्भ हुआ। राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा साहित्यिक आदि विषयों पर जनता की ज्ञानवृद्धि की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति के लिए पश्चिमीय पत्रों के अनुकरण पर निबन्ध लिखे गए। लेखकों के साहित्यिक व्यक्तित्व की दुर्बलता, भाषा की अस्थिरता, पत्रपत्रिकाओं की आर्थिक दुर्दशा, अपेक्षित पाठकवर्ग की कमी आदि कारणों से द्विवेदी जी के पहले हिन्दी में निबन्धों की उचित प्रतिष्ठा न हो पाई और न उनके रूप और कला की ही कोई इयत्ता और ईदृक्ता ही निश्चित हो सकी। सम्पादक तथा पत्रकार के रूप में द्विवेदी जी ने संक्षिप्त, मनोरंजक, सरल तथा ज्ञानवर्द्धक निबन्धों की जो शक्तिशाली परम्परा चलाई उसने निबन्ध को हिन्दी-साहित्य का एक प्रमुख अंग बना दिया। द्विवेदी जी की भाषा और शैली अपने विभिन्न रूपों में विकसित होकर उस युग तथा भावी युग के निबन्धों की व्यापक भाषाशैली बन गई। हिन्दी-साहित्य के द्विवेदीयुगीन तथा परवर्ती निबन्धों की कलात्मकता और साहित्यिकता का निर्माण इसी भूमिका में हुआ।

लक्षण तथा परिभाषा बाद की वस्तुएं हैं। हिन्दी-निबन्धों के स्वरूप और विकास को समझने के लिए वर्तमान युग की पश्चिमीय परिभाषाएँ उधार लेने से काम नहीं चल सकता। हिन्दी में निबन्ध का न तो उतना विस्तृत इतिहास ही है और न उसका आरम्भ बेकन से ही हुआ है। निबन्ध की यह पश्चिमीय कसौटी कि वह व्यक्तित्व की मनोरंजक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है हिन्दी के लिए आप्त नहीं होसकती। यहाँ तो सीमित गद्यरचना में व्यक्त की गई सुसम्बद्ध विचार-परम्परा को ही निबन्ध मानना अधिक समीचीन जंचना

है। बातों का संग्रहण और अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान का संवर्द्धन ही इसके प्रमुख उद्देश रहे हैं। लेखक को जीवन अथवा जगत् की कुछ बातें सीधी सादी भाषा में कहनी थीं, उपलब्ध साधनों के द्वारा उन्हें जनता तक पहुँचाना था। इन बातों को ध्यान में रखकर जो वस्तु रची गई वह निबन्ध हो गई। अपनी बहुविधता, व्यापकता और सामयिकता के कारण ही निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में व्यंजना का सामान्य माध्यम बन गया। उसमें स्वतन्त्रता का अधिक अवकाश होने के कारण ही भारतेन्दु-और-द्विवेदी-युग के साहित्यकारों ने निबन्ध-लेखन की ओर अधिक ध्यान दिया। अधिकांश निबन्ध सामयिक विषयों पर निबद्ध होने तथा सामयिक पुस्तकों में प्रकाशित किए जाने के कारण सामयिकता से ऊपर न उठ सके। भारतेन्दु-और- द्विवेदी-युग के निबन्ध की विशेष महत्वपूर्ण देन है निबन्ध की निश्चित रीतिशैली। द्विवेदी जी के निबन्धों को प्रधानतः इसी ऐतिहासिक दृष्टि से परखना होगा। निबन्ध का वर्तमान मानदंड उनके निबन्धों की ईदृक्ता और इयत्ता को नापने के लिए बहुत छोटा गज है। उनके निबन्धों की गुरुता का उचित भावन करने के लिए उनके व्यक्तित्व, उद्देश, युग, उस युग की आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति के साधक उपायों तथा बाधक तत्वों आदि को ठीक ठीक समझने वाली व्यापक बुद्धि और सहृदय हृदय की अनिवार्य अपेक्षा है।

द्विवेदी जी के प्रारम्भिक प्रयासों में आलोचना और निबन्ध का समन्वय हुआ है। उद्देश की दृष्टि से ये कृतियां आलोचना होते हुए भी आकार की दृष्टि से निबन्ध की ही कोटि में हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' आदि निबन्ध सामयिक पत्रों में प्रकाशित हो जाने के पश्चात् संग्रहपुस्तक के रूप में जनता के समक्ष आए। 'नैषधचरितचर्चा और "सुदर्शन"[1], 'वामन शिवराम आपटे'[2], 'नायिका भेद'[3], 'कविकर्तव्य'[4],'महिषशतक की समीक्षा'[5] आदि निबन्ध निबन्धकार द्विवेदी के प्रारम्भिक काल के ही हैं। इन निबन्धों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि निबन्धकार द्विवेदी के निर्माण का प्रधान श्रेय आलोचक द्विवेदी को ही है।

'सरस्वती'-सम्पादक द्विवेदी को सम्पादकीय टिप्पणियाँ तो लिखनी पड़ीं ही साथ ही साथ लेखकों के अभाव की पूर्त्ति भी अपने निबन्धों द्वारा करनी पड़ी। इसका विस्तृत विवेचन 'सरस्वती'–सम्पादन अध्याय में किया जायगा। उपयुक्त लेखकों की कमी के कारण पत्रिकाओं

---

१. 'सरस्वती' १९०१ ई०, पृ० ३२१।
२. ,, १९०१ पृ० ७।
३. ,, ,, ,, १९५।
४. ,, ,, २३२।
५. 'सरस्वती,' १९०१ ई०, पृ० ३४५।

को बन्द हो जाना पड़ता था। द्विवेदी जी ने अपने अध्यवसाय तथा मनोयोग से 'सरस्वती' को सभी प्रकार के निबन्धों से सम्पन्न किया। निबन्धों के विषयों में अकस्मात् ही कितनी व्यापकता आगई, इसका बहुत कुछ अनुमान 'सरस्वती' की विषय-सूची से ही लग सकता है। द्विवेदी जी ने आख्यायिका, आध्यात्मिक विषय, वैज्ञानिक विषय, स्लथनगर-जात्यादिवर्णन साहित्यिक विषय, शिक्षा-विषय, औद्योगिक विषय आदि खंडों के अन्तर्गत अनेक प्रकार के निबन्धों की रचना की।

निबन्धकार द्विवेदी ने केवल आत्माभिव्यंजक और कलात्मक निबन्धों की सृष्टि न करके इतने प्रकार के विषयों पर लेखनी क्यों चलाई--इसका उत्तर निबन्धकार के व्यक्तित्व, युग की आवश्यकताओं, पाठक-वर्ग की रुचि की व्याख्या और इनके पारस्परिक सम्बन्ध के निर्देश द्वारा दिया जा सकता है। द्विवेदी जी के आलोचक, सुधारक, शिक्षक आदि ने ही इन निबन्धों के विषयों का बहुत कुछ निर्धारण किया है। इस व्यक्तित्व से अधिक महत्वपूर्ण उनका उद्देश ही है। अधिकांश निबन्धों की रचना पत्रकार द्विवेदी ने ही की है और उनका प्रधान उद्देश रहा है मनोरंजनपूर्वक 'सरस्वती'-पाठकों का ज्ञानवर्द्धन तथा रुचिपरिष्कार। कलात्मक अभिव्यक्ति कहीं भी उनकी निबन्धरचना का साध्य नहीं हो सकी है। अज्ञातरूप से अनायास ही जो आत्माभिव्यंजना द्विवेदी जी के निबन्धों में परिलक्षित होती है वह उनकी निबन्धकारिता की द्योतक है। उनकी अधिकांश समीक्षाओं, खंडनमंडन, वाद-विवाद आदि में इस निबन्धता का कलात्मक विकास नहीं हो पाया अन्यथा द्विवेदी जी के निबन्ध भी स्थायी साहित्य की अमूल्य निधि होते। सामयिकता की रक्षा, जनता के प्रश्नों का समाधान और समाज को गतिविधि देने के लिए मार्गप्रदर्शन--इससे प्रेरित होकर द्विवेदी जी ने विभिन्न विषयों पर रचनाएँ कीं। सम्पादक-द्विवेदी ने पुस्तकपरीक्षा विविध-वार्ता आदि संक्षिप्त निबन्ध-सरीखी रचनाएँ भी कीं। साहित्यिक निबन्ध के अर्थ में इन रचनाओं को निबन्ध नहीं कहा जा सकता।

मौलिकता की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों का मूल द्विविध है-सामयिक पत्रपत्रिकाएँ तथा पुस्तकें और स्वतन्त्र उद्भावनाएं। 'सरस्वती' को भारतीय तथा विदेशी पत्र-जगत् के समकक्ष रखने तथा हिन्दी-पाठकों के बौद्धिक विकास के लिए द्विवेदी जी ने अधिकाधिक संख्या में दूसरों का आशय लेकर अपनी शैली में निबन्धों की रचना की। उन पर द्विवेदी जी की छाप इतनी गहरी है कि वे अनुवाद प्रतीत ही नहीं होते। 'कवि और कविता', 'कविता', कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता'[1] आदि निबन्ध इसी श्रेणी के

१. ये निबन्ध 'रसज्ञ रंजन' में संकलित हैं।

हैं। दूसरी श्रेणी में वे निबन्ध हैं जिनके विषय तथा लेखन की प्रेरणा द्विवेदी जी को स्वतः प्राप्त हुई। यथा 'भवभूति'[१], 'प्रतिभा'[२], 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य'[३], 'साहित्य की महत्ता'[४] आदि। प्रायः इस प्रकार के निबन्धों की रचना प्रमुख व्यक्तियों के जीवन चरित, स्थानादिवर्णन, सभ्यता एवं साहित्य, आलोचना आदिको लेकर हुई। इस श्रेणी के निबन्धों में निबन्धकार द्विवेदी अपने शुद्धतम और उच्चतम रूप में प्रकट हुए हैं। आशयप्रधान अमौलिक निबन्धों की अपेक्षा इन निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की भी सुन्दरतर अभिव्यक्ति हुई है। सामयिकता एवं पत्रकारिता की दृष्टि से निबन्ध की इन दोनों ही श्रेणियों का महत्व समान है।

द्विवेदी जी के निबन्धों के व्यापक अध्ययन के लिए उनके प्रकारनिर्धारण की अपेक्षा है। शरीर की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्ध चार रूपों में प्रस्तुत हुए। पहला रूप पत्रिकाओं के लिए लिखित लेखों का है जिनके अनेक उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। दूसरे रूप में भूमिकाएँ हैं जो ग्रन्थों, ग्रन्थकारों या ग्रन्थ के विषय के परिचयरूप में लिखी गई हैं। 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय', 'स्वाधीनता' आदि की भूमिकाएँ निबन्ध की इसी कोटि में हैं। तीसरा रूप पुस्तकाकार प्रकाशित निबन्धों का है उदाहरणार्थ 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'नाट्यशास्त्र' आदि। चौथे रूप में वे भाषण हैं जो द्विवेदी जी ने अभिनन्दन, मेले, और तेरहवें साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर दिए थे। विषय की व्यापकता एवं अनेकरूपता के कारण इन निबन्धों को किसी एक विशिष्ट कोटिमें रखकर, किसी एकही विशिष्ट लक्षण से आँकना असम्भव है। उनके प्रकारनिर्धारण में विषय, शैली एवं उद्देश का समान हाथ रहा है। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों के आठ वर्ग किए जा सकते हैं—साहित्य, जीवनचरित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योगशिल्प, भाषा और अध्यात्म। साहित्यिक निबन्धों के भी अनेक प्रकार हैं—कविलेखक-परिचय, ग्रन्थपरिचय, समालोचना, शास्त्रीय विवेचन, सामयिक साहित्यावलोकन आदि। 'कविवर लछीराम',[५] 'पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र',[६] 'पंडित सत्यनारायण मिश्र',[७] 'मुग्धानलाचार्य',[८] 'बाबू अरविन्द घोष',[९] 'कविवर

---

१. 'सरस्वती,' जनवरी, १९०२ ई०।
२. ,, १९०२, ई०, पृ०, २६२।
३. 'कालिदास और उनकी कविता' में संकलित।
४. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन में स्वागताध्यक्षपद से दिए गए लिखित भाषण का एक अंश जो निबन्धरूप में स्वीकृत हो चुका है।
५. 'सरस्वती,' १९०५ ई०, पृ० १५४।
६. ,, ,, ४३४।
७. ,, १९०६ ८८।
८. ,, १९०७ २६७।
९. ,, १९२० ३२।

रवीन्द्र नाथ ठाकुर'[१] आदि निबन्ध कविलेखक-परिचायक हैं। 'सरस्वती' के ग्रन्थ-परिचय-खंड में प्रकाशित अनेक पुस्तक-समीक्षाएँ ग्रन्थ-परिचायक निबन्धों की कोटि में आएंगी। 'महिप-शतक की समीक्षा',[२] 'उर्दू शतक',[३] 'हिन्दी नवरत्न'[४] आदि निबन्ध आलोचना की कोटि के हैं। 'नायिका भेद',[५] 'कवि और कविता'[६] 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन',[७] 'हिन्दू-नाटक'[८] 'नाट्यशास्त्र',[९] आदि का विषय साहित्यशास्त्र है।

विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों का दूसरा वर्ग जीवनचरित है। प्राचीन एवं आधुनिक महापुरुषों से साधारण पाठकों को परिचित कराने और उनके चरित्र से उन्हें लाभान्वित करने के लिए इस प्रकार की सुन्दर जीवनियां लिखी गई। ये जीवनचरित चार प्रकार के व्यक्तियों को लेकर लिखे गए हैं-विद्वान् राजारईस, राजनीतिज्ञ और धर्मसमाजसुधारक। 'सुकविसंकीर्तन' तथा 'प्राचीन पंडित और कवि' विद्वानों पर लिखे गए निबन्धों के ही संग्रह हैं। 'हर्बर्ट स्पेंसर',[१०] 'गायनाचार्य पंडित विष्णु दिगम्बर'[११] आदि भी इसी प्रकार के निबन्ध हैं। 'महाराजा ट्रावनकोर',[१२] 'श्यामनरेश चूडालंकरण'[१३] आदि राजाओं पर लिखित निबन्ध हैं। 'कांग्रेस के कर्ता'[१४] सर हेनरी काटन',[१५] 'आदि राजनीतिज्ञों पर लिखेगए हैं। धर्मप्रचारकों एवं समाजसुधारकों पर द्विवेदी जी ने अपेक्षाकृत बहुत कम लिखा है। 'बौद्धाचार्य शीलभद्र',[१६] 'शास्त्रविशारद जैनाचार्य', 'श्रीविजयधर्म सूरि'[१७] आदि के विषय धार्मिक पुरुष हैं।

---

१. सरस्वती' १९१२ - १२५।
२. ,, १९०१ ३४४।
३. ,, १९०९ ३१।
४. ,, १९१२ ३०,६६।
५. ,, १९०१ १६५।
६. ,, १९०७ २७६।
७. ,, १९११ २८४।
८. ,, १९२० २४८।
९. १९०३ ई० में लिखित और १९१० ई० में पुस्तिकाकार प्रकाशित।
१०. 'सरस्वती', १९०६ ई०, पृ० २५५।
११. ,, १९०७ ३८६।
१२. 'सरस्वती', १९०७ ई०, पृ० ५०३।
१३. ,, ,, ५०९।
१४. ,, १९०५ ९६।
१५. ,, १९१५ 'विचार-विमर्श' में संकलित।
१६. ,, १९०८ अप्रिल।
१७ ,, १९११ जून।

वैज्ञानिक निवन्धों में आविष्कार और अनुसन्धान पर द्विवेदी जी ने अनेक रोचक निवन्ध लिखे। उनकी सम्पादित 'सरस्वती' में 'मंगल ग्रह तक तार',[१] 'रंगीन छायाचित्र',[२] 'कुछ आधुनिक आविष्कार'-[३] सरीखे निवन्धों की बहुलता है। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निवन्धों का चौथा वर्ग ऐतिहासिक निवन्धों का है। ये निवन्ध तीन प्रकार के हैं। 'भारतीय शिल्प शास्त्र',[४] 'विक्रमादित्य और उनके संवत् के विषय में एक नई कल्पना',[५] 'प्राचीन भारत में रसायन-विद्या'[६] आदि निवन्ध सामान्य ऐतिहासिक हैं। यह ऐतिहासिक निवन्धों का पहला प्रकार है। दूसरे प्रकार के ऐतिहासिक निवन्ध वे हैं जिनमें भारतीय वैभव, सभ्यता आदि का चित्रण किया गया है, यथा 'भारतवर्ष की सभ्यता की प्राचीनता',७ 'आर्यों की जन्मभूमि',८ 'प्राचीन भारत में जहाज'९ आदि। तीसरे प्रकार के ऐतिहासिक निवन्ध पुरातत्वविषयक हैं, उदाहरणार्थ 'सोमनाथ के मन्दिर की प्राचीनता',१० 'भारतवर्ष के पुराने खंडहर',११ 'शहरे बहलोल में प्राप्त प्राचीन मूर्तियां'१२ आदि।

विषय के आधार पर उनके पांचवें वर्ग के निवन्ध भौगोलिक हैं। ये दो प्रकार के हैं-एक तो भ्रमण--सम्बन्धी और दूसरे स्थल--नगर--आल्यादि-वर्णनमय। भ्रमण-सम्बन्धी निवन्धों में प्रायः दूसरों की कथा वर्णित है। 'व्योम-विहरण'१३ 'उत्तरी ध्रुव की यात्रा'१४ 'दक्षिणी ध्रुव की यात्रा'१५ आदि इस विषय के उदाहरणीय निवन्ध हैं। 'पेरिस'१६ जापान की स्त्रियां'१७

---

१. ,, १००६ पृ० २८५।
२. ,, १९१५ ३२।
३. ,, ,, १४९।
४. 'विचार-विमर्श', पृ० ८९, जुलाई, १९१२ई०।
५. ,, ९३।
६. 'सरस्वती', १९१५ ई०, अगस्त।
७. 'विचार-विमर्श', पृ० १६०
८. 'साहित्य-संदर्भ' पृ० ५१।
९. 'सरस्वती',१९१९ ई०, पृ० ३१०
१०. 'विचार-विमर्श',पृ० १०२।
११. ,, १०९।
१२ ,, १२७।
१३. 'सरस्वती', १९०५ ई०, पृ० ३१५,३४०।
१४. ,, १९०७ ७४।
१५ ,, १९०९ २६५।
१६. ,, १९२० २५१।
१७. ,, १९०५ ई०, जनवरी।

'उत्तरी ध्रुव की यात्रा और वहां की स्कीमों जाति'[1] आदि भौगोलिक निबन्ध दूसरे प्रकार के अन्तर्गत हैं। छठवें वर्ग के निबन्धों में उद्योग-शिल्प आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'खेती की बुरी दशा',[2] हिन्दुस्तान का व्यापार',[3] भारत में औद्योगिक शिक्षा'[4] आदि लेखों में प्रायः अन्य पत्रिकाओं, रिपोर्टों आदि के आधार पर उपयोगी बातें कही गई हैं। इनके मूल में भारत को औद्योगिक रूप में उन्नत देखने की उत्कट अभिलाषा सन्निहित है। इस वर्ग के निबन्धों में सामयिकता का सबसे अधिक समावेश हुआ है।

सातवें वर्ग के निबन्ध भाषा-व्याकरण आदि को लेकर लिखे गए हैं। साहित्यिक निबन्धों के अन्तर्गत इन्हें न समाविष्ट करने के दो प्रमुख कारण हैं-एक तो ये निबन्ध प्रधानतया भाषा से सम्बद्ध हैं और दूसरे व्याकरण की दृष्टि ही इनमें मुख्य है। इन निबन्धों की रचना का श्रेय भाषा-संस्कारक द्विवेदी को है। 'भाषा और व्याकरण',[5] हिन्दी नवरत्न'[6] आदि निबन्ध हिन्दी गद्यभाषा की व्याकरण-विरुद्ध उच्छृंखलगति को रोकने तथा उसके शुद्ध और व्याकरणसंगत रूप की प्रतिष्ठा करने की सदाकांक्षा से लिखे गए थे। उनके अन्तिम वर्ग के निबन्ध आध्यात्मिक विषयों से सम्बद्ध हैं। ये निबन्ध द्विवेदी जी की भक्तिभावना तथा आत्मजिज्ञासा के परिचायक हैं। आत्माभिव्यंजकता और कला की दृष्टि से इन निबन्धों का महत्वपूर्ण स्थान है। 'सरस्वती'-सम्पादन के पूर्व ही 'निरीश्वरवाद'[7] 'आत्मा',[8] 'ज्ञान'-[9] जैसे निबन्ध द्विवेदी जी लिख चुके थे। इसके पश्चात् तो 'ईश्वर',[10] 'आत्मा के अमरत्व का वैज्ञानिक प्रमाण',[11] 'पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष प्रमाण',[12] 'सृष्टि विचार',[13] 'परमात्मा की परिभाषा'[14] आदि आध्यात्मिक निबन्धों की

---

१. 'लेखांजलि' में संकलित।
२. 'सरस्वती', १६१८ ई०, पृ० ८।
३. ,, १६०७ ४११।
४. ,, १६१३ ६५।
५. ,, १६०५ ४२४ तथा 'सरस्वती', १६०६ ई०, पृ० ६०।
६. ,, १६१२ ६६।
७. ,, १६०१ ३११।
८. ,, ,, १७।
९. 'सरस्वती,' १६०१ ई०, पृ० १४।
१०. 'सरस्वती', १६०४ ई०, पृ० २७८, ३०२, ३५२, ३६२।
११. ,, १६०५ २३६।
१२. ,, ,, ४२१।
१३. ,, ,, १७१।
१४. ,, १६०६ ३२१।

उन्होंने एक शृंखला सी प्रस्तुत कर दी। उनके आध्यात्मिक निबन्धों का एक विशिष्ट प्रकार भारतीयभक्तिमूलक है और उसमें आत्मनिवेदन की प्रधानता है, यथा–'गोपियों की भगवद्भक्ति'[१]।

उद्देश की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों की दो कोटियाँ हैं–मनोरंजन–प्रधान और ज्ञानप्रधान। द्विवेदी–लिखित मनोरंजनप्रधान निबन्धों की संख्या अत्यन्त अल्प है। 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना',[२] 'कालिदास की निरंकुशता',[३] 'दमयंती का चन्द्रोपालम्भ'[४] आदि निबन्ध मनोरंजनप्रधान होते हुए भी ज्ञानवर्द्धन की भावना से सर्वथा शून्य नहीं हैं। वह तो द्विवेदी जी का स्थायी भाव है। द्विवेदी जी के प्रायः सभी निबन्ध पाठकों की ज्ञानभूमिका का विकास करने की मंगलकामना से अनुप्राणित हैं। इसी लिए मनोरंजन की अपेक्षा ज्ञानप्रसार का स्वर ही अधिक प्रधान है।

शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों की तीन प्रमुख कोटियां हैं–वर्णनात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक। यों तो द्विवेदी जी के सभी निबन्धों का उद्देश निश्चित विचारों का प्रचार करना रहा है और उन सभी में उन विचारों का न्यूनाधिक सन्निवेश भी हुआ है तथापि वर्णनात्मकता, भावात्मकता या चिन्तनात्मकता की प्रधानता के आधार पर ही इन तीन विशिष्ट कोटियों की भावना की गई है।

द्विवेदी जी के वर्णनात्मक निबन्धों के चार विशिष्ट प्रकार हैं–वस्तुवर्णनात्मक, कथात्मक, आत्मकथात्मक और चरितात्मक। वस्तुवर्णनात्मक निबन्ध प्रायः भौगोलिक स्थल-नगर-जात्यादि या ऐतिहासिक स्थानों, इमारतों आदि पर लिखे गए हैं, उदाहरणार्थ 'नेपाल',[५] 'मलाबार',[६] 'सांची के पुराने स्तूप',[७] 'बनारस' आदि। 'अतीत–स्मृति,' 'दृश्यदर्शन,' 'प्राचीन चिन्ह' आदि इसी प्रकार के निबन्धों के संग्रह हैं। द्विवेदी जी के अधिकांश कथात्मक निबन्धों में 'श्रीमद्भागवत', 'कादम्बरी' या 'कथासरित्सागर' की-सी कथा नहीं है। केवल कथा की शैली में घटनाओं, तथ्यों, संस्थाओं, यात्राओं आदि का वर्णन किया गया है, यथा–

---

१. 'समालोचना-समुच्चय', पृ० १।
२. 'सरस्वती,' १९११ ई०, एप्रिल।
   ,, ,, मई।
   ,, ,, जून।
३. 'सरस्वती,' १९११ ई०, पृ० ७, ४७, १०७
४. साहित्य-सन्दर्भ' में संकलित।
५. 'दृश्यदर्शन' में संकलित।
६. ,, ,,
७. 'प्राचीन-चिन्ह' में संकलित।

'व्योमविहरण',[१] 'अद्‌भुत इन्द्रजाल'[२] आदि। 'लेखांजलि' 'महिलामोद' और 'अद्‌भुत आलाप' में संकलित अधिकांश निबन्ध इसी प्रकार के हैं। आधुनिक कहानियों का-सा वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण आदि न होने के कारण ये निबन्ध कहानी की कोटि में नहीं आ सकते। द्विवेदी जी के कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें वस्तुतः कथा का-सा प्रवाह और सारस्य है, यथा-'हंस-सन्देश',[३] 'हंस का दुस्तर दूत-कार्य'[४] आदि। इनमें न तो कहानी की विशेषताएँ हैं और न भावात्मक निबन्धों की। अपनी वर्णनात्मक शैली और कथाप्रवाह के कारण ही ये कथात्मक निबन्ध हैं। आत्मकथात्मक निबन्ध की विशिष्टता है वर्णित पात्र द्वारा उत्तम पुरुष में ही अपनी कथा का उपस्थापन। भावात्मकता का बहुत कुछ पुट होने पर भी अपनी इसी विशेषता के कारण यह भावात्मक निबन्ध की कोटि में नहीं रखा जा सकता। 'दंडदेव का आत्म-निवेदन'[५] इस शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें दंडदेव के मुख से ही उनके संक्षिप्त चरित का वर्णन कराया गया है।

द्विवेदी जी के चरितात्मक निबन्ध विशेष महत्व के हैं। हिन्दी साहित्य के प्राग्द्विवेदी-युगों में संक्षिप्त जीवनचरित लिखने की कोई निश्चित प्रणाली नहीं थी। प्रबन्ध-काव्यों में नायकों के चरित अंकित किए गए थे। वैष्णवों की वार्ताओं में धार्मिक महापुरुषों के वृत्तों का संकलन किया गया था किन्तु उनमें ऐतिहासिक सत्य और कला की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यद्यपि द्विवेदी जी के पूर्व भी 'सरस्वती' में अनेक संक्षिप्त जीवनचरित प्रकाशित हुए[६] तथापि उनकी कोई निश्चित परम्परा नहीं चली। द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य की इस कमी का अनुभव किया। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य के संक्षिप्त जीवनचरितों के ढंग पर हिन्दी में भी जीवनचरित-रचना की परिपाटी चलाई। उन्होंने नियमित रूप से 'सरस्वती' में निबन्धों का प्रकाशन किया। 'चरितचर्या', 'चरितचित्रण', 'वनिता-विलास', 'सुकवि-संकीर्तन', 'प्राचीन पंडित और कवि' आदि जीवनचरितों के ही संग्रह हैं। उनके इस क्रम के दो उद्देश थे—एक तो मनोरंजन और दूसरा उपदेश,[७]। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अधिकांश जीवनचरित सम्पादक द्विवेदी के लिखे हुए हैं। पत्रपत्रिकाओं के उस

---

१. 'सरस्वती', १९०५ ई०, पृ० ६२।
२. ,, १९०६ ई० जनवरी।
३. ४. 'रसज्ञ-रंजन' में संकलित।
५. 'लेखांजलि' में संकलित।
६. यथा-'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'-राधाकृष्ण दास-'सरस्वती', १९०० ई०, प्रथम ५ संख्याएं।
'राजा लक्ष्मण सिंह-किशोरी लाल गो० ,, ,, पृ० २०५, २३६।
'रामकृष्णगोपालभंडारकर'-श्यामसुन्दर दास ,, ,, २८०।
७. 'इनमें शिक्षाग्रहण करने की बहुत कुछ सामग्री है। परन्तु यदि इनसे विशेष लाभ

उपेक्षाकाल में उन्हें मनोरंजक बनाने की उतनी ही आवश्यकता थी जितनी ज्ञानवर्द्धक बनाने की। इन जीवनचरितों को भी द्विवेदी जी ने 'सरस्वती'पाठकों के मनोरंजन का साधन समझा। अनुकरणीय व्यक्तियों के चरितों के चित्रण द्वारा पाठकों की बुद्धि और चरित्र के विकास का विचार भी स्वाभाविक और संगत था। कला की दृष्टि से इन निबन्धों की कुछ विशेषताएं अवेक्षणीय हैं। द्विवेदी जी ने उन्हीं व्यक्तियों के चरित पर लेखनी चलाई है जिनसे कुछ लोककल्याण हुआ है और जिनके चरित को पढ़कर पाठकों का कल्याण हो सकता है। लोगों का प्रलोभन और प्रभाव उन्हें अयोग्य व्यक्तियों का चरित अंकित करने और उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिए बाध्य न कर सका। इसकी विस्तृत समीक्षा 'सरस्वती–सम्पादन' अध्याय में की जायगी। इन निबन्धों की दूसरी विशेषता यह है कि ये बहुत ही संक्षिप्त हैं। इनमें पात्रों के जीवन की उन्हीं बातों का संग्रह किया गया है जो उनके परिचय और चरित्रचित्रण के लिए आवश्यक तथा पाठकों की रुचि को परिष्कृत, भावों को उद्दीप्त एवं बुद्धि को प्रेरित करने में समर्थ प्रतीत हुई हैं। इनकी सर्वोपरि विशेषता यह है कि लेखक अपने भावन और अभिव्यंजन में सर्वत्र ही ईमानदार है। उसे हिन्दीपाठकों के हिताहित का इतना ध्यान है कि अनुचित पक्षपात और मिथ्या को इन निबन्धों में कहीं अवकाश नहीं मिला है।

शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों की दूसरी कोटि भावात्मक है। इन निबन्धों में लेखक ने मधुमती कविकल्पना या गम्भीर विचारकमस्तिष्क का सहारा लिए बिना ही वर्ण्य विषय के प्रति अपने भावों को अबाध गति से व्यक्त किया है। इन भावात्मक निबन्धों की प्रमुख विशेषता यह है कि उच्च कोटि के कवित्व और मननीय वस्तु का अभाव होते हुए भी इनमें किसी अंश तक काव्य की रमणीयता और विचारों की अभिव्यक्ति एक साथ है। कवित्व या विचारों की सापेक्ष प्रधानता के कारण ही इनके दो प्रकार हैं–कवित्व-प्रधान और विचार-प्रधान। मौलिकता की दृष्टि से कवित्व-प्रधान निबन्ध दो प्रकार के हैं। 'अनुमोदन का अन्त',[1] 'सम्पादक की विदाई'[2] आदि मौलिक निबन्ध हैं जिनमें द्विवेदी जी

उठाने का विचार छोड़ भी दिया जाय तो भी इनके अवलोकन से घड़ी दो घड़ी मनोरंजन तो अवश्य ही हो सकता है। शिक्षा, सदुपदेश और सुसंगति से स्त्रियाँ अनेक अभिनन्दनीय गुणों का अर्जन कर सकती हैं, यह बात भी पाठकों और पाठिकाओं के ध्यान में आए बिना नहीं रह सकती।

महावीर प्रसाद द्विवेदी,
'वनिता-विलास' की भूमिका।

१. 'सरस्वती', १६०५ ई०, पृ० ५७।
२. ,, भाग २२, खंड १, संख्या १, पृ० १।

ने अपनी ही मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। 'महाकवि माघ का प्रभात वर्णन',[1] 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ'[2] आदि अमौलिक निबन्ध हैं जिनमें क्रमशः 'शिशुपालवध' और 'नैषधीयचरित' के अंशानुवादरूप में भावनिबन्धना की गई है। विचारप्रधान भावात्मक निबन्ध भावोद्दीपक के समान ही विचारोत्तेजक भी हैं। इस प्रकार के निबन्धों में 'कालिदास के समय का भारत',[3] 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल',[4] 'साहित्य की महत्ता'[5] आदि विशेष उदाहरणीय हैं। भावात्मक निबन्धों की रीति संस्कृतशब्दबहुल तथा शैली वक्तृतात्मक और कहीं कहीं चित्रात्मक या संलापात्मक भी है। कवित्वप्रधान भावात्मक निबन्धों में माधुर्य और विचारप्रधान भावात्मक निबन्धों में ओज की प्रधानता है।

चिन्तनात्मक निबन्धों में मननीय विषयों का गम्भीर विवेचन किया गया है। शैली की दृष्टि से इन निबन्धों के तीन मुख्य प्रकार हैं—व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक और तार्किक। व्याख्यात्मक निबन्धों में लेखक ने पाठकों को विस्तृत विवेचन द्वारा किसी विषय से भली-भाँति अवगत कराने का प्रयास किया है। ये निबन्ध मनोविज्ञान, अध्यात्म, साहित्य आदि अनेक विषयों पर लिखे गए हैं। 'आत्मा',[6] 'ज्ञान',[7] 'कविकर्तव्य',[8] 'कविता',[9] 'कवि और कविता',[10] 'प्रतिभा',[11] 'नाट्यशास्त्र'[12] आदि विचारात्मक निबन्धों के इसी प्रकार के अन्तर्गत हैं। 'आध्यात्मिकी' व्याख्यात्मक आध्यात्मिक निबन्धों का ही संग्रह है। द्विवेदी जी के समस्त निबन्धों में उनके आलोचनात्मक निबन्धों का स्थान सबसे ऊंचा है क्योंकि वे ही युगनिर्माता द्विवेदी के व्यक्तित्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति करते हैं। ये निबन्ध आलोचना की छः विभिन्न पद्धतियों पर लिखे गए हैं और तदनुसार उनकी रीतिशैली भी विभिन्न प्रकार की है। इसकी विस्तृत विवेचना 'आलोचना' अध्याय के अन्तर्गत की गई है। चिन्तनात्मक निबन्धों का तीसरा प्रकार तार्किक है। तार्किक निबन्धों में

---

१. 'साहित्य-सन्दर्भ' में संकलित।

२. ,, ,, ,,

३. ४. 'कालिदास और उनकी कविता' में संकलित।

५. तेरहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर स्वागताध्यक्ष-पद से द्विवेदी जी के भाषण का एक भाग।

६. 'सरस्वती', १९०१ ई०, पृ० १७।

७. ,, ,, ,, ६३।

८. ९. १०. 'रसज्ञरंजन' में संकलित।

११. 'सरस्वती', १९०२ ई०, पृ० २६२।

१२. १९०३ ई० में लिखित और १९१० ई० में पुस्तिकाकार प्रकाशित।

प्रमाण और न्याय के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का ठोस उपस्थापन किया गया है। उद्देश की दृष्टि से इसके भी दो प्रकार हैं। एक तो वादविवादात्मक निबन्ध हैं जिनमें अपनी बात को पुष्ट और विपक्षियों की बात को खंडित करने के लिए तर्क का सहारा लिया गया है, उदाहरणार्थ–'नैषधचरितचर्चा और 'सुदर्शन',[1] 'महिषशतक की समीक्षा',[2] 'भाषा और व्याकरण'[3] आदि। इस शैली का सुन्दरतम निबन्ध द्विवेदी जी का वह लिखित 'वक्तव्य' है जिसे उन्होंने नागरी–प्रचारिणी–सभा के पास भेजा था और जिसके परिवर्द्धित रूप में 'कौटिल्यकुठार'[4] की रचना की थी। दूसरे प्रकार के चिन्तनात्मक निबन्ध गवेषणात्मक हैं जिनमें उपर्युक्त प्रकार का कोई विवाद कारण नहीं है और जिनमें अपने कथन की पुष्टि के लिए सप्रमाण तथा न्यायसंगत शैली अपनाई गई है, यथा–'राजा युधिष्ठिर का समय',[5] 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति[6]', 'कालिदास का समयनिरूपण',[7] 'कालिदास का स्थितिकाल'[8] आदि।

द्विवेदी जी की निबन्धगत भाषा, रचनाशैली और व्यक्तित्व भी विवेचनीय हैं। भाषा की रीतियों और शैलियों की विस्तृत समीक्षा आगे चलकर 'भाषा और भाषासुधार' अध्याय में की गई है। वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी-गद्य के शब्दसंकलन की सभी रीतियों और भावाभिव्यंजन की सभी प्रणालियों का यथावसर प्रयोग किया है जो उनकी रचनाओं में अविकसित होती हुई भी उनके युग की रीतिशैलियों की भूमिका हैं। उनकी रचनाशैलीगत विशेषताओं का अध्ययन दो प्रकार से सम्भव है— वस्तुस्थापन की दृष्टि से और अभिव्यक्ति-प्रणाली की दृष्टि से। वस्तूपस्थापन में भी दो बातें विशेष आलोच्य हैं प्रारम्भ करने की शैली और समाप्त करने की शैली। प्रारम्भ करने के लिए अनेक शैलियों का प्रयोग करके द्विवेदी जी ने पिष्टपेषण की एकरसता को दूर रखा है। विषयानुसार और सुविधानुसार उन्होंने निबन्ध की प्रारम्भिक

---

१. 'सरस्वती', १६०० ई०, पृ० ३२१।
२. ,, १६०१ ३४५।
३ 'सरस्वती', १६०६ ई०, पृ० ६०।
४ अप्रकाशित वक्तव्य काशी-नागरी- प्रचारिणी-सभा के कार्यालय और अप्रकाशित 'कौटिल्य-कुठार' उक्त सभा के कलाभवन में रक्षित हैं।
५. 'सरस्वती', १६०५ ई०, जून।
६. १६०७ ई० में पुस्तिकाकार प्रकाशित।
७. सरस्वती', १६१२ ई०, पृ० ४६१।
८. ,, १६११ ई०, फरवरी।

भूमिका अनेक प्रकार से प्रस्तुत की है। सबसे प्रचलित तथा सरल शैली कथात्मक है।[१] कहीं पर आत्मनिवेदन-सा करते हुए विषय की प्रस्तावना की गई है।[२] कहीं मूल लेखक के विषय में ज्ञातव्य बातों का कथन करते हुए उन्होंने निबन्ध का प्रारम्भ किया है,[३] कहीं पर निबन्ध का प्रारम्भ तद्गत सुन्दर वस्तु से ही हुआ है,[४] कहीं प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध किसी सामान्य तथ्य का उद्घाटन ही निबन्ध की भूमिका के रूप में आया है,[५] कहीं निबन्ध को अधिक संवेदनात्मक बनानेके लिए भावप्रधान संबोधन द्वारा उसका आरम्भ किया गया है[६] और कहीं अध्यापक के स्वर में शीर्षक या विषय के स्पष्टीकरण के द्वारा ही निबन्ध की प्रस्तावना की गई है।[७] निबन्ध को समाप्त करना अपेक्षाकृत सुगम है। उसकी समाप्ति में

---

१. यथा-'श्रीहर्ष का कलियुग'—

"नैषधचरित नामक महाकाव्य की रचना करनेवाले श्रीहर्ष को हुए कम से कम आठ सौ वर्ष हो गए। वे कन्नौजनरेश जयचन्द के समय विद्यमान थे।…"

—'सरस्वती,' मार्च, १९२१ ई०।

२. यथा-'वैदिक देवता'—

"हम वैदिक संस्कृत नहीं जानते। अतएव वेद पढ़कर उनका अर्थ समझ सकने की शक्ति भी नहीं रखते। वेद हमने किसी वेदज्ञ विद्वान से भी नहीं पढ़े।"

—'साहित्यसन्दर्भ,' ३७।

३. यथा-'आर्यों की जन्मभूमि'—

"पूने में नारायण भवानराव पावगी नाम के एक सज्जन हैं। आप पहले कहीं सब जज थे।…"

—'सरस्वती,' अक्टूबर, १९२१ ई०।

४. यथा—'महाकवि माघ का प्रभातवर्णन'—

'रात अब बहुत ही थोड़ी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। जरा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिए।…"

—'साहित्य सन्दर्भ,' पृ० १०४।

५. यथा-'जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमांजलि'—

'जिनके हृदय कोमल हैं, अर्थात् अलंकार शास्त्र की भाषा में जो सहृदय हैं उन्हीं को सरस काव्य के आकलन से आनन्द की यथेष्ट प्राप्ति हो सकती है।"

—'सरस्वती,' अगस्त, १९२२ ई०।

६. यथा-'प्राचीन भारत की एक झलक'—

"भारत क्या तुम्हें कभी अपने पुराने दिनों की बात याद आती है?……"

—'सरस्वती,' दिसम्बर, १९२८ ई०।

७. यथा-'कविकर्तव्य'—

"कविकर्तव्य से हमारा अभिप्राय हिन्दी कवियों के कर्तव्य से है।"

—'सरस्वती,' १९०१ ई०, पृ० २३२

निबन्धकार कला का समावेश भी उचित रीति से सहज ही कर सकता है। द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध को समाप्त करने में गहरी कलात्मकता का परिचय दिया है। कहीं तो विवादग्रस्त विषय पर अपना मत देकर वे पाठक से विचार करने का अनुरोध करके मौन हो गए हैं,[1] कहीं विषय के निरूपण के साथ ही निबन्ध को समाप्त कर दिया है,[2] कहीं उपदेशक की सीधी सादी भाषा में प्रार्थना, अभिलाषा आदि की अभिव्यक्ति के द्वारा उन्होंने निबन्ध की समाप्ति की है[3] और कहीं उनके निबन्धों का अन्त किसी सुभाषित उद्धरण आदि के द्वारा हुआ है।[4] आकस्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से ऐसा अन्त अत्यन्त ही सुन्दर बन पड़ा है। अध्ययनशील द्विवेदी जी के अनेक सुन्दर निबन्धों की समाप्ति प्रायः इसी प्रकार हुई है।

व्यक्तित्व की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों का अध्ययन कम महत्वपूर्ण नहीं है।

---

१. यथा–'भारतभारती का प्रकाशन'

आशा है पाठक इसे लेकर एक बार इसे साद्यन्त पढ़ेंगे और पढ़ चुकने पर —

'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी।"
मिलकर विचारेंगे हृदय से ये समस्याएं सभी॥"

--विचार-विमर्श,' पृ० १६६।

२. यथा-'महाकवि माघ की राजनीति'—

"अतएव इन्द्रप्रस्थ चलने और वहीं युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल को मारने का निश्चय हुआ।"

— सरस्वती,' फरवरी, १६२२ ई०।

३. यथा-'जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमांजलि'—

"जगद्धर की तरह भगवान् भाव से हम भी कुछ कुछ ऐसी ही प्रार्थना करके 'स्तुति-कुसुमांजलि' 'की करुण कथा से विरत होते हैं।"

—'साहित्यसन्दर्भ,'पृ० १४६।

४. क. यथा–'उपन्यास-रहस्य'—

"दूकानदारी ही क कुत्सित कामना से जो लोग, पाठकों को पशुवत् समझ कर, घासपात सदृश अपनी बेसिरपैर की कहानियाँ उनके सामने फेंकते हैं—

ते के न जानीमहे।"

—'साहित्यसन्दर्भ,' पृ० १७३।

ख. यथा–'विवाहविषयक विचारव्यभिचार'—

"पर केवल अधिकारी जन ही उस पर कुछ कहने का साहस कर सकते हैं। हम नहीं। हमारी तो वहाँ तक पहुंच ही नहीं—

जिहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥"

—'साहित्यसन्दर्भ,' पृ० ८०।

निबन्धकार द्विवेदी का व्यक्तित्व उनके सभी निबन्धों में आद्योपान्त ही स्थिर एवं गतिशील है। इस विरोधाभास की व्याख्या अपेक्षित है। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की स्थिरता उनके उद्देश की स्थिरता में है। उनकी निबन्धरचना का उद्देश निश्चित है--पाठकों का मनोरंजन और उनका बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास करना। इस सम्बन्ध में उनके विचार भी निश्चित हैं—भारतीयों को अपनी भाषा, साहित्य, धर्म, देश, सभ्यता और संस्कृति के प्रति प्रेम तथा उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करना चाहिए। पाठकों में उत्थान और प्रेम की भावना भरने का यह भाव द्विवेदी जी के सभी निबन्धों में समवेततया असमवेत रूप से व्याप्त है। उनके व्यक्तित्व की गतिशीलता इस भाव की अभिव्यजनाशैली में है। प्रस्तुत उद्देश की पूर्तिके लिए उन्हें आवश्यकतानुसार आलोचक, सम्पादक, भाषा-संस्कारक आदि के विभिन्न पदों से संग्राम करना पड़ा है। आवश्यकतानुसार उन्हें वर्णनात्मक, व्यग्यात्मक, चित्रात्मक, वक्तृतात्मक, संलापात्मक, विवेचनात्मक या भावत्मकशैली में वर्णनात्मक, भावात्मक या चिन्तनात्मक निबन्धों की सृष्टि करनी पड़ी है।

पाश्चात्य निबन्धकारों की भाँति द्विवेदी जी का व्यक्तित्व उनके निबन्धों में विशेषस्फुट नहीं हो सका है। इसका एक प्रधान कारण है। पश्चिम के व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध का लेखक स्वयं ही अपने निबन्धों का केन्द्र रहा है। द्विवेदी जी की अवस्था इसके ठीक विपरीत है। अनुमोदन का अन्त, अभिनन्दन, मेले और सम्मेलन के भाषण, सम्पादक की विदाई आदि कतिपय आत्मनिवेदनात्मक निबन्धों को छोड़कर अपने किसी भी निबन्ध में द्विवेदी जी ने अपने को निबन्ध का केन्द्र नहीं माना है। पाठक ही उनके निबन्धों का केन्द्र रहा है। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को उसी के लाभालाभ की दृष्टि से देखा है। ऐसी दशा में द्विवेदी जी के निबन्धों का व्यक्तिवैचित्र्य से विशेष विशिष्ट न होना सर्वथा अनिवार्य था। मनोरंजकता तथा काव्यात्मकता को जब द्विवेदी जी ने ही गौण स्थान दिया है तब उसे ही प्रधान मान कर उनके निबन्धों की विशेषताओं की सच्ची परीक्षा नहीं की जा सकती। व्यक्तिवैचित्र्य तो व्यक्तित्व का संकुचित अर्थ है। उसका व्यापक एवं उचित अर्थ है व्यक्ति की प्रवृत्तियां, विशेषताओं तथा गुणों का एक सांघातिक स्वरूप। इस दूसरे अर्थ में द्विवेदी जी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व से व्याप्त हैं।

यह तो निबन्धकार द्विवेदी के व्यक्तित्व के अव्यक्त पक्ष की बात हुई। उनके व्यक्तित्व का सुव्यक्त पक्ष भी है जो उनके कलात्मक निबन्धों में स्पष्टतया प्रकट हुआ है। इसकी अभिव्यंजना दो रूपों में हुई है—सहृदयता के रूप में और भक्तिभावना के रूप में। पहले में कवि द्विवेदी का रूप स्पष्ट हुआ है और दूसरे में भक्त एवं दार्शनिक द्विवेदी का। 'मेघदूत रहस्य', 'हंस का नीर-क्षीर-विवेक', 'सम्पादक की विदाई' आदि निबन्ध द्विवेदी

जी के सहृदय कवि-हृदय की अभिव्यक्ति करते हैं। 'जगद्धर भट्ट-की स्तुति कुसुमांजलि', 'गोपियों की भगवद्भक्ति' आदि निबन्ध उनके भक्त हृदय के व्यंजक हैं। व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष रूप से अनुप्राणित निबन्ध द्विवेदी जी ने बहुत कम लिखे। युग की आवश्यकताओं ने उन्हें वैसा न करने दिया।

द्विवेदी जी की निबन्धकारिता स्वतन्त्ररूप से विकसित नहीं हुई-यह एक सिद्ध तथ्य है। उसे आलोचक, सम्पादक, भाषासुधारक आदि ने समय समय पर आक्रान्त कर रखा था, अतएव उसका पूर्ण विकास न हो सका। साथ ही उस युग का पाठक उस साधारण स्तर से ऊपर की वस्तु स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। निबन्ध की कलात्मकता एवं साहित्यिकता पाठक तथा निबन्धकार के सहयोग पर ही अवलम्बित है। केवल स्थायित्व की दृष्टि से द्विवेदी जी के सभी निबन्धों की परीक्षा करना अनुचित है। उनकी रचना मुख्यतः सामयिक प्रश्नों के समाधान के लिए की गई थी। शुद्ध कला की दृष्टि से ऐसे सामयिक निबन्धों का मूल्य बहुत कम है। तो फिर बातों के संग्रह कहे जाने वाले द्विवेदी जी के इन निबन्धों का हिन्दी-साहित्य में स्थान क्या है?

यहां आलोचना और आलोचक के विषय में भी एक बात कहना आवश्यक हो गया। सौन्दर्यमूलक आलोचना ही आलोचना नहीं है। इतिहास और रचनाकार की जीवनी आदि यदि अधिक नहीं तो सौन्दर्य के समान ही महत्वपूर्ण हैं। सौन्दर्य की ईदृक्ता देशकालानुसार परिवर्तनशील है। इसलिए आज की सौन्दर्यकसौटी पर कल की वस्तु को भद्दी और रद्दी कहना न्यायसंगत नहीं जँचता। आज की कसौटी पर भी द्विवेदी जी के 'प्रतिभा,' 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति,' 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य,' 'कालिदास का स्थितिकाल', 'साहित्य की महत्ता' आदि निबन्ध सोलहों आने खरे उतरते हैं। ये हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि हैं। आप्त आलोचक बनने के लिए केवल ज्ञान की ही नहीं सहृदयता की भी अपेक्षा है। निबन्ध के कलात्मक विवेचन में विभिन्न प्रकार से चाहे जो भी कहा जाय किन्तु उसके मूल उद्देश में कोई तात्विकअन्तर नहीं है। हिन्दी साहित्य में निबन्ध का उद्देश रहा है नियत समय पर निश्चित विचारों का प्रचार करना। और इसी कारण पत्रिकाएँ उसके प्रकाशन का माध्यम बनीं। भूमिका में कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी के पूर्व भी 'हिन्दी-प्रदीप', 'ब्राह्मण', 'आनन्दकादम्बिनी,' 'भारतमित्र' आदि ने बहुसंख्यक निबन्ध प्रकाशित किए थे, परन्तु उन्होंने निबद्ध रूप से निश्चित विचारों का प्रचार नहीं किया। एक ही निबन्ध में उच्छृंखल भाव से इच्छानुसार सब कुछ कह देने का प्रयास किया गया। द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' ने इस कमी को दूर किया। उसका प्रत्येक अंक अपने निबन्धों द्वारा नियत समय पर निश्चित विचारों के प्रचार की घोषणा करता है। हिन्दी-निबन्ध ने 'कला के लिए कला'

वाले सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उसकी दृष्टि प्रधानतया उपयोगिता पर ही रही है। इस दृष्टि से भी द्विवेदी जी और उनकी 'सरस्वती' की देन अप्रतिम है। उद्देश, रीति, शैली आदि सभी दृष्टियों से द्विवेदी जी तथा उनकी सम्पादित 'सरस्वती' ने ठोस, उपयोगी और कलात्मक निबन्धों की रचना के साथ ही अपने तथा परवर्ती युग के निबन्धों की आदर्श भूमिका प्रस्तुत की। हिन्दी-साहित्य को निबन्धकार द्विवेदी की यही देन है।

सातवां अध्याय

सरस्वती-सम्पादन

१६ वीं शती के हिन्दी-पत्रों की अवस्था का निरूपण भूमिका में हो चुका है। १८६७ ई० में प्रकाशित होने वाली "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" का उद्देश्य था साहित्यक अनुसन्धान और पर्यालोचन। पाठकों का मनोरंजन, हिन्दी के विविध अंगों का पोषण, परिवर्धन और कवियों तथा लेखकों को प्रोत्साहित करने की भावना से प्रेरित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित 'सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका सरस्वती' का प्रकाशन १६०० ई० से प्रारम्भ हुआ। कदाचित् कार्यगुरुता के कारण और जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पहले वर्ष इसकी सम्पादक-समिति में पांच व्यक्ति थे—कार्तिकप्रसादखत्री, किशोरी लाल गोस्वामी, जगन्नाथदास बी० ए०, राधाकृष्ण दास और श्यामसुन्दर दास। प्रथम बारह संख्याओं में सम्पादकों के अतिरिक्त केवल दस अन्य लेखकों ने लिखा। पत्रिका का कलेवर १६ से २१ पन्नों तक ही सीमित रहा 'सरस्वती' के पहले अंक के विषय निम्नलिखित थे—

१. भूमिका

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—जीवनी

३. सिम्बेलीन—महाकवि शेक्सपियर रचित नाटक की आख्यायिका का मर्मानुवाद।

४. प्रकृति की विचित्रता— कुत्ते के मुँह वाला आदमी आदि

५. काश्मीर-यात्रा

६. कवि-कीर्ति-कलानिधि--अर्जुन मिश्र

७. आलोक-चित्रण अथवा फोटोग्राफी

लेख संख्या ६ को छोड़कर सभी लेख सम्पादकों के थे।

प्रथम अंक की प्रारम्भिक भूमिका में ही 'सरस्वती' ने अपने उद्देश्य और रूपरेखा का सुन्दर शब्दचित्र अंकित किया था।[1] खेद है कि प्रथम तीन वर्षों तक उसकी यह प्रतिज्ञा

१"......हिन्दी के उत्साहियों, हितैषियों, उन्नायकों, रसज्ञों और सहयोगियों से ऐसी अखंडनीय आशा क्यों न की जाय कि वे लोग सब प्रकार से अपनी बाहुलता की शीतल छाया में इस नवीन बालिका को आश्रय देने में कदापि पराङ्मुख न होंगे कि जिनके सन्मुख

अपूर्ण रही। पहले वर्ष पांच सम्पादकों के होते हुए भी उसका भार श्यामसुन्दर दास पर ही रहा। सभा के तथा अन्य उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे 'सरस्वती' को अपेक्षित समय और शक्ति नहीं दे सकते थे। पहले दो अंकों में पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास चम्पू आदि के नाम पर कुछ भी न निकला। तदुपरान्त भी नाममात्र को ही इनका समावेश हो सका। आरम्भिक विषय-सूची भी गड़बड़ रही। लेखों के अन्त या आरम्भ में कहीं भी लेखकों का नाम नहीं दिया गया। सम्पादकीय टिप्पणी और विविध-विषय-जैसी वस्तु का अभाव रहा। हां, प्रकाशक का वक्तव्य अवश्य था, परन्तु वह उपर्युक्त अभाव का पूरक नहीं कहा जा सकता। उसकी भाषा का आदर्श भी अनिश्चित था।

१६०१ ई० में केवल श्यामसुन्दर दास ही सम्पादक रह गए। अपने एकाकी सम्पादन-काल (१६०१–२) में उन्होंने 'सरस्वती' का बहुत कुछ सुधार किया। १६०१ की मई से *'विविध वार्ता'* और जुलाई से *'साहित्य समालोचना'* के खंडों का श्रीगणेश हुआ। वर्ष भर की लेख-सूची लेखकों के नामानुक्रम से प्रस्तुत की गई। १६०२ ई० की रचनाओं के अन्त में रचनाकारों के नाम और चित्रों के सुधार की ओर ध्यान दिया गया। लेखक-संख्या भी दूनी हो गई। द्विवेदी जी के लेखों और व्यंगचित्रों ने 'सरस्वती' के वर्धमान सौन्दर्य में चार चांद लगा दिये।

आज यह अपने नये रंग ढंग, नये वेश विन्यास, नये उद्योग उत्साह और नई मनमोहिनी छटा से उपस्थित हुई है।

इसके नव जीवन धारण करने का केवल यही उद्देश्य है कि हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि, वृद्धि और यथायथ पूर्ति हो, तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भाव भरित ग्रन्थराजि को प्रसव करे।

और इस पत्रिका में कौन कौन से विषय रहेंगे, यह केवल इसी से अनुमान करना चहिये कि इसका नाम सरस्वती है। इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास चम्पू, इतिहास जीवनचरित, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कला कौशल आदि, साहित्य के यावतीय विषयों का यथावकाश समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जायेगी। यह हम लोग निज मुख से नहीं कह सकते कि भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की प्रथम होगी। किन्तु हां, सहृदयों की समुचित सहायता और सहयोगियों की सच्ची सहानुभूति हुई तो अवश्य यह अपने कर्तव्य पालन में सफल मनोरथ होने का यथाशक्य उद्योग करने में शिथिलता न करेगी।

इससे लाभ केवल यही सोचा गया है कि सुलेखकों की लेखनी स्फुरित हो जिससे हिन्दी की अंगपुष्टि और उन्नति हो। इसके अतिरिक्त हम लोगों का यह भी दृढ़ विचार है कि यदि इस पत्रिका सम्बन्धीय सब प्रकार का व्यय देकर कुछ भी लाभ हुआ तो इसके लेखकों की हम लोग उचित सेवा करने में किसी प्रकार की त्रुटि न करेंगे।"

सरस्वती, भाग १ सं० १, आरम्भिक भूमिका।

उपर्युक्त सुधारों और उत्कर्षों के होते हुए भी 'सरस्वती' का मान विशेष ऊचा न हो सका। उसके प्रतिज्ञा-वाक्य और योजनाएँ यथार्थता का रूप धारण न कर सकीं। विषय, भाषा, पाठक, और लेखक—सभी की दशा शोचनीय बनी रही। १६०२ ई० के अन्त में श्यामसुन्दर दास ने भी सम्पादन करने में असमर्थता प्रकट की। उन्होंने सम्मति दी, बाबू चिन्तामणि घोष ने प्रस्ताव किया और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती' का सम्पादन स्वीकार कर लिया।

जनवरी १६०३ ई० से द्विवेदी जी ने सम्पादन आरम्भ किया। पत्रिका के अंग-अंग में उनकी प्रतिभा की झलक दिखाई पड़ी। विषयों की अनेक-रूपता, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियों, पुस्तक-परीक्षा, चित्रों, चित्र-परिचय, साहित्य-समाचार के व्यंगचित्रों, मनोरंजक सामग्री, बाल-वनितोपयोगी रचनाओं, प्रारम्भिक विषय-सूची, प्रूफ-संशोधन और पर्यवेक्षण में सर्वत्र ही सम्पादन-कला-विशारद द्विवेदी का व्यक्तित्व चमक उठा।

तत्कालीन दुर्विदग्ध मायावी सम्पादक अपने को देशोपकारव्रती, नानाकला-कौशल-कोविद निःशेष-शास्त्र-दीक्षित, समस्त-भाषा-पंडित और सकलकला-विशारद समझते थे। अपने पत्र में वे बेसिरपैर की बातें करते, रुपया ऐंठने के लिए अनेक प्रकार के वंचक विधान रचते, अपनी दोषराशि को तृणवत् और दूसरों की नन्हीं सी त्रुटि को सुमेरु समझकर अलेख्य लेखों द्वारा अपना और पाठकों का अकारण समय नष्ट करते थे। निस्सार निंद्य लेखों को तो सादर स्थान देते और विद्वानों के सम्मान्य लेखों की अवहेलना करते थे। आलोचनार्थ आई हुई पुस्तकों का नाममात्र प्रकाशित करके मौन धारण कर लेते और दूसरों की न्याय-संगत समालोचना की भी निंदा करते। दूसरे पत्रों और पुस्तकों से विषय चुराकर अपने पत्र की उदरपूर्ति करते और उनका नाम तक न लेते थे। पत्रोत्तर के समय पूरे मौनी बन जाते, स्वार्थवश परम नम्रता दर्शाते और अपने दोष की निदर्शना देखकर प्रलयंकर हर का-सा उग्र रूप धारण कर लेते थे। भली-बुरी औषधियों, गई-बीती पुस्तकों और सभी प्रकार के कूड़ा-करकट का विज्ञापन प्रकाशित करके पत्र-साहित्य को कलंकित करते थे। अपनी स्वतंत्रता, विद्या और बल का दुरुपयोग करके अपमानजनक लेख छापते और फिर भय उपस्थित होने पर हाथ जोड़कर क्षमा मांगते थे।[1]

सम्पादन-भार ग्रहण करने पर द्विवेदीजी ने अपने लिए मुख्य चार आदर्श निश्चित किए—समय की पाबन्दी करना, मालिकों का विश्वास- भाजन बनना, अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का ध्यान रखना और न्याय-पथ से कभी भी विचलित

---

१ द्विवेदी-लिखित और 'द्विवेदी-काव्य-माला' में संकलित 'समाचारपत्र-सम्पादकस्तवः' के आधार पर।

न होना।[1] उस समय हिन्दी पत्रिकाएँ नियत समय पर न निकलती थीं। वे अपने विलम्ब का कारण बतलातीं—सम्पादकजी बीमार हो गये, उनकी लेखनी टूट गई, मशीन बिगड़ गई, प्रकाशक महाशय के सम्बन्धी का स्वर्गवास हो गया, इत्यादि। द्विवेदी जी इन विडम्बनापूर्ण घोषणाओं के कायल न थे। उनकी निश्चित धारणा थी कि पत्रिका का विलम्बित प्रकाशन ग्राहकों के प्रति अन्याय और सम्पादकके चरित्रका घोर पतन है। मशीन फेल होती है, हुआ करे; सम्पादक बीमार है, पड़ा रहे; कलम टूट गई है, चिन्ता नहीं; सम्बन्धी मर रहे हैं, मरा करें; सम्पादक को अपना कर्तव्यपालन करना ही होगा, पत्रिका नियत समय पर ग्राहक के पास भेजनी ही होगी। सम्पादक के इस कठिन उत्तरदायित्व का निर्वाह उन्होंने जी जान होमकर किया। चाहे पूरा का पूरा अंक उन्हेंही क्यों न लिखना पड़ा हो, उन्होंने पत्रिका समयपर ही भेजी। केवल एक बार, उनके सम्पादन-काल के आरम्भ में, १६०३ ई० की दूसरी और तीसरी संख्याएँ एक साथ निकलीं। इस अपराध के लिए नवागत सम्पादक द्विवेदी जी सर्वथा क्षम्य हैं। इस दोष की आवृत्ति कभी नहीं हुई। कम से कम छः महीने की सामग्री उन्होंने अपने पास सदैव प्रस्तुत रखी। जब कभी वे बीमार हुए, छुट्टी ली, या जब अन्त में अवकाश ग्रहण किया तब अपने उत्तराधिकारी को कई महीने की सामग्री देकर गए जिससे 'सरस्वती' के प्रकाशन में विलम्ब, अतएव ग्राहकों को असुविधा और कष्ट न हो। उनके लगभग सत्ररह वर्षोंके दीर्घ सम्पादन-काल में एक बारभी 'सरस्वती' का प्रकाशन नहीं रुका। उसी समय के उपार्जित और स्वलिखित कुछ लेख द्विवेदी जी के संग्रह में अभिनन्दन के समय भी उपस्थित थे।[2] वे आज भी काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कलाभवन और दौलतपुर में रक्षित हैं।

उन्होंने 'सरस्वती' के उद्देश्यों की दृढ़ता के साथ रक्षा की। अपने कारण स्वामियों को कभी भी उलझन में न डाला। उनकी 'सरस्वती'-सेवा क्रमशः फूलती फलती गई। उनकी कर्तव्यनिष्ठा और न्यायपरायणता के कारण प्रकाशकों ने उन्हें सर्वदा अपना विश्वासपात्र माना।[3]

द्विवेदी जी के लेखों तथा कथनों से विदित होता है कि उनके लक्ष्य थे—हिन्दी-भाषियों की मानसिक भूमिका का विकास करना, संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान, खड़ीबोली-कविता का उन्नयन, नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भावाभिव्यंजन, संसार की वर्तमान प्रगति का परिचय और साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा करना। हिन्दी-पाठकों की असंस्कृत

---

१. आत्म-निवेदन, 'साहित्य-सन्देश', एप्रिल, १६३६ ई०, के आधार पर

२. 'साहित्य-संदेश'—एप्रिल, १६३६ ई० में प्रकाशित आत्मनिवेदन के आधार पर

३ " " " " "

रुचि को तृप्त करने का प्रयास न करके उन्होंने उसके परिष्कार का ही उद्योग किया। इस अर्थ में उन्होंने लोकरुचि और लोकमत की अपेक्षा अपने सिद्धांतों और आदर्शों का ही अधिक ध्यान रखा। वस्तुतः उनके सम्पादक-जीवन की समस्त साधना 'सरस्वती'-पाठकों के ही कल्याण के लिए थी। विविधविषयक उपयोगी और रोचक लेखों, आख्यायिकाओं, कविताओं, श्लोकों, चित्रों, व्यंग-चित्रों, टिप्पणियां आदि के द्वारा जनता के चित्त को 'सरस्वती' के पठन में रमाया।

आज 'वीणा,' 'विशाल भारत,' 'हंस,' 'माधुरी,' 'विज्ञान,' 'भूगोल,' साहित्य-संदेश' आदि अनेक व्यापक एवं विशिष्ट-विषयक पत्रिकाएँ हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं। द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में, खद्योत-सरीखे साप्ताहिक और मासिक पत्रों की उस अंधकारमयी रजनी में, अपनी अप्रतिहत प्रभा से चमकने वाली एक ही ध्रुवतारिका थी—'सरस्वती'। तब उसमें कुछ प्रकाशित कराना बहुत बड़ी बात थी। लोग द्विवेदी जी को अनेक प्रलोभन देते थे। 'कोई कहता–मेरी मौसीका मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूंगा। कोई लिखता–अमुक सभापति की स्पीच छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी डुपट्टा डाल दूंगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नज़र की जावेगी।'[1] द्विवेदी जी अपने भाग्य को कोसते और बहरे तथा गूंगे बन जाते थे। पाठकों के लाभ के लिए स्वार्थों की हत्या कर देने में ही उन्होंने गौरव, सुख और शांति का अनुभव किया। शक्कर की थैलियां भेंट करने वाले सज्जन को उन्होंने मुँहतोड़ उत्तर दिया था—"तुम्हारी थैलियां जैसी की तैसी रखी हैं। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नहीं बन सकती।"[2]

सत्समालोचना के आगे उन्होंने सम्बन्धों को प्रधानता नहीं दी। उनकी खरी और अप्रिय आलोचनाओं से असन्तुष्ट अनेक सामाजिक सत्पुरुषों ने 'सरस्वती' का बहिष्कार कर दिया परन्तु द्विवेदी जी डिगे नहीं।[3] स्वार्थी और मायावी संसार परार्थी और अमायिक द्विवेदी की सचाई का मूल्य न आँक सका। उन्होंने अपने ही लेखों—'विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा,' 'नाट्यशास्त्र', 'व्योमविहरण' आदि—को स्थानाभाव के कारण न छापकर दूसरों की रचनाओं को उचित स्थान और सम्मान दिया।[4] 'सरस्वती' को वाद-विवाद के चमरपन से बचाने के लिए उन्होंने अपना ही लेख 'शीलनिधान जी की शालीनता' 'भारतमित्र' में छपाया।[5] यह एक सम्पादक की न्यायनिष्ठा और निष्पक्षता की पराकाष्ठा थी।

---

१. 'आत्म निवेदन', 'साहित्य-संदेश', एप्रिल १९३९ ई०, पृ० ३०४
२. 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृ० ५४३
३. 'आत्म-निवेदन', 'साहित्य संदेश', एप्रिल १९३९ ई०, पृ० ३०४
४. 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन', 'सरस्वती', भाग ५, संख्या १२
५. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित कतरनें।

उस विषम काल में जब न तो साहित्य-सम्मेलन की योजनाएं थीं, न विश्व-विद्यालयों और कालेजों में हिन्दी का प्रवेश था, न रंग-विरंगे चटकीले मासिकपत्र थे, हिन्दी के नाम पर लोग नाक भौं सिकोड़ते थे, लेख लिखने की तो बात ही दूर रही, अँगरेजीदां बाबू लोग हिन्दी में चिट्ठी लिखना भी अपमान-जनक समझते थे, जनसाधारण में शिक्षा का प्रचार नगण्य था, हिन्दी-पत्रिका 'सरस्वती' को जनता का हृदय-हार बना देना यदि असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य था। हिन्दी के इने गिने लेखक थे और वे भी लकीर के फकीर। समाज की आकांक्षाएँ बहुमुखी थीं। इतिहास, पुरातत्व, जीवन-चरित, पर्यटन, समालोचना, उपन्यास, कहानी, व्याकरण, काव्य, नाटक, कोष, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, सामयिक प्रगति, हास्य-विनोद आदि सभी विषयों की विविध रचनाओं और तदर्थ विपन्न हिन्दी को सम्पन्न बनाने के लिए विशिष्ट कोटि के लेखकों की आवश्यकता थी। काल था गद्यभाषा खड़ीबोली के शैशव का। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित 'सरस्वती' की हस्त-लिखित प्रतियाँ इस बात की साक्षी हैं कि तत्कालीन साहित्य-कारों की तुतली भाषा व्याकरण आदि के दोषों से कितनी भ्रष्ट और भावाभिव्यंजन में कितनी असमर्थ थी।

लेखकों की कमी का यह अर्थ नहीं है कि लेखक थे ही नहीं। 'सरस्वती' के अस्वीकृत लेखों[1] से स्पष्ट सिद्ध है कि लेखकों की संख्या पर्याप्त थी। परन्तु उनकी रद्दी रचनाएँ अनभीष्ट थीं। सम्पादन-काल के आरम्भ में 'सरस्वती' को आदर्श पत्रिका बनाने के लिए द्विवेदी जी को अथक परिश्रम करना पड़ा। इस कथन की पुष्टि में १६०३ ई० की 'सरस्वती' का निम्नांकित विवरण पर्याप्त होगा—

संख्या-मूलक विवरण

'सरस्वती' की संख्या	कुल रचनाएं	अन्य लेखकों की	द्विवेदी जी की
१	११	१	१०
२।३	१५	३	१२
४	१२	२	१०
५	१२	४	८
६	१३	४	६
७	१५	४	११
८	११	३	८
९	१२	६	६
१०	१२	५	७
११	१७	६	११
१२	१३	७	६

१. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित।

विषयमूलक विवरण

विषय	कुल रचनाएं	अन्य लेखकों की	द्विवेदी जी की
अद्भुत	१०	१	६
आख्यायिका	८	६	२
कविता	२३	१६	४
जीवनचरित (स्त्री)	८	०	८
जीवनचरित (पुरुष)	११	४	७
फुटकर	१६	३	१३
विज्ञान	१४	१	१३
साहित्य	६	४	५
व्यंग्यचित्र	१०	१	६

वर्ष भर की कुल १०६ रचनाओं में ७० रचनाएँ द्विवेदी जी की हैं। अन्य लेखकों की देन आख्यायिका, कविता, साहित्य और पुरुषों के जीवनचरित तक ही सीमित है। लेखकों की कमी ने द्विवेदी जी को अन्य नामों से भी लेख लिखने की प्रेरणा दी। सम्भवतः सम्पादक के नाम की बारम्बार आवृत्ति से बचने के लिए, अपने प्रतिपादित मत का विभिन्न लेखकों के नाम से समर्थन करने, उपाधिविभूषित अन्य प्रान्तीय या आलंकारिक नामों के द्वारा पाठकों पर अधिक प्रभाव डालने और उस लाठी-युग के लड़ैत लेखकों की भयंकर मुठभेड़ से बचने के लिए ही उन्होंने कल्पित नामों का प्रयोग किया था।

द्विवेदी जी ने कभी 'कमलाकिशोर त्रिपाठी'[1] बनकर 'समाचार पत्रों का विराट रूप'

---

१. प्रमाण:—

(क) 'समाचार पत्रों का विराट रूप' द्विवेदी जी के ही 'समाचारपत्र-सम्पादकस्तव' का गद्यानुवाद है। यदि कोई और व्यक्ति इसका लेखक होता तो द्विवेदी जी उसकी भर्त्सना अवश्य करते।

(ख.) कलाभवन में रक्षित हस्तलेख में लेखक का नाम नहीं दिया गया है, द्विवेदी जी ने ही पेंसिल से कमलाकिशोर त्रिपाठी लिख दिया है। यदि कोई अन्य लेखक होता तो उसी स्याही से अपना नाम अवश्य देता। हस्त-लिखित प्रति से प्रतीत होता है कि द्विवेदी जी ने किसी नौसिखिए से अनुवाद कराकर उसका संशोधन किया है।

(ग.) कमलाकिशोर त्रिपाठी नामक तत्कालीन किसी लेखक का पता नहीं चलता। द्विवेदी जी के भानजे कमलाकिशोर त्रिपाठी उस समय निरे बालक थे। द्विवेदी जी ने अपने नाम के बदले उन्हीं का नाम उठा कर रख दिया।

(घ) उस कठोर लेख को अपने नाम से सम्बद्ध करने में प्रतिद्वन्द्वियों की द्वेष-भावना उत्ते-

दिखलाया तो कभी 'कल्लू अल्हइत'[1] बनकर 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' का आल्हा गाया। कभी तो 'गजानन गणेश गर्वखंडे'[2] के नाम से 'जम्बुकी न्याय' की रचना की और कभी 'पर्यालोचक'[3] के नाम से ज्योतिषवेदांग की आलोचना की।[4] कहीं 'कवियों की ऊर्मिला-विषयक उदासीनता' दूर करने 'भारत का नौका-नयन' दिखलाने, 'बाली द्वीप में हिन्दुओं का राज्य' सिद्ध करने अथवा 'मेघदूत-रहस्य' खोलने के लिए 'भुजंग भूषण भट्टाचार्य'[5] बने, तो कहीं 'अमेरिका के अखबार', 'रामकहानी की समालोचना', 'अलबरूनी'

जित्त हो उठती। कल्पित नाम से द्विवेदी जी के मत की पुष्टि होती थी।

(ङ) लेख के नीचे स्वाभाविक रूप से M.P.D. लिखकर काट दिया है। और उसके ऊपर कमलाकिशोर त्रिपाठी लिखा है।

१. उपर्युक्त आल्हे का 'द्विवेदी-काव्यमाला' में समावेश, 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पृष्ठ ५३२ आदि से प्रमाणित।

२. हस्त-लिखित प्रति में पहले गजानन गणेश गर्वखंडे का सानुप्रास नाम लेखक के रूप में दिया फिर किसी कारणवश काट दिया और कविता अपने ही नाम से छपाई-'सरस्वती' के स्वीकृत लेखों का बंडल, १९०६ ई०, कलाभवन, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा।

३. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्यालय में संचित बंडल २ (क) के पत्रों से प्रमाणित।

४. प्रस्तुत अवच्छेद में वर्णित रचनाओं का स्थान और काल:—

समाचार पत्रों का विराट रूप	सरस्वती १९०४ ई०, पृ० ३६७
सरगौ नरक ठेकना नाहिं	१९०६ ई०, पृ० ३८
जम्बुकी न्याय	,, ,, पृ० २१७
ज्योतिष वेदांग	१९०७ ई०, पृ० २०, १८६
कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता ...	१९०८ ई०, पृ० ३१३
भारत का नौकानयन ...	१९०९ ई०, पृ० ३०५
बाली द्वीप में हिन्दुओं का राज्य ...	१९११ ई०, पृ० २१९
मेघदूत-रहस्य ...	,, ,, पृ० ३६५
अमेरिका के अखबार ...	१९०९ ई०, पृ० १२४
राम कहानी की समालोचना ...	,, ,, पृ० ४५०
अलबरूनी ...	१९११ ई०, पृ० २४२
भारतवर्ष का चलन बाजार सिक्का ...	१९१२ ई०, पृ० ६०९
मस्तिष्क	१९०९ ई०, पृ० २२१
स्त्रियों के विषय में अत्यल्प निवेदन ..	१९१३ ई०, पृ० ३८४
शब्दों के रूपान्तर ...	१९१४ ई०, पृ० ४८३

५. प्रमाण:—

(क.) इनके लेखों में दूसरे के लेखों-जैसा कोई संशोधन नहीं है।

(ख.) लिखावट निःसन्देह द्विवेदी जी की है।

'और भारत का चलन बाज़ार सिक्का' आदि लेखों के प्रकाशनार्थ श्री कंठ पाठक एम० ए०[1] की उपाधि-मंडित संज्ञा अपनाई। 'मस्तिष्क' की विचारणा के लिए तो लोचन प्रसाद पांडेय[2] बन गए। एक बार 'स्त्रियों के विषय में अत्यल्प निवेदन' करने के लिए 'कस्यचित् कान्यकुब्जस्य'[3] पंडिताऊ जामा पहना तो दूसरी बार शब्दों के रूपान्तर की विवेचना करने के लिए 'नियम नारायण शर्मा'[4] का सैनिक वेष धारण किया।

पाठकों की बहुमुखी आकांक्षाओं की पूर्ति अकेले द्विवेदी जी के मान की न थी। आवश्यकता थी विविध विषयों के विशेषज्ञ लेखकों की जो 'सरस्वती' की हीनता दूर कर सकते। पारखी और दूरदर्शी द्विवेदी जी ने होनहार लेखकों पर दृष्टि दौड़ाई। उन्होंने हिन्दी-प्रान्तों और भारतवर्ष में ही नहीं योरप और अमेरिका में भी हिन्दी-लेखकों को ढूंढ़ा। सत्यदेव, भोलादत्त पांडे, पांडुरंग खानखोजे और रामकुमार खेमका अमेरिका से; सुन्दरलाल, सन्त निहाल सिंह, जगद्विहारी सेठ और कृष्णाकुमार माथुर इंगलैंड से; प्रेम नारायण शर्मा, और वीरसेन सिंह दक्षिणी अमेरीका से तथा वेनीप्रसाद शुक्ल फ्रांस से लेख भेजते थे।[5] कामता प्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, केशव प्रसाद मिश्र, मैथिली शरण गुप्त, गोपाल शरण सिंह, लक्ष्मीधर वाजपेयी, गंगानाथ झा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, बाबूराव विष्णु पराड़कर, रूप नारायण पांडेय, विश्म्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' आदि की चर्चा यथास्थान की गई है।

(ग.) नीचे द्विवेदी जी के ही अक्षरों में भुजंग भूषण भट्टाचार्य लिखा गया है

(घ.) इसकी बहुत कुछ पुष्टि 'रसज्ञ-रंजन' की भूमिका से हो जाती है, यद्यपि उसी में आए हुए 'विद्यानाथ' कामता प्रसाद गुरु हैं।

१. 'राम कहानी की समालोचना' की लिखावट आद्योपान्त द्विवेदी जी की है। नीचे द्विवेदी जी के अक्षरों में श्री कंठ पाठक और फिर उसके नीचे श्री कंठ पाठक एम० ए० लिखा गया है।

२. मूल रचना की लिखावट सर्वांश में द्विवेदी जी की है।

३. प्रमाण: (क) हस्त लिखित प्रति किसी और की लिखी हुई है परन्तु कहीं संशोधन नहीं है। जान पड़ता है कि द्विवेदी जी के वचन का अनुलेख है।

(ख) नीचे स्याही से द्विवेदी जी के हस्ताक्षर हैं और फिर काटकर पेंसिल से 'कस्यचित् कान्यकुब्जस्य' कर दिया गया है।

४ प्रमाण: (क) लिखावट द्विवेदी जी की है।

(ख) हाशिये पर आदेश किया है— पं० सुन्दरलाल जी, कृपा करके इस लेख को ध्यान से पढ़ लीजिएगा। निन्दा से 'सरस्वती' को बचाइएगा।

५. 'सरस्वती' की विषय-सूची में इन लेखकों के नाम के सामने कोष्ठक में इनके स्थान का भी उल्लेख किया गया है।

द्विवेदी जी के स्वास्थ्य की हानि का प्रधान कारण आज महान् साहित्यकार कहलाने वाले लेखकों की अशुद्धिभरी रचनाओं का आद्योपान्त संशोधन ही था। लेखकों से पत्र व्यवहार, प्रूफसंशोधन और पर्यवेक्षण के अनन्तर अन्य लेखकों की रचनाओं को काट-छांटकर सुधारने का भगीरथप्रयत्न[1] और उस पर भी अनेक उपयोगी और आवश्यक लेखों को स्वयं लिखकर 'सरस्वती' की प्रत्येक संख्या नियत समय पर प्रस्तुत करना द्विवेदी जी-जैसे असाधारण सम्पादक का ही काम था। दुस्साध्य संशोधन-कार्य तो कभीकभी उन्हें आक्रान्त कर देता था। सत्यशरण रतूड़ी की 'शरत्-स्वागत' कविता का कायाकल्प करते हुए उन्होंने हाशिये पर अंगरेजी में आक्षेप किया—

"नोट—ये कवि मेरे लिए घोर दुःख के कारण हैं।"[2] निस्संदेह कष्ट की सीमा हो जाने पर ही द्विवेदी जी ने ऐसा लिखा होगा। इस अनन्त परिश्रम से पराजित होकर एक बार उन्होंने गिरिधर शर्मा की 'अंशुमती' कविता को मैथिली शरण गुप्त के पास संशोधनार्थ भेजते हुए उसके हाशिए पर आदेश किया—

'मैथिलीशरण जी,

दया कीजिए, हमारी जान बचाइए। इन दोनों कविताओं को ज़रा ध्यान से अपनी तरह देख जाइए। फिर उचित संशोधन करके ४–५ दिन में यथा संभव शीघ्र ही लौटा दीजिए। कई जगह शब्दस्थापना का क्रम ठीक नहीं। पढ़ने नहीं बनता।

म० प्र० द्विवेदी २२.३,११।"[3]

'सरस्वती'-सम्पादन के कठोर यज्ञ में द्विवेदी जी ने अपने स्वास्थ्य का बलिदान कर दिया। १६१० ई० में उन्हें पूरे वर्ष भर की छुट्टी लेनी पड़ी। तत्पश्चात् दस वर्षों की कष्टकरी साधना के कारण उनका शरीर जर्जर हो गया और उन्हें विवश होकर 'सरस्वती'-सेवा से विश्राम ग्रहण करना पड़ा।

लेखकों के प्रति द्विवेदी जी का व्यवहार विशेष सराहनीय था। जब कोई रचना उनके पास पहुँचती तो वे तत्काल उसे देखते, शीघ्र ही उसकी पहुँच, छपने या न छपने का उत्तर भी भेज देते। अस्वीकृत रचना लौटाते समय लेखक के आश्वासन के लिए कोई न कोई वाक्य अवश्य लिख देते थे जिससे वह अप्रसन्न या हतोत्साह न होकर गद्गद हो जाता

---

१. द्विवेदी जी के संशोधन- कार्य की गुरुता का न्यूनाधिक दिग्दर्शन परिशिष्ट संख्या ३ में उद्धृत संशोधित रचना से हो जायगा।

२. 'सरस्वती' के स्वीकृत लेख, बंडल १६०५ ई०, कला-भवन, ना. प्र. सभा, काशी।

३. 'सरस्वती' के स्वीकृत लेख, बंडल १६११ ई०, का. ना. प्र. सभा, कला-भवन।

था। दिसम्बर १६१३ ई० में केशवप्रसाद मिश्र की 'सुदामा' शीर्षक लम्बी तुकबन्दीमें उसके दोषों का निर्देश और उन्हें दूर कर कहीं अन्यत्र छपा लेने का आदेश किया।[1] मैथिलीशरण गुप्त की भी पहली कविता 'शरद' अस्वीकृत हुई, परन्तु दूसरी कविता 'हेमन्त' को उचित संशोधन और परिवर्धन के साथ 'सरस्वती' में स्थान मिला।[2] उनका यह व्यवहार सभी लेखकों के प्रति था। वे रचनाओं में आमूल परिवर्तन करते, शीर्षक तक बदल देते थे। अप्रत्याशित संशोधनों के कारण मिथ्याभिमानी असंतुष्ट लेखक डाँटकर पत्र लिखते और द्विवेदी जी अत्यन्त विनम्र शब्दों में क्षमा मांगते, उन्हें समझाते-बुझाते थे।[3]

उनके संपादकीय शिष्टाचार और स्नेहपूर्ण व्यवहार में लेखकों के प्रति शालीनता, नम्रता और खुशामद की सीमा हो जाती। यह संपादक द्विवेदी का गौरव था। सच्ची लगन, विस्तृत अध्ययन, सुन्दर शैली और सज्जनोचित संकोच वाले लेखकों का उपहास न करके वे उन्हें उत्साहित करते और गुरुवत् स्नेह तथा सहानुभूति से उनके दोषों को समझाते थे। जिस लेखक को लिखना आ जाता उसे 'सरस्वती' निःशुल्क भेजते और योग्यतानुसार पुरस्कार भी देते थे। लक्ष्मीधर वाजपेयी के 'नाना फड़नवीस' नामक विस्तृत लेख को अत्यन्त परिश्रम से काटछाँट कर आठ पृष्ठों में छापा और सोलह रुपया पुरस्कार भी भेज दिया।[4] आदर्श संपादक द्विवेदी जी अपने लघु लेखकों पर भी कृपा रखते थे।

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष को संतुष्ट करने का साधन नहीं बनाया। उन्होंने ग्राहक-समुदाय को स्वामी, और अपने को सेवक समझा। 'सरस्वती' का उद्देश्य था अपने समस्त पाठकों को प्रसन्न तथा लाभान्वित करना। द्विवेदी जी ने ज्ञानवर्धक और मनोरंजक रचनाओं का कभी तिरस्कार नहीं किया। कितने ही यश और धन के लोलुप स्वार्थान्ध महानुभाव अपनी या अपने स्वामियों की असुन्दर, अनुपयोगी और नीरस रचनाएं चित्र एवं जीवनचरित छपाने की अनधिकार चेष्टा करते थे। कितनों की भाषा इतनी लचर, क्लिष्ट और दूषित होती थी कि उसका संशोधन ही असम्भव होता था। कठोर कर्त्तव्य द्विवेदी जी को उनका तिरस्कार करने के लिए बाध्य करता था। ये महानुभाव अस्वीकृत रचनाओं को वापस मंगाने के लिए टिकट तक न भेजते, महीनों बाद उनकी खोज लेते और धमकियां तथा कुत्सापूर्ण उलाहने भेजकर अपना एवं सम्पादक का समय व्यर्थ नष्ट करते थे।[5] द्विवेदी जी व्यक्तिगत पत्र या सांवत्सरिक सिंहावलोकन',

---

१ 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १८६.

२. 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० १८८.

३. 'सरस्वती', भाग ४० सं० २, पृ० १४६; 'द्वि. मी.' ५२-५३,

४. 'सरस्वती', भाग, ४०, सं० २ पृ० १३६

५. 'लेखकों से प्रार्थना' 'सरस्वती' भा. १६, खंड २, सं ३ के आधार पर

'लेखकों से प्रार्थना', 'लेखकों का कर्त्तव्य'[1] आदि लेखों द्वारा लेखकों को चेतावनी दे दिया करते थे। इतने पर भी जो 'सरस्वती' के लक्ष्य और मान के अनुपयुक्त रचनाएं भेजता वह अवश्य ही तिरस्कार का पात्र था। लेखकों के प्रति उनके सहृदयतापूर्ण व्यवहार का प्रमाण उन्हीं के शब्दों में लीजिए—

"नरदेव शास्त्री—आप ऐसे ऐसे रद्दी लेखों का स्वागत करते हैं, यह क्या बात है? द्विवेदी जी—(सस्मित) द्वार पर आने वालों का स्वागत करना परमधर्म है और जिन महानुभावों को बार बार लिख कर लेख मँगाया जाता है, उनका तो आदर आवश्यक ही है।"[2]

द्विवेदी जी ने अपने व्यक्तित्व, वाणी और संशोधन की कठिन तपस्या द्वारा अनेक लेखकों और कवियों को 'सरस्वती' का भक्त बनाया। कितने ही लेखक 'सरस्वती' की सुन्दरता, लोकप्रियता, ईदृक्ता और इयत्ता से आकृष्ट होकर स्वयं आए।

द्विवेदी जी के संपादन-काल के पूर्व अनेक हिन्दी-पत्रिकाओं ने अपने को विविध-विषयों की मासिक-पुस्तक घोषित किया,[3] परन्तु उनकी वाणी कभी भी कर्म का रूप न धारण

---

१. समय समय पर 'सरस्वती' में प्रकाशित

२. 'हंस', 'अभिनन्दनांक', एप्रिल, १९३३ ई०

३ (क) अपने को 'विद्या, विज्ञान, साहित्य, दृश्य, श्रव्य और गद्य, पद्य, महाकाव्य, राजकाज समाज और देश दशा पर लेख, इतिहास, परिहास, समालोचनादि विविध विषय वारि विन्दु भरित वलाहकावली" (माला ४, मेघ १, १९०२ ई०) समझने वाली 'आनंद-कादंबिनी' की माला चार, मेघ ८-९ की विषय-सूची इस प्रकार थी—

१. संपादकीय सम्मति समीर, नवीन सम्वत्सर, उदारता का पुरस्कार, स्वामी रामतीर्थ, हर्ष, यथार्थ प्रजाहित, शोक!!! चैतन्यमय जगत।

२. प्राप्ति स्वीकार वा समालोचना सीकर

३. साहित्य सौदामिनी—लक्ष्मी।

४. काव्यामृत वर्षा— आनंद बधाई, दिल्ली दरबार में मित्र मंडली के यार।

५. निवेदन और सूचना।

(ख) 'हिन्दी-प्रदीप' की घोषणा थी—"विद्यानाटक, इतिहास, साहित्य, दर्शन, राज-सम्बन्धी इत्यादि के विषय में हर महीने की पहली को छपता है।" (जिल्द २५, संख्या १-२, जनवरी-फरवरी, १९०३ ई०) और विषय थे:—

१. हमारा पचीसवां वर्ष

२. ढोल के भीतर पोल

३. काल चक्र का चक्कर

४. ढोंगी वर्मन मारा:

कर सकी। द्विवेदी-संपादित 'सरस्वती' ने हिन्दी-मासिक पत्रों के इस कलंक को दूर किया। अद्भुत और विचित्र विषयों के आकर्षण व आख्यायिकाओं की सरसता, आध्यात्मिक विषयों की ज्ञान-सामग्री, ऐतिहासिक विषयों की राष्ट्रीयता, कविताओं की मनोहरता और कांतासंमित उपदेशों, जीवनियों के आदर्श चरित्रों, भौगोलिक विषयों में समाविष्ट देश-विदेश की ज्ञातव्य और मनोरंजक बातों, वैज्ञानिक विषयों में वर्णित विज्ञान के आविष्कारों और उनके महत्व की कथाओं, शिक्षा-विषयों के अन्तर्गत देश की अवनत और विदेशों की उन्नत शिक्षा की समीक्षा, शिल्पादि-विषयक लेखों में भारत तथा अन्य देशों की कारीगरी के निदर्शन, साहित्य-विषयों में साहित्य के सिद्धान्तों, रचनाओं और रचनाकारों की समालोचनाओं, फुटकर विषयों में विविध प्रकार की व्यापक बातों की चर्चा विनोद और आख्यायिका, हँसी-दिल्लगी एवं मनोरंजक श्लोकों की मनोरंजकता, चित्रों के उदाहरण और कला, व्यंग्यचित्रों में हिन्दी-साहित्य की कुछ दुरवस्था के निरूपण आदि ने 'सरस्वती' को सर्वांगसुन्दर बना दिया।

द्विवेदी जी की संपादन-कला की सर्व-प्रधान विशेषता थी 'सरस्वती' की विविध-विषयक सामग्री की समंजस योजना। फलक था, तूलिका थी, रंग थे, परन्तु चित्र न था। प्रतिभाशाली चित्रकार ने उनके कलात्मक समन्वय द्वारा सर्वांगपूर्ण चित्ताकर्षक चित्र अंकित कर दिया। ईंट-पत्थर, लोहे-लक्कड़ और चूने-गारे के रूप में विविध-विषयक रचनाओं का ढेर लगा हुआ था। शिल्पी द्विवेदी जी ने उनके सुपमित उपस्थापन द्वारा 'सरस्वती' के भव्य मन्दिर का निर्माण किया। "आचार्य द्विवेदी जी के समय की सरस्वती का कोई अंक निकाल देखिए, मालूम होगा कि प्रत्येक लेख, कविता और नोट का स्थान पहले निश्चित कर लिया गया था। बाद में वे उसी क्रम से मुद्रक के पास भेजे गए। एक भी लेख ऐसा न मिलेगा जो बीच में डाल दिया गया सा मालूम हो। संपादक की यह कला बहुत ही कठिन है और एकाध को ही सिद्ध होती है। द्विवेदी जी को सिद्ध हुई थी और इसी से सरस्वती का प्रत्येक अंक अपने रचयिता के व्यक्तित्व की घोपणा अपने अंग प्रत्यंग के सामंजस्य से देता है। मैंने अन्य भाषाओं के मासिकों में भी यह विशेषता बहुत कम पायी है और विशेष कर इसी के लिए मैं स्वर्गवासी पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को

---

५. सभ्यता-पिशाची सर्वनाशकारी हुई
६. परमोत्तम तीर्थ
७. घुन
८. समालोचना
९. युक्तियुक्त

अन्य पत्रिकाओं में भी इसी प्रकार उदाहरण दिए जा सकते हैं।

संपादकाचार्य मानता और उनकी पुण्य स्मृति में यह श्रद्धांजलि अर्पण करता हूं।"[1]

'सरस्वती' के प्रकाशन के बाद भी अन्य हिन्दी-पत्रिकाओं का मान ऊँचा न हुआ। 'छत्तीसगढ़ मित्र',[2] 'इन्दु',[3] 'समालोचक'[4], 'लक्ष्मी'[5] 'विद्याविनोद'[6] आदि अधिकांश पत्रिकाओं में संपादकीय टिप्पणियों का खंड था ही नहीं। जिनमें था भी उनमें अत्यन्त गिरी दशा में। 'हिन्दी प्रदीप'[7] की विषय-सूची में कभी कभी संपादकीय टिप्पणियां-जैसे खंड का उल्लेख ही नहीं मिलता। उनकी पच्चीसवीं जिल्द की संख्या ५-६-७ के कुछ लेख[8] सम्भवतः विविध वार्ता के रूप में लिखे गए हैं। 'आनन्द कादम्बिनी' का 'संपादकीय सम्मति समीर' अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था।[9] 'भारतेन्दु' के खंड १, संख्या १, [illegible] १९०५ ई० के 'संपादकीय टिप्पणियां' खंड के अन्तर्गत केवल तीन लघुलेखों ([illegible], 'दाढ़ी की नाप' और 'धड़कन') का समावेश किया गया है।

एक बार 'भारती' पत्रिका की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—"[illegible] विविध विषय वाले स्तंभ की बातें बहुत ही सामान्य होती हैं। उदाहरणार्थ [illegible] जेल में मृत्यु' का हाल आधे कालम में छपा है। मतलब यह कि संपादक महाशय ने नोटों और लेखों को उनकी उपयोगिता का विचार किए बिना ही प्रकाशित कर दिया है।"[10]

द्विवेदी जी ने इस प्रकार की कोरी आलोचना ही नहीं की वरन् [illegible] आदर्श भी उपस्थित किया। उनके विविध विषय समाचार-मात्र न [illegible] टिप्पणियों का उद्देश्य था 'सरस्वती' के पाठकों की बुद्धि का विकास करना। [illegible]

---

१. बाबू राव विष्णु पराड़कर, 'साहित्य संदेश', भा० २, सं० ८, पृ० ३१२.
२. वर्ष ३ रा, अंक १ ला.
३. कला १, किरण १, सं० १९६६। इसमें प्रकाशित 'मनोरंजक वार्ता' [illegible] स्तम्भ सम्पादकीय टिप्पणियों की अभावपूर्ति नहीं करते।
४. अगस्त, १९०२ ई०
५. भाग ४, अंक ४,। इसका भी 'समाचार' स्तम्भ सम्पादकीय विविध-वार्ता की [illegible] पूरक नहीं हो सकता।
६. नवम भाग, १९०२-३ ई०
७. जिल्द १४, संख्या १-२, जनवरी-फरवरी, १९०३ ई०
८. सभ्यता पिशाची सर्वनाशकारी हुई, परमोत्तम तीर्थ और [illegible]
९. माला ४, मेघ ८-९ की विषय-सूची
नवीन सम्वत्सर, उदारता, चैन का पुरस्कार, [illegible]
प्रजा हित, शोक, चैतन्य जगत।
१०. 'सरस्वती', भाग ६, सं० ५, पृ० ३५२

लाभार्थ उनमें साधारण अध्ययन की सामग्री भी रहती थी। वे प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य, इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, भूगोल, धर्म, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, पत्र-पत्रिकाओं के सामयिक प्रसंग, हिन्दी भाषा और उसके भाषियों की आवश्यकताएँ, महान् पुरुषों के जीवन की रोचक और महत्वपूर्ण घटनाएँ, देश-विदेश के ज्ञातव्य समाचार, गवर्नमेंट आदि में प्रकाशित सरकारी मन्तव्य आदि विषयों का एक निश्चित दृष्टि से, अपनी शैली में, समीक्षात्मक उपस्थापन करते थे। कभी कभी तो रिपोर्ट और पुस्तकें उन्हें अपने मूल्य से मँगानी पड़ती थीं।[१]

उनकी संपादकीय टिप्पणियों की भाषा सरल और सुबोध है। कहीं परिचयमात्र कहीं परिचयात्मक समीक्षा, कहीं गंभीर संक्षिप्त विवेचन और कहीं व्यंग्यपूर्ण तीव्र आलोचना है। आवश्यकतानुसार चार्ट आदि भी हैं। अनुवाद की दशा में मूल रचना या रचनाकार का नामोल्लेख भी है। द्विवेदी–संपादित 'सरस्वती' की परिचयात्मक सामग्री निस्सन्देह अनुपम है। प्रतिमास, अंगरेजी, बँगला, मराठी, गुजराती, उर्दू, हिन्दी और संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं से संकलित सामग्री उनके उत्कट अध्ययन और असाधारण चयनशक्ति की द्योतक है। यद्यपि उनके अधिकांश नोट दूसरों के व्याख्यानों और लेखों पर आधारित हैं तथापि उनकी अभिव्यंजना-शैली अपनी है। उनमें प्रभावोत्पादक व्यंग्य और मनोरंजक तात्विक विवेचन हैं। वे सचमुच साधारण ज्ञान के भांडार हैं।

किसी भी वस्तु की सुन्दरता या असुन्दरता, महत्ता या लघुता, गुण या दोष सभी सापेक्ष हैं। द्विवेदी जी द्वारा दिए गए 'पुस्तकपरिचय' की श्रेष्ठता का वास्तविक ज्ञान तत्कालीन अन्य हिन्दी-पत्रिकाओं की तुलना से ही हो सकता है।

'छत्तीसगढ़मित्र' के 'पुस्तक-प्राप्ति और अभिप्राय' खंड के अन्तर्गत दो पुस्तकों का परिचय इस प्रकार दिया गया है:—

"(१४) धाराधरधावन, प्रथम और द्वितीय भाग, तथा (१५) साहित्यहत्या, श्रीयुत राय देवी प्रसाद पूर्ण बी० ए० वकील कानपुर, द्वारा समालोचनार्थ प्राप्त। अवकाश पाते ही समालोचना की जायेगी।"[२]

यह है तत्कालीन हिन्दी-संपादकों की पुस्तक-परीक्षा का एक उदाहरण। द्विवेदी जी ने संपादक के कर्तव्य की कभी भी हत्या नहीं की। उन्होंने जिन पुस्तकों को विशेष महत्वपूर्ण

---

१. 'सरस्वती', भाग १४, पृ० ४१९
२. वर्ष ३, अंक ५, पृ० १३७

समझा उनकी पर्याप्त समीक्षा[१] की, जो उत्तम जचीं उनकी प्रशंसा के पुल बाँध दिए,[२] जिन्हें दूषित या निकृष्ट समझा उनकी तीव्र एवं प्रतिकूल आलोचना की[३] और जो पुस्तकें महत्व हीन, घोर शृंगारिक या अनुपयोगी प्रतीत हुईं उनका नाम और पता मात्र देकर ही रह गए।[४]

उन्होंने 'माडर्न रिव्यू' की भांति भाषाओं के नामानुसार शीर्षक देकर प्रतिमास नियमित रूप से विविध भाषाओं की पुस्तकों की परीक्षा नहीं की। हाँ, पाठकों के लाभ का ध्यान रखकर हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अँगरेजी, मराठी, गुजराती, बँगला, मारवाड़ी आदि भाषाओं एवं साहित्य, धर्म, समाजशास्त्र, राजनीति, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, दर्शन, कामशास्त्र, यात्रादि, स्थानादि, आयुर्वेद, शिल्प, वाणिज्य, कला आदि विषयों की रचनाओं, मासिक, साप्ताहिक, दैनिक आदि पत्रों, सभापतियों के भाषण, शिक्षा-संस्थाओं की पाठ्यपुस्तकों आदि पर वे टिप्पणियाँ प्रकाशित करते थे।

आलोचनार्थ पुस्तक भेजने वालों में सच्चे गुण-दोष-विवेचन के इच्छुक बहुत कम थे। अधिकांश लोग समालोचना के रूप में पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित कराकर आर्थिक लाभ अथवा उसकी प्रशंसा प्रकाशित कराकर अपनी यशोवृद्धि करना चाहते थे। प्रतिकूल समीक्षा होने पर असन्तुष्ट लोग कभी अपने नाम से, कभी बनावटी नाम से, कभी अपने मित्रों, मिलने वालों या पार्षदों से प्रतिकूल समीक्षा के एक एक शब्द का प्रतिवाद उपस्थित करते या कराते थे। कुछ लोग तो पुस्तक की भूमिका में ही यह लिखा देते थे कि कटु आलोचना से लेखक का उत्साह भंग हो जायगा।[५] द्विवेदी जी ने जिस पुस्तक को ज्ञान, कला और उपयोगिता की कसौटी पर जैसा पाया, उसकी वैसी आलोचना की। रचनाकार की साहित्यिक गुरुता या लघुता का ध्यान न करके न्यायपूर्वक आलोचक की कैंची चलाई। किसी की अप्रसन्नता और प्रतिशोधभावना की उन्होंने रत्तीभर भी परवाह न की।

मानव-मस्तिष्क भाव की अपेक्षा रूप से अधिक प्रभावित होता है। इसीलिए शिक्षा-पद्धति में चित्रों का स्थान बहुत ऊंचा है। द्विवेदी जी ने पाठकों के बौद्धिक और हार्दिक विकास के लिए सादे और रंगीन चित्रों से 'सरस्वती' को अलंकृत किया। चित्रों का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

---

१ 'चन्द्रगुप्त' की परीक्षा—'सरस्वती' भाग १४, पृ० २४३
२. 'भारत-भारती'—'सरस्वती', अगस्त १९१४ ई०.
३ 'भाषापद्य व्याकरण'—'सरस्वती', अगस्त १९१३ ई०
४. प्राय: प्रत्येक अंक में इसके उदाहरण प्राप्य हैं।
५. समालोचना का सत्कार'—'सरस्वती', १९१७ ई०, पृ० ३२७, के आधार पर.

रंगीन

१ काव्य में वर्णित विषय--परंपरागत विभावादि

२ प्राकृतिक दृश्य

३ धार्मिक चित्र—देवी देवताओं, पौराणिक आख्यानों तथा हिन्दू-त्योहारों के आधार पर

४ सामाजिक

५ ऐतिहासिक--पुरुष, इमारतें आदि

६ दार्शनिक

७ साहित्यकार

८ प्रकीर्ण–कोई भी सुन्दर वस्तु

सादे

१ लेखों के उदाहरण के रूप में

२ लेखकों के चित्र

३ महान् व्यक्तियों के चित्र (साहित्यिक, पदाधिकारी, राजा आदि)

चित्रों की प्राप्ति में कठिनाई होने के कारण एक चित्रकार की नियुक्ति कर दी गई थी। 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी' के भी इंडियन प्रेस में छपने से 'सरस्वती' को ब्लाक आदि की सुविधा थी। रचनाओं को सचित्र छापने की ओर द्विवेदी जी का विशेष ध्यान था। चित्रों के विषय में वे पूरी जानकारी रखते थे।[1] 'सरस्वती' में वे ही चित्र छपते थे जो सुन्दरता-पूर्वक छप सकते थे। असुन्दर या त्रुटिपूर्ण चित्रों को छापने की अपेक्षा न छापना ही उन्होंने अधिक श्रेयस्कर समझा।[2]

---

१. (क) कामता प्रसाद गुरु की 'शिवा जी' कविता को सचित्र करने के लिए लिखा—
"मई १९०७ ई० के माडर्न रिव्यू के ४३८ पृष्ठ पर जो चित्र शिवाजी का है वह इसके साथ छापिए। म. प्र.।"
'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, १९०७ ई०, कलाभवन ना. प्र. सभा।

(ख) लक्ष्मीधर वाजपेयी के 'नानाफड़नवीस' निबंध के हाशिए पर आदेश किया था—
"इसके साथ दो चित्र छापिए। नानाफड़नवीस का और राघोबा दादा पेशवा का। पहला चित्र हम बाबू को दे आये हैं दूसरा चित्र चित्रशाला प्रेस, पूना से मँगा लीजिए। म. प्र. २०, ७, १९०८ ई०"
'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, १९०८ ई०, कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

२. 'सरस्वती की गत संख्या में शास्त्र विशारद जैनाचार्य श्री विजय धर्म सूरि का चित्र नहीं दिया जा सका। कारण यह हुआ कि ब्लाक अच्छा न होने से चित्र खराब

चित्रों के चयन और प्रकाशन में द्विवेदी जी ने उनकी कला, मनोरंजकता और उपादेयता का सदा ध्यान रखा। उन्हीं व्यक्तियों के चित्रों को स्थान दिया जिनका संसार ऋणी है। किसी के प्रलोभन में पड़ कर महत्वहीन व्यक्तियों के चित्र छापना पत्रिका के मालिकों और पाठकों के प्रति अन्याय समझा। 'सरस्वती' के अधिकांश रंगीन चित्र बाबू रविवर्मा और रामेश्वर प्रसाद् वर्मा द्वारा अंकित हैं।

भाव-ग्रहण में सहायक चित्रों को 'सरस्वती' के सामान्य पाठक भी सहज ही समझ सकते थे, किन्तु कलात्मक चित्रों के उच्च भावों का भावन जनसाधारण की समझ के बाहर था। उनकी भावानुभूति कराने के लिए 'चित्र-दर्शन' या 'चित्र-परिचय' खंड की आवश्यकता हुई। चित्र और चित्र-परिचय एकत्र न होने से पन्ना उलट कर देखने में पाठकों को कष्ट तो अवश्य होता रहा होगा परन्तु यह प्रणाली उनकी स्वतंत्र विचारक शक्ति को विकसित करने में विशेष सहायक थी।

शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के चित्र-परिचय के चार वर्ग किए जा सकते हैं। अधिक शृंगारिक एवं स्पष्ट चित्रों के परिचय में उनके नाममात्र का उल्लेख;[1] कलात्मक चित्रों और उनके रचयिताओं का विशेष परिचय और अधिक सुन्दर होने पर उनकी प्रशंसात्मक आलोचना;[2] अत्यन्त भावपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक चित्रों का काव्यात्मक निर्देशन[3] और यदाकदा ऐतिहासिक आदि चित्रों की तुलनात्मक विवेचना[4] भी है।

संपादन के पूर्व भी द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को एक नवीन अलंकार से अलंकृत किया था और वह था व्यंग्य-चित्र। हिन्दी-पत्रिका-जगत् के लिए वह एक अद्भुत चमत्कार था। 'साहित्य-समाचार' के चार व्यंग्य-चित्र[5] १९०२ ई० की 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हो चुके थे, परन्तु उनका प्रकाशन अनियमित था। १९०३ ई० में संपादक द्विवेदी ने उसे नियमित कर

छपा। और ऐसा चित्र छापने से न छापना ही अच्छा समझा गया।'

सरस्वती १२। ७। ३५२

१. उदाहरणार्थ 'नवोढ़ा'—'सरस्वती', भा. १८, खंड १, संख्या २ आदि

२. ,, 'आतिथ्य'—सरस्वती, जुलाई १९१८ ई०; 'कृष्ण-यशोदा'—'सरस्वती', जनवरी, १९१६ ई० आदि

३. ,, 'वियोगिनी'—'सरस्वती', दिसम्बर, १९१५ ई० आदि,

४. ,, 'प्राचीन तक्षण कला के नमूने'—'सरस्वती', मार्च १९११ ई०, आदि

५. 'हिन्दी-साहित्य'..............................पृष्ठ ३५.
'प्रचीन कविता'.............................. ९९.
'प्राचीन कविता' का अर्वाचीन अवतार'..........पृष्ठ १००
'खड़ी बोली का पद्य'..............................पृ० ११२

दिया। 'सरस्वती' की प्रत्येक संख्या में एक व्यंग्य-चित्र छपने लगा। यद्यपि उनके प्रकाशन का एकमात्र उद्देश था मनोरंजक ढंग से हिन्दी-साहित्य की सामयिक अवस्था का दिग्दर्शन कराना, तथापि उस कल्याणमूलक तीव्र व्यंग्य से अभिभूत हिन्दी-हितैषियों को असह्य मनोवेदना हुई। उन्होंने द्विवेदी जी को पत्र लिख कर उन चित्रों का प्रकाशन रोकने का आग्रह किया।[1]

द्विवेदी-सरीखे निष्पक्ष हिन्दी-सेवी, निर्भय समालोचक और पाठक - शुभचिन्तक कर्तव्यपरायण सम्पादक ने, कुछ ही लोगों को तुष्ट करने के लिए, अपनी दयाशीलता के कारण, पहले ही वर्ष के अन्त तक उन व्यंग्य-चित्रों का प्रकाशन बन्द करके अपने गौरव को घटा दिया।

उन व्यंग्य-चित्रों की कल्पना और योजना द्विवेदी जी की अपनी ही है परन्तु उनके चित्रकार वे स्वयं नहीं हैं। वे चित्रों की रूप-रेखा तैयार करके भेज दिया करते थे और चित्रकार उन्हें निर्दिष्ट रूप से निर्मित कर दिया करता था। इस कथन के समर्थन के लिए 'सरस्वती' की हस्त-लिखित प्रति[2] का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—
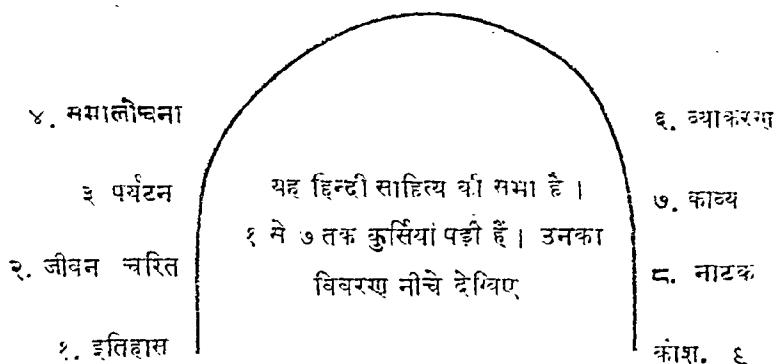
नीचे सरस्वती खड़े खड़े और सभा की ओर देख देख रो रही है।

१. खाली
२. खाली
३. एक खूबसूरत लड़का, वय कोई १० वर्ष, इसी प्रान्त का रहने वाला, पायजामा,

---

1. 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन' (भा. ४ सं० १२) के आधार पर।
2. 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां, १९०३ ई० कलाभवन, नागरी-प्रचारणी सभा, काशी।

बूट और अचकन पहने, घड़ी लगाये, सिर पर फेल्ट कैप दिये बैठा है–शरीर स्थूल है-बलिया के बाबू साधुचरण प्रसाद जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है उनकी शकल दरकार है—उनकी तस्वीर उनकी किताब में है।

४. एक बंदर बैठे हुए मुँह बना रहा है और हाथ में दर्पण लेकर अपना मुंह देख रहा है।

५. एक बहुत ही, निहायत ही मोटा बाजीगर बैठा है—चक्करदार पगड़ी, लम्बी दाढ़ी, दाहिने हाथ में डमरू—बाँयें में रीछ अथवा बंदर और बकरी सामने खड़े हैं—नाचने की कोशिश कर रहा है-पास ही एक झोली पड़ी है-मोटा खूब होना ही चाहिए—मोटा करने का कारण है।

६. एक कोढ़ी बैठा है—टिन पाट दाहिने हाथ की कलाई में लटक रहा है।

७. एक बनारस का गुंडा, उमर २० वर्ष–टोपी कान तक टेढ़ी–जरीदार अचकन और डुपट्टा जर्क बर्क–बूट बारनिश का–जंजीर गले में पड़ी उसी में घड़ी लगी है—पूरा बदमाश नज़र आना चाहिए।

८. एक कंगाल चीथड़े लपेटे हुए, हाथ में फूटा लोटा, महाकंगाल बैठा है

९. खाली

इन चित्रों की सामग्री साहित्य के विविध क्षेत्रों से ली गई है। 'हिन्दी साहित्य'[1] में चोर लेखकों पर, 'खड़ी बोली का पद्य'[2] में संकर शैली के कवियों पर, 'कलासर्वज्ञ सम्पादक'[3] में मूर्ख और धूर्त सम्पादकों पर, 'मातृभाषा का सत्कार'[4] में अंगरेजी पढ़े-लिखे मानसिक गुलाम बाबुओं पर, 'काशी का साहित्यवृक्ष'[5] में काशी के अकुशल उपन्यासकारों पर एवं 'मदरसों में प्रचलित हिन्दी और उसके पुरस्कर्त्ता'[6] में शिक्षाविभाग के अधिकारियों तथा पाठ्यपुस्तक-लेखकों पर सीधा और मार्मिक व्यंग्य है। यह व्यक्तिगत आक्षेप न होकर हिन्दी-साहित्य की अधोमुखी प्रवृत्तियों, अभावों और साहित्यघातक साहित्यकार-नामधारियों की व्यापकरूप से अप्रिय और कठोर किन्तु सर्वथा सत्य आलोचना है। जहाँ विशिष्ट साहित्यिकों

---

1. 'सरस्वती', १९०२ ई०, पृ० २५।
2. ,, ,, २९३।
3. ,, भाग ४, सं० ५।
4. ,, ,, सं० ६।
5. ,, ,, सं० ७।
6. ,, ,, सं० ९।

के नाम और रूप की झाँकी है। वहाँ भी आक्षेप के लिए अवकाश नहीं है।[१]

व्यंग्यचित्रों का अमोघ व्यंग्यबाण कभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हो सकता। साहित्य में इसका भी प्रयोजन है। बीस पृष्ठों की लम्बी-चौड़ी आलोचना जो काम नहीं कर सकती वह एक नन्हा-सा व्यंग्यचित्र कर सकता है। हिन्दी-साहित्य-कानन के झाड़-झंखाड़ को काट-छाँट कर उसका उद्धार करने के लिए द्विवेदी जी का यह क्रम परम सुन्दर था। खेद है कि उन्होंने इसकी समाप्ति करके हिन्दी को एक अमूल्य निधि से वंचित कर दिया।

उस युग की पत्रपत्रिकाओं में 'आज' की 'अरबी न फारसी,' 'संसार' की 'छेड़छाड़,' या 'देशदूत' की 'भंग की तरंग' न थी।[२] हिन्दी-जनता में पठनपाठन का प्रचार बहुत कम था। शिक्षित वर्ग अंग्रेजी-पत्रों का ही ग्राहक था। ऐसी परिस्थितियों में हिन्दी-पत्रिकाओं को विशेष आकर्षक और रोचक बनाना अनिवार्य था। द्विवेदी जी को आधुनिक 'बेढब', 'बेधड़क', 'चोंच' या 'सांड' की प्रतिभा नहीं मिली थी। वे 'सरस्वती' में निम्नकोटि की सामग्री जाने भी नहीं देना चाहते थे। उनका लक्ष्य था हिन्दी-पाठकों की रुचि का परिष्कार। हिन्दी में ध्येय-पूरक वस्तु न पाकर उन्होंने संस्कृत का आश्रय लिया। 'मनोरंजक-श्लोक'

---

१. यथा—

साहित्य-समालोचना

शूरवीर समालोचक

एक ऊंचा ताड़ का पेड़ है—उसकी चोटी पर पत्तों के झुब्बे के ठीक नीचे पेड़ से लिपटा हुआ एक वामनरूप बहुत ही छोटा मनुष्य है—पायजामा, बूट, अचकन पहने है—शिर में शिकारियों की सी हैट (अंगरेजी) है–हाथ में दोनली बन्दूक है–नीचे खड़े हुए चार मनुष्यों पर निशाना लगा रहा है–नली के मुँह से एक लम्बा अखबार लटकता है—

नीचे चार आदमी बहुत मोटे ताजे और ऊंचे पूरे गम्भीरता से खड़े हैं–एक दूसरे की ओर देख देख कर मुस्कराते भी जाते हैं—उनचारों के नाम हैं—

नाटकार–बाबू राधाकृष्ण दास की शक्ल सूरत और पोशाक का आदमी।

ग्रंथकार–बाबू श्यामसुन्दर दास की शक्ल का आदमी

कवि–हमारी शक्ल से मिलता हुआ।

धार्मिक–एक सन्यासी, सर घुटा हुआ, लम्बा जामा सा पहने हुए, हाथ में कमंडलु।

These four names and one above should appear."

उपर्युक्त रूपरेखा में अनेक व्यक्तियों के नाम और रूप का उल्लेख होते हुए भी यह व्यंग्यचित्र व्यक्तिगत आक्षेप से रहित है। इसमें द्विवेदी जी स्वयं समाविष्ट हैं।

'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां, १९०३ ई०, कलाभवन, का० ना० प्र० सभा।

२. 'आज', 'संसार' और 'देशदूत' नामक वर्तमान हिन्दी पत्र क्रमश: 'अरबी न फारसी', 'छेड़ छाड़' और 'भंग की तरंग' नामक शीर्षक देकर मनोरंजक सामग्री प्रकाशित करते हैं।

खंड के अंतर्गत संस्कृत के मनोरंजक एवं उपयोगी श्लोक नियमित रूप से भावार्थ-सहित प्रकाशित होने लगे।

केवल मनोरंजक श्लोकों को ही पाठकों की तृप्ति का अपर्याप्त साधन समझ कर द्विवेदी जी ने यथावकाश 'विनोद और आख्यायिका' खंड का समावेश किया। 'हंसी दिल्लगी' खंड की एकवर्षीय[१] योजना सम्भवत: स्वरचित 'जम्बुकी न्याय',[२] 'टेसू की टाँग'[३] और 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'[४] को विशेष महत्व देने और उनके व्यंग्य तथा आक्षेप की अप्रिय कटुता को सह्य बनाने के लिए ही की गई थी। ऐसा भी हो सकता है कि यह खंड प्रयोगरूप में समाविष्ट किया गया हो परन्तु लेखकों और पाठकों की अरुचि के कारण बन्द कर दिया गया हो।

उस युग में विद्या का प्रचार न था। एक ओर तो देश की अशिक्षित और अपढ़ गंवार जनता थी जिसका पत्रपत्रिकाओं से कोई नाता न था। दूसरी ओर उच्च वर्ग था जिसके लड़कों और लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी अंगरेजी का दास बनाने के लिए। संस्कृत पंडितों का समुदाय तो हिन्दी को शूद्र समझता था। जब माता-पिता ही हिन्दी-पत्रपत्रिकाओं के पढ़ने में रुचि नहीं रखते थे तब फिर उनको संतानों का ध्यान उधर क्यों कर जाता? बालक-बालिकाओं में भी सामयिकपत्रपठ की रुचि उत्पन्न करने के लिए द्विवेदी जी ने 'बालक विनोद' शीर्षक से बालोपयोगी रचनाओं के प्रकाशन की व्यवस्था की।[५]

किसी राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए पुरुषों के साथ साथ स्त्रियों के भी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकासकी आवश्यकता है। इस दिशामें पत्रपत्रिकाओं का उत्तर-दायित्व कम महत्वपूर्ण नहीं है। १९०३ ई० में द्विवेदी जी ने 'कामिनी कौतूहल' खंड में महिलोपयोगी एक या दो लेख प्रत्येक संख्या में प्रकाशित किए। आगे चलकर उन्होंने इन लेखों की अपेक्षा ज्ञानवर्द्धक व्यापक लेखों को ही अधिक उपयोगी समझा अतएव 'कामिनी-कौतूहल' के लेखों का प्रकाशन विरल कर दिया। 'सरस्वती' की स्त्रियोंपयोगी रचनाओं में

---

१. १९०६ ई०।
२. 'सरस्वती', १९०६ ई०, पृ० २२६।
३. ,, ,, ४१०।
४. ,, ,, ३८।
५. भगवान की बड़ाई।
कोयल
शहर और गांव। } 'सरस्वती', १९०६ ई०, पृ० २०२।

'सरस्वती', १९०८ ई०, पृ० ८३; १९११ ई०, पृ० ३०८ आदि।

द्विवेदी-लिखित नारियों के जीवनचरितों का उस युग के साहित्य में विशिष्ट स्थान है।

'सरस्वती' के विविध विषयों और वस्तुयोजना में ही नहीं अपितु उसकी वार्षिक विषय-सूची में भी द्विवेदी जी ने अपने सौंदर्य-प्रेम और व्यवस्थाबुद्धि का परिचय दिया। उन्होंने विषयसूची को विषयानुसार अनेक खंडों में विभाजित किया। सूची में प्रत्येक खंड की रचनाओं की नामानुक्रम से आयोजना की। यह क्रम १६१२ ई० तक रहा। तदनन्तर पाठकों की ज्ञानभूमिका के विकसित हो जाने पर विषय-विभाजन व्यर्थ प्रतीत हुआ और समस्त रचनाओं की अनुक्रमणिका एक साथ दी जाने लगी। पत्रिका का कलेवर गुरुतर हो जाने के कारण १६१३ ई० से वर्षभर की 'सरस्वती' को दो खंडों में विभाजित कर दिया—जनवरी से जून तक खंड १ और जुलाई से दिसंबर तक खंड २।

लेखों के साथ साथ रंगीन और सादे चित्रों की अलग अलग सूची भी 'सरस्वती' की एक विशेषता थी। वहीं पर वे चित्रों की योगसंख्या भी दे देते थे। वार्षिक विषयसूची की योजना अन्य कर्मचारियों पर न छोड़ कर बहुधा द्विवेदी जी स्वयं करते थे।[1] क्योंकि दूसरों की तनिक सी असावधानी से 'सरस्वती' की बहुत बड़ी हानि हो जाने की सम्भावना थी।

आज हिन्दी को भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त है। पत्रपत्रिकाओं की तो बात ही दूर रही, साहित्य की सुन्दरतम पुस्तकों में भी शुद्धिपत्र का पुछल्ला लगा मिलता है। वह हिन्दी का शैशवकाल था। अधिकांश संपादक तो प्रूफ-संशोधन की आवश्यकता ही नहीं समझते थे। 'रसिक बाटिका' के एक अंक के मुख-पृष्ठ पर मुद्रित पंक्ति 'ईरखा कुसनि खनि बाहर निसारे हैं'[2] बिल्कुल उल्टी छपी है। शब्द शीर्षासन कर रहे हैं। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के सम्पादक भी सम्भवतः प्रूफसंशोधन से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने में अपनी हेठी समझते थे। 'पुरुषों', 'नायक' या 'नायिका' के स्थान पर क्रमशः 'पुरूपों', 'नामक' या 'नामिका'[3] छपना संपादक के अक्षम्य अपराध का सूचक है।

आरम्भ में 'सरस्वती' के लेखक लिखना तक नहीं जानते थे। उनकी रचनाओं को संशोधक और संपादक द्विवेदी ने आद्योपान्त रंग डाला है। ऊपर-नीचे, दांए-बांए-चारों ओर काट-छांट की गई है। ये संशोधित प्रतियां साधारण योग्यता के कम्पोज़िटरों के लिए अत्यन्त अपाठ्य हो गई थीं।[4] उनकी कंपोज़िंग में अधिक त्रुटियों का होना अनिवार्य था। यह

१. 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, कलाभवन, काशीनागरी-प्रचारिणी सभा।
२. एप्रिल, १६०० ई०।
३. वर्ष ३रा, अंक १ला, पृ० २९।
४. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां।

द्विवेदी जी की ही संशोधन-बुद्धि का परिणाम है कि संपूर्ण 'सरस्वती' पढ़ जाने पर कदाचित् ही कहीं छापे की गलती दृष्टिगोचर हो। वे रहते थे कानपुर में, 'सरस्वती' छपती थी प्रयाग में. प्रेस के कर्मचारी, द्विवेदी जी के अधीनस्थ कार्यकर्ता, इस लगन और सावधानी से काम करते थे मानो द्विवेदी जी उनके सिर पर खड़े हुए पर्यवेक्षण कर रहे हों।

द्विवेदी-युग के आरम्भिक वर्षों और उसके पूर्व की अँगरेजी, बंगला और मराठी की पत्रिकाओं के सम्यक् आलोचन से पता चलता है कि द्विवेदी जी की सम्पादनकला में विशेष मौलिकता नहीं है। उसकी कला की महत्ता, वस्तुतः इन मासिक पत्रिकाओं की सम्पादन-शैलियों के सुन्दर सम्मिश्रण और संस्करण में है। 'सरस्वती' के प्रधान उत्तमर्ण 'केरल-कोकिल' (मराठी), 'प्रवासी' (बंगला) और 'माडर्नरिव्यू' (अंगरेजी) हैं। इन पत्रिकाओं की विषयसूची का मनोयोगपूर्वक दर्शन ही इस कथन की पुष्टि में पूरा समर्थ है।[1]

१८९४ ई० में केरलकोकिल की विषयसूची निम्नांकित खंडों में विभाजित थी–

१. चित्रें
२. अनेक विषय
३. कविता
४. मलबारचें वर्णन
५. लोकोत्तर चमत्कार
६. पुस्तक परीक्षा
७. स्फुट विषय
८. सृष्टि वैचित्र्य
९. किरकोल

१९०२ ई० में उसका विषयविभाजन इस प्रकार किया गया—

१. चित्रें आणि चरित्रें
२. कविता
३. निबन्ध
४. मनोरंजक गोष्ठी
५. पुस्तक परीक्षा
६. स्त्रियांचे लेख
७. पत्र व्यवहार
८. लोकोत्तर चमत्कार
९. कूट प्रश्न व उत्तरें
१०. किरकोल
११. ताजी खबर बात

द्विवेदीसम्पादित 'सरस्वती' के विविध विषयों पर 'केरलकोकिल' का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। द्विवेदी जी ने उपर्युक्त पत्रिका का अन्धानुकरण न करके उसके दोषों का परिहार और गुणों का ग्रहण किया। 'केरलकोकिल' में चित्रों और चरित्रों को कम महत्व दिया गया था, द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में उन्हें विशेष स्थान दिया। 'केरलकोकिल' के 'अनेक विषय', 'स्फुट विषय', 'किरकोल' और 'ताजीखबरबात' इन

---

१. देखिए परिशिष्ट- संख्या ४ क, ४ ख, ४ ग और ४ अ

चार खंडों को अनावश्यक समझ कर इनके विषयों का समावेश उन्होंने 'सरस्वती' के 'विविध विषय' और 'फुटकर विषय' नामक दो खंडों के अन्तर्गत किया। 'मलबारचें वर्णन' जैसे भौगोलिक विषयों का समावेश करने के लिए 'स्थल नगर जात्यादि वर्णन' का व्यापक खंड निकाला। 'लोकोत्तर वर्णन' और 'सृष्टि वैचित्र्य' के दो खंडों को व्यर्थ समझ कर 'अद्भुत विषय' या 'विचित्र विषय' का एक ही खंड 'सरस्वती' में रखा। निबन्धों को उनकी वस्तु के अनुसार विविध खण्डों के अन्तर्गत स्थान दिया परन्तु 'निबन्ध' नामक खंड को निष्प्रयोजन मान कर निकाल दिया। 'केरल कोकिल' में कविताएं नाम मात्र को प्रकाशित होती थीं, 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने कविताओं को सर्वाधिक स्थान दिया। कारण, एक तो हिन्दी- साहित्य के विविध अंगों में कविता का अनुपात अधिक था और दूसरे पाठकों की रुचि उस ओर विशेष थी। 'केरल कोकिल' की 'मनोरंजक गोष्ठी' को अपर्याप्त समझ कर उसके स्थान पर उन्होंने 'मनोरंजक श्लोक', 'विनोद और आख्यायिका' तथा कभी कभी हंसी-दिल्लगी' का भी समावेश किया। 'स्त्रियाँचे लेख' खंड अधिक व्यापक या उपयोगी न था, अतएव उन्होंनें 'सरस्वती' में 'कामिनी कौतूहल' की आयोजना की। द्विवेदी जी ने 'केरल कोकिल' के 'कूट प्रश्न व उत्तरें' का तिरस्कार किया क्योंकि उनका नियमित प्रकाशन कठिन था और यदि किया भी जाता तो उनके बदले पाठकों को अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण उपयोगी लेखों से वंचित होना पड़ता। 'केरलकोकिल' के अतरिक्त 'महाराष्ट्र कोकिल' की इतिहासविषयक लेखमाला और 'प्रवासी' के राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विषयों के लेखों का भी प्रभाव स्पष्ट है।[1] इनसे भी आगे बढ़कर द्विवेदी जी ने अध्यात्म, इतिहास, जीवनचरित, विज्ञान, शिक्षा आदि विषयक विशिष्ट खंडों की योजना द्वारा 'सरस्वती' को उच्चतर कोटि में प्रतिष्ठित किया।

'माडर्न रिव्यू' जनवरी १९०७ ई० से प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' का अनुवर्ती होने के कारण वह 'केरलकोकिल' या 'प्रवासी' की भांति उसे प्रभावित न कर सका। भाषानुसार उसकी पुस्तकपरिचयप्रणाली अत्यन्त सुन्दर थी, परन्तु द्विवेदी जी ने उसका अनुकरण नहीं किया क्योंकि 'सरस्वती' में केवल हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना नियमित और अन्य भाषाओं की पुस्तकों की समीक्षा अनियमित थी। चित्रप्रकाशन की शैली में 'माडर्न रिव्यू' की देन निस्सन्देह महत्व की है। 'सरस्वती' के अनेक चित्र तो उसी से लिए गए हैं।[2] ठोसपन और व्यापकता की दृष्टि से भी उसका 'सरस्वती' पर प्रभाव पड़ा है। उसके प्रकाशन के बाद

---

१. देखिए परिशिष्ट-संख्या ४ ख और ४ ग

२. 'सरस्वती' के 'शिवाजी' (सितम्बर १९०७ ई०) और 'अजविलाप' (जुलाई १९१४ ई०) क्रमशः 'माडर्न रिव्यू' के मई और जून १९०७ ई० से लिए गए हैं।

ने 'सरस्वती' के लेखों में अधिक गंभीरता आने लगी। इस गंभीरता का दूसरा कारण पाठकों की रुचि का परिष्कार और साहित्यिक भूमिका का विकास भी है। एक ही प्रेस से प्रकाशित होने के कारण 'सरस्वती' को अपने घर की सम्मानित पत्रिका 'माडर्न रिव्यू' के समानान्तर चलने का अवसर मिला। कदाचित् 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू' की ही देखादेखी द्विवेदी जी भी 'सरस्वती' की वार्षिक विषयसूची में विषयविभाजन की प्रणाली बन्द करके १९१३ ई० में समस्त रचनाओं की अनुक्रमणिका एक साथ देने लगे थे। इन सब पत्रिकाओं की अच्छाइयों के अतिरिक्त द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' के 'व्यंग्यचित्र', 'मनोरंजक श्लोक', 'विनोद और आख्यायिका', 'चित्रपरिचय' आदि उसकी विशेषताएँ हैं जो उसे पत्रिका-जगत् में एक विशिष्ट पद प्रदान करती हैं।

जहाँ 'सरस्वती' ने कतिपय पत्रिकाओं से थोड़ा बहुत लिया है वहां उसने अनेक पत्रिकाओं को बहुत कुछ दिया भी है। हिन्दी-पत्रिकाओं से उसने यदि कोई लाभ उठाया है तो उनकी दोषराशि से। द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' की समसामयिक या अनुवर्ती हिन्दी-पत्रिकाओं के समालोचन[1] से प्रमाणित होता है कि उनके आकार-प्रकार, विषयों की विविधता, समंजस वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियां, चित्रों के सन्निवेश की शैली आदि सभी बातें 'सरस्वती' की ही अनुकृति हैं। 'भारतेन्दु', 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'इन्दु', 'समालोचक', 'रसिकरहस्य', 'रसिकवाटिका', 'लक्ष्मी'[2] आदि के विविध आकारों के रहते हुए भी 'मर्यादा', 'प्रभा', 'चाँद', 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं ने 'सरस्वती' के ही आकार[3] को अपनाया। 'प्रभा' की सम्पादकीय टिप्पणियां, 'संसारप्रगति', और 'विचारप्रवाह' 'सरस्वती' के 'विविध विषय' के ही विविध रूप हैं। उसका 'सामयिक साहित्यावलोकन' 'सरस्वती' का 'पुस्तक-परिचय' ही है। उसके अधिकांश लेखक भी 'सरस्वती' के ही शिष्य हैं। 'माधुरी' के 'सुमन संचय' और 'विविध विषय' 'सरस्वती' की 'विविध वार्ता' के ही दो विभाग हैं।[4] उसका 'महिला मनोरंजक' 'सरस्वती' के 'कामिनी कौतूहल' के ही ढंग की वस्तु है। उसके 'पुस्तकपरिचय' और 'साहित्यसूचना' 'सरस्वती' की 'पुस्तक-परीक्षा' के ही दो खंड हैं। उसकी 'चित्रचर्चा' तो 'सरस्वती' के 'चित्रदर्शन' या 'चित्रपरिचय' का अविकल अनुकरण है। 'चाँद' के 'ग्रहविज्ञान', 'चिट्ठीपत्री' और 'रंगभूमि' खंड 'सरस्वती' के फुटकर

---

१. प्रस्तुत अवच्छेद का आधार परिशिष्ट संख्या ४ में दी हुई 'मर्यादा', 'प्रभा', 'माधुरी' और 'चांद' की विषय-सूची है।

२. 'लक्ष्मी' का आकार २०×२६× १/८ और अन्य सभी का १८×२२× १/८ था।

३. २०×३०× १/८

४. इस विभाजन का कोई सही सिद्धान्त समझ में नहीं आता।

और साहित्यिक विषयों से लिए गए हैं। उसकी इस योजना में नवीनता अवश्य है परन्तु इतिहास, अध्यात्म, भूगोल, शिक्षा, विज्ञान आदि के महत्तर खंडों के खंडहर पर इन नूतन खंडों का निर्माण अधिक श्रेयस्कर नहीं है। 'चाँद' की 'विनोदवाटिका' 'सरस्वती' के 'विनोद और आख्यायिका' खंड का ही रूपान्तर है। उसके 'विविध विषय', 'विश्ववीणा', 'हमारे सहयोगी' और 'सम्पादकीय विचार' 'सरस्वती' की 'विविध वार्ता' के ही चार विभाग हैं। उसकी चित्रसूची 'सरस्वती' की ही चित्रसूची का विकसित रूप है। उसके 'कुछ कौतूहल पूर्ण बातें' और 'साहित्य संसार' खंड 'सरस्वती' के क्रमशः 'विचित्र विषय' और 'पुस्तक-परिचय' के ही प्रतिरूप हैं।

सभी विषयों का चूड़ान्त ज्ञाता होना असम्भव है। द्विवेदी जी ने भी कभी सर्वज्ञ होने का दावा नहीं किया। प्रत्येक ज्ञानी अपने विशिष्ट विषय का विशेषज्ञ और अन्य सभी विषयों का अल्पज्ञ ही होता है। द्विवेदी जी साहित्य के प्रकांड पंडित थे और साथ ही उनके व्यापक ज्ञान की परिधि भी असाधारण रूप से विस्तृत थी उनके विविधविषयक निजी लेखों और अन्य लेखकों की विविधविषयक रचनाओं के साधिकार संशोधन से स्पष्ट प्रमाणित है कि उन्होंने इन सभी विषयों का गहरा अध्ययन किया था। वे वास्तव में परिश्रमी, सचेष्ट और ज्ञानपिपासु सम्पादक थे। उन्होंने योरप और अमेरिका से प्रसिद्ध प्रसिद्ध सामयिक पत्र और पुस्तकें मंगाने का प्रबन्ध किया।[1] उनके प्रकाशित लेखों के प्रकार और नई नई बातों के आविर्भाव को जानने की पूरी चेष्टा की।

तत्कालीन हिन्दी-पत्रों के सम्पादकों को यह ज्ञात ही न था कि भाषा, साहित्य, जाति, धर्म और संस्कृति के प्रति उनका कर्त्तव्य क्या है और उसका किस प्रकार पालन करना चाहिए। प्रायः प्रत्येक पत्रिका के मुखपृष्ठ पर उसके उद्देश का उद्‌बोधक एक मनोहर सिद्धान्त-वाक्य होता था। सभी पत्र हिन्दी और हिन्दुस्तान के कल्याण के ठेकेदार-से बने फिरते थे, परन्तु चरितार्थ करते थे 'आंख के अंधे नाम नयन सुख' की कहावत।

'हिन्दीप्रदीप' 'विवेक एवं विचार का प्रचार करने' और भारत के अन्धकार, मूर्खता और कुमति को दूर करने का बीड़ा लेकर प्रकाशित हुआ।[2] 'सुकविता यद्यस्ति राज्येन

---

१. 'सांवत्सरिक सिंहावलोकन', सरस्वती, भाग ५, सं० १२।

२. 'शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट ह्वै आनँद भरै।
बचि दुसह दुरजनवायु सों मणि दीप सम थिर नहिं टरै।
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामें जरै।
हिन्दी-प्रदीप प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै॥'
'हिन्दी-प्रदीप', सं० १-२, जिल्द २५, जनवरी-फरवरी १९०३ ई०।

किम्' का राग अलापने वाली 'रसिक वाटिका' ने सुकवियों को ही अपना माली और रक्षक बतलाया।[१] 'आनन्दकादम्बिनी' ने विद्वानों, रसिकों, नागरी, आर्यवंश और भारत का एक साथ मनोरंजन और मंगल करने की प्रतिज्ञा की।[२] 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की सूक्ति से विभूषित 'लक्ष्मी' अपने को परम प्रवीण घोषित करके अपने ही मुँह मियाँ मिट्ठू बन गई।[३] 'भारतेन्दु' ने अपनी कला द्वारा विश्वकल्याण करने का ठेका सा लेकर हिन्दी के उदयाचल पर पदार्पण किया।[४] 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः', कवीनां रसवद्वचः, आदि सुभाषितों के गायक 'रसिक रहस्य' ने स्वयं अपनी कला और मनोहारिता की प्रशंसा की।[५] 'इन्दु' अपने को रसरीतिकला से पूर्ण घोषित करता हुआ हिन्दीसाहित्यगगन में उदित हुआ।[६]

---

१. मुखपृष्ठ के शीर्ष पर—

'माली यहि बाग के सुकवि रखवारे हैं।
ईरखा कुसनि खनि बाहर निसारे हैं॥'
'रसिकबाटिका', भाग ४, क्यारी १, एप्रिल, १९०० ई०।

२. "चातक विबुध जन तोषि रसिक मयूर मन मोहत हरै।
बरसै सुविद्या वारि जामें नागरी सरवर भरै।
हरियाय आरजवंश छिति अरु ताप कुमतिन को टरै।
'आनन्दकादम्बिनी' भारत छाय जगमंगल करै॥"
'आनन्दकादम्बिनी', माला ४, मेघ १, १९०२ ई०।

३. "धर्म पयोधि निवासिनी कर्म कमल आसीन।
सत्यदेव पद सेविनी लक्ष्मी परम प्रवीन॥"
'लक्ष्मी', भाग ५, अंक ५, नवम्बर, १९०७ ई०।

४. कविजन कुमुदगन हिय विकासि चकोर रसिकन सुख भरै।
प्रेमनिसुधा सों सींचि भारत भूमि आलस तम हरै।
उद्यम सुओषधि पोखि विरहिन दाहि खल चोरन दरै।
यह भारतेन्दु प्रकासि अपनी कला-जगमंगल करै॥"
'भारतेन्दु', खंड १, सं०१, अगस्त, १९०५ ई०।

५. "काव्यकला दरसाय के किय बुधगन मन वस्य।
जगत माँहि यश दै रह्यो धनि धनि रसिकरहस्य।"—
'रसिकरहस्य', नवम्बर, १९०७ ई०।

६. "सज्जन चित्त चकोरन को हुलसावन भावन पूरो अनिन्दु है।
मोहन काव्य के प्रेमिन के हित सांच सुधारस को बलिबिन्दु है।
ज्ञान प्रकाश प्रसारि हिये बिच ऐसो जो मूरखता तम भिन्दु है।
काव्य महोदधि ते प्रगट्योरसरीति कला युत पूरण इन्दु है॥"
'इन्दु', कला १, किरण १, श्रावण, सं० १९६६।

हिन्दी का अभाग्य था कि इन पत्रिकाओं के सिद्धान्त-वाक्य मुखपृष्ठों के शब्दों तक ही सीमित रह गए। उनकी असफलता का प्रधान कारण सम्पादकों की अयोग्यता ही थी। उनके सम्पादक अन्य विषयों के आचार्य भले ही रहें हों, किन्तु सम्पादनकला के पंडित न थे। 'परम प्रवीन' 'लक्ष्मी' के एक अंक की विषयसूची इस प्रकार है–

१. वन्दे मातरम्	१—२
२. बुन्देलखंडी महाभारत	२—१०
३. काव्य और लोकशिक्षा	११—१५
४. संसार सुख	१५—१६
५. अपूर्व स्वास्थ्योपचार	२०—२१
६. मित्र महिमा	२२—२३
७. कंचन सती	२३—२६
८. लेख की समालोचना	२७—२८
९. समाचार[1]	२८—३०

उसकी भाषा की प्रवीणता और भी रोचक है—

"पर उसकी सब चेष्टा व्यर्थ हुई। सभी बातों की सीमा होती है, मालूम होता ह आज रमा का धीर्य भी सीमा को उल्लंघन कर गया है"[2] मोटे और काले शब्द विचारणीय हैं। जो सम्पादक 'र' और 'स', 'व' और 'ब', 'धीर्य' और 'धैर्य' तथा 'को' और 'का' में कोई अन्तर नहीं समझता वह भला हिन्दी का क्या हित कर सकता है ? उपर्युक्त उद्धरण 'एक वंग महिला' के लेख 'संसार सुख' से है। सम्पादक द्विवेदी की गरिमा के जिज्ञासु 'श्रीमती वंग महिला' का 'संसारसुख' एक ओर रख लें और दूसरी ओर रख लें द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी कोई अन्य रचना[3] और तब भाषा, भाव तथा शैल की दृष्टि से दोनों की तुलनात्मक समीक्षा कर के देखें कि अन्य सम्पादकों की अपेक्षा द्विवेदी

१. भाग ४, अंक ५।
२ लक्ष्मी', भाग ४, अंक ४, पृ० १४, १६।
३. श्रीमती वंगमहिला की 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ रचनाए —

चन्द्रदेव से मेरी बातें	भा०	४,	पृ० ४४०
अंडमन द्वीप के निवासी	,,	,,	६१
टोडा जाति	,,	४	१२७
योद्धा बाई	,,	६	३३१
दानप्रतिदान		७	१३६
कुम्भ में छोटी बहू	,,		३४२ आदि

जी का स्थान कितना ऊँचा है। 'प्रेमघन'-सरीखे धुरन्धर साहित्यकार द्वारा सम्पादित 'आनन्दकादम्बिनी' के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित उसकी गम्भीर गर्जना उदाहरणीय है—

"विद्या, विज्ञान, साहित्य, दृश्य, श्रव्य और गद्य, पद्य, मयकाव्य, राजकाज, समाज और देश दशा पर लेख, इतिहास, परिहास, समालोचनादि विविध विषय वारि बिन्दु भरित बलाहकावली"।[1]

उपर्युक्त शब्दावली का ठीक ठीक अर्थ सम्पादक जी का कोई समानधर्मा ही लगा सकता है। 'विद्या' को और विषयों से भिन्न क्यों किया गया है, 'साहित्य' 'गद्य' और पद्य' से बाहर क्या वस्तु है, 'श्रव्य और गद्य' किस व्यापक विषय के दो विभाग हैं, 'मयकाव्य', कौन-सा विषय है, कुछ विषयों पर 'लेख' और कुछ पर 'वारिबिन्दु' ही क्यों भरे गए हैं, रूपक के उपमेय और उपमान को वियुक्त क्यों रखा गया है—आदि सहज ही उत्पन्न शंकाओं का समाधान कौन करे ?

अन्य पत्रिकाओं के विविध विषय, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियों, पुस्तक-परीक्षा चित्र और चित्रपरिचय, साहित्य-समाचार, मनोरंजन की सामग्री, बाल-साहित्य-स्त्रियोपयोगी रचनाओं, विषयसूची, प्रूफसंशोधन आदि की चर्चा पहले ही हो चुकी है। वे सभी प्रकार से हीन थीं। 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' ने हिन्दी के पत्रसाहित्य में युगान्तर अवश्य किया परन्तु उसका क्षेत्र सीमित था।

'सरस्वती' ने वस्तुतः अपना नाम सार्थक किया। हिन्दी-पत्रिकाओं के दोषों को दूर करके उसने अपने बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य के आदर्श से हिन्दी के कलंक को धो दिया। आख्यायिका, जीवनचरित, कविता, विनोद, विविध वार्ता, चित्र आदि विषयोंके साथ ही साथ साहित्य, विज्ञान, भाषाविज्ञान, दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, व्याकरण, शिक्षा, शिल्प, संगीत, चित्रकला, धर्म, समाज, अर्थ, नीति आदि सभी शास्त्रों पर गम्भीर और गवेषणापूर्ण लेखों से सुसज्जित होकर उसने हिन्दी-संसार के लिए एक प्रौढ़ और समुन्नत विद्यापीठ का काम किया। उसके समाचार भी साधारण पाठकों के अध्ययन की वस्तु हैं। इस चलते फिरते प्रचारित विश्वविद्यालय में लाखों पाठकों ने घर बैठे शिक्षा पाई और पंडित, सुलेखक तथा कवि हो गए। अपनी विविध-विषयक सर्वांगीण उन्नत सामग्री और उसकी कलात्मक योजना के बल पर 'सरस्वती' तत्कालीन हिन्दी-जनता की विद्याबुद्धि की मापरेखा बन गई थी। इसका समस्त श्रेय द्विवेदी जी को ही है।

द्विवेदी जी एक निश्चित आदर्श सामने रख कर उपस्थित हुए थे। उनका उद्देश था

---

१. 'आनन्दकादम्बिनी', माला ४, मेघ १।

हिन्दी के सभी अंगों की यथायथ पूर्ति और हिन्दी-जनता की ज्ञानभूमि का सर्वतोमुख विकास। उन्होंने अपने युक्तियुक्त, गंभीर और पढ़ने वाले उपयोगी विचारों को विषयानुकूल मँजी हुई, बोधगम्य भाषा में हिन्दी-संसार के समक्ष उपस्थित किया। 'सरस्वती', द्विवेदी जी के अननुकूल विचारों की अभिव्यक्ति का साधन न बन सकी। प्रतिद्वन्द्वीनी लेखकों को उसमें कोई स्थान नहीं मिला। वह द्विवेदी जी के ही विचारों का प्रचार करती रही, परन्तु विज्ञापन के लिए नहीं, सम्पादक के किसी स्वार्थ-साधन के लिए नहीं, बल्कि हिन्दी के उत्थान और हिन्दी-भाषियों के कल्याण के लिए। द्विवेदी जी ने अपने को सफल सम्पादक सिद्ध किया, 'सरस्वती' पर अपनी छाप लगा दी। सम्पादक द्विवेदी ने एक प्रतिभाशाली नीतिज्ञ, सेनापति और शासक की भांति इतिहास को बदल दिया। उनकी सम्पादनशैली ने हिन्दी में अभूतपूर्व क्रान्ति उपस्थित की। हिन्दी के प्रत्येक क्षेत्र में उच्छृंखलता और अराजकता का अकंटक राज्य था। सम्पादक द्विवेदी ने अव्यवस्था में व्यवस्था उत्पन्न की। उनके द्वारा किए गए निर्दय और कष्टसाध्य संशोधन के बल पर कितने ही अयोग्य जनों ने भी कवि और लेखक का मुकुट धारण किया।[१] वे 'सरस्वती' की ईदृक्ता के विषय में लेखकों को सम्पादकीय विज्ञप्तियों या पत्रों द्वारा कठोरतापूर्वक सावधान कर दिया करते थे।[२]

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य का निर्वाह अदम्य शक्ति और अनन्य योग्यता से किया। वे अनेक बार बीमार पड़े। कितनी ही बार यात्रा करनी पड़ी। अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण समयाभाव रहा। कितने ही इष्ट-मित्र, संबन्धियों और कुटुम्बियों के असामयिक देहावसान ने समय समय पर उनके हृदय को अभिभूत किया। परन्तु 'सरस्वती' के प्रेषण और प्रकाशन में उन्होंने किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित होने दी।[३] उन्होंने अपनी सम्पादक-लेखनी का कभी भी दुरुपयोग नहीं किया, 'सरस्वती' और उसके सम्पादक पर किए गए गर्हित आक्षेप का भी अनुचित या अशिष्ट उत्तर नहीं दिया। किसी का कोप प्रसाद उन्हें विचलित और कर्तव्यच्युत न कर सका। 'सरस्वती' को लोकप्रिय बनाने में

---

१. सत्यशरण रतूड़ी, नारायण प्रसाद अरोड़ा, श्रीमती बंगमहिला, बाबू जीवन सिंह, कमलानन्द सिंह आदि साधारण तथा स्वामी सत्यदेव, मैथिलीशरण गुप्त आदि महान् साहित्यसेवी।

२. एक बार अक्षयबट मिश्र को लिखा था—मैं खुलकर लिखता हूँ। क्षमा कीजिएगा। सरस्वती के लिए लेख लिखते समय मेरी, सरस्वती की तथा अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रक्खा कीजिए। सरस्वती में स्थान पाना साधारण योग्यता का काम नहीं है।"

'बालक', 'द्विवेदी-स्मृति-अंक।'

३. फरवरी-मार्च, १९०३ ई० के सम्मिलित अंक की चर्चा ऊपर हो चुकी है।

उन्होंने कभी कोई कसर नहीं की। अपने लाभालाभ का कुछ भी विचार न करके पाठकों के हिताहित का ही ध्यान रखा। जो कुछ लिखा, केवल कर्तव्य-बुद्धि की प्रेरणा से लिखा।

सामयिक पत्र स्थायी साहित्य की सृष्टि नहीं करते। उनका कार्य है साहित्यिक समाचार देना और नियत समय में निश्चित विचारों का प्रचार करना। सम्पादक द्विवेदी ने पत्र की भाषा खड़ीबोली को निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित किया। गद्यभाषा को स्थिरता, प्रौढ़ता और प्रांजलता दी। हिन्दी में विविध शैलियों का बीजारोपण किया। हिन्दी-पाठकों की अधोगत रुचि को परिष्कृत करके उन्हें सत्साहित्य से प्रेम करना सिखाया। 'सरस्वती' में प्रकाशित उच्च कोटि की रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य को विस्तार और गौरव प्रदान किया। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को और 'सरस्वती' ने द्विवेदी जी को चमका दिया—

अन्योन्यदानाश्रयणाद्बभूव
साधारणो भूषणभूष्यभावः।

आठवां अध्याय

भाषा और भाषासुधार

हिन्दी-साहित्य में सूर, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सुमित्रा नन्दन पन्त आदि उच्च कोटि के कवि, प्रेमचन्द, प्रसाद, विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक' वृन्दावन लाल वर्मा, चतुर सेन शास्त्री, जैनेन्द्र कुमार आदि लोकप्रिय कथाकार; भारतेन्दु, प्रसाद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मी नारायण मिश्र, गोविन्द वल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास आदि प्रतिभाशाली नाटककार; गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा, भगवानदास केला, गुलाब राय, दया शंकर दुबे, जयचन्द्र विद्यालंकार, राहुल सांकृत्यायन, भगवत शरण उपाध्याय आदि विविधविषयक वाङ्मयस्रष्टा हैं, । परन्तु उसके समूचे इतिहास में भाषासुधारक का महत्वपूर्ण पद केवल एक ही दो व्यक्तियों को प्राप्त है और उनमें पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी अद्वितीय हैं। आधुनिक गद्य और पद्य की भाषा खड़ी बोली के परिमार्जन, संस्कार और परिष्कार का प्रधान श्रेय उन्हीं को है।

द्विवेदी जी ने दूसरों की ही नहीं अपनी भाषा का भी सुधार किया है। उनकी आरम्भिक रचनाओं—'अमृत लहरी', 'भामिनी विलास', 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' आदि—में लेखन-त्रुटियां, व्याकरण की अशुद्धियां और रचना-संबन्धी दोषों की इतनी प्रचुरता है कि वे, भाषा की दृष्टि से, द्विवेदी जी की कृतियां ही नहीं प्रतीत होतीं। द्विवेदी जी की उन कृतियों में व्याकरण या रचना के दोषों की प्रचुरता के अनेक कारण हैं। सर्वप्रधान कारण उस युग की व्यापक प्रवृत्ति है। बहुत से प्रयोग ऐसे हैं जिन्हें हम आज दुष्ट समझते हैं किन्तु उस समय वे साधु समझे जाते थे, उदाहरणार्थ, 'हमैं', 'पड़ेगा', 'हुवा', 'उस्के', 'तुझे निषेध नहीं करता' आदि। दूसरा कारण स्वयं द्विवेदी जी की प्रवृत्ति है। हिन्दी भाषा और साहित्य का पंडित होने के पहले उन्होंने संस्कृत, मराठी आदि का ही अध्ययन किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी आरंभिक कृतियों की रीति और शैली इन भाषाओं की विशिष्टताओं से आक्रान्त हो गई और कहीं कहीं अपरिचित अर्थ में प्रयुक्त शब्दों और वाक्यों के कारण उनकी भाषा का हिन्दीपन ही जाता रहा। द्विवेदी जी के ज्ञान की कमी और प्रूफसंशोधन के प्रमाद के कारण

भी उनकी भाषा में त्रुटियों की अधिकता हो गई। ज्यों ज्यों उनकी बौद्धिक इयत्ता बढ़ती गई त्यों त्यों उनकी भाषा का भी विकास होता गया। तत्कालीन प्रवृत्तियों और प्रूफ-संशोधन आदि की भूलों का ध्यान रखते हुए भी आज के समालोचक और भाषा की ईदृक्ता की दृष्टि से ही द्विवेदी जी की भाषा की समीक्षा की जायगी।

'अ' के स्थान पर उन्होंने 'इ' और 'उ' का तथा 'आ' के स्थान पर 'वा' का गलत प्रयोग किया है यथा, 'विकालत'[1] (बे. वि. र. भू. १), 'समुझा' (भा. वि. २), 'कुराख' (भा. वि ८८), 'हुवा' (भा. वि. १७, ३२) आदि। 'हुवा'—सरीखे प्रयोग उस युग के प्रायः सभी लेखकों की कृतियों में मिलते हैं। 'हरिणीयों' (भा. वि. २५), 'केली' (भा. वि. २८), 'प्राणीयों' (भा. वि. ३४), 'दृष्टी' (भा वि. ६७), 'कीशोरी' (भा. वि. ८२), 'स्वर्गी' (भा. वि. १०६), 'ट्रीनिटी' (बे. वि. र. भू १), 'इष्टसिद्धी' (बे.वि. र. ८४) आदि में अधोरेखांकित 'ई' का प्रयोग गलत है, 'इ' होना चाहिए। इन प्रयोगों पर मराठी का बहुत कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके विपरीत कहीं कहीं 'ई' के लिए 'इ' प्रयुक्त है— 'नहिं' (भा वि. २८), 'ज्योंहि' (भा. वि. २६), 'पूंछि गई' (भा. वि. १२३) आदि। 'उ' और 'ऊ' के प्रयोग में भी इसी प्रकार का व्यामोह हुआ है। 'तूझे' (भा.वि.१६), 'कारूणिक' (हि. शि. तृतीय भा. स. ३३) आदि में 'उ' और 'उपरोक्त' (भा. वि. २५) 'उपर' (भा. वि. २६), 'प्रतिकुल' (भा. वि. ३०) आदि में 'ऊ' की अपेक्षा थी। 'प्रथक प्रथक' (भा. वि. ३८) और 'भ्रकुटी' (भा. वि. १००) में 'र' के स्थान पर 'ृ' और 'पृथा' में (हि. शि. तृ भा. स. १७) 'ृ' के स्थान पर 'र' होना चाहिए। 'ए' के स्थान पर 'ऐ' और 'ये' का प्रयोग उस काल की व्यापक प्रवृत्ति है। 'करे', 'रहे', 'जानों', 'वीरों', 'तो', 'के', 'जिन्हें', 'से', आदि के बदले सर्वत्र ही 'करै', रहै', 'जनौं', 'वीरौं', 'तौ', 'कै',

---

१ कोष्ठक में अंकित अक्षर और अंक क्रमशः द्विवेदी-कृत रचनाओं के नाम और उनकी पृष्ठ-संख्या सूचित करते हैं।

भा वि =भामिनी विलास

बे. वि. र.=बेकन विचार रत्नावली

हि. शि. तृ भा. स.=हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना

स्वा.=स्वाधीनता

हि. का. स.=हिन्दी कालिदास की समालोचना

भू.=भूमिका

किरा.=किरातार्जुनीय

कु स.=कुमार-सम्भव

वे सं.=वेणीसंहार

'जिन्हें', 'मै' आदि प्रयोग मिलते हैं। 'लिये', 'शाखायें' ,'त्यागिये', 'गरुये' चाहिये' आदि में 'ये' का प्रयोग आज भी विवादग्रस्त है। 'चाहे जो कहिये और चाहे जो कीजिए' (वे वि. र. १०४)-जैसे एक ही संदर्भ में 'ये' और 'ए' का प्रयोग द्विवेदी जी की विकल्प-भावना का सूचक है। 'यकदम' (हि. शि. तृ. भा. स. १४४), 'यम. ए' (वे. वि. र. भू. १) में 'ए' के बदले 'य' लिखना अशुद्ध है। इन प्रयोगों में, जान पड़ता है, द्विवेदी जी उर्दू से प्रभावित हैं। विधिवाक्यों के 'लावो' (वे. वि. र. २०)-सरीखे क्रियापदों में 'ओ' के स्थान पर 'वो' का गलत प्रयोग तत्कालीन अन्य लेखकों की रचनाओं में भी प्रायः मिलता है। 'औेर' ('ओर' के लिए-भा. वि. २२) आदि में 'ओ' का स्थानापन्न 'औ' गलत है। सम्भव है कि यह छापे की भूल हो। गद्य-लेखन के आरंभिक काल में अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के प्रति द्विवेदी जी का विशेष मोह परिलक्षित होता है। 'करनेंवाला' (भा.वि. ६), 'नें' (भा. वि. ११), 'उसें' (भा. वि. २४), 'कें' (भा. वि. २६), 'बेंचने' (भा. वि. ८२), 'ग्रामीणों हीं' (हि. शि. तृ. भा. स. ४७), 'कालिमां' (वे.वि. र. ३४), 'दूसरें हीं' (वे. वि. र. ३२), 'पूंछ पांछ' (वे. वि. र. २५), 'पहंचान' (वे. वि. र. १२६) आदि में अनुनासिक की कोई आवश्यकता न थी। इसके विपरीत 'पहुचाता' (भा. वि. ४), 'कमलो मै' (भा. वि. ६), 'मे' आदि में अनुनासिक का तिरोभाव खटकने वाली बात है। यह त्रुटि भी प्रेसवालों के प्रमाद का परिणाम हो सकती है।

व्यंजनों के प्रयोग में भी उनकी लेखन-त्रुटियां अनेक हैं। 'प्रगट' (भा. वि. ५) में क' के स्थान पर 'ग' का प्रयोग भी उस काल की रचनाओं में प्रायः मिलता है। यह पुराने हिन्दी कवियों के प्रभाव का फल जान पड़ता है। 'घृण्ठ' (वे. वि. र. २५) और चेष्ठा' (वे. वि. र. ३१) में 'ट' तथा 'ओष्ट' (भा. वि. १३१) में 'ठ' होना चाहिए। ड' को 'ड़' और 'ड़' तथा 'ढ़' को 'ड' तथा 'ढ' कर देने की त्रुटि भी उन्होंने बारम्बार की है। उदाहरणार्थ, 'विड़म्बना' (भा. वि. १२), 'गंड़स्थल' (भा. वि. ६८), 'ड़ाला' भा. वि. ८३), 'पडते' (भा. वि. २), 'बडे बडे' (भा. वि. ११) 'लडाना' (वे. वि र. २४) छोड' (वे. वि. र. २४), 'ढूढा' (भा. वि ११), 'चढाई' (भा. वि. ३७), 'बढता' (वे. वे र. २५) आदि। 'बारम्बार' (वे. वि. र. १६), 'विना' (वे. वि र. ३६) आदि में ब' के स्थन पर 'व' का गलत प्रयोग मिलता है। हो सकता है कि हिन्दी न जानने वाले महाराष्ट्रीय कम्पोजिटर 'ड-ड़'-'ढ-ढ़' और 'ब-व' में कोई अन्तर ही न समझते रहे हों और इस प्रकार की त्रुटियां हो गई हों। 'निर्दई' (भा. वि. ३४), 'दुखदाई' (भा. वि. १२१) आदि विशेषण-पदों के अन्तिम 'ई' का प्रयोग अशुद्ध है, 'यी' होना चाहिए। 'दिआ' हि. का. सा. १०७)आदि एक वचन भूत कालके क्रियापदों में 'या' के स्थान पर 'आ'

का प्रयोग गलत है। इस प्रकार के प्रयोग की भी प्रवृत्ति उस काल के लेखकों में दिखाई देती है। 'र' और रेफ के प्रयोग में अनुचित स्वच्छन्दता से काम लेकर द्विवेदी जी ने 'निर्माण' का 'निरमाण' (भा. वि. भू. १), 'वर्णन' का 'वरणन' (भा. वि. ११), 'पूर्ण' का 'पूरण' (भा. वि. २२), 'निर्दयी' का 'निरदई' (भा. वि. ७८), 'निर्णय का 'निरणय' (भा. वि १६४), 'पार्लियमेंट' 'पारलियामेंट' (स्वा. भू. ३), 'मनोरथ' का 'मनोर्थ' (भा. वि. १४०) और 'अन्तःकरण' का 'अन्त-कर्ण' (भा. वि. १५६) कर दिया है। 'विध्वंश' (भा. वि ६३) और 'शोचविचार' (वे. वि. र. २६) में 'स' के स्थान पर 'श' का प्रयोग संस्कृत के प्रभाव के कारण हुआ है। कहीं कहीं उन्होंने वर्णों के संयोग में क्रमविपर्यय कर दिया है। जैसे 'तुह्मारी' (भा. वि. १७), 'तुह्मै' (भा. वि. १७) आदि। 'सक्ता' (हि. शि. भा. तृ. स. ५३) में तो असंयोजनीय 'क' और 'त' को संयुक्त कर दिया है। इस प्रकार के प्रयोगों का कारण उस युग की व्यापक प्रवृत्ति ही है।

द्विवेदी जी की ही नहीं तत्कालीन अन्य साहित्यकारों की रचनाओं में भी सर्वत्र ही व्याकरण-संबंधी अराजकता है। द्विवेदी जी की अशुद्धियां अपेक्षाकृत कम हैं। ष्यञ प्रत्यय के प्रयोग से बनी हुई भाववाचक संज्ञाओं में फिर एक दूसरा भाववाचक प्रत्यय 'त' (तल्) जोड़कर संज्ञा शब्द बनाना ठीक नहीं। 'चातुर्यता (भा. वि. २३), 'साम्यता' (हि. शि. तृ. भा. स. ६५) 'सौन्दर्यता' (हि. शि. तृ. भा. स. ६६), 'तारुण्यता' 'माधुर्यता', 'आधिक्यता', 'चैतन्यता' आदि प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध हैं। परन्तु इस प्रकार के प्रयोग उस समय साधु माने जाते थे। कहीं तो विशेषण के लिए भाववाचक संज्ञा और कहीं भाववाचक संज्ञा के लिए विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'सुकरता के अर्थ में 'सुकर' (भा. वि.१६२) और 'अरोग' के अर्थ में 'आरोग्य' (इससे शरीर आरोग्य रहता है—वे. वि. र. ३८) का प्रयोग गलत है।

'चन्द्रमा ने दूर कर दिया है अन्धकार पटल जिन्हों का ऐसी निशायें' (हि. का. स. ५४) में 'जिन्हों' का प्रयोग अशुद्ध है। जब 'जो' सर्वनाम कारक-विभक्ति के साथ बहुवचन में प्रयुक्त होता है तब उसका रूप कर्ता कारक में 'जिन्हों' किन्तु अन्य कारकों में 'जिन' हो जाता है। उपर्युक्त वाक्य में 'जिन्हों का' के स्थान पर 'जिनका' होना चाहिए था। उस काल के अन्य लेखकों में भी 'उन्हों का'—जैसे प्रयोग की प्रवृत्ति का कारण सम्भवतः यह है कि उन लेखकों ने 'उन्हों' के साथ कर्ता कारक की विभक्ति 'ने' के स्थान पर सम्बन्ध कारक की विभक्ति 'का' लगा देने में कोई दोष नहीं समझा। कहीं कहीं अंगरेजी और संस्कृत से प्रभावित होने के कारण भी उन्होंने हिन्दी सर्वनामों के प्रयोग में गलती की है। 'उसको उसके पिता के मरने का समाचार मिला' (वे. वि. र. भू. १) यह वाक्य अंगरेजी के

'He received the news of his father's death' का गलत अनुवाद है। अंगरेजी और संस्कृत के सम्बन्धवाचक सर्वनाम निजवाचक भी होते हैं, परन्तु हिन्दी में निजत्व-बोध के लिए 'अपना' सर्वनाम-शब्द प्रयुक्त होता है। अतएव उयुक्त वाक्य में 'अपने पिता' होना चाहिए। यही भूल 'हे गज शावक! तेरे निकट आए हुए इस भ्रमर की कदापि अवज्ञा न कर' (किरा. १४) में की गई है। 'तेरे' के बदले 'अपने' होना चाहिए था।

विशेषण-सम्बन्धी अशुद्धियों में विशेष समालोच्य स्थान सार्वनामिक विशेषणों का ही है। 'कौन कौन मनुष्यों ने' (भा. वि. १६४) और 'कौन कौन सी शोभा का मैं उल्लेख करूं' (किरा.६६) में 'कौन कौन' का प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध है। जब 'कौन' से विशिष्ट विशेष्य में कारक विभक्ति लगती है तब उसका रूपान्तर बहुवचन में 'किन' और एक वचन 'किस' हो जाता है। इस नियमानुसार पहले उद्धरण में 'किन किन' और दूसरे में 'किस किस' का प्रयोग उचित होता। 'अपना हित साधन में' (वे. वि. र. २७) में 'अपना' के बदले 'अपने' होना चाहिए। कारक-विभक्ति-युक्त विशेष्य का विशेषण आकारान्त से एकारान्त हो जाता है। 'केशवदास जी ने अपनी रामचन्द्रिका काव्य में अनेक गणात्मक छन्दों का प्रयोग किया है। (ऋतु तरंगिणी भू. १) में 'अपनी' के स्थान पर विशेष्य 'काव्य' शब्द के लिंगानुसार 'अपने' होना चाहिए, क्योंकि, 'रामचन्द्रिका काव्य' समानाधिकरण तत्पुरुष के रूप में प्रयुक्त है और तत्पुरुष समास के योग में विशेषण के लिंग और वचन विशेष्य के अन्तिम पद के अनुसार होते हैं।

यदि किसी वाक्य में एक ही क्रिया के अनेक कर्त्ता हों तो उसका लिंग-अंतिम कर्त्ता के अनुसार होता है। 'बाएं में रीछ अथवा बंदर और बकरी सामने खड़े हैं'[1] में 'खड़े हैं' अशुद्ध है। 'खड़ी हैं' होना चाहिए या 'बाएंमें रीछ अथवा बन्दर और बकरी दोनों खड़े हैं।' जिन सकर्मक क्रियाओं में कर्म के साथ कारक-विभक्ति न प्रयुक्त हुई हो उनके लिंग और वचन वर्तमान और भविष्यत् कालों के अतिरिक्त सर्वत्र ही कर्म के अनुसार होते हैं। द्विवेदी जी ने इस नियम के विरुद्ध अनेकशः प्रयोग किए हैं। 'दुष्टता सूचित करना चाहिए' (भा. वि. ३), 'चेष्टा न करना चाहिए' (स्वा. भू. ११), 'वैयाकरण की भाषा सर्वसम्मत होना चाहिए' (सरस्वती, भाग ६, सं० ७, पृ० २८१), 'खुशामद करना पड़ता है' (लेखांजलि, निवेदन, पृ० २) आदि स्थलों पर 'करना' के स्थान पर 'करनी' का प्रयोग ही व्याकरण-संगत है। द्विवेदी-युग के आरंभ में क्रियाओं के उपर्युक्त प्रयोग साधु समझे जाते थे।

---

१. द्विवेदी जी का व्यंग्य-चित्र–'साहित्य सभा', 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां, १६०३ ई०, कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

१६२३ ई० में भी उन्होंने यह त्रुटि की है। 'उसकी रक्षा जी-जान से करनी चाहिए'[1] में तो उन्होंने शुद्ध प्रयोग किया किन्तु कुछ ही दूर आगे चलकर गलती कर दी-'हमें और भाषाओं की सम्पन्नता करना है।'[2] संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग में भी कम अशुद्धियां नहीं हुई हैं—

'उनके अंजनहीन नेत्रों की शोभा कटाक्षों ने बनी रक्खी, उनके धुले हुए लाक्षारसवाले अधरों की शोभा कंपकंपी ने बनी रक्खी, और उनके तिलक रहित ललाटों की शोभा रेखाओं ने बनी रक्खी।'[3]

उपर्युक्त वाक्य में 'बनी' अशुद्ध है, शुद्ध प्रयोग है 'बना', कारण, कर्म-प्रधान वाक्य के भूत-काल में केवल सहायक क्रिया में ही भूतकालिक प्रत्यय लगता है, मुख्य क्रिया के धातुरूप का 'न' मात्र उड़ा दिया जाता है। परन्तु वर्तमानकालिक कृदन्त के मेल से बनी हुई मुख्य क्रिया, लिंग और वचन में, सहायक क्रिया की ही भांति प्रयुक्त होती है। अतएव 'जो मनुष्य...निरीक्षण करते रहता है' (बे. वि. र. २२) में प्रयुक्त 'करते' के स्थान पर 'करता' होना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि लेखक ने 'बनी' शब्द का प्रयोग भूतकालिक धातुसाधित विशेषण 'बनी हुई' के अर्थ में किया हो और लाघव के कारण हुई' का लोप कर दिया हो। क्रियार्थक संज्ञाओं के मेल से बनी हुई और साधारणरूप में प्रयुक्त मुख्य क्रियाओं के भी लिंग और वचन सहायक क्रिया के ही समान होते हैं। लिंग और वचन के प्रत्यय मूल क्रिया में जोड़े जाते हैं। 'आघात सहन करना पड़ते हैं' (बे. वि. र. १३३) में 'पड़ते हैं' पुल्लिग बहुवचन है, अतः 'करना' का भी पुल्लिग बहुवचनरूप 'करने' होना चाहिए। 'बाण छूटने ही चाहता है' (कु. स. ५३) में 'चाहता है' एक वचन पुल्लिग है, अतः मुख्य क्रिया का एकवचन पुल्लिगरूप 'छूटना' ही शुद्ध है इस प्रकार के प्रयोगों के मूल में एक विशेष कारण जान पड़ता है। सम्भवतः 'मैं जाने को तैयार हूँ' आदि की भांति 'बाण छूटने ही को चाहता है' इस प्रकार का वाक्य लेखक के मन में था और लाघव के लिए उसने कारक-विभक्ति 'को' का लोप कर दिया। यह प्रवृत्ति भी उस काल के लेखकों में व्यापकरूप से पाई जाती है।

पद्य की बात तो दूर रही उनकी गद्यभाषा में भी पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में अशुद्धि पाई जाती है। 'समझकर' के लिए 'समझे'(भा. वि. १३), 'देखकर' के लिए 'देख' (भा. वि.

---

१. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, पृ० २४।
२. ,, ,, ,, पृ० ३०
३. 'किरातार्जुनीय', पृ० १७२।

७८), 'बिता कर' के लिए 'बिताय' आदि प्रयोग आज के खड़ीबोली-व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं हैं। भूतकालधातुसाधित विशेषणों के अर्थ में धातुसाधित संज्ञाओं का गलत प्रयोग प्रायः हुआ है। 'कुंभ को विदारण करके' (भा. वि. २६), 'महिमा स्फुरण होती है' (भा. वि. ४०), 'सर्पिनी स्थापन की है' (भा. वि. ५५),'……को समर्थन किया है' (हि. का. स. १११), 'जो…नाश हो जाता है' (वे. वि. र. ३), 'चित्त को आकर्षण कर लेता है' (वे. वि. र. २४), 'नमूना कल्पना किया है' (वे. वि. र. १३१) आदि उद्धरणों में क्रमशः 'विदारित', 'स्फुरित', 'स्थापित', 'समर्पित', 'नष्ट', 'आकृष्ट', 'कल्पित' आदि होना चाहिए। 'प्रकाश निर्माण किया'-सरीखे वाक्यों में यदि 'निर्माण' संज्ञा के स्थान पर धातुसाधित विशेषण 'निर्मित' का प्रयोग नहीं किया तो भाषा-शुद्धि के लिए 'प्रकाश' और 'निर्माण' के बीच संयोजक-चिन्ह ही लगा देना चाहिए था। इस प्रकार 'प्रकाश'-'निर्माण' 'किया' सकर्मक क्रिया का कर्म हो जाता। संयोजक-चिन्ह के अभाव में 'निर्माण' का पदान्वय हो ही नहीं सकता। ये प्रयोग भी तत्कालीन लेखकों की दृष्टि में असाधु नहीं थे।

'हाय यह क्या ही कष्ट है' (भा. वि, १०१) में 'क्या ही' अव्यय वेदना की अभिव्यंजना नहीं करता, उसका प्रयोग चमत्कारादि का द्योतक है। 'वे सब लड़के एक ही कुटुंम्ब के मात्र होने चाहिए' (वे. वि. र. ३०) में 'ही' और 'मात्र' दोनों अव्ययों का प्रयोग असंगत है। 'कुटुम्ब' और 'मात्र' के बीच 'के'-रूपी व्यवधान नहीं होना चाहिए,उन दोनों की सन्निधि अपेक्षित है। 'यह विकार केवल मात्र मूर्खता का परिणाम है' (वे. वि. र. ५६) में 'केवल' और 'मात्र' एक ही अर्थ की अनावश्यक पुनरावृत्ति करते हैं। अवधारण-सूचक अव्यय 'केवल' किसी संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण के निरन्तर पूर्व और 'मात्र' पश्चात् प्रयुक्त होता है।

यद्यपि हिन्दी-व्याकरण संस्कृत के नियमों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है तथापि द्विवेदी जी ने अनेक शब्दों का लिंग-प्रयोग संस्कृत के ही अनुसार किया है। 'हमारा विनय' (हि. शि. तृ. भा. स. १०६), 'के धातुओं' (वे. वि. र. ४), 'हमारा मृत्यु' (वे. वि. र. १३), 'तेरा पराजय' (वे. सं. ७), 'के शोकाग्नि' (वे. सं. ७५) 'के बूंद' (कु. स. ३), 'के किरण' (कु. स. ७८) आदि प्रयोग हिन्दी की दृष्टि से अशुद्ध हैं। उपर्युक्त संज्ञाओं तथा 'खोज' (सरस्वती, भाग ५, सं० १० पृ० ३६१), 'समझ' (वे. वि. र. १७) आदि का प्रयोग स्त्रीलिंग में होना चाहिए। इसके विपरीत 'पांडित्य' (भा. वि. २), 'सौरभ' (भा. वि. ४), 'सूर्यातप' (भा. वि. १६) 'द्रव्य' (भा. वि २४),

'राज्य' (भा. वि. २६), 'पुण्य' (भा. वि. २६) 'सादृश्य' (भा. वि. ४६), 'लावण्य' (भा. वि. ८२), 'काव्य' (भा. वि. १६६), 'माधुर्य' (भा. वि. १६८) आदि शब्दों का स्त्रीलिंग-प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध है। एकत्र प्रयुक्त अनेक संज्ञाओं के विशेष्यविशेषणों का लिंग पहली संज्ञा और विधेयविशेषणों तथा क्रियाओं का लिंग अन्तिम संज्ञा के अनुसार होता है। 'अपना निन्दा या तिरस्कार' (किरा. १५) तथा 'अपने आय और व्यय' (वे. वि. र. १०) में 'अपना' और 'अपने' के स्थान पर 'अपनी' होना चाहिए। इसी प्रकार 'इस भूमि को बिना कृष्ण का···कर दूंगा' (वे. सं. ४६) में 'का' और 'छोटे छोटेगुण, बुद्धि-कौशल्य तथा देश की साधारण रीतियां–यही सब मनुष्य के भाग्योदय का कारण होते हैं' में 'होते हैं' का प्रयोग गलत है। तत्पुरुष समास के योग में विशेषण और क्रिया अन्तिम पद के लिंग में ही प्रयुक्त होती है। 'अकेली ईकार'[1] और 'शिव पार्वती प्रसन्न हुए' (कु. स. १३७) में 'अकेली' और 'हुए' अशुद्ध हैं, शुद्ध प्रयोग हैं; 'अकेला' और 'हुई'। सम्भव है कि उपर्युक्त वाक्य 'शिव-पार्वती दोनों प्रसन्न हुए' का संक्षिप्त रूप हो और 'दोनों' शब्द के निकल जाने पर भी क्रिया को अविकल रखने की प्रवृत्ति बनी रही हो। कहीं कहीं तो द्विवेदी जी ने एक ही लेख में एक ही शब्द का दोनों लिंगों में प्रयोग किया है, यथा, 'बड़ा गड़बड़ है' (सरस्वती, भाग ६, सं० ११, पृ० ४३३) और 'गड़बड़ पैदा हो जायगी' (सरस्वती, भाग ६, सं० ११ पृ ४३४)।

वचन की अशुद्धियां अपेक्षाकृत विरल हुई हैं। 'आख्यायिकाओं' के स्थान पर 'आख्यायिकों' (भा. वि. भू. ५)-सरीखे प्रयोग कुत्रचित् ही नयनगोचर होते हैं।

'जाने को तुझे निषेध नहीं करता' (भा. वि. २३, 'अन्तःकरण को चुम्बन किया' (भा. वि. ४४), 'असत्य को निर्णय कर के' (वे. वि. र. २७), 'इस काम को सम्पादन करता' (वे. वि. र. भू. ७) और 'जो श्लोक हमने उद्धरण किया है' (हि. का. स. ५६) में प्रयुक्त 'निषेध', 'चुम्बन', 'निर्णय', 'सम्पादन' और 'उद्धरण' धातुसाधित कार्यवाचक संज्ञाएं हैं। प्रस्तुत संदर्भों में उनका पदान्वय किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। यदि उन्हें 'करना' क्रिया के कर्मरूप में लिया जाय तो फिर उनके पूर्ववर्ती 'तुझे', 'अन्तःकरण', 'असत्यता', 'काम' और 'श्लोक' का पदान्वय क्या होगा? 'निषेध' आदि 'तुझे' आदि के समानाधिकरण हैं नहीं, क्योंकि 'तुझे' आदि में कर्म कारक की विभक्ति लगी हुई है और 'निषेध' आदि में नहीं। 'करना' क्रिया द्विकर्मक न होने के कारण दो कर्म नहीं रख सकती। अतएव पदान्वय और वाक्य-शुद्धि के लिए 'का' आदि संबन्ध कारक में होने चाहिए, जिससे 'निषेध' आदि 'करना' क्रिया के कर्म-रूप में अन्वित हो सकें। इस प्रकार

---

१. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, पृ० ५८

के प्रयोगों की प्रवृत्ति का कारण स्पष्ट है। तत्कालीन लेखकों ने 'निषेध करना', 'सम्पादन करना' आदि को एक सकर्मक-क्रिया-पद मानकर उनका तादृश प्रयोग किया। उनके मस्तिष्क में 'निषेध, 'सम्पादन' आदि संज्ञा के रूप में नहीं आए। 'धर्मोपदेशक को अविवाहित रहना अच्छा है' (वे. वि. र. ७३) में 'रहना' संज्ञा-रूप में प्रयुक्त है, अतएव धर्मोपदेशक में सम्बन्ध कारक का चिन्ह 'का' होना चाहिए। 'को' के इस गलत प्रयोग का सम्भावित कारण यह है कि लेखक ने सम्प्रदान कारक की दोनों विभक्तियां 'को' और 'के लिये' को एक ही समझ कर 'के लिये' के स्थान पर 'को' की ही योजना कर दी है। 'जो स्वयं विपुलता से उपमा दी जाती है' में 'जो' का प्रयोग असंगत है, 'जिसकी' होना चाहिए। प्रस्तुत वाक्य 'या स्वयं विपुलतया उपमीयते'-जैसे संस्कृत-वाक्य का अनुवाद-सा जान पड़ता है। द्विवेदी जी ने अपना साहित्यिक अध्ययन संस्कृत से ही आरम्भ किया था और तत्पश्चात् हिन्दी में आए थे। इस प्रकार के प्रयोग उसी संस्कार के परिणाम हैं। 'वह··· चल दिया' (वे. वि. र. भू. १) में 'वह' अशुद्ध है, शुद्ध होगा 'उसने' कारण, संयुक्त क्रिया का कर्ता सहायक क्रिया के अनुसार होता है। प्रस्तुत वाक्य में 'दिया' 'देना' क्रिया का सामान्य भूत है और बोलना, भूलना तथा लाना को छोड़ कर सामान्य, आसन्न, पूर्ण और संदिग्ध भूत में प्रयुक्त अन्य सभी सकर्मक क्रियाओं के कर्ता के साथ 'ने' विभक्ति अवश्य लगती है। भाषा के सिद्ध प्रयोग के अनुसार उपर्युक्त अवस्था में 'वह' का 'उसने' हो जाना चाहिए। 'धन्य इस भाषान्तर की' (हि. का. स. २६) में 'भाषान्तर' सम्बन्ध कारक में नहीं होना चाहिए। 'धन्य' विशेषण और 'भाषान्तर' संज्ञा है। संज्ञा और विशेषण का संबंधित-संबंधी-संबंध कैसा? कर्ता कारक में प्रयुक्त 'भाषान्तर' ही व्याकरण-सम्मत हो सकता है। सम्भवतः 'दुहाई' आदि विस्मयादि-बोधक अव्ययों के प्रभाव के कारण ही उपर्युक्त गलती हुई है। समानाधिकरण के प्रयोग का परिपक्व ज्ञान न होने के कारण कहीं कहीं अनावश्यक सर्वनामों का प्रयोग भी द्विवेदी जी ने किया है। 'बाबू साधुचरणप्रसाद जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है उनकी शक्ल दरकार है'[1] में 'उन' का कोई प्रयोजन नहीं था। मुख्य वाक्य है 'बाबू साधु चरण प्रसाद की शक्ल दरकार है'। 'जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है' यह एक विशेषण-वाक्य है जिसका विशेष्य है 'साधुचरण प्रसाद'। बीच में 'उन' के लिए कहीं स्थान ही नहीं है। अतः इस वाक्य का शुद्ध रूप होगा 'बाबू साधुचरण प्रसाद की, जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है, शक्ल दरकार है।' यदि मूल वाक्य में प्रयुक्त सभी शब्दों को रहने दिया जाय तो उसका विन्यास इस प्रकार होना चाहिए—'उन बाबू साधुचरण प्रसाद की शक्ल दरकार है जिन्होंने पर्यटन पर एक ग्रन्थ लिखा है।'

---

१. 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, १९०३ ई०, 'साहित्य समालोचना', 'साहित्य सभा

'उरोपक्त' (हि. शि. तृ. भा. स. ५८), 'सन्मुख' (भा. वि. १६), 'सन्मान' (वे. वि. र ११), 'विद्वत' (वे. वि. र. ६६) 'प्रेसाध्यक्ष'(वे.वि. र. मुख पृष्ठ) आदि शब्दों में की गई संधियां चिन्त्य हैं। 'उपरोक्त' का विग्रह हो सकता है उपर+उक्त, परन्तु 'उपर' कोई शब्द नहीं है। उसपे मिलते जुलते उसी अर्थ के व्यंजक दो अन्य शब्द हैं—संस्कृत का का 'उपरि' और हिन्दी का ऊपर। इन दोनों के योग से क्रमशः दो शुद्ध संधिरूप हो सकते हैं 'उपर्युक्त' और 'ऊपरोक्त'। 'उपरोक्त' सर्वथा अशुद्ध है। फिर भी प्रयोग चल पड़ा अतः मान्य है। 'सन्मुख' और 'सन्मान' में पहला शब्द 'सम्' उपसर्ग है, 'सत्' नहीं। सन्धि के नियमानुसार किसी वर्ग के वर्ग का पंचम वर्ण ही अपने पूर्ववर्ती अनुस्वार का स्थानापन्न हो सकता है। अतएव उपर्युक्त शब्दों में 'न्' के स्थान पर 'म' होना चाहिए। पंचम वर्ण के प्रयोग में अन्य संदर्भों में भी भूलें हुई हैं। 'इन्डियन' (वे. वि. र. ६७) का 'इंडियन' या 'इण्डियन' और 'सेन्ट' (वे. वि. र. १२७) का 'सेंट' या 'सेण्ट' होना चाहिए। अन्य भाषाओं के शब्दों की लिखावट में यह नियम शिथिल किया जा सकता है। 'विद्वता' शब्द भी अप्रसिद्ध है। संस्कृत शब्द है 'विद्वत्' और हिन्दी में 'विद्वान्' या 'विद्वान'। 'ता' प्रत्यय के योग से 'विद्वत्ता', 'विद्वान्ता' या 'विद्वानता' शब्द ही बन सकते हैं, 'विद्वता' नहीं। 'विद्वान्ता' और विद्वानता' असाधु हैं, 'विद्वत्ता' ही व्याकरण-संगत है। अंगरेजी 'प्रेस' और संस्कृत 'अध्यक्ष' की संधि और समास में बड़ी विचित्रता है।[1] द्विवेदी जी की आरंभिक रचनाओं में कहीं कहीं शास्त्र-विरुद्ध शब्द-सृष्टि भी की गई है 'दम्पति' के अर्थ में 'दम्पत्य' (भा. वि. ८३) एक असंभावनीय सामासिक पद है। संस्कृत में 'जाया' और 'पति' के समास से 'जायापती', 'जम्पती' और 'दम्पती' शब्द बनते हैं। 'दम्पती' हिन्दी में 'दम्पति' हो गया है। 'दम्पत्य' अशुद्ध है। उसके स्थान पर 'दम्पति' या 'दम्पती' होना चाहिए। क्रिया-विशेषण के रूप में दीर्घसमस्तपदावली का प्रयोग सुन्दर नहीं जँचता। 'उच्छृंखलताधारणपूर्वक विषयासक्त हो जाते हैं' (वे. वि. र. ३०) में 'पूर्वक' के स्थान पर पूर्वकालिक क्रिया 'करके' का प्रयोग अधिक संगत होता।

'हस्ताक्षेप' (वे. वि. र. ४१) में 'क्षेप' के पूर्व 'आ' उपसर्ग अनावश्यक और व्यर्थ पांडित्य-प्रदर्शन का द्योतक है। प्रत्ययों के प्रयोग में भी द्विवेदी जी ने भूलें की हैं। 'अरोग्य' (वे. वि.३७) का 'आरोग्य' होना चाहिए। 'एक' और 'अरोग्य' में ष्यञ् प्रत्यय लगने से 'ऐक्य' और 'आरोग्य' भाववाचक शब्द बनते हैं, फिर उनमें भी उर्दू के जमउल जमा की भांति 'ता' (तल्) जोड़कर 'ऐक्यता' (वे. वि. र. ४६) और 'आरोग्यता' (वे. वि. र. ६०)

---

१. यदि हिन्दी ने 'प्रेस' शब्द को पूर्णतः पचा लिया है तो फिर यह प्रयोग ठीक है।

बनाना व्याकरण-विरुद्ध है। इन प्रयोगों में तत्कालीन लेखकों की व्यापक प्रवृत्ति होने के कारण ये साधु समझे जाते थे। 'प्रकटित करते' हैं (वे. वि. र. ६०) में 'प्रकटित' क्यों ? 'क्त' प्रत्यय अनपेक्षित है। अभीष्ट भावाभिव्यंजन में 'प्रकट करते हैं' पूरा समर्थ है।

यत्र तत्र शब्दों की आकांक्षा और अन्वय का भी द्विवेदी जी ने विस्मरण कर दिया है। मीठे मीठे शब्द करने वाले हंस ही मानो उस भूमि रूपिनी कामिनी की करधनी थी' (किरा. ७६) वाक्य में 'हंस' कर्ता पुल्लिंग क्रिया 'थे' की आकांक्षा रखता है। 'करधनी' पूरक-रूप में अन्वित है। यदि 'करधनी' को पूरक न स्वीकार कर के उसे 'हंस' का समानाधिकरण मानने की गलती की जाय तो भी क्रिया का रूप मुख्य शब्द 'हंस' के अनुसार 'थे' होना चाहिए। 'देशान्तर में भ्रमण कर के जिस मनुष्य ने नाना प्रकार की भाषा और वेष इत्यादि का ज्ञान नहीं सम्पादन किया, उनका इस भूतल पर जन्म व्यर्थ है'। (वे. वि. र. ११६) में प्रयुक्त 'मनुष्य' एकवचन होने के कारण 'उनका' के स्थान पर 'उसका' की आकांक्षा रखता है।

संस्कृत आदि अन्य भाषाओं से अभिभूत होने और हिन्दी-भाषा का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण द्विवेदी जी ने अनेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो हिन्दी-शब्दार्थ-प्रणाली के अनुसार अभीष्ट अर्थ की व्यंजना करने में असमर्थ है। 'अमुक व्यक्ति हमारा दुर्लौकिक करने के लिये हमारे विषय में प्रतिकूल चर्चा करता है' (वे. वि. र. ८१), 'जिसके द्वारा मूर्खता का अंश अधिक मोहित हो जाता है वह गुण अधिक प्रभाव-शाली होता है' (वे. वि. र. ७७) और 'आप की योजना एक गुरुतर कार्य के साधन के लिये करना चाहता हूँ'।(कु. स. ३६) में प्रयुक्त 'दुर्लौकिक', 'मोहित' और 'योजना' हिन्दी के 'निन्दा', 'तिरोहित' और 'नियुक्त' शब्दों के अर्थ में लिए गए हैं, परन्तु वे इसके सर्वथा अयोग्य हैं।'अवसर' के अर्थ में 'संधि'(वे. वि. र. ६५) और 'शान्ति' के अर्थ में शान्तता' (वे. वि. र. ८७) का प्रयोग गलत है। इन प्रयोगों की भावना मराठी और संस्कृत के प्रभाव के कारण हुई है। 'इलाहाबाद में तुम्हारे वहां जाने पर यह जन तुम्हारे दर्शनों से बहुधा वंचित नहीं हुआ'।[1] में 'तुम्हारे वहाँ जाने पर' के बदले 'तुम्हारे यहां आने पर' होना चाहिए। उद्धृत वाक्य लेखक के भावाभिव्यंजन के अयोग्य हैं। जब हम यह कहते हैं कि 'हम तुम्हारे यहां गए थे' तब इसमे यह अर्थ निकलता है कि तुम अपने स्थान पर नहीं थे। यदि तुम अपने स्थान पर उपस्थित रहे होते तो हमको कहना चाहिए कि 'हम तुम्हारे यहां आए थे।' उद्धृत वाक्य से यह सिद्ध है कि तुम अपने वासस्थान

---

१. 'विचार-विमर्श', पृ० २६६, 'सरस्वती', अगस्त १६१४ ई०

पर थे, तभी तो यह जन दर्शनों से वंचित नहीं हुआ। अतएव समापिकाक्रिया के अर्थ की उचित अभिव्यक्ति के लिए असमापिका क्रिया में उपर्युक्त संशोधन अनिवार्य है।

शब्दों की सन्निधि और क्रम में भी द्विवेदी जी ने व्याकरणविरुद्ध विपर्यय किया है। 'अपना महत्त्वपूर्ण वक्तव्य सुनावेंही गे'[1] में 'गे' कोई अलग शब्द नहीं है। 'सुनावेंगे' एक क्रियापद है। अतः 'सुनावें' और 'गे' के मध्य में 'ही' की योजना नहीं हो सकती। 'अपना उदर तो पोषण करते हैं' (वे. वि. र. ३१) में यदि 'पोषण' के स्थान पर 'पोषित' होता तो वाक्य शुद्ध होता। यहाँ तो 'उदर' और 'पोषण' दो संज्ञाओं में संबंधी-संबंधित-संबंध ही हो सकता है। 'उदरपोषण' में तत्पुरुष समास है और तत्पुरुष समास के दोनों पदों के बीच, समास विग्रह होने पर, संबंध कारक की विभक्ति अवश्य लगनी चाहिए। 'गत वर्ष हमने लाला सीताराम बी० ए० विरचित कुमार सम्भव भाषा की समालोचना लिखकर काशी पत्रिका और हिन्दोस्थान में जो प्रकाशित की है, उसका स्मरण समाचार पत्रों के किसी किसी प्रेमी को अभी तक बना होगा।' (हि. का. स. ३७) उपर्युक्त वाक्य में 'जो' शब्द समालोचना संज्ञा का सार्वनामिक विशेषण है, अतएव इसका प्रयोग विशेष्य के पूर्व ही उसकी सन्निधि में होना चाहिए। इस अपप्रयोग पर संस्कृत के 'इति यत्' तथा बंगला की तादृश अभिव्यंजन-प्रणाली का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'पद्य-रूप में कुछ लिख देना ही नहीं काव्य कहा जा सकता' (हि. का. स. ६) में 'नहीं' 'कहा जा सकता' क्रिया का विशेषण है इसलिए इन दोनों के बीच में व्यवधान बनकर आनेवाले 'काव्य' शब्द का संगत क्रम 'नहीं' के पूर्व है उसी प्रकार 'वासुदेव ने एकदम सरपट घोड़े छोड़ दिया' (वे, सं० ६२) में क्रियाविशेषण 'एकदम सरपट' 'छोड़ दिया' क्रिया के पूर्व उसकी सन्निधि में होना चाहिए था। कहीं कहीं शिरोरेखा की भग्नता या अतिक्रमण ने भी शब्दों की सन्निधि को अशुद्ध कर दिया है, उदाहरणार्थ, 'बा लबकुल' (भा. वि. १७), 'देनेवा ले' (भा. वि. १६), 'उड़जावेंगे' (भा. वि. ८), 'महामनोहरमायावीलीलावाली' (भा. वि. १२०) आदि। सम्भवतः ये भूलें प्रेस की हैं, फिर भी लेखक इनका उत्तरदायी है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष-कथन के अवसरों पर अंगरेजी की अभिव्यक्ति-प्रणाली के कारण द्विवेदी जी ने अर्थ का अनर्थ कर डाला है, यथाः—

'जब हमें श्रीमान् से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब श्रीमान् ने कहा था कि यदि हम हर साल एक अच्छे अंगरेजी ग्रंथ का अनुवाद करें तो आप हमें पाँच सौ रुपया उसके परिश्रम का बदला देंगे। आप ने कहा था कि आप वादा तो नहीं करते पर

१. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, पृ० १०

इतना देने का यत्न आप जरूर करेंगे ।''[1]

हिन्दी की अभिव्यंजना-प्रणाली के अनुसार उपर्युक्त वाक्य का आशय होता है कि राजा साहब अनुवादक हैं और द्विवेदी जी पांच सौ रुपए के पारिश्रमिक-दाता, परन्तु लेखक का अभिप्राय इसके ठीक विपरीत है। उनके भाव का सही प्रकाशन करने के लिए वाक्य-विधान इस प्रकार होना चाहिए 'जब हमें श्रीमान् से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब श्रीमान् ने कहा था कि यदि आप हरसाल एक अच्छे अंगरेजी ग्रन्थ का अनुवाद करें तो मैं आप को पाँच सौ रुपया उसके परिश्रम का बदला दूंगा। आप ने कहा था कि मैं वादा तो नहीं करता पर इतना देने का यत्न मैं जरूर करूंगा।' उनके 'वेणी-संहार' में कर्ण दुर्योधन से कहता–है 'आप अब तक यह समझते थे कि मैं शस्त्र विद्या में बहुत ही निपुण हूँ। युद्ध में मेरी बराबरी करने वाला कोई नहीं' (पृ० ६७)। इस वाक्य से यह अर्थ निकलता है कि दुर्योधन शस्त्र विद्या में निपुण है और उसकी बराबरी करनेवाला कोई नहीं है और यह कर्ण के मनोभाव का अनर्थ है। उसके अभिप्राय को हम अपनी भाषा में इस प्रकार व्यक्त कर-कर सकते हैं—दुर्योधन यह समझता था कि कर्ण शस्त्र-विद्या में बहुत निपुण है और युद्ध में कर्ण की बराबरी करनेवाला कोई नहीं है। उपर्युक्त वाक्य में हिन्दी-परोक्ष-कथन के विधानानुसार 'मैं' के स्थान पर 'कर्ण' और 'मेरी' के स्थान पर 'उसकी' होना चाहिए। हिन्दी के परोक्ष-कथन में अंगरेजी की भांति पुरुष, काल आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता।

'उत्सव मनाए जाने को तैयार हो जाइए' । (वे. सं० ८८) में समापिका क्रिया मनुष्य के लिए प्रयुक्त है जो 'उत्सव' का कर्त्ता ही हो सकता है, कर्म नहीं । अतः 'मनाए जाने' के स्थान पर 'मनाने' का प्रयोग होना चाहिए। निम्नांकित वाक्यों में ठीक इसके विपरीत वाच्य की अशुद्धि की गई है। 'जो संशय स्वयमेव मन में उत्पन्न हो जाते हैं 'वे मधुमक्षिका की भनभनाहट के समान समझने चाहिए'। (वे. वि. र. ७४) तथा 'स्त्री और लड़के वाले मनुष्य के लिए दया दाक्षिण्यादि गुणों के शिक्षक समझने चाहिए' (वे. वि. र. ७४) कर्म-प्रधान वाक्यों में मुख्य क्रिया के रूप में 'समझने' का प्रयोग गलत है। हिन्दी में जब आज्ञार्थक वाक्यों का कर्तृवाच्यमे कर्मवाच्य बनाया जाता है तब उसमें अन्तिम सहायक क्रिया होती है 'चाहिए' और इस 'चाहिए' तथा मुख्य क्रिया के मध्य में 'जाना' क्रिया की अन्तर्योजना कर दी जाती है। मुख्य क्रिया का प्रयोग भूतकाल में होता है, परन्तु 'जाना' में कोई कालवाचक विभक्ति नहीं लगती। मुख्यक्रिया और 'जाना' के लिंग तथा वचन कर्त्तारूप

---

[1] राजा साहब छत्रपुर को पत्र २.७.१९०७ द्विवेदी जी के पत्र सं० ६२६, ना० प्र० सभा, काशी

में प्रयुक्त कर्म के अनुसार होते हैं। अतएव पूर्वोक्त वाक्यों में 'समझने के बदले 'समझे जाने' का प्रयोग ही व्याकरण-संगत है।

'फिर तुम देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो जायगा।'[१] में 'हो जाना' का भविष्यत् काल में प्रयोग अशुद्ध है। मुख्य क्रिया 'देखना ही' भविष्यत् काल में होनी चाहिए। यदि 'हो जाना' भी भविष्यत् काल में रहेगा तो देखनेवाला देखेगा क्या? हम वर्तमान की वस्तु को ही देख सकते हैं, भविष्यत् की नहीं। शुद्ध वाक्य होना चाहिए था फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया है।'

खड़ी बोली के उस आरंभिक युग में लेखकों ने विरामादि चिन्हों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक काल में द्विवेदी जी भी रचना के इस आवश्यक अंग से अनभिज्ञ थे। 'कमल पंक्तियों' (भा. वि. २) के दोनों पदों के बीच में एक संयोजक चिन्ह की अपेक्षा है। 'तात्पर्य-खल का प्रसन्न करना सर्वथैव असंभव है– इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।' (भा. वि. ४९) में 'तात्पर्य' और 'है' के पश्चात् संयोजक चिन्ह का प्रयोग अशुद्ध है। पहले के स्थान पर अल्पविराम या निर्देशक-चिन्ह और दूसरे के बदले पूर्ण विराम होना चाहिए। कहीं कहीं तो उन्होंने निरर्थक ही अल्पविराम की झड़ी लगा दी है, उदाहरणार्थ, 'क्योंकि, इस समय, संसार में, जितने परिवर्तन, हो रहे हैं उन सब की झोंक समाज की शक्ति को बढ़ाने और व्यक्तिमात्र की शक्ति को घटाने की तरफ है।' (स्वा. २९) 'हे विधे' (भा. वि. ३) में 'विधे' के बाद सम्बोधन-चिन्ह होना चाहिए, 'हे' उसकी अभावपूर्ति नहीं कर सकता। एकाध स्थलों पर हिन्दी-पूर्णविराम के स्थान पर उन्होंने अँगरेजी फुलस्टाप लगाया है, यथा 'जैसे भेषज खानेके अनन्तर गुण जान पड़ता है उसी प्रकार सुजनों के कटु शब्द आगे महामंगलकारी होते हैं यह भाव.' (वे.वि.र.२७)। हल् चिन्ह के प्रयोग में भी त्रुटियों की बहुलता है। 'अर्थात' (भा. वि. १७) 'वरन'(हि. शि. तृ. भा. स. २) 'उतकर्पित' (हि. शि. तृ. भा. स. ७८) 'फुटनोटस' (वे. वि. र. ७) आदि के शुद्ध रूप होने चाहिए 'अर्थात्' 'वरन्' 'उत्कर्पित' 'फुटनोट्स' आदि। यह भूल प्रेस की भी हो सकती है। इसके विपरीत 'अज्ञानान्धकारविगत्'(भा .वि .१५५) में 'त' हलन्त नहीं होना चाहिए। चिन्हों के गलत प्रयोग का एक उत्कृष्ट उदाहरण 'भामिनी-विलास' समर्पण-पृष्ठ है—

---

१. पूर्ण सिंह के 'मजदूरी और प्रेम' लेख में मूल वाक्य था—'दिन रात का साधारण जीवन एक ईश्वरीय रूप भजन हो जायगा।' द्विवेदी जी ने शुद्ध कर के उपर्युक्त रूप दिया।

'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ,
कलाभवन, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

श्रीमान ।

पंडित मुरली धरे मिश्र

डिप्यूटी इन्सपेक्टर आफ् इस्कूलस्, कानपुर को

भामिनी विलास नामक सुप्रसिद्ध संस्कृत

काव्य का यह देवनागरी

भाषान्तर

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने

नम्रता पूर्वक अर्पण किया ।

उपर्युक्त अवतरण में 'श्रीमान' का 'न' हलन्त होना चाहिए और उसके बाद पूर्ण विराम नहीं होना चाहिए । 'इन्सपेक्टर आफ इस्कूलस्' की अधोरेखा का प्रयोग व्यर्थ है । 'इस्कूलस्' क्यों ? स्कूल्स होना चाहिए । 'कानपुर' के बाद भी एक अल्प विराम अपेक्षित है । नामक सुप्रसिद्ध के नीचे रेखा क्यों ? देवनागरी' और 'भाषान्तर' के बीच संयोजक-चिन्ह होना चाहिए । 'नम्रता' और 'पूर्वक' की एक ही शिरोरेखा या उनके मध्य संयोजक-चिन्ह की अपेक्षा है । 'अर्पण' के बदले अर्पित होना चाहिए । अन्तिम शब्दों को रेखांकित करने की कोई आवश्यकता नहीं है । द्विवेदी जी की अनेक रचनाओं में अवच्छेदन-कला की भी कमी मिलती है । 'किरातार्जुनीय' का एक अवच्छेद तो पच्चीसवें पृष्ठ पर प्रारंभ और अट्ठाइसवें पर समाप्त होता है । 'रघुवंश' में, विशेषकर दूसरे सर्ग में, चार चार पाँच-पाँच श्लोकों का अनुवाद एक ही अवच्छेद में किया गया है । एक अवच्छेद में तो उन्होंने तेरह श्लोकों तक का अर्थ भरने का प्रयास किया है ।[1]

उनकी भाषा में मुहावरों की त्रुटियों का भी बाहुल्य है । 'इस प्रकार की प्रशंसा सुवासित तेलके समान सब ओर शीघ्र फैल जाती है । सुवासित पुष्पों की उपमा न देकर सुवासित तेलकी उपमा दी है ।' (वे० वि० र० ४८) में 'उपमा'के पहले 'की'के स्थान पर 'से' होना चाहिए । 'विद्योपार्जन में यह दत्तचित्त से लगा रहता था ।' (वे० वि० र० ५२) में 'से' अप्रचलित है, प्रचलित है 'होकर' । 'उसने अपना सारा वय सार्वजनिक कार्यों में शतशः भूल करने और तज्जनित पश्चात्ताप पाने में व्यतीत किया ।' (वे० वि० र० ४०) इस वाक्य में 'पश्चात्ताप पाने' अशुद्ध प्रयोग है, 'पाने' के स्थान पर 'करने' ही व्यावहारिक है । यदि 'पाने' का प्रयोग 'करने' की पुनरावृत्ति बचाने के लिए किया गया है तो प्रथम 'करने' का बहिष्कार किया जा सकता था । 'जिस समय में' (भा० वि० १६), 'वह फूला अंग न समाया' (वे० सं० १०), 'आपत्ति उत्थापन करते हैं' (वे० वि० र० ४१), 'शंकोत्थान' (वे० वि० र० ६२)

1. 'रघुवंश', द्वितीय सर्ग, श्लोकसंख्या १६ से २८ तक

और 'भीम बेचारे की क्या मजाल जो दुश्शासन के शरीर पर हाथ भी तो लगा सके' (वे० सं० ५५) में प्रयुक्त क्रमशः 'में', 'अङ्ग', 'उत्थापन', 'उत्थान' और 'तो' अनपेक्षित हैं। 'आपत्ति उत्थापन' जैसे प्रयोग तो अंगरेजी के (raise objection) आदि के अनुवाद जान पड़ते हैं। 'अनुभव लेने को' (भा० वि० १६६), 'स्वतः की अनुकूलता' (वे० वि० र० ८५), 'बुद्धि को निरोगता आती है' (वे० वि० र० १०१), 'उनका धिक्कार नहीं करते' (स्वा० भू० १२), 'स्वार्थ लेने वाले' (स्वा० ५), 'राज पाट हार दिया था'[1] (वे० सं० ५), 'पांचाली आज माता गांधारी को नमस्कार करने गई थी' (वे० सं० ११)[2] आदि प्रयोग मुहावरे की दृष्टि से अशुद्ध हैं। उनके स्थान पर क्रमशः 'अनुभव करने को', 'स्वानुकूलता या अपनी अनुकूलता', 'बुद्धि नीरोग रहती है या बुद्धि में नीरोगता आती है', 'उनको धिक्कारते नहीं', 'स्वार्थ चाहने वाले या स्वार्थ-साधन करने वाले', 'राजपाट हार गए थे', 'पांचाली आज माता गान्धारी के पैर छूने गई थी' आदि होने चाहिएं।

द्विवेदी जी की भाषा में, विशेषकर वक्तृतात्मक शैली में, शब्दों, वाक्यांशों और वाक्यों तक की पुनरावृत्ति का अतिरेक है। वक्तृत्वकला की दृष्टि से वे प्रयोग अवश्य समर्थनीय हैं, परन्तु 'कुलक्रमागत चली आई है' (वे. वि. र. १०६), 'क्या जैसे तू भी अभी भाग आया है वैसे ही क्या मैं भी भाग आया हूँ ?' (वे. सं० ५१) आदि में शब्दों की पुनरावृत्ति अव्यावहारिक है। पहले वाक्य में 'आगत' का अर्थ ही है 'आई हुई', दूसरे में 'क्या' और 'भागआया' की आवृत्ति ने वाक्य के सौन्दर्य को एकदम नष्ट कर दिया है।

उनकी आरंभिक रचनाओं में कटुता, अर्थहीनता, जटिलता और शिथिलता की मात्रा भी कम नहीं है। 'ऊंचा उड्डान भरते हैं' (वे. वि. र. ४३)'...उसके ग्रन्थों तथा उसकी इन आख्यायिकों से जो आजपर्यन्त श्रुतिपथ प्रवाहित हो रही है...'(भा. वि. ५), 'यह इसमें समूह सेंचु चुहाते कमलों को भी महामान्य' (भा. वि. ४), 'हे कोकिल ! तू अकेला इस वन में कदापि शब्द न कर जिससे तुझे अपना सजातीय समझे ये निर्दई काक तुझे न मारें' (भा. वि. १३), 'तेरे दुष्कृत्य का उल्लेख भी बस है अर्थात् वैसा स्वमुख से कहना भी मुझे असह्य है।' (भा. वि.५४), 'परन्तु जो मनुष्य अत्यन्त नीच स्वभाव के हैं उनसे इस प्रकार का वर्ताव करना चाहिए, क्योंकि उन्हें यह समझ जाने पर कि हमारे ऊपर संकट

१. वहीं पर उन्होंने 'राजपाट हार गए थे' का शुद्ध प्रयोग किया है।
२. भारतीय सभ्यता के उस युग की पुत्रवधू द्वारा पूजनीय सास को आज की भांति नमस्कार करवाना शोभा नहीं देता। 'वेणी संहार' के मूल लेखक भट्टनारायण ने 'पादवन्दन' शब्द का प्रयोग किया है।

आया है, कि वे कदापि प्रामाणिक व्यवहार नहीं करते।' (बे. वि. र. २९), 'वस्तुतः पंडितराज के विषय में चार अक्षर लिखने का मार्ग रहा ही नहीं यह कहना अयथार्थ है ऐसा नहीं'[1] (भा. वि. भू.) आदि का शब्द–चयन और वाक्य-विन्यास अत्यन्त भद्दा एवं दूषित है। 'भामिनी-विलास' में पंडिताऊपन के कारण भी उन्होंने खड़ीबोली के विरुद्ध प्रयोग किए हैं। 'उपमा देवे योग्य' (१५), 'सर्व और बरसाव' (२२) 'प्रवेश करती भई' ७०), 'दोनों ओर धावन करती हैं' (७१) 'सेवने योग्य' (११०), 'दो कार्य भए' (११७), आदि पंडिताऊ प्रयोग सत्यनारायण की कथा बांचने वाले पंडितों का अनायास ही स्मरण दिलादेते हैं।

द्विवेदी जी के जिन दोषों की उपर्युक्त अवच्छेदों में समीक्षा की गई है वे और उसी प्रकार के अन्य दोष तत्कालीन अन्य लेखकों की रचनाओं में अपेक्षाकृत कहीं अधिक थे। द्विवेदी जी ने अपनी और दूसरों की भाषा का सुधार किया। उनका सुधार आलोचना और उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने हिन्दी-लेखकों के समक्ष साधुभाषा का आदर्श भी रखा। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' लिखने पर किसी ने उनपर व्यंग्य किया कि भला आप ही कुछ लिखकर बतलाइए कि हिन्दी-कविता में कालिदास के भाव कैसे प्रकट किए जायँ। तब पद्य में खड़ीबोली का आदर्श उपस्थित करने के लिए उन्होंने 'कुमारसम्भवसार' के नाम से कालिदास-कृत 'कुमारसम्भव' के प्रथम पांच सर्गों का अनुवाद किया।[2] भाषा के अनेक चिन्त्य प्रयोगों के होते हुए भी उसमें भाषण का-सा सहज प्रवाह है।

द्विवेदी जी ने चार प्रकार से भाषा-सुधार करके खड़ीबोली के परिष्कृत और परिमार्जित रूप की प्रतिष्ठा की। उन्होंने दूसरों के दोषों की तीव्र, आलोचना की, सम्पादक-पद से 'सरस्वती' के लेखकों की रचनाओं का संशोधन किया और कराया, अपने पत्रों, सम्भाषणों, भाषणों,भूमिकाओं और सम्पादकीय निवेदनों द्वारा कवियों और लेखकों को उनके दोषों के प्रति सावधान किया और साहित्यकारों के ग्रन्थों की भाषा का भी समय समय पर संशोधन किया।[3]

द्विवेदी जी द्वारा आलोचित लेखन, व्याकरण, रीति और शैली के दोषों की पूर्ण सूची यहाँ देना असम्भव है। 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' (१९९९ई०) में

---

१. इसप्रकारके दूषित प्रयोग 'भामिनी-विलास,और 'बेकन-विचार-रत्नावली'में भरे पड़े हैं।
२ 'सरस्वती', भाग ४०, सं० २, पृ० २०३।
३. नागरी-प्रचारिणी सभा और दौलतपुर में रक्षित श्यामसुन्दर दास, मैथिली शरण गुप्त, डा० रघुबीर सिंह, निराला आदि के पत्र।

भाषा-दोष पर उन्होंने एक अध्याय ही लिख डाला। पहला प्रहार उसके नाम-विवरण पर ही किया—

"हिन्दी शिक्षावली
तृतीय भाग
जो
पश्चिमोत्तर देश के हिन्दी पाठशालाओं की दफा
प्राइमरी २ के लिए बनाई गई

यह कर्म प्रधान वाक्य है। इसमें बनाई गई क्रिया का कर्म हिन्दी शिक्षावली माना गया है। यह नितान्त अशुद्ध है। यदि हिन्दी शिक्षावली की क्रिया बनाई गई है, तो तृतीय भाग का अन्वय कहां होगा? कहीं हो ही नहीं सकता। संशोधक महाशयों को समझना चाहिए कि हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग यह एक ही सामासिक शब्द है। अलग अलग लिख देने से इसका समासत्व नहीं जा सकता। क्योंकि यहां हिन्दी शिक्षावली का तृतीय भाग इस अर्थ के अतिरिक्त और अर्थ आ ही नहीं सकता। समास के अन्त में जो शब्द आता है उसी के लिंग और वचन के अनुसार कार्य होता है। इस स्थल में भाग शब्द जो समास के अन्त में है वह पुल्लिग है, अतः क्रिया भी पुल्लिग अर्थात् बनाया गया होनी चाहिए, बनाई गई नहीं। यदि स्त्रीलिंग क्रिया ही का प्रयोग अभीष्ट था, तो तृतीय भाग को ब्रैकेट के भीतर रखना चाहिए था।"[३]

१९०१ ई० में उन्होंने हिन्दी कालिदास की समालोचना' अत्यन्त ओजपूर्ण शैली में लिखी—

"अनुवादक महोदय ने व्याकरण के नियमों की बहुत कम स्वाधीनता स्वीकार की है। कहीं क्रिया है तो कर्त्ता नहीं और कर्त्ता है तो क्रिया नहीं। कारक चिन्हों की भी अतिशय अवहेलना हुई है। जहां कहीं मूल में समापिका क्रिया है वहां अनुवाद में मनमानी असमापिका और जहाँ असमापिका है वहां समापिका कर दी गई है। कहीं एक के स्थान में दो दो तीन तीन क्रियाएं रक्खी गई हैं और कहीं एक भी नहीं। काल और वचन विचार को भी अनेक स्थलों पर तिलांजलि मिली है। इन महान् दोषों के कारण भाषा पद्यों का ठीक ठीक अन्वय ही नहीं हो सकता। यह दशा प्रायः सारे अनुवाद की है, अतः सबके उदाहरण देना सम्भव नहीं।...

---

१. 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना', 'भाषा-दोष' अध्याय का आरंभ।

छटितम नील धार की भांती।
सेवत विमल जोन्ह युतराती॥
कहुँ गेहन महं चलत फुहारा।
कहुँ मनि ज्योति अनेक प्रकारा॥
कहुँ चन्दन घसि अंग लगावत।
यहि रितु नर मन ताप नसावत॥

"...अब कहिए कि प्रथम दो पंक्तियां का अर्थ क्या समझे? 'छटि' यह जो असमापिका क्रिया है तत्सम्बन्धी समापिका क्रिया कहां है? फिर इसमें अर्थ क्या निकलता है सो भी बतलाइए। हमारी बुद्धि में तो 'नील धार की भांति तम छंटकर जोन्हयुत विमल रात्रि का सेवन करता है' यही अर्थ भासित होता है। क्या कहना? अश्रुतपूर्व अर्थ है। अन्धकार चांदनी का सेवन करने लगा? हम प्रार्थनापूर्वक पूछते हैं 'नील धार' क्या पदार्थ है जिसकी उपमा तम से दी गई है। 'सेवत' का कर्त्ता यदि 'नर' मानते हैं तो क्रिया काशी में और कर्त्ता काश्मीर में, इस प्रकार की दशा होती है और फिर 'छटि तम नीलधार की भांती' यह चरण विकिर पिंडवत् अलग ही रह जाता है। उसका अन्वय ही नहीं हो सकता। फुहारे आप ही आप चलते हैं। मणि ज्योतियां भी आप ही आप प्रकाशित होती हैं। परन्तु क्या चन्दन भी आप ही आप घिस जाता है? यदि 'घसि लगावत' का कर्त्ता 'नर' है तो तीसरी और चौथी पंक्ति में उस नर का कोई कर्तृत्व नहीं पाया जाता। 'नर' ने यदि फुहारों और मणि ज्योतियों से कुछ काम ही न लिया तो उनका होना निष्फल हुआ। अनुवादक जी के ईप्सित अर्थ को केवल योगी जन योगदृष्टि ही द्वारा जान सकते हैं, अन्य की गति नहीं जो जान सके।'

द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार ही की नहीं उसके परिष्कार की ओर भी ध्यान दिया—

''ठंड' के झुंड को तो देखिए। शीत और शीतल को अर्द्धचन्द्र देकर जहां कहीं आवश्यकता पड़ी है प्रायः 'ठंड' ही का प्रयोग किया गया है। 'चंचु' अथवा 'चोंच' शब्द नहीं आने पाया। आनेपाया है 'टांट'। 'पलाश' और 'किंशुक' का प्रयोग नहीं हुआ, हुआ है 'टेसू' का। 'पाथर ढेरी', 'धनु डोर', 'नेवाड़ी' की मधुरता को तो देखिए। 'कुमारसम्भव भाषा' में अनुवादक जी ने 'बजे जु टुटत सप्तऋषि हाथा'' 'टुटे तार की बीन समाना' लिखा था, इसमें 'टुटी माल बिखरी लटें बसे अगर सनकेस' लिख दिया। 'टूटना' क्रिया से अधिक स्नेह जान पड़ता है। 'अस्त होना' स्यात् कटु था जिसमें 'डूबना' लिखा गया। अनुवादक जी अभी तक 'ठंढ' के पीछे पड़े थे, छोड़ते छोड़ते उसे छोड़ा तो उसके स्थान में 'जाड़ा' लिख दिया। ईंट न सही पत्थर सही।'[1]

---

१. हिन्दी कालिदास की समालोचना, पृ० ४६।

पुस्तकाकार आलोचानाओं के अतिरिक्त अपने भाषा और व्याकरण–सम्बन्धी लेखों एवं पुस्तक-परीक्षा के द्वारा भी उन्होंने भाषा-परिष्कार का प्रयास किया। उनके 'भाषा' और व्याकरण'-शीर्षक[1] दो लेखों ने हिन्दी-साहित्य में हलचल मचा दी। इसी निबन्ध में द्विवेदी जी ने बालमुकुन्द गुप्त आदि को लक्ष्य करके उनके भाषा-दोषों पर तीव्र आक्षेप किया—

"ये अरबी फारसी और उर्दू के दास 'सत्य' को 'सत', 'पति', को 'पती' 'अनुभूति' को 'अनुभूती' 'लक्ष्मी' को लक्षमी', 'स्त्री' को 'इस्त्री' 'पांच सौ' को 'पान्सौ', मेषराशि को 'मेख (खूंटा) राशि' और 'सदिच्छा' को 'सदेच्छा' लिखकर अपनी जुबांदानी साबित करते हैं। यहां तक कि अपना नाम लिखने में वे 'नारायण' को 'नरायण' (न), 'प्रसाद' को 'परसाद' और 'गुप्त' को 'गुप्ता' तक कर डालते हैं। खुद तो वे 'नामोनिशान' या नामोनिशां' की जगह अक्सर 'नामनिशान' लिखते हैं, पर यदि कोई 'रद बदल' लिख दे तो उसे 'रद्दोबदल' कराने दौड़ते हैं गोया शब्दों के बनाने और बिगाड़ने के ठेकेदार आज़म यही हैं। उनकी कुटिल नीति ने चाणक्य की नीति को भी मात कर दिया।"[2] 'हिन्दीनवरत्न' आदि की विस्तृत समीक्षा करके उन्होंने हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की भाषा-त्रुटियों को रोकने का उद्योग किया।[3] पुस्तक-परीक्षा-खंड के 'अन्तर्गत केशव राम भट्ट के हिन्दी व्याकरण' में प्रयुक्त 'शास्त्री और वैज्ञानिक विषयों' एवं 'चाहिये'-जैसे प्रयोगों की आलोचना के निम्नांकित उद्धरण उनकी इस भाषासुधार-शैली को और भी स्पष्ट कर देंगे—

"'शास्त्री' की जगह 'शास्त्रीय' क्यों नहीं? यदि शास्त्री ही लिखना था तो 'वैज्ञानिक' की जगह 'विज्ञानी' क्यों नहीं लिखा?...आप ने ईय प्रत्यय को गुण-अर्थ में लगाया है, और स्वर्गीय, भारतवर्षीय और योरपीय शब्दों का उदाहरण दिया है। हमारी समझ में यह प्रत्यय गुण-अर्थ में नहीं, किन्तु सम्बन्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्वर्गीय का अर्थ है स्वर्ग का, भारतवर्षीय का भारतवर्ष का और योरपीय का योरप का। यही ईय प्रत्यय लगाने से शास्त्र से शास्त्रीय होता है, और शास्त्री की जगह उसका ही होना उचित था।[4]

"आप चाहिये की जगह चाहिए क्यों नहीं लिखते? स्वर प्रधान है, व्यंजन अप्रधान। जहाँ तक स्वरों से काम निकले तहां तक व्यंजनों की आवश्यकता? अकेले 'ए' का जैसा

---

१. सरस्वती, १९०५ ई०, पृ० ४२४ और १९०६ ई०, पृ० ६०।
२. सरस्वती, भाग ७ सं० २, पृ० ६६।
३. 'हिन्दी-नवरत्न' समीक्षा सरस्वती, १९१२ ई पृ० ६९ पर प्रारंभ हुई है।
४. 'सरस्वती', भाग ६, संख्या ७, पृ० २८३।

उच्चारण होता है वैसा ही य्+ए=ये का होता है। फिर यह द्राविड़ी प्राणायाम क्यों? यदि कोई यह कहे कि 'इये' का रूप 'इए' करने से संधि हो जायगी तो ठीक नहीं। हिन्दी में इस प्रकार की संधि करने से बड़ा गड़बड़ होगा। 'आईन' इत्यादि शब्द फिर लिखे ही न जा सकेंगे।"[1]

श्रीकंठ पाठक एम० ए० के नाम से पंडित सुधाकर द्विवेदी की भाषा को लक्ष्य करके उनकी 'रामकहानी' की आलोचना द्विवेदी जी ने इस प्रकार की—

"इस पुस्तक की भाषा न हिन्दी है, न उर्दू है, न गंवारी है। वह इन सबकी खिचड़ी है। किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक। गेहूँ, चावल, तिल, उड़द आदि सात धान्य, कोई कम कोई अधिक, सब एक में गड्ड बड्ड कर देने से जैसे सतनजा हो जाता है वैसे ही इस पुस्तक की भाषा भी कई बोलियों की खिचड़ी है।[2]

इस प्रकार द्विवेदी जी समालोचनाओं द्वारा हिन्दी-लेखकों की वर्ण-और-शब्द-गत लेखन त्रुटियां, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, लिंग, वचन, कारक, संधि, समास, प्रत्यक्ष आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, वाच्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष भाषण आदि की व्याकरणसम्बन्धी अशुद्धियां, विरामादि चिन्हों, अवच्छेद, मुहावरों, पुनरुक्ति, कटुता, जटिलता, शिथिलता, पंडिताऊपन आदि के दोषों का परिहार करके हिन्दी के अनिश्चित प्रयोगों को निश्चित रूप देने में बहुत कुछ कृतकार्य हुए।

भाषासुधार का ठोस कार्य उन्होंने संपादकरूप में ही किया। उनके संशोधनकार्य की गुरुता का वास्तविक ज्ञान काशी ना० प्र० सभा के कलाभवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियों के निरीक्षण से ही हो सकता है। विरामादि चिन्हों के संशोधन की दृष्टि से गणपति जानकी राम दुबे का 'रायगिर अथवा रायटेक' (१६०६ ई०), सूर्य नारायण दीक्षित के 'टिड्डीदल' (०६ ई०), चंद्रहासका 'अद्भुत उपाख्यान' (०६ ई०) और 'शेक्सपियरका हैमलेट' (०६ ई०) मिश्रबन्धु का 'जीवनबीमा' (०६ ई०), बदरीनाथ भट्ट का 'महाकवि-मिल्टन' (११ ई०) आदि लेख विशेष दर्शनीय हैं। इनमें विराम चिन्हों की अत्यन्त अवहेलना की गई है। उपर्युक्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर अधोलिखित लेखन त्रुटियां, व्याकरण की अशुद्धियां और रचनादोषों के परिमार्जन का उदाहरण द्विवेदी जी द्वारा किए गए भाषासुधार का दिग्दर्शनमात्र करा सकता है[3]—

---

१ सरस्वती भाग ६ संख्या ७ पृ० २८४।

२ रामकहानी की समालोचना, 'सरस्वती', १६०८ ई०, पृ० ४५०

३ संशोधनसूची में दी गई सन् ईसवी की संख्या उसी वर्ष की 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियोंका संकेत करती है और पृष्ठसंख्यामूल लेख के पृष्ठ का। ये सभी रचनाएं काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित हैं।

स्वर गत लेखन त्रुटियों का संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
निपत्व	नृपत्व	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	५	१९०६
एकलौता	इकलौता	प्रमथनाथ भट्टाचार्य	राजपूतानी	१	"
करैंगे	करेंगे	मिश्र बन्धु	जीवन बीमा	२	"
पड़ैं	पड़ें	"	"	"	"
आगामि	आगामी	"	"	"	"
जावै	जाय	"	"	"	"
करैगा	करेगा	"	"	"	"
जानैं	जानें	"	"	"	"
उन्हैं	उन्हें	"	"	"	"
मिलै	मिले	"	"	"	"
पड़ैगा	पड़ेगा	वेंकटेशनारायण तिवारी	एक अशर्फीकी आत्मकहानी	"	"
हमैं	हमें	"	"	"	"
चंडाल	चांडाल	"	"	"	"
हुयी	हुई	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	"	"
उन्है	उन्हे	कामताप्रसाद गुरु	लैटिनी हिन्दी	"	"
अनौखा	अनोखा	"	"	■	"
तौ	तो	"	"	"	"
चाहिये	चाहिए	मिश्र बन्धु	न्याय और दया	"	"
दशावों	दशाओं	"	"	२	"

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
हुये	हुए	मिश्र बन्धु	न्याय और दया	२	१९०८
हुवा	हुआ	,,	,,	३	,,
उस्के	उसके	,,	,,	३	,,
इस्में	इसमें	,,	,,	३	,,
प्रतिनिधी	प्रतिनिधि	सत्यदेव	अमरीका की स्त्रियाँ	७	,,
आधीनता	अधीनता	गोविन्दवल्लभ पंत	कृषि सुधार	२	,,
ऋणि	ऋणी	सत्यदेव	देश०के ध्यान देने योग्य कुछ बातें	५	,,
बिचारे	बेचारे	,,	अमेरिका में विद्यार्थिजीवन	३	,,
संदेशा	सन्देश	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	४	१९०९
पाणिनी	पाणिनि	बाबूराव विष्णु पराड़कर	वररुचि का समय	१	,,
मलयागिरी	मलयगिरि	,,	,,	१	,,
अस्थिपिंजर	अस्थिपंजर	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है ?	२	,,
शालिग्राम	शालग्राम	,,	,,	१४	,,
यकायक	एकाएक	वृन्दावनलाल वर्मा	राखीबन्द भाई	४	,,
दलीपसिंह	दिलीपसिंह	,,	,,	७	,,
कीया	किया	पूर्णसिंह	कन्यादान	१	,,
वैह	वह	,,	,,	१	,,
ग्रन्थी	ग्रन्थि	,,	,,	१	,,
कुटलता	कुटिलता	,,	,,	१	,,
कीये हुवे	किये हुए	,,	,,	१	,,
यहि	यही	,,	,,	१	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
अश्र धारा	अश्रुधारा	पूर्णसिंह	कन्यादान	१	१९०६
लीये	लिए	,,	,,	२	,,
समाधी	समाधि	,,	,,	२	,,
मन्दर	मन्दिर	,,	,,	२	,,
भगनी	भगिनी	,,	,,	३	,,
चक्षुवों	चक्षुओं	,,	,,	३	,,
मान्ते	मानते	,,	,,	४	,,
लड़कीयां	लड़कियां	,,	,,	५	,,
प्रकृया	प्रक्रिया	,,	,,	५	,,
नौज्वान	नौजवान	,,	,,	५	,,
गयी	गई	,,	,,	६	,,
कहानीयाँ	कहानियाँ	,,	,,	७	,,
पैहले	पहले	,,	,,	७	,,
चह्ये	चाहिए	,,	,,	७	,,
बलीदान	बलिदान	,,	,,	७	,,
हुवे	हुए	,,	,,	८	,,
द्रष्टी	दृष्टि	,,	,,	९	,,
रीती	रीति	,,	,,	१२	,,
मैंहदी	मेंहदी	,,	,,	१३	,,
वायू	वायु	,,	,,	१४	,,
पत्नि	पत्नी	,,	,,	१५	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
गंधारी	गान्धारी	पूर्णसिंह	कन्यादान	१६	१६०६
नर्क	नरक	बदरीनाथ भट्ट	महाकवि मिल्टन	८	१६११
देखिये	देखिए	,,	,,	८	,,
युवति	युवती	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण ।५।	६	,,
घरणि	घरणी	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	२	,,
जरूरी	जरूरी	,,	,,	२	,,
बनने	बनने	,,	,,	५	,,
हिन्दु	हिन्दू	गिरजाप्रसाद द्विवेदी	भारतीय दर्शन शास्त्र	११	,,
पायी जाती	पाई जाती	कामताप्रसाद गुरु	हिन्दी का व्याकरण	१०	,,
इसलिये	इसलिए	,,	,,	१०	,,
चाहिये	चाहिए	,,	,,	११	,,
पहिले	पहले	,,	,,	११	,,
हृदय	हृदय	रामचरित उपाध्याय	पवनदूत		१६०६
उपर	ऊपर	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग		१६११
उतपक्ति	उत्पत्ति	,,	,,		,,
पशू	पशु	,,	,,		,,
गेरुए	गेरुये	पूर्णसिंह	मजदूरी और प्रेम		,,
नमाज	नमाज	,,	,,		,,
खेति	खेती	श्रीमती बंग महिला	नीलगिरि पर्वतके निवासीटोडालोग		१६०४
लाठि	लाठी	,,	,,		,,
लेकीन	लेकिन	,,	,,		,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन
मैसुर	मैसूर	श्रीमती बंग महिला	नीलगिरिपर्वत कॉनसामीटाडालाग		१९०५
सको	सकती	सत्यदेव	राजनीति विज्ञान		१९०६
कर्ने	करने	गोविन्दवल्लभ पंत	कृषि सुधार	५	१९०६
चर्णों	चरणों	पूर्णसिंह	कन्यादान	३	१९०६

व्यंजन-गत लेखन-त्रुटियों का संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन
वर्सना	बरसाना	काशीप्रसाद	एफ० एम० ग्राउम	५	१९०६
सर्कारी	सरकारी	,,	,,	५	,,
चार्लस	चार्ल्स	सूर्यनारायण दीक्षित	टिड्डीदल	३	,,
झूंठा	झूठा	,,	चन्द्रहास का उपाख्यान	६	,,
कदाच्चित	कदाचित	मिश्र बन्धु	जीवनबीमा	३	,,
उमर	उम्र	,,	,,	५	,,
वुही	वही	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	२	१९०८
सहाध्याई	सहाध्यायी	,,	,,	८	,,
प्रगट	प्रकट	कामताप्रसाद गुरु	लैटिनी हिन्दी		,,
वर्तमान	वर्तमान	मिश्र बन्धु	न्याय और दया	१	,,
कर्ता है	करता है	,,	,,	१	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
वध	वध	मिश्र बन्धु	न्याय और दया	१	१९०८
प्रतिवादी	प्रतिवादी	"	"	३	"
वर्त्ताओ	वर्ताव	सत्यदेव	अमेरिकन स्त्रियाँ	२	"
गाओं	गांवों	"	"	८	"
गवर्नमेन्ट	गवर्नमेंट	"	देश० के ध्यान देने योग्य कुछ बातें	४	"
आकास	आकाश	गिरजाप्रसाद द्विवेदी	शरद्विलास	१	"
जू हीं	ज्योंही	सत्यदेव	अमेरिका में विद्यार्थिजीवन	२	"
चुनाओ	चुनाव	"	"	१०	"
क्यूंकि	क्योंकि	"	राजनीति विज्ञान	७	१९०९
दुनियां	दुनिया	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	१	"
शूली पर	सूली पर	"	"	२	"
ठंडक	ठंढक	"	"	६	"
दुखदायी	दुखदायी	"	"	६	"
पूरन	पूर्ण	"	"	१५	"
नैन	नयन	"	कन्यादान	१	"
स्मशान	श्मशान	वृन्दावनलाल वर्मा	राखीबन्द भाई	३	"
साधारन	साधारण	पूर्णसिंह	कन्यादान	१	"
बादर	बादल	"	"	२	"
सिंघासन	सिंहासन	"	"	५	"

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
प्रेममै	प्रेममय	पूर्णसिंह	कन्यादान	५	१९०९
साह्मने	सामने	,,	,,	६	,,
जौत	ज्योति	,,	,,	६	,,
झार	झाड़	,,	,,	७	,,
पुरशोत्तम	पुरुषोत्तम	,,	,,	७	,,
निवारनार्थ	निवारणार्थ	,,	,,	७	,,
लोक	लोग	,,	,,	८	,,
दुःखड़े	दुखड़े	,,	,,	८	,,
कुच्छ	कुछ	,,	,,	१०	,,
आशीरवाद	आशीर्वाद	,,	,,	११	,,
शगुण	सगुन	,,	,,	१२	,,
भैन	बहन	,,	,,	१५	,,
प्रस्पर	परस्पर	,,	,,	१५	,,
हां	यहाँ	,,	,,	१५	,,
पबध्न	प्रबन्ध	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण ।५।	४	१९११
पाओं	पावों	,,	,,	४	,,
बनटन कर	बनठन कर	,,	,, ।४।	६	,,
कोंटड़ी	कोठरी	,,	,, ।३।	१	,,
प्रेणना	प्रेरणा	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	४	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
तीव्र	तीव्र	विद्यानाथ (का० प्र० गु०)	कवि कर्तव्य		१९११
अन्तर्ध्यान	अन्तर्धान	रामचन्द्र शुक्ल	हुएनसाँग		१९०४
हुएनस्यांग	हुएनसांग	”	”		”
संदेशा	संदसा	पूर्णसिंह	कन्यादान		१९०९
यग्य	यज्ञ	”	”		”
मलियामेट	मटियामेट	”	”		”
दच्छिन	दच्छिण	रामचरित उपाध्याय	पवनदूत		१९०६
सम्रण	स्मरण	पूर्णसिंह	कन्यादान		१९०९
पुरणे	प्राचीन (पुराने)	”	”		”
घन्टी	घंटी	”	मजदूरी और प्रेम		१९११
किमदन्ति	किंवदन्ती	श्रीमती वंग महिला	नीलगिरिपर्वतकेनिवासीटाडालोग		१९०४
आदमशुमारी	मर्दु मशुमारी	”	”		”
स्वच्च	स्वच्छ	”	”		”
ए	ये	मिश्र बन्धु	विज्ञापनों की धूम		१९०३
जठर	जरठ	”	”		”
विभ्राड़	विभ्राट	”	राजधर्म		१९०४
जलजान	जलयान	”	”		”

संज्ञा सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
प्रथम मिलने का स्थान मेला'' तक	प्रथम समागम के स्थान मेले''''तक	प्रमथ नाथ भट्टाचार्य	राजपूतनी	१३	१९०६
फासला पर	फासले पर	सत्यदेव	अमेरिकन स्त्रियाँ	४	१९०८
प्राकृति परिचय ! हीनता	प्रकृति-परिचय-हीनता	बद्रीनाथ भट्ट	महाकवि मिल्टन	१०	१९११
आज कल की संस्कृत भरी कविता संस्कृत छन्दों में रची जाकर और भी अधिक हानिकारक है।	आजकल की संस्कृत भरी कविता का संस्कृतोपयुक्त छन्दों में रचा जाना और भी हानिकारक है।	विद्यानाथ। का प्र. गु.	कवि कर्तव्य		"

सर्वनाम सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
यह रेल की सड़क,पर है	वह रेल की सड़क पर है	सत्यदेव	अमेरिका के खेतों पर मेरे कुछ दिन	३	१९०८
क्या क्या विषय अध्ययन किये हैं	कौन कौन विषय अध्ययन किये हैं	"	देश हितैषियों के ध्यान देने योग्य बातें	२	"
'''इनसे	उनसे	वृन्दावन लाल वर्मा	राखीबन्द भाई	५	१९०९
पाठक,'''तुझे	पाठक,'''आपको	पूर्णसिंह	कन्यादान	४	"

सर्वनाम-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
मेरा मित्र…टहलने लगे	मेरे मित्र…	सत्यदेव	अमेरिका-भ्रमण (४)	८	१९०९
कुछ एक ने…	कई एक ने…	”	”	१०	”

विशेष्य-विशेषण-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
अपना ताजा से ताजा दोहे और चौपाई।	अपने ताज़े मे ताजे, दोहे और चौपाई।	पूर्णसिंह	कन्यादान	२	१९०९
इतना मब होने पर	यह सब ……	बदरीनाथ भट्ट	महाकवि मिल्टन	७	१९११
उनके अभिमान का चकनाचूर होगया	उनका अभिमान चकनाचूर होगया	सत्यदेव	अमेरिका-भ्रमण (४)	९	”
यह निश्चय नहीं……	यह निश्चित नहीं	गिरिजा प्रसाद द्विवेदी	भारतीय दर्शनशास्त्र	३	”
भाव……उदय होते हैं	भाव…उदित होते हैं	विद्यानाथ	कवि का कर्तव्य	५	”

क्रिया-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
न होगई	नहीं हुई	मधुमंगल मिश्र	एक ही शरीर में अनेक आत्माएं	१४	१६०६
बढ़ाती चलने लगी	बढ़ाती हुई चलने लगी	प्रमथनाथ भट्टाचार्य	राजपूतनी	२	,,
बदला लेवे	बदला ले	मिश्र बन्धु	न्याय और दया	३	१६०८
खड़ा होकर	खड़े होकर	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियां	४	,,
भेज दिई जावें	भेज दी जांय	गोविन्द बल्लभ पंत	कृषि सुधार	४	,,
हाथ पकड़	हाथ पकड़ कर	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	२६	,,
साथ ले	साथ लेकर	,,	,,	२६	,,
समझी जानी लगी है	समझी जाने लगी है	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	४	१६०६
होता आता है	होता आया है	,,	,,	८	,,
विवाह......ठेकेदारी होगई	विवाह...ठेकेदारी होगया	पूर्णसिंह	कन्यादान	८	,,
खड़ीं गा रही हैं	खड़ी गारही हैं	,,	,,	१२	,,
सम्बन्धी और सखियां हो रहे हैं	सम्बन्धी और सखियां...हो रही हैं	,,	,,	१४	,,
जावेंगे	जांयगे	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण (५)	२	१०११
अंगरेज़ी बोलनी नहीं आती थी	अंगरेजी बोलना नहीं आता था	,,	,,	३	,,

क्रिया सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
बुलाओ	बुलाया	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण (५)	७	१९[illegible]
जिस दिन आकाश शुद्ध हो ···चोटियाँ दीख पड़ती	···आकाश साफ रहता है··· चोटियां दीख पड़ती हैं	"	"	१२	"
दिल में आया चलो आज आपको कष्ट दें	···चलूं आज आपको कष्ट दूं	"	"	१४	"
···शहरको वही सुभीता है ······जो नगर को हो	···शहर को वही सुभीता है जो नगर को होता है	"	"	१४	"
लड़के लड़कियां लगे थे	लड़के लड़कियां·· लगी थीं	"	" (४)	८	"
वह ऐसी बातें करे···आने लगा	वह ऐसी बातें करता था कि ······लगा	"	"	५	"
लोगों को · खड़े पाये	लोगों को······खड़े पाया	"	"	६	"
जाना पड़ता है···इस प्रयोग की सृष्टि हुई हो।	जान पड़ता है···सृष्टि हुई है	कामता प्रसाद गुरु	हिन्दी का व्याकरण	४	१९०६

अव्यय-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
कभी ······	कभी कभी ······	सूर्यनारायण दीक्षित	हिन्दू दल	१	१९०६
जब ······ तो	जब ······ तब		,,	१	,,
वाह भारत,	वाहरे भारत,	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियां	२	१९०८
आपको कष्ट ही होगा	आपको व्यर्थ कष्ट होगा	,,	,,	१०	,,
वहीं पर	वहीं	,,	आश्चर्यजनक घंटी	२०	,,
वा	या	गिरजा प्रसाद द्विवेदी	शरद्विलास	३	१९०६
अशांति व अधिकार	अशांति और अधिकार	सत्यदेव	राजनीति विज्ञान	७	,,
हर एक मनुष्य मात्र	हर एक मनुष्य	पूर्णसिंह	कन्यादान	३	१९०६
यद्यपि ··· परन्तु	यद्यपि ······ तथापि	सत्यदेव	अमेरिका-भ्रमण (५)	८	१९११
कहते व सुनते	कहते और सुनते	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	४	,,

लिंग-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
उनके स्पर्शेन्द्रिय	उनकी स्पर्शेन्द्रिय	प्रमथनाथ भट्टाचार्य	राजपूतनी	४	१९०६
पन्ना ······ सकते है	पन्ना ······ सकतीहूँ	,,	,,	५	,,
के बातचीत	की बातचीत	,,	,,	७	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
जैमी घी पड़ जाती है	जैसे घी पड़ जाता है	लाला पार्वतीनन्दन	एक के दो दो	५	१९०६
के शाखों	की शाखाओं	उदयनरायण बाजपेई-वैंकटेशनरायण तिवारी।	प्राचीन भारतके विश्वविद्यालय	१	,,
के शुद्धि	की शुद्धि	,,	,,	१	,,
तक्षशिला'' वैसी'''बनी रहीं	तक्षशिला' वैसाही'''बनारहा	,,	,,	३	,,
चलती समय	चलते समय	,,	,,	३	,,
मंजु श्री'''विद्याके देवता हैं	मंजु श्री विद्याकी देवता हैं	,,	,,	५	,,
आठवें शताब्दी	आठवीं शताब्दी	,,	,,	५	,,
के ओर	की ओर	मिश्र बन्धु	जीवन बीमा	७	,,
शव'' थी	शव'''था	वैंकटेशनरायण तिवारी	एक अशर्फीकी आत्मकहानी	१३	१९०६
के बदौलत	की बदौलत	,,	,,	१४	,,
हमारे सन्तान	हमारी सन्तान	काशीप्रसाद जयसवाल	हमारा सम्वत्	२	१९०८
ऐसी समय	ऐसे समय	गिरिजाप्रसाद द्विवेदी	शरद्विलास	२	,,
की सामर्थ्य	का सामर्थ्य	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	२	१९०९
की लालच	का लालच	,,	,,	३	,,
के अवस्था	की अवस्था	पूर्णसिंह	कन्यादान	१	,,
अपनी माता पिता	अपने माता-पिता	,,	,,	५	,,
मीठी सुरों	मीठे सुरों	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण (५)	१२	१९११
भूल नहीं उड़ता	धूल नहीं उड़ती	,,	,,	७	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
चर्चा था	चर्चा थी	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण (४)	४	१९११
ऐसी मदान्ध	ऐसे मदान्ध	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	४	,,
अहिल्या का पाषाण देह	अहल्या की पाषाण देह	गिरजाप्रसाद द्विवेदी	भारतीय दर्शन शास्त्र	२	,,
को स्नायु	के स्नायु	,,	,,	१०	,,
पूर्वजों के पूजा	पूर्वजों की पूजा	श्री मती वंग महिला	टोड़ा जाति		१९०४
अपनी भाग्य	अपना भाग्य	मिश्रबन्धु	विज्ञापनों की धूम		१९०३
शत्रु के प्रजाओं	शत्रु की प्रजा	,,	राजधर्म		१९०४
में(पंडितानी)कोठरीका कैदीहूँ	...कोठरी की कैदी हूँ	गिरजादत्त बाजपेई	पंडित और पंडितानी		१९०३

वचन सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
बीमाओं	बीमों	मिश्रबन्धु	जीवन बीमा	१	१९०६
बारह रूपया	बारह रूपये	,,	,,	२	,,
वह नहीं सोचते	वे नहीं सोचते	,,	न्याय और दया	४	१९०८
जितनी स्त्री समाजें हैं	जितने स्त्री-समाज हैं	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियाँ	६	,,
यह सब बातें	ये सब बातें	,,	आश्चर्यजनक घंटी	१६	,,
यह दोनों	ये दोनों	,,	,,	२१	,,
अनेक बाधा	अनेक बाधाएँ	गोविन्द बल्लभ पंत	कृषि-सुधार	१	१९०६
कुछ शब्द सुनाई दिया	कुछ शब्द सुनाई दिये	सत्यदेव	अमेरिकाके खेतोंपरमेरेकुछदिन	१३	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
यह देश भक्त क्या करेंगे	ये देश भक्त क्या करेंगे	सत्यदेव	देश०केध्यान देनेयोग्यकुछबातें	४	१९०८
यह सब लोग	ये सब लोग	”	आश्चर्यजनक घंटी	२९	”
यह जितनी एशोसिएशन	ये जितनी एशोसियेशनें	”	अमेरिका में विद्यार्थी जीवन	८	”
चल रही हैं	चल रही हैं				
कानूनके क्या अर्थ हो सकतेहैं	कानूनका क्याअर्थ हो सकताहै	”	राजनीति-विज्ञान	६	१९०९
कन्दरां	कन्दराओं	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	७	”
लालचयाधमकी एसीहैंजिनसे	लालचया धमकीएसीहैजिससे	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है?	३	”
योद्धां	योद्धाओं	बृन्दाबनलाल वर्मा	राखी बन्द भाई	८	”
धन्य है वह नैन	धन्य हैं वे नयन	पूर्णसिंह	कन्यादान	१	”
वह……है	वे……हैं	”	”	३	”
…कहानियाँ · जिसमें	…कहानियां…जिनमें	”	”	७	”
वह किससे…….	वे किसके……	”	”	७	”
मनों का	मन को	”	”	१४	”
यह मजदूर लोग थे	ये मजदूर लोग थे	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण (५)	५	१९११
चोटियां	चोटियाँ	”	”	१२	”
इतना ही रुपया लगा है	इतने ही रुपये लगे हैं	”	”	१२	”
पाठक गणो	पाठक	”	शिकागो का रविवार		१९०७
यह लोग	ये लोग	श्री बंग महिला	टोड़ा जाति		१९०४
वह बदती	वे…बदातीं	गिरजादत्त बाजपेई	पंडित और पंडितानी		१९०३

कारक सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
शरीर में···रगड़ने लगा	शरीर से···रगड़ने लगा	प्रमथ नाथ भट्टाचार्य	राजपूतनी	८	१६०६
···भेष में···भूषित कर···	···भेष से · भूषित कर	"	"		"
जन्म दिन को	जन्मदिन पर	मिश्रबन्धु	जीवन बीमा	२	"
भाग को वर्णन करूंगी	भागका वर्णन करूँगी	वेंकटेश नारायण तिवारी	एक अशरफीकी आत्मकहानी	१८	"
जन्म भर को कालापानी भोगता है	जन्म भरके लिए कालापानी भोगता है	मिश्रबन्धु	न्याय और दया	१	१६०८
मुझे हंसकर कहा	मुझ से···कहा	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियाँ	२	"
संक्षेप से	सक्षेप में	"	"	१०	"
हमने कह चुके	मैं कह चुका	"	"	१०	"
मेरे से	मुझमे	"	अमेरिकाके खेतों पर मेरे कुछ दिन	३	"
मुझे बोला	मुझसे बोला	"	"	४	"
इन लोगों के मत से	इन लोगों के मत में	लक्ष्मीधर बाजपेयी	हमारा वैद्यक शास्त्र	१	"
दो भाग···हमारे वैद्यक में भी हैं	·· वैद्यक के भी हैं	"	"	३	"
शास्त्र के ही भरोसे पर न रहें	शास्त्र ही के भरोसे न रहें	"	"	३	"
परिपक्व दशा में पहुँच गयाथा	परिपक्व दशाको पहुँच गया था	"	"	१५	"
बजाने को कहा	बजाने के लिए कहा	काशीप्रसाद जायसवाल	महाराजा बनारस का कुआँ	५	"
सुन्दरता को करने वाले	सुन्दरता बढ़ाने वाले	गिरिजाप्रसाद द्विवेदी	शरद्विलास	१	"
भूमि में अधिक जल नहीं है	भूमि पर अधिक जल नहीं है	"	"	२	"

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
हमको	हमें	सत्यदेव	अमेरिका में विद्यार्थी जीवन	६	१६०८
हम लोगोंने सीखनी हैं	हम लोगों को सीखनी हैं	”	”	११	”
बोलने में स्वतंत्रता	बोलने की स्वतंत्रता	सत्यदेव	राजनीति-विज्ञान	६	१६०६
उसको	उसे	”	”	११	”
तिनका की तरह	तिनके की तरह	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	४	”
किसानों में बांटा जाय	किसानों को बांटा जाय	”	”	१२	”
रनवास को ले गये	रनवास में ले गये	वृन्दाबनलाल वर्मा	राखीबन्द भाई	६	”
धारा को स्मरण करना	धारा का स्मरण करना	पूर्णसिंह	कन्यादान	१	”
अवस्था को अनुभव करता है	अवस्थाका अनुभव करता है	”	”	२	”
माता पिता के घरको छोड़कर	माता पिता का घर छोड़कर	”	”	५	”
सभी जाती को पूजा करने	सभी जाति की पूजा करने	”	”	६	”
कमीनापन के लालचों से	कमीनेपन के लालचों से	”	”	१०	”
पत्थरों में खुदी हुई	पत्थरों पर खुदी हुई	”	”	११	”
कन्या के हाँथ कंगना बान्ध देता है	कन्या के हाथ में कंकण बांध देता है	”	”	१२	”
योगी के हाथों को कोई कुच्छ करे	योगी के हाथों पर चाहे… करे	”	”	१३	”
देखने को आये हैं	देखने आये हैं	गिरिधर शर्मा	प्राचीन भारत में राज्याभिषेक	१	१६११
मैंने दूर जाना है	मुझे दूर जाना है	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण (५)	२	”

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
आपके पसन्द है	आपको पसन्द है	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण (५)	१०	१९११
इस पर तीस लाख	इसमें तीस लाख	”	”	१२	”
जो…वस के नहीं हैं	जो…वश में नहीं हैं	”	”	१४	”
उद्दंडता को सिद्ध किया	उद्दंडता सिद्ध की	”	” (४)	३	”
वैंकोवर में पहुँच कर	वैंकोवर पहुँच कर	”	”	८	”
अनुरोध पर	अनुरोध से	”	”	८	”
जानने के उत्सुक थे	जानने को उत्सुक थे	”	”	६	”
साहस होना परमावश्यक है	साहस का होना परमावश्यक है	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	१	”
गुणों को होते हुये	गुणों के होते हुए	”	”	३	”
मिथिला से न्याय दर्शन का अध्ययन करके	मिथिला में न्याय दर्शन…	गिरिजाप्रसाद द्विवेदी	भारतीय दर्शन शास्त्र	३	”
सांख्य दर्शन के आधार से न्याय दर्शन बना है	सांख्य दर्शनके आधार पर…	”	”	४	”
उसकी वृत्ति बनाई	उस पर वृत्ति बनाई				
ज्ञान के साथ में नाम, रूप…	ज्ञान के साथ नाम और रूप	”	”	५	”
चैतन्य प्रभु के मत से जन्म,	चैतन्य प्रभु के मत में जन्म	”	”	६	”
जन्मान्तर को पाकर	जन्मान्तर पाकर	”	”	१०	”
स्नायु में आघात होने पर	स्नायु पर आघात होने से	”	”	१०	”
नाटकों को अतिरिक्त	नाटकों को छोड़कर	सत्यदेव	शिकागो का रविवार		१९०७
आधी संख्या हमारे देश को मूर्खा स्त्रियों की है	आधी संख्या हमारे देश में मूर्खा स्त्रियों की है	”	”		”

सन्धि सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
हरेक	हर एक	गोविन्द वल्लभ पंत	कृषि-सुधार	२	१९०८
सुश्रुतादि	सुश्रुत आदि	लक्ष्मीधर बाजपेई	हमारा वैद्यक शास्त्र	१३	,,
विद्यऽभ्यास	विद्याभ्यास	सत्यदेव	राजनीति-विज्ञान	६	१९०६
अन्तष्करण	अन्तःकरण	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	२	,,
भाग्य उदय हुये	भाग्योदय हुआ	,,	,,	४	,,
परम अवस्था	परमावस्था	,,	कन्यादान	२	,,
देह अध्यास	देहाध्यास	,,	,,	१२	,,
बर आमदे में	बरामदे में	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण ।५।	११	१९११

समास-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
भारत शासन की बागडोर	भारत के शासन की बागडोर	वेंकटेश नारायण तिवारी	एक अशरफी की आत्मकहानी	४	१९०६
वायु रोगी	वायु के रोगी	लक्ष्मीधर बाजपेयी	हमारा वैद्यक शास्त्र	४	१९०८
अर्द्धांग वायु मृत	अर्द्धांग वायु से मृत	,,	,,	५	,,
अविकृत	विकारहीन	,,	,,	७	,,
विद्यार्थी जीवन	विद्यार्थिजीवन	सत्यदेव	अमेरिका में विद्यार्थिजीवन	१	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
एकाधिक	एक से अधिक	बाबूराव विष्णु पराड़कर	वररुचि का समय	४	१९०६
कविताद्वारा	कविता द्वारा	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	२	,,
नललीन हो गई	नल में लीन हो गई	पूर्णसिंह	कन्यादान	७	,,
एकराय हुए	एक मत हुए	गिरिधर शर्मा	प्राचीन भारतमें राज्याभिषेक	४	१९११
सपत्नी के उपवास	सस्त्रीक उपवास	,,	,,	४	,,
निर्दोपी	निर्दोप	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण ।४।	३	,,
कुइच्छाओं	कुत्सित इच्छाओं	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	२	,,
निर्वाण का लाभ होता है	निर्वाण लाभ होता है	गिरिजाप्रसाद द्विवेदी	भारतीय दर्शन		,,

उपसर्ग-प्रत्यय सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
अतीत कीजिए	व्यतीत कीजिए	सूर्यनारायण दीक्षित	चन्द्रहास का उपाख्यान		१९०६
एकत्रित	एकत्र	प्रमथनाथ भट्टाचार्य	राजपूतनी	१	,,
उद्देश्य	उद्देश	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियाँ	७	१९०८
अनपहचाने	बेपहचान	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	१	१९०९
कपाली	कापालिक	,,	,,	२	,,
अजीत हो गया	अजेय······	,,	,,	१३	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
चैतन्यता	चेतनता	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	६	१९०९
अध्यात्मक	आध्यात्मिक	पूर्णसिंह	कन्यादान	२	,,
सौन्दर्यता	सौन्दर्य	,,	,,	३	,,
प्रज्वलत	प्रज्वलित	,,	,,	११	,,
महान्ता	महत्ता	,,	,,	१४	,,
परज्वलित	प्रज्वलित	,,	,,	१५	,,
संमति	सम्मति	गिरिधर शर्मा	प्राचीन भारत में राज्याभिषेक	४	१९११
सुभद्रा रमणी	भद्रा-रमणी	सत्यदेव	अमेरिका-भ्रमण ।५।	५	,,
पुस्तकों को······ ···चैतन्य समझना चाहिए	पुस्तकों को······चेतन···	बदरीनाथ भट्ट	महाकवि मिल्टन	५	,,
वाशिंगटन को विभाग करती है	वाशिंगटन को विभक्त···	सत्यदेव	अमेरिका-भ्रमण ।३।	४	,,
उतपत्ति	उत्पत्ति	गणेशशंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	२	,,
आहुति हो गए	आहुत हो गए	,,	,,	३	,,
पीटर्सवर्गीय घोषणा	पीटर्स वर्ग की घोषणा	मिश्रबन्धु	राजधर्म		१९०४
श्यामवर्णी	श्यामवर्ण	सैंट निहालसिंह	पाताल देश के···हबसी···		१९११

आकांक्षा सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
...में पैदा हुए...	...में ये पैदा हुए	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	१	१९०६
संकलन कर	इकट्ठा करके	"	"	४	"
इनमें मोहिनी सी	इनमें एक मोहनी शक्ति सी	"	"	६	"
रस भरी	रस से भरी हुई	"	"	६	"
लोग मार कर	लोग उन्हें मार कर	सूर्यनारायन दीक्षित	टिड्डीदल	५	"
घोड़े पर चढ़	वह घोड़े पर चढ़कर	"	चन्द्रहास का उपाख्यान	६	"
दूसरीको (ऊपर रत्नके प्रति)	दूसरे को	लाला पार्वतीनन्दन	एक के दो दो	२	"
वहां न देखी थी	वहां मैंने न देखी थी	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	२	१९०८
कथन सुन	कथन सुनकर	मिश्रबन्धु	न्याय और दया	५	"
दोनोंमें मानवहृदय पर किसका	मानव हृदयपरदोनोंमेंसे किसका	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	२	१९०९

योग्यता सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
अक्षुण्ण यशः शरीर	अक्षय्य यशः शरीर	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	१५	१९०६
यद्यपि... किन्तु	यद्यपि...तथापि	"	"	११	"

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
शकुन	अपशकुन	सूर्यनारायन दीक्षित	चन्द्रहास का उपाख्यान	१०	१९०६
वे लोग	ये लोग	मधुमंगल मिश्र	एकही शरीर में अनेक आत्माएँ	२	,,
स्त्री	कुमारिका	,,	,,	१४	,,
चित्र···जागृत हैं	चित्र···विद्यमान हैं	प्रमथनाथ भट्टाचार्य	राजपूतनी	१	,,
प्राणप्यारी	प्रियतमा	वैंकटेश नारायण तिवारी	एक अशरफीकी आत्मकहानी	८	,,
घंटी बहुत प्यारी मालूम हुई	घंटी बहुत पसंद आई	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	५	१९०८
···घंटी को आगे देखा है	घंटी पहले कभी देखी है	,,	,,	८	,,
कार्योत्पत्ति	कार्य प्रवृत्ति	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	१	१९०९
बिजली की गर्ज और चमत्कार है	बिजली की गरज और चमक है	पूर्णसिंह	कन्यादान	३	,,
कुटील	कुटिलतापूर्ण	,,	,,	११	,,
खंडरात	खंडहरों	,,	,,	,,	,,
विवाह वाली आय कन्या	पतिवरा	,,	,,	१३	,,
मनुष्यातीत परिश्रम	मनुष्यातिगपरिश्रम	बदरीनाथ भट्ट	महाकवि मिल्टन	१	१९११
विचारों में लिप्त बैठा था	विचारों में मग्न	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण ।४।	८	,,

सन्निधि-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
यह द्वन्द्व निराश हो त्यागना पड़ा	निराश होकर यह विवाद छोड़ना पड़ा	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	३	१९०६
अपने साहब कलेक्टर का	अपने कलेक्टर साहब का	"	"	६	"
टिड्डी कृषि का क्षय करने वाली	कृषि का क्षय करने वालीटिड्डी	सूर्यनारायण दीक्षित	टिड्डी दल	१	१९०६
उसकी और भी शोभा बढ़गई	उसकी शोभा और भी बढ़ गई	"	चन्द्रहास का उपाख्यान	६	"
जीवन का बिना अन्त किये	जीवन का अन्त किए बिना	"	"	९	"
एक लकड़ी का टुकड़ा	लकड़ी का एक टुकड़ा	गुरुदेव तिवारी	गुरुत्वाकर्षण शक्ति	२	"
उतनी ही आकर्षण शक्ति में न्यूनता हो जाती है	आकर्षण शक्ति में उतनी न्यूनता हो जाती है	"	"	३	१९०६
भारतके प्राचीनविश्वविद्यालय	प्राचीन भारतकेविश्वविद्यालय	वेंकटेश नारायण तिवारी	प्राचीन भारतके विश्वविद्यालय	१	१९०६
मूल या सिद्धांत था	मूल सिद्धांत यह था	"	"	१	"
बिम्बसार मगध नरेश	मगध-नरेश बिम्बसार	"	"	३	"
तत्काल रुपया कम्पनी को अदा करना पड़े	तत्काल कम्पनी को रुपया अदा करना पड़े	मिश्रबन्धु	जीवन बीमा	२	"
शरीर ज्ञान यथार्थ	यथार्थ शरीर ज्ञान	लक्ष्मीधर वाजपेयी	हमारा वैद्यक शास्त्र	३	१९०८
हमारे वैसे ही विचार हैं	हमारे विचार वैसे ही हैं	"	"	१४	१९०८
शास्त्रों की हमारे देश में उन्नति……	शास्त्रों की उन्नति हमारे देश में…	"	"	१६	१९०८

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
चारों ओर इसके	इसके चारों ओर	काशीप्रसाद जायसवाल	महाराजा बनारस का कुआँ	४	१९०८
किसी पास के गांव में	पास के किसी गांव में	,,	,,	४	,,
पूरा निश्चय अपनी बात का	अपनी बातका पूरा निश्चय	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	२८	,,
किसने जगाया	जगाया किसने	,,	,,	३१	,,
लेखक कैसे पैदा हों	लेखक पैदा कैसे हों	,,	अमेरिका में विद्यार्थीजीवन	५	,,
ऐसे सभी	सभी ऐसे	,,	राजनीति विज्ञान	,,	१९०९
हानि समाज की ही है	समाज ही की हानि है	,,	,,	,,	,,
...आदि ऐसे ही शब्द हैं	...आदि शब्द ऐसे ही हैं	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	८	,,
उनसे चलते समय भेंट कर	चलते समय उनसे भेंट कर	सत्यदेव	अमेरिका-भ्रमण ।५।	१	१९११
परिणाम इसका	इसका परिणाम	,,	,, ।४।	५	,,
एक अंग्रेजी में अखबार	अंग्रेजी में एक अखबार	,,	,,	१०	,,
आप एक की मिसाल से	एक आपकी मिसाल से	,,	,, ।५।	३	,,
बहुत से हमारे पाठक	हमारे बहुत से पाठक	,,	शिकागो का रविवार		१९०७
हमारा इससमय क्या कर्त्तव्य है	इस समय हमारा क्या कर्त्तव्य है	,,	,,		,,
पथम इसके कि	इसके प्रथम कि	रामचन्द्र शुक्ल	ग्यारह वर्ष का समय		१९०३
ग्रामीण सब	सब ग्रामीण	,,	,,		,,

वाच्य-सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
हवादार मकान शहर में बनवाये हुये हैं	हवादार मकान शहर में बने हुए हैं	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियां	७	१९०८
कोई वस्तु चोरी हुई है	कोई चीज चोरी गई है	,,	आश्चर्यजनक घंटी	२०	,,
पूले इस प्रकार खड़े करते थे	पूले इस प्रकार खड़े कियेजाते थे	,,	अमेरिकाके खेतां पर मेरे कुछ दिन	१०	,,
उनको भी काटा गया	वे भी काटे गए	,,	,,	१०	,,
इन विद्यार्थियों को अध्यापक बनाया जावे।	ये विद्यार्थी अध्यापक बनाये जांय	,,	देश०के ध्यान देने योग्त कुछ बातें	५	,,
यहाँ कुछ चोरी नहीं हुवा	यहाँ कुछ चोरी नहीं गया	,,	आश्चर्यजनक घंटी	३०	,,
इस खेत को अमरीकन बना दिया है	यह खेत अमरीकन बना दिया गया है	,,	अमेरिका में विद्यार्थि-जीवन	७	,,
बातचीत होनी थी	बातचीत होने को थी	,,	,,	६	,,
दुष्टों का मारना देखकर	दुष्टों को मारा जाना देखकर	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है	१४	१९०९
इसे स्नानागार में लाया जाता	वह स्नानागार में लाया जाता	गिरिधर शर्मा	प्राचीन भारत में राज्याभिषेक	५	१९११
उद्दंड बालकों को रखा जाता है	उद्दंड बालक रक्खे जाते हैं	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण। ३।	१३	,,
उन लड़कों को लिया जाता है	वे लड़के लिये जाते हैं	,,	,,	१४	,,

प्रत्यक्ष-परोक्ष-कथन सम्बन्धी संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
राजा साहब समझते थे कि उनका माणिक कीमती था	राजा साहब समझते थे कि हमारा माणिक कीमती है	लाला पार्वतीनन्दन	एक के दो दो	२	१६०६
वहाँ पहुँचे तो देखते क्या हैं कि पांच चार जने शराब के नशे में गुट्ट थे	वहां पहुँचे तो देखते क्या हैं कि चार पांच आदमी नशे में चूर हैं	सत्यदेव	अमेरिका-भ्रमण (४)	८	१६११
उनको समझाया कि यदि उनसे कोई मांगे	उनको समझाया कि तुमसे कोई मांगे	,,	,,	१२	,,

मुहावरों का संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
विषय को छुवा···	विषय में हाथ लगाया	काशी प्रसाद	एफ एस. ग्राउस	१३	१६०६
···काम को उठा	·· काम को आरम्भ किया	,,	,,	१३	,,
युक्ति विचारी	युक्ति निकाली	सूर्यनारायण दीक्षित	चन्द्रहास का उपाख्यान	६	,,
सीधे पड़े	चित लेटे	मधुमंगल मिश्र	एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ	४	,,
बच्चा आदमी	बालक	,,	,,	४	,,
बोध हुई	जान पड़ी	,,	,,	५	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
आँखे दिखाई	आँखे खोली	मधुमंगल मिश्र	एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ	५	१९०६
नाम का हिज्जे किया	नाम बतलाया	,,	,,	६	,,
वह आश्चर्यित हुआ	उसे आश्चर्य हुआ	,,	,,	८	,,
परिचय जान सकते हैं	परिचय पा सकती हूँ	प्रमथनाथ भट्टाचार्य	राजपूतनी	५	,,
नीच ऊँच लगी हो रहती है	सुख दुख का जोड़ा है	वेंकटेश नारायण तिवारी	एक अशरफी की आत्म कहानी	१०	,,
पत्र के पढ़ने पर	पत्र पढ़ने पर	,,	,,	१५	,,
आप को क्या काम है	आप क्या चाहते हैं	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	६	१९०८
मूर्ति के आगे झुक गया	मूर्ति को प्रणाम किया	,,	,,	८	,,
ठंडी साँस भरी	ठंडी सांस ली	,,	,,	२८	,,
सृष्टि के बीच	सृष्टि में	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है ?	१	१९०९
अपनी आँखों से देखा है	अपनी आँखों देखा है	पूर्णसिंह	कन्यादान	४	,,
प्रियावर	प्रियतमा	,,	,,	७	,,
पुत्री के विवाह को देखने	पुत्री का विवाह देखने	,,	,,	१४	,,
धूल में उड़ गये	धूल में मिल गए	बदरीनाथ भट्ट	महाकवि मिल्टन	६	१९११
मेहनत फल लावेगी	परिश्रम सफल होगा	सत्यदेव	अमेरिका भ्रमण ।५।	३	,,
शराब का दौर लगा रहे हैं	शराब का दौर चल रहा है	,,	,, ।४।	८	,,
उनमें से होकर निकल जाना	उनके बीच से होकर निकल जाना	गणेश शंकर विद्यार्थी	आत्मोत्सर्ग	३	,,

कठिन संस्कृत शब्दों के स्थान पर सरल शब्द

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
कृतविद्य	विद्वान	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	१	१९०६
चारु कार्य और शिल्प	कारीगरी	,,	,,	२	,,
आधुनिक	आजकल की	,,	,,	२	,,
एकान्ततः	सिर्फ	,,	,,	२	,,
त्यागना	छोड़ना	,,	,,	३	,,
प्रबन्ध	लेख	,,	,,	३	,,
प्रथम	पहले	,,	,,	५	,,
शीर्ष देश पर	उसके ऊपर	,,	,,	५	,,
निम्न देश	नीचे	,,	,,	८	,,
दक्षिण पार्श्व	दाहिनी तरफ	,,	,,	८	,,
वाम पार्श्व	बाईं तरफ	,,	,,	८	,,
परिणाम	फल	,,	,,	१४	,,
प्रायश्चितार्थ	प्रायश्चित के लिए	वेंकटेश नारायण तिवारी	एक अशरफी की आत्मकहानी	४	,,
एक मात्र सुत	एक मात्र पुत्र	,,	,,	६	,,
स्वच्छन्दानुरागेण	स्वच्छन्दता पूर्वक	,,	,,	१०	,,
कारणवशात्	कारणवश	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियाँ	२	१९०८
वाह्य	बाहरी	लक्ष्मीधर बाजपेयी	हमारा वैद्यक शास्त्र	८	,,
तदंशभूत	उन शक्तियां के अंशभूत	.	,,	१०	,,

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
सर्वथैव	बिल्कुल ही	लक्ष्मीधर वाजपेयी	हमारा वैद्यक शास्त्र	११	१९०८
अर्वाचीन	नवीन	"	"	१३	"
प्रचारार्थ	प्रचार के लिए	सत्यदेव	देश० के ध्यान देने योग्य बातें	४	"
वैराग्यवान्	विरक्त	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	५	१९०९
द्रव्यगत सौन्दर्य	पार्थिव सौन्दर्य	रामचन्द्र शुक्ल	कविता क्या है ?	७	"

अरबी-फारसी शब्दों के स्थानापन्न शब्द

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
अंगरेजी दां	अंगरेजी जानने वाले	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	१३	१९०६
ज्याद:	बहुत	सूर्यनारायण दीक्षित	चन्द्रहास का उपाख्यान	१३	"
गुजर गया	बीत गया	वेंकटेश नारायण तिवारी	एक अशरफी की आत्मकहानी	६	"
ख्याल	खयाल	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	३	१९०८
आईन	कानून	मिश्रबन्धु	न्याय और दया	१	"
हुनर की तरक्की	कला-कौशल की उन्नति	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियाँ	८	"
क़द दरम्यान है	कद मंझोला है	"	अमेरिकाके खेतों पर मेरे कुछदिन	४	"
फ़रज़	कर्तव्य	"	देश० के ध्यान देने योग्य कुछबातें	४	"
इस्तमाल	प्रयोग	"	"	४	"
मसाल	उदाहरण	"	राजनीतिक विज्ञान	१०	१९०९
फ़रज़ करो	कल्पना करो	"	"	१०	"

अंग्रेजी शब्दों के स्थानापन्न शब्द

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
मिस्टर ब्रोम्स	बोम्स साहब	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	३	१९०६
यूनीवर्सिटी	विश्वविद्यालय	मधुमंगल मिश्र	एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ	१	,,
बोस	वसु	माधवराव सप्रे	स्वर्गीय आनन्द मोहन वसु	१	,,
डेस्क	मेज	सत्यदेव	आश्चर्यजनक घंटी	१	१९०८
मिस	कुमारी	,,	अमेरिका की स्त्रियाँ	४	,,
मेगज़िनों	मासिक पुस्तकों	,,	,,	६	,,
टैक्स	कर	,,	राजनीति-विज्ञान	६	१९०९
आरटिस्टिक	कौशलमयी	पूर्णसिंह	सच्ची वीरता	६	,,

अन्य शब्दों के संशोधन

मूल	संशोधित रूप	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
अब लौं	अब तक	मधुमंगल मिश्र	एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ	३	२९०६
वा	या	,,	,,	३	,,
जब लौं···तब लौं	जब तक···तब तक	,,	,,	१६	,,
सो	इससे	मिश्रबन्धु	न्याय और दया	४	१९०८
आंखें उघाड़ो	आंखें खोलो	सत्यदेव	अमेरिका की स्त्रियाँ	१	,,
जब···तो एक जना	जब···तब एक आदमी	,,	अमेरिकाके खेतों पर मेरे कुछदिन	१७	,,
दिखायी गयी है	दिखाय गया है	,,	शिकागो का रविवार		१९०७

परिशिष्ट संख्या ३ में दी हुई संशोधित लेख की प्रतिलिपि उनके संशोधन-कार्य को और भी स्पष्ट कर देगी। स्वयं श्रान्त हो जाने पर वे मैथिलीशरण गुप्त आदि के द्वारा 'सरस्वती'-लेखकों की भ्रष्ट भाषा का सुधार कराते थे। इसकी चर्चा 'सरस्वती-सम्पादन' अध्याय में हो चुकी है।

आचार्य द्विवेदी जी पत्रों और सम्भाषणों में भी भाषा-संस्कार का उद्योग करते थे। एक बार मैथिलीशरण गुप्त की 'क्रोधाष्टक' तुकबन्दी पर क्षुब्ध होकर उन्हें पत्र में लिखा —

"हम लोग सिद्ध कवि नहीं। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते हैं। कुछ लिख कर उसे छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गये। पहला ही पद्य लीजिये—

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया
जानें न वे तनिक भी अपना पराया
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी
रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया ? इसे हम अवश्य 'सरस्वती में छापेंगे परन्तु आगे से आप सरस्वती के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविताएं छापने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे। जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए। ताले में बन्द करके रखिए।"[1]

पंडित विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक की तीन-चार कहानियां तथा लेख प्रकाशित करने के बाद एक बार वार्तालाप के सिलसिले में द्विवेदी जी ने उनसे कहा—

'आप 'सरस्वती' ध्यान से नहीं पढ़ते। पढ़ते होते तो 'सरस्वती' की लेखन शैली की ओर आपका ध्यान अवश्य जाता। 'सरस्वती' की अपनी निजी लेखन शैली है। वह मैं आप को बताता हूँ। देखिये लेने के अर्थ में जब लिये शब्द लिखा जाता है तब यकार से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है तब एकार से लिखा जाता है। जो

---

१. 'सरस्वती' भाग ४०, सं० २, पृ० २००

शब्द एक वचन में यकारान्त रहते हैं वे बहुवचन में भी यकारान्त ही रहेंगे। जैसे 'किया-किये', 'गया-गये', परन्तु स्त्री लिंग में 'गयी' न लिखकर ईकार से 'गई' लिखा जाता है। 'कहिए', 'चाहिए', देखिए' इत्यादि में एकार लिखा जाता है। अकारान्त शब्दों का बहुवचन एकारान्त होता हैं। जैसे 'हुआ' का बहुवचन 'हुए'। जहाँ पूरा अनुस्वार बोले वहाँ अनुस्वार लगाया जाता है। जैसे 'संस्कार' और जहां आधा अनुस्वार, जिसे उर्दू में नूनगुन्ना कहते हैं, बोले वहां चन्द्रविन्दु लगाया जाता है—जैसे काँपना। सम्भव है, मेरी इस शैली से आपका मतभेद हो, परन्तु प्रार्थना यह है कि 'सरस्वती' के लिए जब लिखिए तब इन बातों का ध्यान रखिए।"[1]

अपने लेखों और वक्तव्यों में उन्होंने समय-समय पर अपने भाषा सम्बन्धी विचारों की अभिव्यक्ति की है। 'हिन्दी की वर्तमान अवस्था'[2] में उसकी शब्द-ग्राहकता पर लिखा था—

"आज कल कुछ लेखक तो ऐसी हिन्दी लिखते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, अरबी सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशीय शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं करते, ढूंढ़–ढूंढ़ कर ठेठ हिन्दी शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिन्दी के शब्द-समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी की कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी, फारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार सम्भव नहीं।" साहित्य सम्मेलन (कानपुर अधि-वेशन) में स्वागताध्यक्ष पद से दिये गए भाषण में भी उन्होंने हिन्दी की इस ग्राहिका-शक्ति का मंडन किया।[3]

अपने उसी भाषण में उन्होंने हिन्दी भाषा और व्याकरण के अनेक विवाद-ग्रस्त विषयों का भी स्पष्टीकरण किया।[4] कारक-विभक्तियों के सम्बन्ध में उनका वक्तव्य था कि जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का योग होता है वह उसी का अंश हो जाती हैं। यह सत्य है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विभक्तियों को शब्दों से जोड़ कर लिखा जाय।

---

१. 'सरस्वती' भाग ४०, संख्या २, पृ० १६२।
२. 'सरस्वती' भाग १२, संख्या १०, पृ० ४७३।
३. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष–पद से भाषण, पृ० ४६-५०
४. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण, पृ० ५० से ६१

संस्कृत व्याकरण में भी इस नियम का निर्देश नहीं उसमें विभक्तियां पृथक रह ही नहीं सकतीं क्योंकि उनकी सन्धि से शब्दों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु हिन्दी में ऐसी बात नहीं। विभक्तियों को सटा कर या हटाकर लिखना रूढ़ि, शैली या सुभीते का विषय है, व्याकरण का नहीं। शब्द अलग-अलग होने से पढ़ने में सुभीता होता है, भ्रम की सम्भावना कम रह जाती है। अतः विभक्तियों का अलग लिखना ही अधिक श्रेयस्कर है। व्याकरण का कार्य केवल इतना ही है कि भाषा प्रयोगों की संगति मात्र लगा दे। उसे विधान बनाने का कोई अधिकार नहीं। अपप्रयोग तभी तक माना जा सकता है जब तक भ्रम या अज्ञान के वशवर्ती होकर, कुछ ही जन किसी शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि को प्रचलित रीति के प्रतिकूल बोलते या लिखते हैं। अधिक जन-समुदाय, शिष्ट लेखकों या वक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होने पर वही साधु प्रयोग हो जाता है। शब्दों का लिंग भी प्रयोग पर ही अवलंबित है। जब संस्कृत में 'दारा' शब्द पुल्लिग में और अंग्रेजी में देशों के नाम स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं तब प्रयोगानुसार हिन्दी में 'दही' शब्द भी उभयलिंगी हो सकता है। हिन्दी के कुछ हितैषी चाहते हैं कि क्रियाओं के रूपों में सादृश्य रहे। वे 'गया' का स्त्रीलिंग 'गयी' चाहते हैं, 'गई' नहीं। कुछ लोग 'लिया' और 'दिया' का स्त्रीलिंग 'लिई' और 'दिई' चाहते हैं, 'ली' और 'दी' नहीं। सरलता के कुछ पक्षपातियों की राय है कि क्रियाओं को लिंग-भेद के झमेले से एकदम ही मुक्त कर दिया जाय। परन्तु वक्ताओं का मुंह और लेखकों की लेखनी वय्याकरण बन्द नहीं कर सकते।

द्विवेदी जी की प्रारंभिक रचनाओं की रीति और शैली[1] भी उनके भाषा प्रयोगों की ही भाँति त्रिल्य है। शब्दों की योजना में वे एक ओर तो संस्कृत से और दूसरी ओर अरबी-फारसी-मिश्रित उर्दू से बुरी तरह प्रभावित हैं। कहीं-कहीं तो अनेक भाषाओं के शब्दों की विचित्र खिचड़ी रेल-यात्रा या बाजार के योग्य होते हुए भी साहित्यिक रचनाओं में अत्यन्त असुन्दर जँचती है।

रोमन, वारनिश, नम्बर, लैम्प, वेहिसाब, मरहम, वकील, कैंची, बटन, मोजा, फीता, नमूना आदि शब्द हिन्दी में खप गए हैं और उनका प्रयोग सर्वथा संगत है, परन्तु क्रिश्चियन (वे वि. र. ३), क्राइस्ट (वे. वि. र. १), फुटनोट्स (वे. वि. र. भू ७), पैराग्राफ (हि. शि. तृ. भा. स. २८), आदि एवं 'स्वाधीनता' में प्रयुक्त जरूरत (१) शाइस्तगी (२) दारमदार (६) जमात (१४) तहम्मुल (१६), मुस्तसना (२३), खयालात (२७,) मदाखिलत (२६), तकरीर (३४), पेशबन्दी (३५) आदि का प्रयोग हिन्दी के प्रति सरासर अत्याचार है। यह

---

१. रीति पद-रचना की प्रणाली और शब्द धर्म है।

तो फुटकर शब्दों का उदाहरण हुआ। निम्नांकित अवच्छेद तो उर्दू ही है—

"कागजी रुपये से सम्बन्ध रखने वाले महकमे का काम काज चलाने के लिये एक कानून है। उसका नाम है एक्ट २ जो १६१० ईस्वी में पास हुआ था। उसके पहले भी कानून था। पर १६१० ईस्वी में वह फिर से पास किया गया, क्योंकि पहले के कानून में कुछ रद्दोबदल करना था। इसी कानून की रू से इस महकमे का सारा काम होता है।

....

१६२७ ईस्वी में गवर्नमेंट ने एक और कानून बना कर एक्ट २ में कुछ तरमीम कर दी है।"[1] अपने पत्रों में भी कहीं-कहीं फारसी की छारसी उड़ाने में उन्होंने चमत्कार दिखाया है, यथा 'अदालत आलिया में मुकदमाजेर तजवीज़ था'[2] कुछ शब्दों के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि वे हिन्दी समाज में व्यवहृत होते हैं, परन्तु हिन्दी-जनता में प्रचलित तद्भव और द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त तत्सम रूपों का समुचित निरीक्षण इस भ्रान्ति को दूर कर देगा। हिन्दी ने 'कागज', 'कानून', 'जरूरत', 'जबान', 'कबूल' आदि को अपनाया है, 'काग़ज़', 'क़ानून', 'ज़रूरत', 'ज़बान', या 'क़बूल' आदि को नहीं। द्विवेदी जी को चाहिए था कि उर्दू शब्दों के ग्रहण में गोस्वामी तुलसीदास जी की आदर्श-पद्धति पर अनुगमन करते।[3]

उनकी हिन्दी की पहली किताब की भाषा राजा शिवप्रसाद और वर्तमान रेडियो की हिन्दुस्तानी की अपेक्षा कम उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं है। उसके निम्नांकित नामवाचक विवरण में प्रयुक्त 'सूबह' 'मदरसों', 'दफ़अ,' 'मुआफ़िक', 'रोज़मर्र:' आदि शब्द किसी मुल्ला या मौलवी की वाणी की शोभा निस्सन्देह बढ़ा सकते हैं, परन्तु द्विवेदी जी की नहीं—

"हिन्दी की पहली किताब

---

१. शैली भावाभिव्यंजन की प्रणाली और अर्थ धर्म है।

२. पद्मसिंह शर्मा को पत्र

'सरस्वती', दिसम्बर, १६४० ई०

३. तुलसीदास जी ने भी विदेशी शब्दों को अपनाया है, परन्तु उनकी शुद्धि करके—

सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।

—रामचरित मानस

या

रावरी पिनाक में सरीकता कहाँ रही।

—कवितावली

जिसे

सूबह आगरा व अवध के मदरसों की प्रिपैरेटरी गवर्नमेंन्ट रेज़ोल्यूशन

न०·············ता० १६ मई १६०३ ई० के मुआफ़िक, हिन्दुस्तानियों की रोज़मर्रः की बोली में पंडित महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने बनाया।

देवनागरी लिपि में लिखित इस उर्दू पुस्तक में 'अक्षर', 'ईश्वर', 'भोजपत्र', 'विद्या' 'श्रम' और 'समुद्र' को छोड़कर संस्कृत हिन्दी शब्दों का बहिष्कार किया गया है। ये भी बाध्य होकर लिखे गए हैं क्योंकि उदाहरणार्थ 'क्ष', 'त्र', 'द्य', 'श्र' और 'द्र' का प्रयोग करना अनिवार्य था। पुस्तक भर में 'सदा', 'दुःख', 'दंड', 'आकाश', और 'पाठशाला या विद्यालय', 'बार', 'सुन्दर', 'बहुत', 'भारतवर्ष', 'बलवान्', 'हानि', 'लाज', 'क्रोध', 'दया', 'मूर्ख' 'मधुमक्खी', 'बिना', 'विद्या', 'जीवन भर', 'समय', 'शरीर' 'मामा जी नमस्ते' आदि के स्थान पर क्रमशः 'हमेशा', 'तकलीफ', 'सज़ा', 'आसमान', 'तरफ', 'मदरसा', 'दफ़ा', 'खूबसूरत', 'ज़ियादा', 'हिन्दुस्तान', 'ताकतवर', 'नुकसान', 'शरम', 'गुस्सा', 'रहम', 'बेवकूफ', या 'कम अक्ल', 'शहद की मक्खी', 'बगैर', 'इल्म', 'उमर भर', 'वक्त', 'बदन', 'मामू साहब सलाम' आदि का ही प्रयोग हुआ है। इस पुस्तक में अरबी-फारसीपन के लिए द्विवेदी जी उत्तरदायी नहीं हैं। उनकी मूल पुस्तक की भाषा हिन्दी थी, शिक्षा-विभाग के अधिकारियों ने उसका हिन्दीत्व नष्ट कर दिया है। यह बात मुखपृष्ठ पर अन्य पुरुष के प्रयोग से भी सिद्ध हो जाती है। सम्भवतः इसी कारण द्विवेदी जी ने शिक्षा-संस्थाओं के लिए फिर कोई पुस्तक नहीं लिखी।

भाषा की रीति के विषय में उनका निश्चित मत था कि हिन्दी एक जीवित भाषा है। उसे किसी परिमित सीमा के भीतर आबद्ध करने में उसके उपचय की हानि है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है। सम्पर्क के प्रभाव से हिन्दी ने अरबी, फारसी और तुर्की तक के शब्द ग्रहण कर लिए हैं और अब अँगरेजी तक के शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसमें हिन्दी की वृद्धि है, ह्रास नहीं। विदेशी भाव, शब्द और मुहावरे ग्रहण करने में केवल यह देखना चाहिए कि हिन्दी उन्हें पचा सकती है या नहीं, उनका प्रयोग खटकता तो नहीं, वे उसकी प्रकृति के प्रतिकूल तो नहीं, हिन्दी हिन्दी ही बनी है या नहीं। मकान, मालिक, नोट, नम्बर आदि शब्द हिन्दी में खप गए हैं, विदेशी नहीं रहे। हां, खटकने वाले भावों या मुहावरों का प्रयोग करना ठीक नहीं। दृष्टिकोण (Angle of vision) लागू होना (to be applied) नंगी प्रकृति (naked nature) आदि के प्रयोग से हिन्दी की विशेषता को धक्का पहुँचता है।[1]

---

१. साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में दिए गए भाषण (पृ० ४६—४६) के आधार पर।

द्विवेदी जी ने इस सिद्धान्त का उचित पालन नहीं किया। इसकी समीक्षा ऊपर हो चुकी है। सम्पादक-पद से 'सरस्वती' को लोक-प्रिय बनाने के लिये वे अन्य लेखकों की संस्कृत-पदावली के स्थान पर उर्दू शब्दों का सन्निवेश कर दिया करते थे, उदाहरणार्थ—[1]

मूल	संशोधित	लेखक	रचना	पृष्ठ	सन्
वास्तु शिल्प	मकान वगैरह बनाने की विद्या	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	१	०६
अभ्यन्तर	दरमियान	,,	,,	४	,,
पुष्ट	मुतमौवल	मिश्रबन्धु	जीवन बीमा	२	,,
स्फुट	ज़ाहिर	काशीप्रसाद	एफ० एस० ग्राउस	६	,,
पश्चात्	बाद	,,	,,	७	,,
कदाचित्	शायद	,,	,,	१४	,,
अन्ततःस्वास्थ्य-हीनता	आखीर में तबियत अच्छी न रहने	,,	,,	,,	,,
भूमि	ज़मीन	सूर्यनारायण दीक्षित	टिड्डीदल	१	,,
वयःक्रम	उमर	काशीप्रसाद	एफ० एस ग्राउस	१५	,,
कुछ ही क्षण	ज़रा देर	सूर्यनारायण दीक्षित	टिड्डीदल	३	,,
प्रत्येक व्यक्ति	हर आदमी	,,	,,	४	,,
न्याय प्रचलित	कानून जारी था	,,	,,	४	,,

उनके सुधार से अनेक लेखक और पाठक असन्तुष्ट थे। इस कथन की पुष्टि कामता प्रसाद गुरू के निम्नांकित पत्र से हो जाती है—

"अरबी फारसी के कम उपयोग के अनुरोध का सबसे बड़ा कारण यह है कि आप आदर्श लेखक हैं, इसलिये आप भाषा को ऐसा रूप न देवें जो या तो पाठकों को न रुचे या हमारी हिन्दी को बीबी बना दे। आप थोड़ा लिखा बहुत समझिए।

---

१. निम्नांकित सूची काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्त-लिखित प्रतियों के आधार पर है। सूची में दी गई पृष्ठ-संख्या हस्तलिखित रचनाओं की है।

आपका[1]
कामताप्रसाद गुरु।"

'वेणी-संहार' और 'कुमार-सम्भव' में तो उर्दू शब्दों की योजना और भी गर्हित हुई है—
(क)'……सहदेव—भाई साहब, शर्त यह है कि दुर्योधन आदि हमें पांच गांव दे दें तो हम राज्य पाने का दावा छोड़ दें।'[2]
(ख)…… रानी साहबा। घबराइए। नहीं।'[3]
(ग)…… परन्तु उमा ऐसी उस्ताद निकली कि उसने इन प्रसन्नमुखी पतिव्रताओं के आशीर्वाद फल से भी अधिक फल प्राप्त कर लिया।'[4]
उपर्युक्त उद्धरणों में भीम के लिये 'भाई साहब', द्रौपदी के लिए 'रानी साहबा' और उमा के विशेषण रूप में 'उस्ताद' शब्दों का प्रयोग करके द्विवेदी जी ने शाहंशाह दशरथ और 'बेगम सीता' वाले हिन्दुस्तानी भक्तों के भी कान काट लिए हैं।

'कपटता', 'कुशलता', 'प्रवीणता', 'ब्रह्मा की', 'विष्णु का' आदि के बदले 'कापट्य' (वे. वि. र. १७), 'कौशल्य' (वे. वि. र. ८४), 'प्रावीण्य' (वे. वि. र. ११०), 'ब्राह्म' (वे. वि. र. १२३), 'वैष्णव' (वे. सं. १३) आदि प्रयोग उचित नहीं जँचते। 'तरुप्रत्यन्योक्ति' (भा. वि. १८), 'शब्दालंकारान्तर्गत' (भा. वि. २५) 'हिमतु' (भा. वि. १३४), 'नूतनोत्पत्र मृणाल' (भा. वि. ६५) 'त्वत्तुल्य' (भा. वि. १०६) 'एतद्देशीय' (वे. वि. र भू. ६), 'तद्द्वारा' (वे. वि. र. १५), 'अल्पज्ञज्ञानलवदुर्विदग्ध' (वे. वि. र १२३), 'आसमन्तात्' (भा. वि. २), 'शिरसावंद्य' (भा. वि. १०), 'किं बहुना' (भा. वि. २४), 'यद्यापि' (भा. वि. १०२), 'इतस्ततः' (वे. वि. २६), 'इत्थंभूत' (वे. वि. र. १०५), 'नामनिःशेष' (वे. सं. ६१), आदि में क्रमशः संस्कृत की संधियों, समासों और मुहावरों के प्रति उन्होंने हिन्दी की शुद्धता का तिरस्कार करके, अनुचित पक्षपात किया है। 'अवसर' के अर्थ में 'संधि' (वे. वि. र. ६५) का प्रयोग मराठी प्रभाव का सूचक है। 'ठौर ठौर पै' (भा. वि. पृ. ३) 'हूजिए' (हि. शि. तृ. भा. स. ३७), 'जाव' (सं. शा. २) 'मोरै' (भा. वि. १०), 'हसनि' (भा. वि. ६६), 'द्वारी' (भा. वि.७१) 'पुरषों' (भा. वि. १२०) 'कुछ पै कुछ' (वे. वि. र ८), 'कठपुतरी' (वे.र. ६७) 'चलन बलन' (वे.वि.र.१०३) 'दीजियो' (कु.सं०.)

---

१. कामता प्रसाद गुरू का पत्र, 'ईर्षा', कविता के साथ, सरस्वती की १९०८ ई० की हस्तलिखित प्रतियों का बंडल, कला भवन, काशी नागरी प्रचारणी सभा।
२. वेणी-संहार १०४
३ ,, २४
४. 'कुमार-संभव', पृ० १२२

'पडियो' (कु. सं.) आदि अवधी और ब्रज के प्रयोगों ने उनकी भाषा को और भी संकर बना दिया है।

उनकी प्रारंभिक रचनाओं की भाव-प्रकाशन-शैली में पंडिताऊपन अधिक है, उदाहरणार्थ—'उपमेय जो साधु और उपमान जो सर्प उनके धर्म में समानता कहने से प्रतिवस्तूपमा अलंकार हुआ ।' (भा. वि. ५५), 'मेरे आगमन से अधिक हुआ है सन्तोष जिसको और जागरण से व्यतीत की है सारी रात जिसने ऐसी वह नायिका प्रातःकाल मुखोत्पन्न सुगंध के लोभी मधुपों के जगाने से भी न जगी।' (भा. वि ११०) "मुक्ति का मार्ग दिखाने वाला ऐसा वह विनय सौशील्य सज्जनों को क्यों न प्रिय हो" ? (वे. वि. र. ३४), आदि वाक्य आज हास्यास्पद जँचते हैं। कहीं-कहीं वाक्यदीर्घता अर्थप्रकाशन में बाधक हुई है। लेखक को अपनी भावव्यंजना पर स्वयं विश्वास नहीं है, इसी कारण वह पग-पग पर अर्थात् या उसके पर्याय, कोष्ठक, अल्पविराम या समानाधिकरण,निर्देशक-चिन्हों द्वारा कथा-वाचकों की भांति अपने अस्पष्ट अर्थ का स्पष्टीकरण करता है —

"हे मातः ! भीतर एक और बाहर एक ऐसे दो प्रकार के स्वरूप युक्त होने ही के कारण मानों जिस तेरे जल में शिर से स्नान करके मनुष्य तत्काल ही पवित्र हरिहरात्मक दो रूपों को धारण करते हैं अर्थात् स्नान करनेके साथ ही हरि (विष्णु), (हर) महादेव रूप हो जाते हैं वह अन्तर में मुक्ता के समान स्वच्छ और बाहर इन्द्रनील मणि के समान कृष्ण तुम्ह करुणावती का जल हमें आनन्ददायक होवे।"[1]

'अर्थात्' की सर्वोपरि धूम 'स्वाधीनता' में है। उसके २६ पृष्ठों के पहले अध्याय में ही 'अर्थात्' और उसके पर्यायों का एक सौ दो वार प्रयोग हुआ है। व्यापक शैली, मूल रचनाओं की भाव-गहनता के कारण अनुवादों में ही है । 'स्वाधीनता' में ही अपनी स्वतंत्र भाव-व्यंजना के समय उनकी भाषा की गति धारावाहिक है।[2]

द्विवेदी जी की आरंभिक कृतियां, निस्सन्देह, निश्चित रीति और शैली से विशिष्ट हैं। 'अमृत लहरी', 'भामिनी-विलास' और 'वेकन विचार-रत्नावली' में आद्योपान्त संस्कृत-पदावली और पंडिताऊ भावाभिव्यंजन है। 'स्वाधीनता'[3] की खिचड़ी और बोलचाल की

---

१. 'अमृत-लहरी' पद ४

२. उदाहरणार्थ, 'स्वाधीनता' की भूमिका, पृ० १३ द्रष्टव्य है।

३. "हमारी राय यह है कि इस समय हिन्दी में जितनी पुस्तकें लिखी जायँ खूब सरल भाषा में लिखी जायँ। यथासम्भव उनमें संस्कृत के अधिक शब्द न आने पावें। क्योंकि जब लोग सीधी सादी भाषा की पुस्तकों ही को नहीं पढ़ते तब वे क्लिष्ट भाषा की पुस्तकों को क्यों छूने लगे, अतएव जो शब्द बोल चाल में आते हैं फिर चाहे

भाषा में टीकाकार का सा प्रधान स्वर है। "हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना" और 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' की वक्तृत्व-प्रधान भाषा में अनुशासक समालोचक का भर्त्सनापूर्ण, तीखा और असह्य व्यंग्य है। किन्तु उनकी कोई भी प्रौढ़ गद्य-रचना ऐसी नहीं है जिसमें गोविन्दनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास या चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की भांति आद्योपान्त रीति और शैली की कोई निश्चित विशेषता हो और जिसके आधार पर हम यह साधिकार कह सकें कि यह कृति द्विवेदी जी की ही है।

उनकी भाषा का शब्द-चयन कहीं संस्कृत-बहुल, कहीं फारसी-बहुल और कहीं बोलचाल का है। कहीं मराठी के प्रभाव से परुषा, कहीं बंगला के प्रभाव से कोमला और कहीं अंग्रेजी के प्रभाव से उपनागरिका वृत्तियां का भी समावेश है। प्राक्तन और सामाजिक संस्कारों, प्रारंभिक गृह-शिक्षा और प्रौढ़ स्वाध्ययन ने द्विवेदी जी को स्वभावतः संस्कृत का प्रेमी बना दिया है। आरम्भ में तो उनकी भाषारीति संस्कृत-बहुल और मराठी के प्रभाव से परुष रही ही, भाषा का आदर्श बदल देने के बाद भी वे इस प्रभाव से मुक्त नहीं हुए। परन्तु इन दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर है। पहली का क्षेत्र व्यापक है। उनकी प्रत्येक प्रारंभिक कृति, प्रत्येक अवच्छेद संस्कृत और मराठी से प्रभावित है। दूसरी की परिधि सीमित है। अपने कोमल भावों या अनुभूतियां की अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने शुद्ध संस्कृत-पदावली का आश्रय लिया है—

"आनन्दवाष्पों से मैं आपके पैर धोता हूँ। मेरी इन उक्तियां में प्रयुक्त वर्णों में यदि कुछ भी माधुर्य हो तो मैं उसी को मधुपर्क मानकर आपको अर्पण करता हूँ। विनीत वचनां ही को फूल समझकर आप पर चढ़ाता हूँ, और नम्रशिरस्क होकर प्रार्थना करता हूँ—

वन्दे भवन्तं भगवन् प्रसीद।

त्रुटियां और न्यूनताओं के होने पर भी, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपके विषय में कानपुर नगर के निवासियों के हृदयों में हार्दिक भक्तिभाव और प्रेम की कमी नहीं, श्रद्धा और समादर की कमी नहीं, सेवा और शुश्रूषणा की कमी नहीं। आशा है,

---

वे फारसी के हों, चाहे अरबी के हों, चाहे अंगरेजी के हों उनका प्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता। पुस्तक लिखने का मतलब सिर्फ यह है कि उसमें जो कुछ लिखा गया है उसे लोग समझ सकें। यदि वह समझ में न आया अथवा क्लिष्टता के कारण उसे किसी ने न पढ़ा तो लेखक की मेहनत ही बरबाद जाती है। पहले लोगों में साहित्य-प्रेम पैदा करना चाहिए। भाषापद्धति पीछे से ठीक होती रहेगी।"

—'स्वाधीनता' की भूमिका

पृ० १०६–१०

आप हमारे आन्तरिक भावों से अनुप्राणित होकर हमारी त्रुटियों पर ध्यान न देंगे, क्योंकि–

भक्त्येव तुष्यन्ति महानुभावाः ।[१]

भावनाओं की सुकुमारता के कारण इन संदर्भों में मराठी की परुषता कम हो गई है । बंगला की सी कोमलता का प्राय: सर्वत्र अभाव है । कोमल भावों की व्यंजना में एकाध स्थलों पर उर्दू-पदावली का प्रयोग उपयुक्त सिद्धान्त का अपवाद है—

"परन्तु मेरी दरख्वास्त नामंज़ूर हो गयी। काम ऐसे लोगों से पड़ गया जिन्होंने मेरी दलीलों की धज्जियां उड़ा दीं, मेरे बहस मुबाहसे को ज़रा भी दाद न दी, मेरी मिन्नत आरज़ू को धता बता दिया। मैं हार गया और आज यह हार ही का नतीजा है जो मैं आपके सामने हाज़िर किया गया हूँ।"[२]

गम्भीर–विचार–व्यंजना के समय उन्होंने संस्कृत–प्रधान भाषा का व्यवहार किया है ।[३] भावावेश में दूसरों पर कठोर आक्षेप करते समय उन्होंने अरबी-फरसी-प्रचुर भाषा का प्रयोग किया है । स्वभाव, संस्कार और शास्त्रीय अध्ययन के कारण बीच-बीच में संस्कृत का पुट भी अनायास ही आ गया है, यथा—

"अगर ऐसा न हो तो बेरहम और ज़बरदस्त ज़ुबांदाँ लोग अपनी ज़ुबांदानी की खेज़ तलवार से भाषा को अल्प काल ही में बेमौत मार डालें, क्योंकि वाजिदअली शाह के मकतब के मुरीद प्रान्तिक बोलियों और देहाती मुहावरों से अज़हद नफ़रत करते हैं। दुहाई है हकीम महमूद खां देहलवी की, मुद्दत तक देहली में शागिर्दी करके भी आपको नब्ज़ पकड़ना न आया। हुजूर मुझे 'का' की ही बीमारी नहीं 'के' की भी है और 'की' की भी। यह कमबख्त बीमारी संक्रामक मालूम होती है । हकीम साहब, इसे पाप ही की काया ने फैलाया है।"[४]

द्विवेदी जी की अधिकांश रचनाएँ स्थायी साहित्य की उच्चकोटि में नहीं आतीं। वे जनसाधारण के ज्ञान-वर्धन के लिए की गई हैं; अतएव भाषा-सांकर्य से व्याप्त हैं। लोकोपयोगी विषयों के प्रतिपादन में संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अँग्रेजी आदि के प्रचलित शब्दों का उन्होने निस्संकोच भाव से प्रयोग किया है—

"उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने की कोशिश बहुत समय से हो रही है । पीरी, अमन्दसन,

---

१ साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से भाषण, पृ० ४-५

२. द्विवेदी-मेले के समय भाषण, पृ० ६

३. इसका स्पष्टीकरण 'विवेचनात्मक शैली' के अन्तर्गत होगा।

४. 'सरस्वती' भाग ७, संख्या २, पृ० ६६

नानसन आदि कितने ही यात्री, समय-समय पर उसका पता लगाने के लिये उस तरफ जा चुके हैं। अभी हाल में भी एक साहब ध्रुव पर चढ़ाई करने गए थे। पर सुनते हैं, बीच ही में कहीं वे अटक रहे और बहुत दिन बाद वहां के बर्फ से छुटकारा पाने पर अब वे लौट रहे हैं।"[1]

कहीं-कहीं संस्कृत और अरबी आदि विदेशी शब्दों की एकत्र योजना बड़ी भद्दी जँचती है "संस्कृत के किसी पंडित ने कहा है—

इन्द्रोपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितगुणैः

परन्तु वैयाकरण रामदत्त जी शायद इस कौल के कायल नहीं। सम्भव है यह वाक्य किसी आचार्य का न हो। इधर पुस्तकारम्भ में भी अपनी तारीफ़ के ज़टल काफ़िये, उधर पुस्तकान्त में भी। जिसके सिर सनक सवार हो जाती है, वही ऐसी बातें लिख सकता है।"[2]

युग-निर्माता द्विवेदी की भाषा में वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, मूर्तिमत्तात्मक, वक्तृतात्मक संलापात्मक, विवेचनात्मक और भावात्मक शैलियाँ बीजरूप में विद्यमान हैं। किसी एक ही शैली का विकसित रूप उनकी किसी भी रचना में आद्योपान्त व्याप्त नहीं है। शैलियों की संकरता से उनका भाषा-सौन्दर्य बढ़ गया है, घटा नहीं है। उपर्युक्त वर्गीकरण के दो आधार हैं। एक तो द्विवेदी जी की प्रत्येक रचना में इनमें से कोई न कोई शैली अपेक्षाकृत अधिक प्रधान है और दूसरे, ये ही विकसित होकर द्विवेदी-युग के सिद्ध लेखकों की विभिन्न गद्य शैलियाँ बन गई हैं।

'सरस्वती' में 'आख्यायिका', 'ऐतिहासिक विषय', 'जीवनचरित', 'देशनगर स्थल, जात्यादि वर्णन', 'फुटकर विषय', 'विचित्र विषय' और 'वैज्ञानिक विषय' खंडों के अन्तर्गत प्रकाशित द्विवेदी जी की अधिकांश रचनाएँ और 'जलचिकित्सा' आदि पुस्तकें वर्णनात्मक शैली के वर्ग में आती हैं। इन रचनाओं में अन्य शैलियों का भी यत्र-तत्र पुट आ गया है, परन्तु गौणरूप से। विषयानुकूल संस्कृत या हिन्दी बोलचाल की पदावली के बीच-बीच में आवश्यकता और सुविधा के अनुसार अरबी, फारसी या अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेखक एक कथा सी कहता हुआ चला जाता है—

"वार्ड साहब कई साल से अपने बगीचे में देख रहे थे कि एक नियत समय पर बहुत

---

१. 'उत्तरी ध्रुव की यात्रा', लेखांजलि, ० ४८

२. 'विचार- विमर्श', पृ० १८६—सरस्वती, अगस्त १९१२ ई०

सी मक्खियां इतनी अधिक हो जाती हैं कि इनमे बगीचे के प्राय:सभी पेड़-पौधे ढक जाते हैं। वार्ड साहब इनकी बढ़ती पर बड़े चकित हुए। वे अनुसन्धान करने लगे कि एकाएक ये मक्खियां इसी समय यहां कैसे आ पहुँचती हैं और इनकी इतनी अधिक वृद्धि इतनी जल्दी कैसे हो जाती है। बहुत दिनों के बाद वार्ड साहब को इनके विषय में जो बातें मालूम हुई वे बहुत ही कौतूहल-जनक हैं।"[१] इसी शैली में लक्षणा, व्यंजना या अलंकारिक सौन्दर्य का प्रभाव है। लेखक के मन की स्पष्ट बातें प्रसाद गुणसम्पन्न साधारण भाषा में व्यक्त की गई हैं। 'श्री हर्ष का कलियुग',[२] 'वैदिक देवता',[३] आदि लेखों में वस्तु की प्राचीनता के कारण संस्कृत शब्दों की बहुलता है। अपंडित पाठकों की निर्बल मानसिक भूमिका के प्रति सावधान लेखक की रचना में अध्यापक का स्पष्ट स्वर स्थान-स्थान पर सुनाई पड़ता है। वे कहीं इतिहास, कहीं भूगोल, कहीं धर्म-शास्त्र, कहीं भाषा-साहित्य-प्रेम, कहीं व्यापक ज्ञान की बातों का पाठ-पढ़ाते हुए दिखलाई देते हैं—

"कुशलपूर्वक ५० वर्ष बीत जाने के उपलक्ष्य में जो उत्सव किया जाता है, उसे अंगरेजी में जुबली कहते हैं। महारानी विक्टोरिया को जब राज्य करते ५० वर्ष हो गए थे, तब इस देश में जुबली का महोत्सव हुआ था। साठ वर्ष बीतने पर उससे भी बढ़कर उत्सव किया गया था। तार द्वारा खबरें भेजने का काम करने वाली एक कम्पनी विलायत में है। उसका नाम है रूटर्स टेलीग्राम कम्पनी। इसी कम्पनी की बदौलत भारत के दैनिक समाचार पत्र योरप के वर्तमान युद्ध की अधिकांश खबरें प्रकाशित करते हैं।"[४]

हिन्दी-साहित्य के रचनाकारों और हिन्दी-प्रचारिणी संस्थाओं के अधिकारियों की कलुषित कृतियों पर क्षोभ, पारस्परिक वाद-प्रतिवाद और अमर्ष आदि के अवसरों पर द्विवेदी जी की भाषा-शैली व्यंग्यात्मक है। इस श्रेणी की रचनाओं 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना', 'कौटिल्य-कुठार', 'भाषा और व्याकरण', 'भाषा पद्य व्याकरण'—सरीखी पुस्तकों की आलोचनाओं आदि में हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी तथा फारसी के शब्दों एवं मुहावरों का साधिकार प्रयोग और अभिधा की अपेक्षा लक्षणा तथा व्यंजना द्वारा पग-पग पर आक्षेप हुआ है।

कहीं रचनाकार को सम्बोधित करके उस पर हुल्लड़बाजों का सा हास्य-मिश्रित व्यंग्य है —

---

१. 'लेखांजलि', पृ० २४—सरस्वती जून १९२५ ई०
२. 'साहित्य-संदर्भ' पृ० ७ से २६ तक—सरस्वती मार्च, १९२१ई०
३. 'साहित्य-संदर्भ पृ० ३७ से ५० तक-सरस्वतो जून १९२१ ई०
४. 'विचार -विमर्श',-पृ० ११९—सरस्वती, मार्च, १९१५।

"वहवा ! संशोधक महाशय ! कृपा करके कहिए बड़े भाई का दुःख पाने पर भी इसका क्या अर्थ है ? बलिहारी इस वाक्य रचना की ! 'का' सम्बन्ध का चिन्ह है, परन्तु निकट ही जो 'दुख' शब्द है उसमें उस विचारे को कोई सम्बन्ध नहीं। जब वह उड़कर अनादर शब्द के पहले जा बैठता है, तब मनुस्मृति के अनुवाद का अर्थ समझ पड़ता है। क्या खूब ! अजी साहब ! यदि आपने अंगरेजी वाक्य रचना का अनुकरण किया था तो विराम के चिन्ह देकर आपको 'दुख पाने पर भी' इन शब्दों को पृथक कर देना था।"[1]

कहीं इस प्रकार के व्यंग्य में अतिशय तीखापन लाने के लिए विशेषणातिरेक और विरोध का सहारा लिया है—

"हां महाराज! आप विद्वान, आप आचार्य, आप प्रधान पंडित, आप विख्यात पंडित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आप का व्याकरण तोषप्रद नहीं।"[2] कहीं श्लेष के आधार पर व्यंजना का चमत्कार है—

"सभाके आज्ञानुसार उसका पत्र ऊपर छप गया। रही, शंका की बात, सो हम बिल्कुल निःशंक हैं। परन्तु लोगों के हृदय में किन किन शंकाओं का उठना सम्भव है यह हम नहीं जान सकते। इसका पता सभा ही कृपापूर्वक लगावे।"[3]

कहीं व्याजनिन्दा के द्वारा कठोर व्यक्तिगत आक्षेप है। अधिक मानसिक उद्वेग की दशा में संस्कृत भाषा का भी प्रयोग किया गया है—

"अभी तक हम आपको हिन्दी और बंगला का विद्वान, अनेक पुस्तकों का अनुवादक और अनेक सामयिक पत्र और पत्रिकाओं का सम्पादक ही जानते थे, पर अब मालूम हुआ कि आप पुराने लेखकों के बहुत बड़े भक्त उनके लेखों के बहुत बड़े मर्मज्ञ और हिन्दी तथा संस्कृत के बहुत बड़े वैयाकरण भी हैं। आप से हमारा परिचय भी है और आप का हम में थोड़ा सा पूज्य भाव भी। इसी से आपके इन गुणों की खबर सुनकर हमें परमानन्द हुआ। मातृभाषे ! धन्यासि। ईदृशं विद्वद्रत्नं संस्कृत-प्राकृत-शब्द-समास-तद्धित-पारावार-पारगामिनं प्राप्य कृतार्थतां याहि।"[4]

कहीं अंग्रेजी और फारसी के ध्वन्यात्मक शब्दों और रूपकादि अलंकारों की योजना द्वारा व्यंग्य है—

---

१. 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना', पृ० १०।
२. 'विचार-विमर्श', पृ० १८४—सरस्वती, अगस्त १६१३।
३. सरस्वती, भाग ४, पृ० ४१७
४. सरस्वती, भाग ७, संख्या २, पृ० ८१

"समालोचना-सरोवर के हंस, हमारे समालोचक महाशय, ने हमारी तुलना एक विशेष प्रकार के जल-पक्षी से की है। इस पक्षी को किनारे के कीचड़ ही में सब मिल जाता है। थैंक यू, जलपक्षियों के परीक्षक और जुबांदानी का कीचड़ उछालने वाले वीर। आपने कभी उस जलचर को भी देखा है जो भूख के मारे अपने हाथ, पैर, सिर और आत्मा तक को अपने शरीर के कोटर में छिपा कर पानी में गोता लगा जाता है।"[1]

और कहीं सीधी-सादी सरल भाषा में अतीव मनोरंजक व्यंग्य है—

"हम नहीं जानते इसमें किस की भूल है। 'लिटरेरी इन्स्टीट्यूट' की, अथवा पं० दीनदयाल तिवारी की, अथवा बाबू सीताराम बी० ए० की ? जिसकी हो वह अपनी ले ले। यदि सभी की हो, तो पहचान कर अपनी अपनी परस्पर में सब कोई बांट लें।"[2]

चित्रों के परिचय, स्थल, नगर, जात्यादि वर्णन, प्रभावोत्पादक व्यंग्य-पूर्ण लेखों आदि में मूर्तिमत्तात्मक शैली का सन्निवेश है। वर्णनात्मक शैली से इसके पृथकत्व का कारण इसकी दृश्यानुभावात्मकता है। इसके शब्द नेत्रों के सामने वर्ण्य विषय का एक चित्र सा उपस्थित कर देते हैं। 'चित्र-दर्शन' में संस्कृत-प्रधान या बोलचाल की भाषा का प्रयोग चित्रों की कलात्मकता, उनकी वस्तु की प्राचीनता या नवीनता के अनुसार हुआ है—

"संसार जलमय हो रहा है। ऊपर आकाश और नीचे अगम्य, अथाह, अचिन्त्य तथा अपरिमित जलराशि को छोड़ कर और कुछ नहीं। महाप्रलय हुए बहुत काल बीत चुका। क्षीरसागर में शेषशय्या पर यथेष्ट शयन करके भगवान् जागे हैं। लक्ष्मी जी उनकी पाद-सेवा कर रही हैं। भगवान लेटे लेटे सोच रहे हैं-जगत अपने आदि कारण में बहुत समय तक लीन रहा। अब उसके विकास का अवसर आ गया है। अतः फिर से सृष्टि रचना करनी चाहिए।"[3]

भौगोलिक या ऐतिहासिक वस्तु-वर्णन की भाषा प्रायः हिन्दुस्तानी है—

"दीवाने खास की लम्बाई ६४ फुट और चौड़ाई ३४ फुट है। वह २२ फुट ऊँचा है। उसके सामने एक पेशगाह में तीन मिहराबें हैं। दोनों किनारों में दो दो ताक से हैं। उन पर भी मिहराबें हैं। दक्षिण पूर्व की तरफ शाही महलों में जाने का रास्ता है। उत्तर और दक्षिण की तरफ की मिहराबों के ऊपर जालीदार खिड़कियाँ हैं।"[4] यह मूर्तिमत्तात्मक

---

१. सरस्वती, भाग ७, संख्या २, पृ० ७७
२. 'हिन्दी-शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' पृ० १०
३. सरस्वती, भाग १४, संख्या १, पृ० ६३
४. 'लेखांजलि', पृ० ८८, सरस्वती, मार्च १९२३

शैली व्यंग्योक्तियों में व्यक्ति-प्रधान और परिचय, वर्णन आदि में विषय-प्रधान हो गई है। मुहावरेदार भाषा में अंकित लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता अधिक मनोहर है—

"लेखक ने पर सवर्ण-संबंधी नियम पर तो पानी फेर दिया है, परन्तु चन्द्र बिन्दु पर अत्यन्त कृपा की है। जिस पृष्ठ पर देखो उसी पर ढेर के ढेर टेढ़े चन्द्रमा अक्षरों की पीठ पर चढ़े हुए देख पड़ते हैं। जिसे इस बिन्दु के विन्यास का इतना ख़याल उसे परसवर्ण को एक दम ही अर्धचन्द्र देते देख आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।"[1]

पाठक या श्रोता को विशेष रूप से प्रभावित करने के लिए द्विवेदी जी ने वक्तृतात्मक शैली का प्रयोग किया है। उन्होंने आयासवेशित अलंकारों, शब्दाडम्बर, दीर्घसमस्त पदावली भाषा के अप्रचलित प्रयोगों, अहंभावना, प्रभावावरोह और निर्जीवता से रहित, ओजपूर्ण, सजीव और प्रवाहमयी भाषा में लक्षणा और व्यंजना की अपेक्षा अभिधा से ही अधिक काम लिया है। उन्नत विचारों के प्राभाविक अभिव्यंजन के लिये संस्कृत शब्द-की सहज प्रवृत्ति होते हुए भी उसके प्रति कोई आग्रह नहीं है। कहीं दो संतुलित पदार्थों की योजना प्रतिपक्षिता का चमत्कार है:—

"कहाँ भवभूति की सरस, प्रासादिक और महाआल्हाददायिनी कविता और कहां अनुवादक जी की नीरस, अव्यवस्थित, काव्य लक्षणहीन, दोषदग्ध अनुवाद माला? परस्पर दोनों में सौरस्य-विषयक कोई सादृश्य ही नहीं। कौड़ी-मोहर, आकाश-पाताल और ईख इन्द्रायण का अन्तर है।"[2]

कहीं भाषण या लेख के प्रभाव के बीच सहसा कौतूहलवर्धक वाक्य, तदनन्तर ज्वालामुखी के उद्गार की सी प्रश्नादि की झड़ी, उपधा में समयात्मक वचन और फिर अमोघ दिव्यास्त्र सा अन्तिमप्रभविष्णु वाक्य पाठक या श्रोता के हृदय को बरबस अभिभूत कर देता है—

"सभासे कुछ और पूछना है। वह यह कि समस्त हिन्दी अखबारों और मासिक पुस्तकों का अनादर करके किसने और क्या समझ कर बंगला मासिक पत्र 'प्रवासी' को खोज की रिपोर्ट भेजी? क्या 'प्रवासी' सभा का सभासद है? क्या उसने भवन बनाने के लिये चन्दा दिया है? क्या उसने सभा के लिए कोई लेख लिखे हैं? क्या उसने सभा के लिये कोई किताब लिखकर सभा की आमदनी बढ़ाई है? क्या उसने कोई वैज्ञानिक परिभाषा लिख-

---

१. सरस्वती, भाग १०, संख्या १०, पृ० ४८४।

२. सरस्वती भाग, ३ संख्या २, पृ० ४२

कर सभा को सहायता पहुँचाई है ? अथवा क्या उसने १६०१ ई० की रिपोर्ट की आलोचना, इस वर्ष की सरस्वती की तीसरी संख्या में १६०० ई0 की रिपोर्ट की आलोचना से अच्छी की है ? यदि नहीं तो उस पर इस कृपा का कारण क्या ?"[१] कहीं एक ही पदार्थ के अनेक विरोधी विशेषणों और उसके पर्याय शब्दों की रमणीयता है—

"वह कौन सी वस्तु है जो एक होकर भी अनेक है, कुछ न होकर कुछ है, निराकार होकर भी साकार है, ज्ञानवान होकर भी ज्ञानहीन है, दूर होकर भी पास है, सूक्ष्म होकर भी महान् है.........

इस वस्तु का नाम है ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर अथवा परमात्मा।"[२] कहीं शब्द-युग्मों का आकर्षक प्रयोग है—

"हनीबाल और सीजर, मैजिनी और गैरिबाल्डी, प्रिंस बिसमार्क और ग्लैडस्टन, नेल्सन और टोगो, शेक्सपियर और मिल्टन, रणजीतसिंह और प्रताप, कालिदास और भास्कर इसी शास्त्र के अध्ययन के फल थे।"[3] कहीं एक ही बात का विकल्प द्वारा अनेक प्रकार से सविस्तार उपस्थापन और भावों का क्रमशः आरोह है–

"जो मनुष्य अपनी सन्तति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते, अथवा जानबूझ कर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं, उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं, उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।"[४] कहीं एक ही निश्चित मत का प्रतिपादन करने के लिये तत्सम्बन्धी अनेक बातों का अर्थ व्यंजक और सुगठित पदावली द्वारा सरपट वर्णन और अन्त में अनेक प्रश्नों के एक ही उत्तर का आवृत्त निरूपण उनकी सफल वक्तृत्व-कला को चरमावस्था पर पहुँचा देता है—

"योरप की हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है, जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है ? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन किसने किया है ? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है ? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने।"[५] कहीं पाठकों को

---

१. सरस्वती, भाग ५, संख्या १२, पृ० ४१६
२. सरस्वती, भाग ७, संख्या ८, पृ० ३२१
३. सरस्वती, भाग १४, पृ० ५३८
४. 'शिक्षा' की भूमिका, पृ० ३
५. साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से भाषण, पृ० २१

कुछ सिखाने के लिये,[१] कहीं व्यंग्य-प्रहार करने के लिये,[२] कहीं कथा के बीच-बीचमें कुतूहल-वर्धन[३] और कहीं पाठकों से अभिन्नता स्थापित करने के लिये[४] उन्होंने संलापात्मक शैली का माध्यम स्वीकार किया है।

'शिक्षा', 'स्वाधीनता' और 'सम्पत्ति-शास्त्र' जैसे ग्रन्थों तथा 'नाट्य शास्त्र', 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'प्रतिभा' आदि विचारात्मक निबंधों की शैली विवेचनात्मक है। विषय और उसके अंगोपांगों का सम्यक् ज्ञान, विचार, वस्तु-योजना और अभिव्यक्ति में स्पष्टता, शब्द-शक्ति पर असाधारण अधिकार एवं भावित विचारों की क्लिष्टता, गूढ़ता और भ्रामकता से शून्य, अनुकूल, प्रांजल, प्रासादिक और प्रौढ़ भाषा में समंजस व्यक्तीकरण हुआ है। हिन्दी पाठकों के अध्ययन को सीमित और उनकी बुद्धि को अविकसित समझ कर द्विवेदी जी ने कहीं-कहीं, विशेषकर स्वाधीनता में, 'अर्थात्' या उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है तथा एक ही बात को अनेक प्रकार से समझाया सा है—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार-रोग हैं। उनका संबंध केवल मन और

---

१ "अच्छा, हंस रहते कहां हैं? हंस, बहुत करके इसी देश में रहते हैं। यदि हंस दूध पीते हैं तो दूध उनको मिलता कहाँ से है—यह पीने की बात हुई। अब खाने की बात का विचार कीजिए।

— हंस का नीरक्षीर विवेक'-सरस्वती भाग ७, संख्या ११, पृ० ४३३।

२. 'पढ़ें क्या, हिन्दी में पढ़ने लायक पुस्तकें भी हों। और कालेजों में भी उन्नत विषयों की शिक्षा हिन्दी द्वारा कैसे दी जा सकती है? पुस्तकें कहां से आवेंगी? दर्शन शास्त्र, सम्पत्तिशास्त्र और विज्ञान पर हैं भी कोई अच्छी पुस्तकें? नहीं साहब, एक भी नहीं। और यदि, आपकी ऐसी ही कृपा बनी रही तो बहुत समय तक होने की सम्भावना भी नहीं।"

सरस्वती, भाग १८, खंड १, संख्या १, पृ० ५०।

३. "हम और सब कहीं की बातें तो बता गए, पर इंगलैंड के समाचार हमने एक भी नहीं सुनाये। भूल हो गई। क्षमा कीजिए। खैर तब न सही अब सही। सूद में अब हम भारतवर्ष का भी कुछ हाल सुना देंगे। सुनिये"

'लेखांजलि' पृ० १६५—

सरस्वती, मार्च १९२४ ई०।

४. "यदि यह पुस्तक हमें उस समय पढ़ने को मिलती जिस समय हम विद्यार्थी थे, या उसके बाद जब हमने पहले ही पहल सांसारिक व्यवहारों का जाल अपने गले में डाला था, तो हम अनेक दुस्सह व्याधियों से बच जाते। पाठक, विश्वास कीजिए, हम आपसे सर्वथा सच कह रहे हैं। इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं।"

'शिक्षा' की भूमिका, पृ० ५।

मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं, विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण ही प्रकार की होती है, वैसे ही प्रतिभावानों की भी समझ असाधारण होती है।"[1]

संसार की सृष्टि करते समय परमेश्वर को मानव-हृदय में एक उपदेष्टा के निवासी की योजना करनी पड़ी थी। उसका नाम है विवेक। इस विवेक ही के अनुरोध से मानव जाति पाप से धर-पकड़ करती हुई आज इस उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई है। इसी विवेक की प्रेरणा से मनुष्य, अपनी आदिम अवस्था में, हमारी सहायता से पापियों और अपराधियों का शासन करते थे। शासन का प्रथम आविष्कृत अस्त्र, दंड, हमी थे। परन्तु कालचक्र से हम अब नाना प्रकार के उपयोगी आकारों में परिणत हो गये हैं। हमारी प्रयोग प्रणाली में भी अब बहुत कुछ उन्नति, सुधार और रूपान्तर हो गया है।"[2]

इष्ट-मित्रों की मृत्यु पर शोकोद्गार, मर्मस्पर्शी परिस्थितियों में आत्मनिवेदन, 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' आदि में हृदय की मार्मिक अनुभूतियों के अभिव्यंजन की शैली भावात्मक है। इस प्रकार की रचनाओं में कटुता, जटिलता, शिथिलता, पुनरुक्ति, अनौचित्य, ग्राम्यता, आडंबर-प्रदर्शन, असंबद्धता आदि दोषों से हीन प्रसन्न, गंभीर, मधुर, कोमल और कान्त-पदावली में हृदय का सजीव चित्र अंकित किया गया है। स्थलविशेष पर अलंकारों की योजना भावों के अंग रूप में ही हुई हैं—

"सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। अपनी मां को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की मां की सेवा शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आस्तम्ब ही कर सकता है।"[3]

यह स्पष्ट हो गया कि द्विवेदी जी की रचनाओं में किसी व्यापक और निश्चित रीति या शैली का अभाव है। तो फिर उनकी रचनाओं में उनका व्यक्तित्व कहाँ है? सच पूछिये

---

१ 'प्रतिभा' सरस्वती, भाग ३, संख्या ६ पृ० २६३।
२. 'लेखांजलि' 'दंडदेव का आत्म निवेदन', पृ० १८९।
३. कानपुर अधिवेशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष पद से भाषण, पृ० १६ और २३।

तो किसी निश्चित रीति या शैली का न होना ही उनकी भाषा की विशिष्टता है। उनकी शैली की वास्तविक विशेषता उनकी अमायिकता, उत्साह और पूजा-भाव में है। ये नखशिख ईमानदार हैं। उन्होंने मूल वस्तु का निःसंकोच स्वीकार और अपनी संवेदना की सची अभिव्यक्ति की है। वे सर्वत्र ही अपने प्रशस्त पथ पर संसार के समस्त आक्रमणों को ठेलते हुये अदम्य वीर भाव से निश्चल खड़े हैं। जहाँ कहीं से भी जो कुछ भी मिला है, आत्म-विस्मृत पुजारी की भांति भक्ति-भाव से हिन्दी-मंदिर में चढ़ा दिया है।

रीति और शैली की दृष्टि से भी द्विवेदी जी ने दूसरों की भाषा का सुधार किया। काशीप्रसाद, सूर्यनारायण दीक्षित, वेंकटेश नारायण तिवारी, लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि की भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता थी, 'सरस्वती'-सम्पादक द्विवेदी ने उनके कठिन संस्कृत शब्दों के स्थान पर उर्दू या बोलचाल की पदावली की योजना की। सत्यदेव आदि की भाषा उर्दू और अँग्रेजी से प्रभावित थी। मधु मंगल मिश्र आदि की भाषा बोलियों के प्रयोग से रंजित थी। पूर्णसिंह आदि की भाषा में पंजाबी, पांडुरंग खानखोजे आदि की भाषा में बंगला का पुट था। उनकी विरामादि चिन्हों से हीन और संकर भाषा प्रायः शिथिलता, जटिलता, अयोग्यता आदि दोषों से व्याप्त थी। संशोधक द्विवेदी ने उसका संस्कार और परिष्कार करके उसे सजीवता, प्रसन्नता और समर्थता प्रदान की।[1]

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित 'एफ. एस. ग्राउस' (१६०६ ई०) 'टिड्डी दल' (१६०६ ई०), 'एक अशरफी की आत्मकहानी' (१६०६ ई०), 'हमारा वैद्यक शास्त्र' (१६०८ ई०), 'अमेरिका की स्त्रियाँ' (१६०८ ई०), 'देश हितैषियों के ध्यान देने योग्य कुछ बातें' (१६०८ ई०), 'एक ही शरीर में अनेक आत्माएँ' (१६०६ ई०), 'कन्यादान' (१६०२ ई०), 'लिखने के साधन' (१६११ ई०), 'नीलगिरि के निवासी टोडा लोग' (१६०४ ई०) आदि संशोधित रचनाएँ विशेष दर्शनीय हैं।

नवाँ अध्याय

युग और व्यक्तित्व

हिन्दी–साहित्य के आधुनिक काल के छः स्थूल विभाग किए जा सकते हैं:—

१. प्रस्तावना-युग —सं० १९०० से १९२४ तक।
२. भारतेन्दु-युग—सं० १९२५ से १९४२ तक।
३. अराजकता-युग—सं० १९४३ से १९५९ तक।
४. द्विवेदी-युग—सं० १९६० से १९८२ तक।
५. वाद-युग—सं० १९८३ से १९९९ तक।
६. वर्तमान-युग—सं० २००० से .... ।

यद्यपि खड़ी बोली का आविर्भाव रीतिकाल में हुआ था और उसके साहित्य की स्थायी परम्परा सम्वत् १९२५ के बाद से चली तथापि आधुनिक काल का प्रारम्भ सम्वत् १९०० से ही मान्य है क्योंकि रीतिकालीन विशेषताओं, रीतिग्रन्थरचना, घोर श्रृंगारिकता, अनुप्रासादि अलंकारों की बरबस भरमार व्रजभापा का एकाधिपत्य, गद्य साहित्य की उपेक्षा आदि के प्राधान्य की सीमा वहीं है। विक्रम की बीसवीं शती के प्रथम चरण में महत्वपूर्ण साहित्य-सृष्टि नहीं हुई। लेखकों की बहुत कुछ शक्ति माध्यम-निर्माण में ही लगी रही। लल्लूलाल से लेकर राजा लक्ष्मणसिंह तक भाषा के अनेक प्रस्ताव कार्यरूप में उपस्थित किए गए। इसीलिए वह प्रस्तावना-युग था।

सम्वत् १९२५ से एक नवीन युग का आरम्भ हुआ। 'कवि-वचन-सुधा' सम्पादक के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पदार्पण आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उत्थान का एक निश्चित सोपान है। उस युग ने रीतिकाल के अभावों की पूर्ति करने का प्रयास किया है। श्रृंगार और वीर के प्रचलित आलम्बनों से आगे बढ़कर उसने देश, समाज, भापा, साहित्य आदि विषयों पर भी पर्याप्त रचनाएँ कीं। कथात्मक और वस्तु वर्णनात्मक प्रबन्धों के स्थान पर पद्यात्मक निबन्धों की परम्परा का सूत्रपात किया। पूर्ववर्ती काल में उद्दीपन रूप में

चित्रित प्रकृति का आलम्बन रूप में भी बिम्बग्रहण कराया। गद्य भाषा खड़ी बोली का उत्थान किया। पद्य में भी खड़ी बोली का प्रयोग किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। नवीन प्रकार की रचनाओं-नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदिके द्वारा हिन्दी में वस्तुतः युगान्तर उपस्थित किया। पत्र-पत्रिकाओं सभा-समाजों, नाटक-मंडलियों आदि की स्थापना करके हिन्दी के विकासको प्रेरणा दी। रीतिकालीन मानसिक दासता से ऊपर उठकर स्वच्छन्दता और सजीवता की राधा-प्रवाह भाव-व्यंजना की। फिर भी भारतेन्दु-युग में अनेक बातों की कमी बनी रही। वह रीति-कालीन शृङ्गारिक भावनाओं से अपना पिंड न छुड़ा सका। उपन्यास और कहानी का बीजवपन भर हुआ, विकास नहीं। विविध विषयक साहित्य नगण्य ही रहा। वह गद्य-भाषा खड़ी बोली में सभी प्रकार से भावाभिव्यंजन की क्षमता या प्रौढ़ता न ला सका और न तो काव्य भाषा के रूप में ही उसकी प्रतिष्ठा हो सकी।

५ जनवरी, सन् १८८५ ई० को भारतेन्दु का देहान्त हो गया। सेनापति के अभाव में सारी सेना तितर-बितर हो गई। श्रीधर पाठक ने काव्य के रूप, भाषा छन्द, अभिव्यंजना शैली, प्रकृति-वर्णन आदि में स्वच्छंदता का प्रवर्तन करके और अयोध्याप्रसाद खत्री ने अपने 'खड़ीबोली आन्दोलन' (सं० १६४५) द्वारा पूर्ववर्ती युग से भिन्न एक नवीन युग का सन्देश दिया। वह युग किसी भी निश्चित लक्ष्य की सिद्धि न कर सका। उच्चकोटि की रचनाएँ भी नहीं हुई। श्रीधर पाठक, बदरीनारायण चौधरी, किशोरीलाल गोस्वामी, बाल मुकुन्द गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, देवकीनन्दन खत्री आदि साहित्यकार अपनी अपनी धुन में मस्त रहे। नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में निकृष्ट अनुवादों एवं तिलस्मी तथा ऐय्यारी की रचनाओं की धूम रही। पत्रपत्रिकाएँ भी पथभ्रष्ट थीं। कोई किसी की सुनने वाला न था। सभी,वक्ता, गुरु या नेता बने थे, श्रोता, शिष्य या अनुगामी कोई नहीं था। अतएव वह अराजकता-युग था।

वह अराजकता सं० १६५६ तक ही रही। 'नागरी प्रचारणी पत्रिका' और 'सरस्वती' हिन्दी साहित्य की उच्छृंखल गतिविधि को नियमित करने की ओर अग्रसर हुई थीं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की संस्कारजन्य संस्कृतभक्ति ने पाठक जी आदि के स्वच्छन्दवाद को रोक दिया। सं० १६६० में वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। उन्होंने एक प्रभविष्णु और सफल सेनापति की भांति हिन्दी के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली? यहीं से अराजकता-युग का अन्त और द्विवेदी-युग का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने एक ओर अपनी तीव्र आलोचनाओं द्वारा हिन्दी-कानन के झाड़-झंखाड़ को काटना और दूसरी ओर 'होनहार बिरवान' जँचने वाले कवियों तथा लेखकों को अपने प्रोत्साहन एवं सहायता द्वारा

आगे बढ़ाना आरम्भ किया। द्विवेदी-युग का पूर्वार्द्ध लेखकों के निर्माण और भाषा के संस्कार तथा परिष्कार में ही लगा रहा। उस युग में भी अराजकता-युग की सी त्रुटिपूर्ण और स्वच्छन्द रचनाएँ हुई परन्तु अधिकांश का कारण उच्छृंखलता न होकर अज्ञान या अपज्ञान था। द्विवेदी जी के विरोधी भी उनसे आतंकित थे और द्वन्द्व उपस्थित होने पर उन्हें द्विवेदी जी का लोहा मानना पड़ा। अतएव द्विवेदी-युग का पूर्वार्द्ध अराजकता-युग के अन्तर्गत नहीं आसकता।

श्यामसुन्दरदास, राय कृष्ण, नन्द दुलारे बाजपेयी, रामचन्द्र शुक्ल और श्रीनाथ सिंह आदि ने द्विवेदी-युग की सीमा निर्धारित करने में न्यूनोक्ति एवं अतिशयोक्ति की है।[1] सं० १६६० से १६८२ तक के काल को द्विवेदी-युग कहने का केवल यही कारण नहीं है कि उस युग की गद्यात्मक और पद्यात्मक रचना द्विवेदी जी की ही शैली पर हुई। उसका महत्तर कारण यह है कि उस युग की अधिकांश देन स्वयं द्विवेदी जी, उनके शिष्यों और उनसे विशेष प्रभावित साहित्यकारों की ही है। द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित मैथिली शरण गुप्त, मुकुटधर पाँडेय, बदरीनाथ भट्ट आदि की ललित, सरस, रहस्योन्मुख, चित्रात्मक, सजीव, भावव्यंजक, मार्मिक, मधुमयी, कल्पनारंजित, सम्वेदनामय और अनूठी गीतात्मक रचनाओं के आधार पर सं० १६७५ से ही युगान्तर मान लेना निराधार प्रतीत होता है। सं० १६७५ की कविताओं के ढंग की रचनाएं तो सं० १६७१, ७२, ७३, ७४, में भी मिलती हैं। सं० १६७५ में युगान्तरविन्दु कहां है? वर्सलीज़ की सन्धि? कदापि नहीं। योरपीय महायुद्ध ने पश्चिमीय साहित्य में निसन्देह तत्काल क्रान्ति उपस्थित की परन्तु भारतीय साहित्य पर प्रभाव डालने में उसे कई वर्ष लग गए क्योंकि भारतीय साहित्यकारों का उस युद्ध से सीधा सम्बन्ध न था। उन्होंने तो योरोप के युद्धोत्तर साहित्य को पढ़कर उसका अनुकरणमात्र किया। उस अनुकरण ने सं० १६७५ तक हिन्दी साहित्य में कोई युगान्तरकारी परिवर्तन नहीं उपस्थित किया।

---

१. (क) देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (रामचन्द्र शुक्ल)-आधुनिक काल, द्वितीय उत्थान। शुक्ल जी ने सं० १६६० से १६७५ तक को द्विवेदी-युग माना है।

(ख) "सन् १८९६ से (जब उन्होंने प्रथम बार लेखनी चलाई थी) सन् १९३८ तक (जब उन्होंने इस संसार से विदा ली) का समय द्विवेदी-युग कहा जाता है।'
—श्रीनाथसिंह-सारंग, २२ मई, १९४४ ई०।

(ग) श्यामसुन्दरदास और राय कृष्णदास के नाम से छपी हुई नन्ददुलारे वाजपेयी-लिखित द्विवेदी-अभिनन्द-ग्रन्थ की प्रस्तावना में सन् १९३३ ई० तक द्विवेदी-युग स्वीकार किया गया है।

नवीन युग का सन्देश सुनाने वाले जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान आदि की रचनाएँ भी द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में ही समादृत हो चुकी थीं परन्तु वे द्विवेदी-युग के प्रवृत्तिप्रधान काव्यों पर विजय न प्राप्त कर सकीं। मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, गोपालशरणसिंह आदि की अपेक्षा प्रसाद, पंत, निराला आदि का स्थान बहुत नीचा था। प्रसाद का 'प्रेम पथिक' (सं० १९७०) निराला की 'जुही की कली' (१९१७ ई०) आदि ने कविता के विषय, छन्द और अभिव्यंजन-शैली की स्वच्छन्दता दिखाकर छायावाद की सूचनामात्र दी थी। अपने वास्तविक लक्षणों–प्रेम प्रधान कल्पना की विचित्रता, अनुभूति की मार्मिकता, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, प्रबन्धहीन वस्तु-विन्यास, रहस्यमयी भावना, प्रतीकात्मकता आदि-से विशिष्ट छायावाद 'आंसू' के प्रकाशनोपरान्त ही प्रतिष्ठित हुआ। इसी काल को हम पूर्ववर्ती और परवर्ती युग का विभाजनबिन्दु मान सकते हैं। 'आंसू' (सं० १९८२) ने नवीन युग का निश्चित प्रस्ताव और 'पल्लव' (सं० १९८३) ने उसका सबल समर्थन किया। हिन्दी-संसार को युगान्तर स्वीकार करना पड़ा।

द्विवेदी-युग के सजीव मस्त और निर्भीक लेखकों ने अनेक प्रकार के वादविवाद उठाए परन्तु उन्होंने वादों की प्रभुता नहीं स्वीकार की। छायावाद के विकास के साथ हम परिवर्तनवादी माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारीसिंह दिनकर आदि कवियों की वाणी में साम्राज्यवाद के प्रतिकूल प्रजावर्ग का, पूंजीवाद के विरुद्ध मजदूर दल का, उच्चवर्ग के विरुद्ध अछूत-समाज का रोषभरा क्रान्तिकारी स्वर पूर्वोक्त समय से विशेष स्पष्ट सुनाई देने लगा। जिन्दाबाद और मुर्दाबाद के कोलाहल में विविध-विषयक हिन्दी-साहित्य के उपर्युक्त वादों के अतिरिक्त हालावाद, प्रगतिवाद, यथार्थवाद, आदर्शवाद, अभिव्यंजनावाद, कलावाद, उपयोगितावाद, दुःखवाद, निराशावाद, आशावाद, समाजवाद साम्यवाद, तन्त्रवाद, मार्क्सवाद, गांधीवाद, रवीन्द्रवाद आदि अगणित वादों का निनाद उस काल को वादयुग कहने के लिए बाध्य करता है।

सं० १९९४ में छायावाद के प्रवर्तक ख्यातनामा कवि प्रसाद जी का स्वर्गवास हो गया। 'युगान्त' और 'युगवाणी' में पंत जी ने छायावाद के मार्ग को छोड़ दिया। 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुकरमुत्ता' ने निराला जी की भी दिशा बदल दी। सं० १९९९ के राष्ट्रीय आन्दोलन ने देश में एक क्रांति उपस्थित कर दी। सं० २००० में बंगाल में भयंकर अन्न संकट पड़ा जिसमें लाखों व्यक्ति काल के ग्रास हुए। छायावाद की ध्रुवतारिका महादेवी वर्मा

भी देश दशा से क्षुब्ध हो उठीं और उन्होंने 'बंग दर्शन' का सम्पादन किया। राजनैतिक आदि प्रभावशाली परिस्थितियों ने सं० १६६६-२००० में भारतीय साहित्यकारों के मन में विशेष हल चल मचा दी। वर्तमान हिन्दी साहित्य की विशिष्टताओं की समीक्षा कुछ काल के उपरान्त हो सकेगी। अभी उसका समय नहीं आया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य चार विशिष्टताएं हैं--पद्य में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा, गद्य साहित्य का गौरव, विविध विषयक लोकोपयोगी वाङ्मय की सृष्टि और देश देशान्तर में हिन्दी का प्रचार। इन सभी दृष्टियों से द्विवेदी-युग महत्तम है। इस युग में खड़ी बोली का संस्कार और परिष्कार हुआ, उपन्यास, कहानी, जीवन चरित्र, चम्पू आदि नवीन काव्य-विधानों की रचना हुई, इतिहास, भूगोल, अर्थ शास्त्र, विज्ञान, शिक्षा आदि विषयों पर उपयोगी ग्रन्थ लिखे गये, विद्यालयों आदि में हिन्दी को स्थान मिला, अमरीका और बर्मा आदि देशों में भी उसका प्रचार हुआ।

द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध में ठोस साहित्य निर्माण की अपेक्षा साहित्यकार-निर्माण का ही कार्य अधिक हुआ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित 'सरस्वती' की सन् १६०३ से १६१४ ई० तक की हस्तलिखित प्रतियाँ विशेष अवलोकनीय हैं। कन्हैयालाल पोद्दार, जनार्दन झा, रामचन्द्र शुक्ल, सत्यनारायण, गिरिधर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, लोचनप्रसाद पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय, मुकुटधर शर्मा, सियारामशरण गुप्त, गोपालशरणसिंह आदि कवियों, रामचन्द्र शुक्ल, गिरजादत्त बाजपेई, लाला पर्वतीनन्दन श्री मती वंग महिला, वृन्दाबनलाल वर्मा, रूपनारायण पांडेय, विश्वम्भरनाथ शर्मा आदि कहानीकारों, वेणीप्रसाद, काशीप्रसाद जायसवाल, गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, उदयनारायण बाजपेई, लक्ष्मीधर बाजपेई आदि जीवन चरित-लेखकों, अक्षयवट मिश्र, गिरिजाप्रसाद द्विवेदी लक्ष्मीधर बाजपेई, कामताप्रसाद गुरू, सत्यदेव, चन्द्रधर गुलेरी आदि आलोचकों, यशोदानन्दन अखौरी, रामचन्द्र शुक्ल, चतुर्भुज औदीच्य, सत्यदेव चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह आदि निबन्धकारों और माधवराव सप्रे, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सूर्यनारायण दीक्षित, सत्यदेव, लक्ष्मीधर बाजपेई, देवीप्रसाद शुक्ल, भोलादत्त पांडेय, वृन्दावन लाल वर्मा, गणेशशंकर विद्यार्थी, महेन्दुलाल गर्ग, गिरिजाप्रसाद बाजपेई, उदयनारायण बाजपेई, लल्लीप्रसाद पांडेय गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, काशीप्रसाद जायसवाल आदि विविध विषयक लेखकों की रचनाओं पर सम्पादक द्विवेदी ने निष्ठुर शल्य-चिकित्सक की भाँति संशोधक की लेखनी चलाई।[1] अयोध्यासिंह उपाध्याय, राय देवीप्रसाद कामताप्रसाद गुरू,

---

१. इन साहित्यकारों की रचनाओं का नामकरण या उद्धरण अनावश्यक है। प्रायः सभी कृतियाँ संशोधित हैं और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में देखी जा सकती हैं।

रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शर्मा, मन्नन द्विवेदी, जयशंकरप्रसाद आदि की कविताओं प्रेमचन्द्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, ज्वालादत्त शर्मा आदि की आख्यायिकाओं और पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, गंगानाथ झा, श्यामसुन्दरदास, रायकृष्ण दास आदि के लेखों का भी उन्होंने यथा.स्थान सुधार किया है।

'प्रिय प्रवास' के प्रकाशन (सं० १९७१) से द्विवेदी-युग का उत्तरार्द्ध आरम्भ हुआ। उस समय खड़ीबोली काफी मँज चुकी थी और ठोस भावों की व्यजंना में समर्थ थी। अतएव वह काल स्थायी साहित्य-रचना करने में सफल हुआ। द्विवेदी-युग में हिन्दी वाङ्मय के विविध अंगों की आशातीत अभावपूर्ति हुई। इतिहास, भूगोल, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कृषि, गणित, विज्ञान, ज्योतिष आदि पर सहस्रों ग्रन्थ लिखे गए। वाङ्मय के इन अंगों की आलोचना यहां अपेक्षित नहीं है। प्रस्तुत निबन्ध भाषा और साहित्य से ही सम्बन्ध रखता है; अतएव इसमें द्विवेदी-युग के हिन्दी प्रचारकार्य, पत्रपत्रिकाओं, कविता, नाटक, कथा-साहित्य, निबन्ध, भाषा-शैली और आलोचना की ही समीक्षा करना समीचीन है।

प्रचार कार्य

१६ जुलाई, सन् १८९३ ई० को ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई थी। सभा के उद्योग से सन् १८९८ ई० में संयुक्त प्रान्त की सरकार ने अदालतों में नागरी का प्रचार ऐच्छिक कर दिया और समन आदि के लिए नागरी और उर्दू दोनों लिपियों के प्रयोग की घोषणा की। सभा ने कचहरियों में हिन्दी विद्या लेखकों की युक्ति करके उससे लाभ उठाने का उद्योग किया। सन् १८९९ ई० में प्रान्तीय सरकार ने ४०० रु० (चार सौ रुपया) वार्षिक की सहायता देना आरम्भ किया और १९२१ ई० में वह सहायता २००० रु० तक पहुँच गई। सभा ने सैकड़ों नए कवियों और सहस्रों अज्ञात ग्रन्थों की खोज की। १९२१ ई० से १९२३ ई० तक के लिए पंजाब सरकार ने भी ५०० रु० की सहायता दी। गवेषणा के साथ ही साथ सभा ने 'पृथ्वीराज रासो', 'जायसी ग्रन्थावली', 'वैज्ञानिक-कोष', 'हिन्दी व्याकरण' आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया। प्रकाशनार्थ भी युक्त प्रान्त की सरकार ने कभी २०० रु० और कभी ३०० रु० की सहायता दी। १९१४ ई० से 'मनोरंजन पुस्तकमाला' के अन्तर्गत सभा ने विविध-विषयक और सस्ती पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया। अपनी 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के अतिरिक्त 'सरस्वती' और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के संस्थापन का श्रेय भी पूर्वोक्त सभा को ही है।

प्रयाग का 'हिन्दूसमाज', अलीगढ की 'भाषासंवर्धिनी सभा', मेरठ की 'देव-नागरी प्रचारिणी सभा', आरा की 'नागरी प्रचारिणी सभा', कलकत्ता की 'एक लिपि विस्तार परिषद्', एवं 'हिन्दी साहित्य परिषद्', प्रयाग की 'नागरी प्रवर्द्धिनी सभा', छत्रपुर की 'काव्यलता सभा', जालन्धर और मैनपुरी की 'नागरी प्रचारिणी सभा', आदि संस्थाएँ भी देव नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार, प्रसार तथा उन्नयन में लगी हुई थीं।[1]

परस्पर-विचार-विनिमय, मातृभाषा की हितचिन्तना और उसकी उन्नति के उपाय निश्चित करने के लिए काशी नागरी प्रचारणी सभा ने १०-११-१२ अक्टूबर १९१० ई० को साहित्य-सम्मेलन की योजना की उसमें हिन्दी को राष्ट्र-भाषा और देवनागरी को भारत की राष्ट्रलिपि बनाने तथा सरकारी कार्यालयों, स्कूलों और विश्वविद्यालयों में हिन्दी को उचित स्थान दिलाने के लिए अनेक ओजपूर्ण प्रस्ताव पास किए। सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन प्रयाग की 'नागरी प्रवर्द्धिनी सभा' के तत्वावधान में हुआ और उसे स्थायी रूप दिया गया। सरकारी अदालतों, पत्रों, रेलवे के कार्यों तथा भावी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी को उचित स्थान देने, हिन्दी सभाओं से नाटक खेलने, सम्मेलन परीक्षाएँ प्रचलित करने और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करने के विविध प्रस्ताव पास किए गए। उसी अधिवेशन में साहित्य-सम्मेलन के उद्देश्यों की निश्चित रूप रेखा भी निर्धारित की गई।[2]

---

१. प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य-विवरण, पृष्ठ २ और ३, के आधार पर।

२ (क) हिन्दी साहित्य के सब अंगों की उन्नति का प्रयत्न करना।

(ख) देवनागरी लिपि का देश भर में प्रचार करना और देशव्यापी व्यवहारों और कार्यों को सुलभ करने के लिए हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न करना।

(ग) हिन्दी को सुगम, मनोरम और प्रिय बनाने के लिए समय समय पर उसकी शैली के संशोधन और उसकी त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करना।

(घ) सरकार, देशी राज्यों, कालेज, यूनीवर्सिटी और अन्य स्थानों, समाजों तथा जनसमूहों में देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का उद्योग करते रहना।

(च) हिन्दी ग्रन्थकारों, लेखकों, प्रचारकों और सहायकों को समय समय पर उत्साहित करने के लिए पारितोषिक, प्रशंसापत्र, पदक आदि से सम्मानित करना।

(छ) उच्चशिक्षा प्राप्त युवकों में हिन्दी का अनुराग उत्पन्न करने और बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना।

(ज) जहाँ आवश्यकता समझी जाए वहाँ पाठशाला, समिति तथा पुस्तकालय स्थापित करने और कराने का उद्योग करना।

तीसरे और चौथे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य विवरण से सिद्ध है कि सं० १६६६ में ब्यावर, गोरखपुर, बुलन्दशहर और अमृतसर की 'नागरी प्रचारिणी सभाएँ', कलकत्ता की 'हिन्दी साहित्य परिषद्' तथा आगरा की 'नागरी प्रचारिणी सभा' और सं० १६७० में लहेरियासराय की 'छात्रोपकारिणी सभा', हाथरस, लखीमपुर-खीरी तथा लाहौर की नागरी प्रचारिणी सभाएँ, पेनुगामा की 'हिन्दी हितैषिणी सभा', भागलपुर की 'हिन्दी सभा', मुरादाबाद की 'हिन्दी प्रचारिणी सभा', लखनऊ की 'हिन्दी साहित्य सभा', चित्तौड़ की 'विद्या प्रचारिणी सभा' और कोटा की 'हिन्दी साहित्य समिति' आदि संस्थाएँ हिन्दी साहित्य सम्मेलन से सम्बद्ध हुईं।[1]

सं० १६६६--७० से बंगाल, विहार, मध्यप्रान्त, गुजरात, राजपूताना, पंजाब आदि प्रान्तों और अनेक देशी राज्यों में धूमधाम से हिन्दी का प्रचार प्रारम्भ हुआ। सं० १६७२ में गुजराती और मराठी साहित्य-सम्मेलनों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करके अपने शिक्षालयों में उसे सहायक भाषा की भाँति पढ़ाने का मन्तव्य स्थिर किया। सं० १६७५ में महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में देवीदास गाँधी, पंडित रामदेव और सत्यदेव ने मद्रास में हिन्दीप्रचार किया। सं० १६७५ में सम्मेलन ने हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की। एकादश सम्मेलन में चालीस सहस्र का दान मिला और उसके सूद से 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' की आयोजना की गई। सं० १६८२ में सम्मेलन ने बृहत् कवि सम्मेलन और सम्पादक-सम्मेलन की भी आयोजना की।[2] उसी वर्ष आन्ध्र में सम्मेलन का विशिष्ट अधिवेशन हुआ और दक्षिण में हिन्दी की प्रतिष्ठा हुई।[3]

इंडियन प्रेस, प्रयाग, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, खड्गविलास प्रेस, पटना, भारत जीवन प्रेस, काशी, हरिदास कम्पनी, कलकत्ता, हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मंडली, खंडवा, हिन्दी-ग्रन्थ-

---

(झ) हिन्दी साहित्य के विद्वानों को तैयार करने के लिए हिन्दी की उच्च परीक्षाएं लेने का प्रबन्ध करना।

(ट) हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देशों की सिद्धि और सफलता के लिए जो अन्य उपाय आवश्यक और उपयुक्त समझे जाएं उन्हें काम में लाना।

—द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य विवरण।

१. हिन्दी-के साहित्य-सम्मेलन के कार्य-विवरण के आधार पर।

२. प्रथम वार सं० १६७६ में साहित्य विषय पर पद्मसिंह शर्मा को उनकी विहारी सतसई पर, दूसरी बार सं० १६८० में समाजशास्त्र पर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को उनकी भारतीय प्राचीन लिपिमाला पर और तीसरे बार सं० १६८१ में प्रो० सुधाकर लिखित मनोविज्ञान नामक दार्शनिक रचना पर दिया गया।

३. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्य-विवरण के आधार पर।

रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई आदि ने हिन्दी-ग्रन्थों, विशेष कर उपन्यासों, का प्रकाशन करके हिन्दी का प्रचार और प्रसार किया। आर्यसमाजियों, सनातन-धर्मियों, ईसाइयों आदि ने अपने धर्म-प्रचार के लिये हिन्दी को ही माध्यम बनाकर उसके व्यवहार की वृद्धि की।

१९१० ई० में बड़ौदानरेश ने वरनाक्यूलर स्कूलों की पाँचवीं और छठवीं कक्षाओं के लिए हिन्दी अनिवार्य कर दी और हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन की भी व्यवस्था की।[१] सन् १९१५ में युक्तप्रान्त के शिक्षा-विभाग ने आठवीं कक्षा तक हिन्दी का माध्यम स्वीकार किया। उस समय कांगड़ी के गुरुकुल, ज्वालापुर के महाविद्यालय, हरिद्वार के ऋषिकुल, वृन्दावन के गुरुकुल तथा प्रेम-महाविद्यालय आदि संस्थाएँ हिन्दी-माध्यम द्वारा ही शिक्षा देती थीं। द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने और विश्व-विद्यालयों में हिन्दी साहित्य को पाठ्य विषय निर्धारित करने के लिए विशेष आन्दोलन हुआ। सं० १९७६ में कलकत्ता विश्व-विद्यालय और सन् १९२० ई० में काशी विश्वविद्यालय ने हिन्दी साहित्य को अन्य विषयों के समकक्ष ही पाठ्यक्रम में स्थान दिया।

अफ्रीका में श्री वी. मदनजीत, मोहनदास कर्मचन्द गांधी, भवानी दयाल सन्यासी आदि ने हिन्दी-प्रचार किया। सन्यासी जी ने अफ्रीका के विभिन्न स्थानों में हिन्दी-संस्थाएँ खोलीं—क्लेर स्टेट (नेटाल) में 'हिन्दी-आश्रम', 'हिन्दी-विद्यालय', 'हिन्दी-पुस्तकालय', 'हिन्दी-यन्त्रालय और ' 'हिन्दी प्रचारिणी सभा', जर्मिस्टन में 'हिन्दी नाइट स्कूल', 'हिन्दी फुटबाल क्लब' और 'हिन्दी बालसभा', डेन हाउसर में हिन्दी प्रचारिणी सभा' और 'हिन्दी पाठशाला' एवं प्रिटोरिया में 'हिन्दी पाठशाला' आदि।[२] ट्रान्सवाल में सिडनटम स्थान में 'हिन्दी जिज्ञास्य सभा नेशनल सोसाइटी' की स्थापना हुई।[3] सं० १९७५ में रंगून में हिन्दी पुस्तकालय खुला।[४] दिसम्बर, १९१९ ई० में अफ्रीका में प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ।[५] द्विवेदी–सम्पादित 'सरस्वती' स्वयं एक आप्त विश्व-विद्यालय बन गई थी। उसने भारत के भीतर और बाहर कितने ही अर्द्ध-शिक्षितों और अल्पज्ञों को शिक्षित, बहुज्ञ, लेखक तथा कवि बनने के लिए प्रेरित किया। सम्पादक द्विवेदी ने संसार के विभिन्न प्रदेशों में सरस्वती भक्तों की सृष्टि की; इस प्रकार द्विवेदी-युग में देश और विदेश में हिन्दी की प्रतिष्ठा हुई।

---

१. प्रथम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का कार्य-विवरण।
२. 'साहित्य सम्मेलन पत्रिका', भाग ३, अंक १।
३ 'इंदु', कला चार, खंड १, पृ० १९९।
४. 'सम्मेलन पत्रिका', भाग ३, अंक २–३, पृ० ८७।
५. 'सम्मेलन पत्रिका', भाग ४, ५, पृ० २०५।

पत्र-पत्रिकायें

द्विवेदी-युग के पूर्व, उन्नीसवीं ई० शती के उत्तरार्द्ध में केवल दो ही दैनिक पत्र निकल सके थे 'सुधावर्षण' (१८५४ ई०) और 'भारतमित्र' (१८५७ ई०) दोनों ही अकाल काल–कवलित हो गए। १६११ ई० में दिल्ली-दरबार के अवसर पर 'भारतमित्र' दैनिक रूप में पुनः प्रकाशित हुआ किन्तु जनवरी १६१२ ई० में बन्द हो गया। मार्च, १६१२ ई० से दैनिक रूप में वह फिर निकला और २२ वर्ष तक चलता रहा। १६१४ ई० में कुछ मारवाड़ी सज्जनों ने 'कलकत्ता समाचार' निकाला। कुछ ही वर्ष बाद उसका अन्त हो गया। उन्हीं दिनों 'वेंकटेश्वर समाचार' भी कुछ काल तक दैनिक रूप में प्रकाशित हुआ था। १६१७ ई० में अम्बिकादत्त वाजपेयी के सम्पादकत्व के मूलचन्द अग्रवाल ने दैनिक 'विश्वमित्र' निकाला। वाजपेयी जी ने कलकत्ते से कुछ काल तक 'स्वतंत्र' भी निकाला। उपर्युक्त पत्रों ने समाचार तो अवश्य दिए परन्तु निश्चित विचारों का उल्लेखनीय प्रचार नहीं किया। १६२० ई० में काशी से 'आज' प्रकाशित हुआ। उसका विशेष लक्ष्य था भारत के गौरव की वृद्धि और उसकी राजनैतिक उन्नति।[1] उसने राष्ट्रीय विचारों का प्रचार किया। देश-विदेश के समाचारों के अतिरिक्त सम्पादकीय अग्रलेखों और लेखकों की रचनाओं के द्वारा उसने मनोरंजक और उपयोगी सामग्री पाठकों को भेंट की। भाषा, भाव और शैली सभी दृष्टियों से उसने हिन्दी-समाचारपत्र-जगत में युगान्तर उपस्थित किया।

बीसवीं ईसवी शती के आरम्भ में 'भारत मित्र', 'बंगवासी', 'वेंकटेश्वर-समाचार' आदि उल्लेखनीय साप्ताहिक पत्र थे। लखनऊ के 'आनन्द' (लगभग १६०५ ई०) और 'अवधवासी' (१६१४ ई०) का जीवन मृत्यु-सा ही था। १६०७ ई० में पं० मदनमोहन मालवीय के संरक्षण और पुरुषोत्तमदास टंडन के सम्पादकत्व में 'अभ्युदय' प्रकाशित हुआ। माधवराव सप्रे ने नागपुर से 'हिन्दी-केसरी' निकाला परन्तु वह कुछ ही दिन चल सका। १६०६ ई० में सुन्दरलाल के सम्पादकत्व में 'कर्मयोगी' निकला और कुछ समय बाद पाक्षिक से साप्ताहिक होकर १६१० ई० में बन्द हो गया। १६११–१२ ई० में कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी ने

---

१. "हमारा उद्देश्य देश के लिए सर्व प्रकार से स्वातन्त्र्य उपार्जन है। हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ायें, अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें, उनको ऐसा बनावें कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो, संकोच न हो। यह स्वाभिमान स्वतंत्रता देवी की उपासना करने से मिलता है।"

आज सौर २०, भाद्रपद, १६७७ विक्रमी।
'रजत जयंती अंक', पृष्ठ ६७।

'प्रताप' निकाला। १९१९ ई० में सुन्दरलाल ने दूसरा पत्र 'भविष्य' निकाला जो साप्ताहिक से दैनिक हो कर बन्द हो गया। १९२०, २१ ई० के असहयोग आन्दोलन के आस पास 'कर्मवीर' (खंडवा), 'स्वराज्य' (खंडवा), 'सैनिक' (आगरा), 'स्वदेश' (गोरखपुर), आदि अनेक साप्ताहिक पत्र निकले। 'भारतमित्र' आदि साप्ताहिक पत्रों की राजनैतिक दृष्टि नरम थी। टंडन जी के सम्पादन काल में 'अभ्युदय' के विचार भी नरम रहे किन्तु कृष्णकान्त मालवीय के आने पर वह गरम दल का समर्थक हो गया। 'हिन्दी केशरी' लोकमान्य तिलक के 'मराठी केसरी' का अनुवाद मात्र था। 'कर्मयोगी' के राजनैतिक विचार उग्रतम थे, अतएव वह सरकार का कोपभाजन हुआ। राष्ट्रीय 'प्रताप' सच्चे अर्थ में जनता का पत्र था। 'कर्मवीर' आदि उसी के आदर्श के अनुपालक थे। 'भविष्य' की निर्भीक और तेजस्वी नीति ने उसे भी शीघ्र ही सरकार की शनिदृष्टि का लक्ष्य बना डाला।[1]

द्विवेदी-युग के सम्पूर्ण पत्र-साहित्य का आप्त विवरण देने के लिए स्वतंत्र गवेषणा करने और निबन्ध लिखने की आवश्यकता है। प्रस्तुत अवच्छेद उसका सिंहावलोकन भर कर सकते हैं।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के इक्कीसवें कार्य विवरण से प्रकट है कि १९१३, १४ ई० में केवल 'भारतमित्र' ही दैनिक पत्र था। 'हिन्दी वंगवासी', 'भारतमित्र', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'वीर भारत', 'अभ्युदय', 'बिहार बन्धु', 'भारत जीवन', 'सद्धर्म प्रचारक', 'आनन्द', 'आर्य मित्र', 'मिथिला मिहिर', 'जयाजी प्रताप', 'शुभचिन्तक', 'शिक्षा', 'फौजी अखबार', 'भारत', 'सुदशा प्रवर्तक', 'पाटलिपुत्र', 'अलमोड़ा अखबार', आदि साप्ताहिक थे। 'राजपूत', 'क्षत्रिय मित्र', 'जैन मित्र', 'जैन शासन', 'आचार्य' आदि का प्रकाशन पाक्षिक था। 'सरस्वती' 'मर्यादा', 'प्रभा', 'इंदु', 'लक्ष्मी', 'नवनीत', 'चित्रमय जगत', 'स्वर्ग माला' 'हितकारिणी', 'एजुकेशनल गजट', 'बाल-हितैषी', 'नवजीवन', जैन हितैषी', सत्यवादी', 'वैदिक सर्वस्व' आदि मासिक पत्रिकाएँ थीं। 'सुधानिधि', 'वैद्य', 'वैद्य-कल्पतरु', 'आरोग्य जीवन' आदि वैद्यक विषय के 'क्षत्रिय समाचार', 'अग्रवाल', 'जैन गजट', 'दिगम्बर जैन', 'कान्यकुब्ज हितकारी', 'गौड़ हितकारी', 'पालीवाल ब्राह्मणोदय', 'सनाढ्य', 'माहेश्वरी', 'तैलीस समाचार', 'जांगीडा समाचार', 'कलवार मित्र' आदि जातीय 'स्त्री दर्पण', 'गृहलक्ष्मी', चांद, 'स्त्रीधर्मशिक्षक', आदि स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी, 'कन्यामनोरंजन' और 'कन्यासर्वस्व' सचित्र पत्र थे। 'जासूस' 'उपन्यास लहरी', 'उपन्यास बहार', 'उपन्यासमाला'

पा० टि० १. पत्रों का उपर्युक्त विवरण 'आज' के 'रजत-जयंती-अंक' के आधार पर दिया गया है।

आदि उपन्यासों की मासिक पुस्तकें थीं। इनके अतिरिक्त 'स्वदेशबान्धव', 'गढ़वाली', 'भास्कर', ब्राह्मणसर्वस्व', 'औदुम्बर', 'साहित्यपत्रिका', चैतन्यचन्द्रिका, आत्मविद्या', 'आर्यावर्त्त', 'मारवाड़ी', 'बिहारपत्रिका', 'प्रेम' 'कानपुरगज़ट', 'जैनतत्वप्रकाश', 'नागरी प्रचारक', 'देहाती जीवन', 'धर्मकुसुमाकर', 'भूमिहारब्राह्मणपत्रिका', 'जैनसिद्धांताभास्कर' आदि भी प्रकाश में थे।

१६१७, १८ ई० में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन-कार्यालय में ८० पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं। सम्मेलन के पंचदश अधिवेशन के अवसर पर आयोजित प्रदर्शिनी में निम्नांकित पत्र प्रस्तुत थे:—[1]

दैनिक

१. आज	काशी	२. स्वतंत्र	कलकत्ता
३. अर्जुन	देहली	४. कलकत्तासमाचार	,,

अर्द्ध सामाहिक

१. प्रणवीर नागपुर ....

साप्ताहिक

१. तरुण राजस्थान	अजमेर	२. हिन्दी राजस्थान	देहली
३. आर्य जगत	लाहौर	४. मारवाड़ी	नागपुर
५. रंगीला	गयाधाम	६. मतवाला	कलकत्ता
७ प्रेम	वृन्दाबन	८. मौजी	कलकत्ता
९. अग्रसर	कलकत्ता	१०. जैनमित्र	सूरत
११. कर्त्तव्य	इटावा	१२ उदय	सागर
१३ हिन्दी केसरी	बनारस	१४. शक्ति	अल्मोड़ा
१५. महिला सुधार	कानपुर	१६. श्रमिक	कलकत्ता
१७. गरीब	बिजनौर	१८. स्वदेश	गोरखपुर
१९. तिरहुत समाचार	मुजफ्फरपुर	२०. महावीर	हरद्वार
२१. मारवाड़ी ब्राह्मण	कलकत्ता	२२. सूर्य	काशी
२३. सिन्धु समाचार	शिकारपुर	२४. कैलाश	मुरादाबाद
२५ देश	पटना	२६. भविष्य	कानपुर
२७. शंकर	मुरादाबाद	२८. हिन्दू सम्बन्ध सहायक	सहारनपुर

पाक्षिक

गढ़वाली	देहरादून

१ पंचदश हिन्दी-साहित्य-समेलन का कार्य-विवरण।

मासिक

१. सनाढ्य हितकारी	झांसी	२. निगमागम चन्द्रिका	बनारस
३. विद्यार्थी	प्रयाग	४. मालव मयूर	काशी
५. देशबन्धु	कलकत्ता	६. सनाढ्योपकारक	आगरा
७. हिन्दी प्रचारक	मद्रास	८. ब्राह्मण	देहली
९. शिशु	प्रयाग	१०. सुखमार्ग	अलीगढ़
११. हलवाई वैश्य संरक्षक	काशी	१२. हिन्दी गल्प माला	काशी
१३. सम्मेलन पत्रिका	प्रयाग	१४. तिजारत	शाहजहांपुर
१५. ब्राह्मण सर्वस्व	इटावा	१६. सम्प्रदाय	बड़ौदा
१७. गहोई वैश्य सेवक	उरई	१८. परमार बंधु	जबलपुर
१९. प्रजा सेवक	हुशंगाबाद	२०. बरन वाल चंद्रिका	काशी
२१. द्विजराज	प्रयाग	२२. अनुभूत योग माला	इटावा
२३. कलवार क्षत्रिय मित्र	प्रयाग	२४. क्षत्रिय मित्र	काशी
२५. ब्रह्मचारी	हरिद्वार	२६. गृह लक्ष्मी	प्रयाग
२७. भ्रमर	बरेली	२८. छत्तीसगढ़	रामगढ़
२९. सरस्वती	प्रयाग	३०. बालसखा	प्रयाग
३१. महिला महत्त्व	कलकत्ता	३२. माधुरी	लखनऊ
३३. प्रभा	कानपुर		

फुटकर

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका	काशी	२. कान्फरन्स	अजमेर
३. युगान्तर	कलकत्ता	४. लोकमान्य	बाँदा
५. कान्यकुब्ज	काशी	६. धर्म रक्षक	कलकत्ता
७. महिलासुधाकर	कानपुर	८. माहेश्वरी	कलकत्ता
९. सनातन धर्म	कलकत्ता	१०. समालोचक	सागर
११. माहेश्वरी सुधाकर	अजमेर	१२ समालोचक	फरुखाबाद
१३. समन्वय	कलकत्ता	१४ सावधान	
१५. नाई ब्राह्मण	कानपुर	१६. आर्य	लाहौर
१७. शिक्षामृत	नरसिंहपुर	१८. मोहनी	दमोह
१९. आभीर समाचार	शिकोहाबाद	२०. जैनगजट	कलकत्ता
२१. क्षत्रिय वीर	पौड़ी	२२. योग प्रचारक	काशी
२३. कलौधन मित्र	भागलपुर	२४. कलवार केसरी	लखनऊ
२५. कवि कौमुदी	प्रयाग	२६. दिगम्बर जैन	सूरत

२७.	जैन महिला आदर्श	सूरत	२८.	साध्वी सर्वस्व	प्रयाग
२९.	कूर्मि क्षत्रिय हितैषी	पन्नागर	३०.	स्वास्थ्य	कानपुर
३१.	शान्ति	सहारनपुर	३२.	शिक्षा प्रभाकर	अलीगढ़
३३.	प्रताप	कानपुर	३४.	शिक्षासेवक	पटना

काशीनागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा-पुस्तकालय में द्विवेदी-युग के अधिकाश पत्रों की प्रतियां रक्षित हैं।[1]

१९०४ ई० में वी. मदनजीत के प्रयत्न से डरबन नगर से 'इंडियन ओपिनियन' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। कुछ साल बाद आर्थिक संकट के कारण वह मोहनदास कर्मचन्द गांधी को सौंप दिया गया और उन्होंने फ़ीनिक्स नगर से उसका प्रकाशन किया। अफ्रीका में ही स्वामीभवानीदयाल सन्यासी के उद्योगसे १९१२ ई० में 'धर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। १९२२ ई० में साप्ताहिक 'हिन्दी' का प्रकाशन आरम्भ किया जो तीन वर्ष बाद बन्द हो गई। १९१२ ई० में ही 'मारिसस इंडियन टाइम्स' प्रकाशित हुआ।[2] विदेशों में और भी अनेक पत्र प्रकाशित हुए जिनका विवरण सम्प्रति अलभ्य है।

द्विवेदी–युग के अधिकांश लेखक सम्पादक थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में रक्षित पत्रिकाओं की फाइलों से सिद्ध है कि श्यामसुन्दरदास ('नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती)' राधाकृष्णदास ('नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'सरस्वती)' भीमसेन शर्मा (ब्राह्मणसर्वस्व) कृष्णकान्त मालवीय (मर्यादा) रामचन्द्र शुक्ल (नागरीप्रचारिणी

---

१ अबलाहितकारक, आत्मविद्या, आदर्श, आर्य, आर्यमहिला, इन्दु, उपन्याससागर, उषा, कथामुखी, कन्यामनोरंजन, कन्यासर्वस्व, कलाकुशल, कवीन्द्रवाटिका, कालिन्दी, किसानोपकारक, कृषिसुधार, गृहलक्ष्मी, गृहस्थ, चन्द्रप्रभा, चांद, चित्रमयजगत्, जासूस, ज्योति, ज्ञानशक्ति, देहाती, नवजीवन, नवनीत, नागरीप्रचारिणीपत्रिका, नागरीहितैषिणी पत्रिका, निगमागमचन्द्रिका, परोपकारी, पांचाल पंडिता, पीयूषप्रवाह, प्रतिभा, प्रभा, प्रभात, प्रेमविलास, प्रियंवदा, बालक, बालप्रभाकर, बालहितैषी, बिजली ब्रह्मचारी, भारतमित्र, भारती, भारतेन्दु, भारतोदय, भास्कर, भ्रमर, मनोरंजन, मनोरमा, मर्यादा, महिलादर्पण, माधुरी, रसिकरहस्य, रसिकवाटिका, लक्ष्मी, विकास, विज्ञान, विद्यार्थी, विद्याविनोद, विश्वविद्याप्रचारक, श्रीकमला, श्रीशारदा, संगीतामृतप्रवाह, संसार, समन्वय, सम्मेलन पत्रिका, साहित्य, साहित्यपत्रिका, सुधानिधि, स्त्रीदर्पण, स्त्रीधर्मशिक्षा, स्वदेशबान्धव, स्वार्थ, हिन्दीगल्पमाला, हिन्दी प्रचारक, हिन्दी प्रदीप, हितकारिणी, आदि पत्रिकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

२. 'आज' के 'रजतजयन्ती-अंक' के आधार पर।

पत्रिका) गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (नागरीप्रचारिणी पत्रिका) लाला भगवानदीन (लक्ष्मी), रूपनारायण पांडेय (नागरी प्रचारक), बालकृष्ण भट्ट (हिन्दी-प्रदीप), गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी (ब्रह्मचारी), पद्मसिंह शर्मा (परोपकारी और भारतोदय), सन्तराम बी० ए० (उषा और भारती), लाला सीताराम बी० ए० (विज्ञान), ज्वालादत्त शर्मा (प्रतिभा), गोपालराम गहमरी (समालोचक और जासूस), माधवप्रसाद मिश्र (सुदर्शन), द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी (यादवेन्द्र), यशोदानन्दन अखौरी (देवनागरवत्सर), सम्पूर्णानन्द (मर्यादा), किशोरीलाल गोस्वामी (वैष्णव सर्वस्व), छविनाथ पांडेय (साहित्य), मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव (स्वार्थ), शिवपूजनसहाय (आदर्श वर्ष), वियोगी हरि (सम्मेलन पत्रिका), चन्द्रमौलि सुकुल (कान्यकुब्ज), गणेशशंकर विद्यार्थी (प्रभा) बालकृष्ण शर्मा (प्रभा), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (सरस्वती) आदि ने सम्पादक का आसन भी ग्रहण किया था।

उस युग का सामयिक साहित्य मुख्यतः 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'मर्यादा' 'इंदु', 'चाँद', 'प्रभा', और 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' की अग्रजा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' १९०४ ई० में त्रैमासिक थी, १९१५ ई० में मासिक हुई और फिर १९७७ वि० में त्रैमासिक हो गई। उसका उद्देश सामान्य पत्रिकाओं से भिन्न था। आरम्भ में तो उसने कविता आदि विषयों को भी स्थान दिया था किन्तु आगे चलकर केवल शोध-सम्बन्धी पत्रिका रह गई। 'मर्यादा' आदि अन्य पत्रिकाएं 'सरस्वती' की अनुजा थीं। रूप और गुण की सभी दृष्टियों से उन्होंने 'सरस्वती' का अनुकरण किया। 'मर्यादा', 'प्रभा' और 'माधुरी' के अधिकांश लेखक भी द्विवेदी जी के ही शिष्य थे।[1]

भारतेन्दु-युग की पत्रिकाओं की चर्चा भूमिका में हो चुकी है। उनकी भाषा अत्यन्त लचर थी। उनका साहित्य अत्यन्त साधारण कोटि का था। यद्यपि द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध का पत्र-साहित्य अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि की कुछ रचनाओं को छोड़ कर निस्सन्देह ऊँचा नहीं है तथापि उसके उत्तरार्द्ध में मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकरप्रसाद, गोपालशरणसिंह, रामनरेश त्रिपाठी, प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, बदरीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, रामचन्द्र शुक्ल, सूर्यकान्त त्रिपाठी, चंडी प्रसाद हृदयेश, चतुरसेन शास्त्री की रचनाएँ महत्वपूर्ण और स्थायी साहित्य की निधि हैं।[2]

---

१. इस कथन का स्पष्टीकरण 'सरस्वती-सम्पादन' अध्याय के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक हो चुका है।

२ इस सम्बन्ध में 'सरस्वती', 'प्रभा' और 'माधुरी' की फाइलें विशेष द्रष्टव्य हैं।

कविता

युग-निर्माता का आसन ग्रहण करने के पूर्व ही द्विवेदी जी ने हिन्दी-कवियों को युगान्तर करने की सूचना दे दी थी। अपने 'कविकर्तव्य' (सरस्वती १६११ ई०) लेख में उन्होंने समय और समाज की रुचि के अनुसार सब बातों का विचार करके कवियों को उनका कर्तव्य बतलाया था। द्विवेदी जी की महत्ता इस बात में भी है कि उस लेख में उन्होंने जो कुछ भी कहा था उसे सफलतापूर्वक पूर्ण किया और कराया। उपर्युक्त सम्पूर्ण लेख उद्धृत करने का यहाँ अवकाश नहीं है। अतएव द्विवेदी जी की उस भविष्य वाणी और आदेश के मुख्य मुख्य वाक्यों को लेकर ही उस युग की कविता की समीक्षा की जायगी।

द्विवेदी-युग ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार पद्य और गद्य दोनों ही को काव्य-विधान का माध्यम स्वीकार किया।[1] उस युग के कवियों ने हिन्दी साहित्य में अद्यावधि प्रयुक्त सभी विधानों में कविताएं लिखीं। अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय विधान प्रबन्ध काव्य का था। इसके अनेक कारण थे। विश्व साहित्य की समीक्षा से यह बात सिद्ध हो जाती है कि ग्राम बोलियों में कविता का आरम्भ लोक गीतों से और संस्कृत भाषाओं में प्रबन्ध काव्यों से हुआ है। वाल्मीकि का 'रामायण', होमर का 'इलियड', आदि काव्य इस कथन के प्रमाण हैं। द्विवेदी-युग खड़ी बोली कविता का आरम्भिक काल था, अतएव कथानक की सहायता से ही कविता लिखना कवियों को अधिक सहज जान पड़ा। प्रबन्ध काव्य की विशेषताओं ने ही कवियों का ध्यान आकृष्ट किया। प्रबन्ध काव्य जीवन के तथ्यों को मूर्तरूप में उपस्थित कर देता है जिससे पाठक अनायास ही प्रभावित हो जाता है। द्विवेदी जी के आदेशानुसार[2] उस युगके उपदेश प्रवृत्ति प्रधान कवियों ने प्रबन्ध काव्यों में आदर्श चरित्रों का अवलम्बन करके पाठकों को लाभान्वित करने का प्रयास किया। प्रबन्ध काव्यों के तीन रूप थे—पद्य प्रबन्ध, खंड काव्य और महाकाव्य। 'भूमिका' और 'कविता' अध्याय में पद्यनिबन्धों की विशेषता बतलाते हुए यह कहा जा चुका है कि वे आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक नूतन विधान के रूप में प्रतिष्ठित हुए। द्विवेदी-युग के

---

१. "गद्य और पद्य दोनों ही में ही कविता हो सकती है।" द्विवेदी जी
'कविकर्तव्य'—सरस्वती १६०१ ई०, पृष्ठ २३२।

२. "रसकुसुमाकर और 'जसवन्तजसोभूषण' के समानग्रन्थों की इस समय आवश्यकता नहीं। इनके स्थान में यदि कोई कवि आदर्शपुरुष के चरित्र का अवलम्बन करके एक अच्छा काव्य लिखता तो उससे हिन्दी साहित्य को अलभ्य लाभ होता।"
'कविकर्तव्य'— रसज्ञरंजन पृष्ठ ४।

पूर्व उनका प्रयोग मात्र हुआ था। द्विवेदी जी ने उनकी रचना को प्रोत्साहन दिया।[1] द्विवेदी सम्पादित 'सरस्वती' निबंधों से भरी हुई है, उदाहरणार्थ १९१० ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित मैथिलीशरण गुप्त की 'कीचक की नीचता', 'कुन्ती और कर्ण' आदि। ये पद्य कभी तो खंड काव्यों की पद्धति पर एक ही छन्द में लिखे गए, जैसे उपर्युक्त 'कुंती और कर्ण', कभी गीत प्रबंध के रूप में अनेक छन्दों का सम्मिश्रण था, यथा लाला भगवानदीन का 'वीर पंचरत्न' और कभी पत्र-गीतों के रूप में, जैसे मैथिलीशरण गुप्त की 'पत्रावली'।

प्रबन्ध काव्य का दूसरा रूप खण्ड काव्य था। खड़ी बोली के अधिकांश सुन्दर खण्ड काव्य द्विवेदी युग में ही लिखे गए, उदाहरणार्थ मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध' (१९१० ई०) 'किसान' (सं० १९७४) और 'पंचवटी' (स० १९८२) रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' (१९२० ई०), प्रसाद का 'प्रेम पथिक' (१९१४) सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य विजय' (सं० १९७१), सुमित्रानन्दन पंत कृत 'ग्रन्थि' (१९२० ई०) आदि। प्रबन्ध काव्य का तीसरा रूप महाकाव्य था। खड़ी बोली के प्रथम दो महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' (सं० १९७१) और 'साकेत' (अधिकांश सं० १९८२ तक ही लिखित किन्तु ग्रन्थ १९८८ वि० में प्रकाशित) द्विवेदी युग में ही लिखे गये। यद्यपि संस्कृत आचार्यों के बताए हुए महाकाव्य के सभी लक्षण इन ग्रन्थों में नहीं पाए जाते तथापि ये महान् काव्य होने के कारण महाकाव्य अवश्य हैं।

द्विवेदी-युग की कविता का दूसरा विधान मुक्तक रचना के रूप में हुआ। मुक्तक रचना के मूल में कवियों की अनेक प्रवृत्तियाँ काम कर रहीं थीं। पहली प्रवृत्ति सौन्दर्य व्यंजना की थी। उन कवियों की सौन्दर्य विषयक इयत्ता भी अपनी थी। उनकी यह प्रवृत्ति कहीं तो आलंकारिक आदि चमत्कार के रूप में,[2] कहीं उक्ति वैचित्र्य के रूप में[3] और कहीं मार्मिक अनुभूति की हृदयहारी अभिव्यक्ति के रूप में[4] फलित हुई। दूसरी प्रवृत्ति समस्यापूर्ति की थी[5] तीसरी प्रवृत्ति उपदेशक की थी। यह तीन रूपों में व्यक्त हुई। कहीं सीधे उपदेश

१. "समस्यापूर्ति के विषय को छोड़कर, अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को चुनकर, कवि को यदि बड़ी न होसके तो छोटी ही स्वतंत्र कविता करनी चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की कविताओं का हिन्दी में प्रायः अभाव है।"

द्विवेदी जी—रसज्ञरंजन', पृष्ठ १३।

२. उदाहरणार्थ 'उद्धवशतक' आदि।

३. 'चुभते चौपदे' आदि।

४. गोपालशरणसिंह का 'ब्रजवर्णन', 'वह छवि' आदि ('माधवी' में संकलित)।

५. उदाहरणार्थ राजनैतिक कविता के संदर्भ में उद्धृत नाथूराम शर्मा की 'अटकत है' की समस्यापूर्ति।

के रूप में, कहीं सूक्ति के रूप में और कहीं अन्योक्ति के रूप में। तीसरे काव्य विधान के रूप में वे प्रबन्ध मुक्तक थे जिनमें प्रबन्ध का कथानक और मुक्तक की स्वच्छन्दता एक साथ थीं, उदाहरणार्थ 'आंसू' (१९२५ ई०) गीतों या गीतियों ने काव्यविधान का चौथा रूप प्रस्तुत किया। मौलिकता की दृष्टि से इन गीतों के पांच प्रकार हैं। भारतस्तव (श्रीधर पाठक) आदि गीत संस्कृत के 'गीतगोविन्द' आदि के अनुकरण पर लिखे गए। श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, वियोगीहरि आदि ने हिन्दी की भक्तिकालीन पद-परम्परा की पद्धति पर गीतों की रचना की, उदाहरणार्थ रामचरित उपाध्याय का 'भव्यभारत' (सरस्वती, भाग २१, संख्या ६) सुभद्रा कुमारी चौहान के 'झांसी की रानी' आदि गीत लोकगीतानुकरण के रूप में आए।[1] उस युग के शोकगीत, प्रबन्धगीत और पत्रगीत अंगरेजी के एलेजी, बैलड आदि के बहुत कुछ अनुरूप हैं। मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आदि ने उपर्युक्त प्रभावों से युक्त गीत भी लिखे जिनमें भाव, भाषा और छन्द सभी में नवीनता थी, उदाहरणार्थ पंत का 'परिवर्तन'। शैली की दृष्टि से इन गीतों का प्रचार वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, चित्रात्मक या पत्रात्मक था और आकार एकछन्दोमय, मिश्रछन्दोमय या मुक्तछन्दोमय था। द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में भाषा के मंज जाने पर उच्चकोटि के कलात्मक गीतों की रचना हुई।

काव्यविधान का पांचवां रूप गद्यकाव्य था। हिन्दी में पद्य ही अब तक कविता का माध्यम था। गद्यकाव्य के आविर्भाव और विकास के कारण भी द्विवेदी-युग का हिन्दी साहित्य के इतिहास में निराला स्थान है। द्विवेदी जी ने स्वयं ही 'प्लेगस्तव राज' और 'समाचारपत्रों का विराट् रूप' दो काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध लिखे थे। 'तुम हमारे कौन हो?'[2] आदि गद्य रचनाओं में भी पर्याप्त कवित्व था। परन्तु इन आरम्भिक प्रयासों में आधुनिक हिन्दी-गद्यकाव्य का रूप निखर नहीं सका। हिन्दी गद्य का रूप संस्कृत और परिष्कृत न होने के कारण उसमें काव्योचित व्यंजनाशक्ति आ न पाई थी। जयशंकरप्रसाद के 'प्रकृतिसौन्दर्य'[3] और 'प्रलय',[4] बालकृष्ण शर्मा नवीन का 'निशीथचिन्ता'[5] राय कृष्णदास के 'समुचित कर' और 'चेतावनी',[6] चतुरसेन शास्त्री के 'कहां जाते हो',[7] 'आदर्श

---

१. यह कविता बुन्देलखंड में प्रचलित 'खूब लड़ी मरदानी अरे झांसी वाली रानी' नामक लोकगीत के आधार पर लिखी गई है।

२. सरस्वती भाग ५, पृष्ठ ११८।

३. इंदु. कला १, किरण १, पृष्ठ ८।

४. माधुरी. भाग २. खंड २. संख्या १, पृष्ठ ६०।

५. प्रभा. भाग १, खंड २ पृष्ठ ३०४।

६. प्रभा, वर्ष ३, खंड १, पृष्ठ ४०१।

७. प्रभा, वर्ष ३, खंड २, पृष्ठ २४१।

आंसू'[१] और 'फिर'[२] प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विलाप',[३] कुंवर रामसिंह लिखित 'दो तरंगें',[४] वियोगी हरि के 'परदा', 'वीणा', 'सवार', 'दर्शन' और 'सराँय',[५] भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'कवि',[६] शान्तिप्रिय द्विवेदी का 'क्षमायाचना'[७] आदि गद्यकाव्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। प्रभा ने तो कभी-कभी 'हृदयतरंग'[८] नामक खंड ही निकाला जिसमें गद्यकाव्य के लिए स्थान सुरक्षित रहता था। 'सौन्दर्योपासक',[९] 'अश्रुधारा'[१०] 'नवजीवन वा प्रेमलहरी',[११] 'त्रिवेणी',[१२] 'साधना',[१३] 'तरंगिणी',[१४] 'अन्तस्तल',[१५] 'फिर निराशा क्यों',[१६] 'संलाप'[१७] आदि गद्यकाव्य पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। जयशंकर प्रसाद के गद्यकाव्यों में संस्कृत-पदावली की बहुलता, दार्शनिकता की अतिगूढ़ता और शब्दचयन की अनुपयुक्तता के कारण कवित्व नष्ट होगया है। 'नवीन' आदि में भी भावप्रवणता और अभिव्यंजता की मार्मिकता नहीं है। सम्भवतः अपने को गद्यकाव्य के अयोग्य समझकर ही इन कवियों ने तादृश रचनाओं से मुँह फेर लिया। उस युग में गद्यकाव्य-निर्माण का विशेष श्रेय राय कृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री और वियोगीहरि को ही है। वियोगीहरि का 'अन्तर्नाद' यद्यपि सं० १९८३ में प्रकाशित हुआ तथापि इसकी प्रायः सभी रचनाएं द्विवेदी युग के अन्तर्गत ही हैं। इस संग्रह की पांच रचनाओं के देशकाल का निर्देश ऊपर हो चुका है।

पुस्तकों के 'साधना', 'अन्तस्तल', अन्तर्नाद', आदि नाम स्वयं ही इस बात की घोषणा करते हैं कि ये रचनाएं बाह्य आलम्बनों से सम्बन्धित न होकर आध्यात्मिक हैं।

---

१. प्रभा, वर्ष ३, खंड २, पृष्ठ २३३।
२. ,, मार्च, १९२४ ई०, पृष्ठ १८६।
३. ,, वर्ष ३, खंड २, पृष्ठ १९२।
४. ,, वर्ष ३, खंड २, पृष्ठ २०२।
५. ,, फरवरी, १९२४ ई०, पृष्ठ १३१।
६. ,, मई, १९२४ ई०, पृष्ठ ३७६।
७. ,, जनवरी, १९२५ ई०, पृष्ठ ७३।
८. उदाहरणार्थ मई, जून, १९२१ ई०।
९. ब्रजनन्दन मिश्र, १९११ ई०।
१०. ब्रजनन्दन मिश्र, १९१६ ई०।
११. कुमार राधिकारमणसिंह, १९१६ ई०।
१२. देवेन्द्र, सं० १९७३।
१३. राय कृष्णदास, सं० १९७४।
१४ हरिप्रसाद द्विवेदी, सं० १९७६।
१५. चतुरसेन शास्त्री, सं० १९७८।
१६. गुलाबराय, द्वितीयावृत्ति १९८० वि०।
१७ राय कृष्णदास, सं० १९८२।

विषय और शैली की दृष्टि से द्विवेदीयुग के गद्यकाव्यों के दो प्रकार हैं—देश प्रेम की अभिव्यक्ति और लौकिक या अलौकिक प्रेमपात्र के प्रति आत्मनिवेदन। यह भी कहा जासकता है कि उनका मुख्य विषय प्रेम है चाहे वह लौकिक हो, अलौकिक हो या देश के प्रति हो। देशप्रेम को लेकर लिखी गई कविताएं अपवादस्वरूप हैं। द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में सत्याग्रह और सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन प्रबल हो रहा था और उसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी अनिवार्य रूप से पड़ा। जो देशप्रेम प्रार्थना और नम्र निवेदन से आरम्भ हुआ था उसने उग्र रूप धारण किया। कवियों ने इस बात का अनुभव किया कि बिना बलिदान और रक्तपात के स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं हो सकती। राय कृष्णदास के 'समुन्नित कर' और 'चेतावनी' गद्यगीत इसी भाव के द्योतक हैं।[1] उसी वर्ष कुंवर रामसिंह ने एक गद्य काव्य लिखा 'स्वतन्त्रता का मूल्य' जिसमें उन्होंने भारतीय नारियों को देश की स्वतन्त्रता के लिए आत्मत्याग और बलिदान करने को उत्तेजित किया।[2]

उस युग के अधिकांश गद्यकाव्य किसी प्रेमपात्र के प्रति प्रेमी हृदय की वेदना के ही शब्दचित्र हैं। इस प्रेम का आलम्बन कहीं शुद्ध लौकिक है[3] और कहीं कहीं यह प्रेम

---

१. "ऋषियो ! यदि तुम्हें भगवान रामचन्द्र की परमाशक्ति सीता के जन्म की आकांक्षा हो तो तुम्हें घड़े भर खून का कर देना ही होगा।

उसके बिना सीता का शरीर कैसे बनेगा ? और बिना सीता का आविर्भाव हुए रामचन्द्र अपना अवतार कैसे सार्थक कर सकेंगे ?

अतः ऋषियो उठो, अविलंब अपना रक्त प्रदान करो।"

—प्रभा, वर्ष ३, खंड १, पृ० ४०१।

२. "हे देवियो ! यदि तुम्हें स्वतंत्रता का सुख चाहिए तो अपने पतियों सहित कारागार के कष्ठ उठाकर देवकी की तरह अपनी सात सन्तानों का बलिदान करो।"

—प्रभा, भाग ३, खंड २, पृ० २०२।

३. "पाटल ! मैं ने तुमको इतने प्रेम से अपनाया। तुम्हें तुम्हारे स्वजनों मे बिलगाकर छाती से लगा लिया तुम्हारे कांटों की कुछ परवाह न की, क्योंकि तुम्हारी चाह थी।

कहां मेरा मन इसी चिन्ता में चूर रहता था कि तुम्हारी पंखुड़ियां दब न जावें। सारे संसार से समस्त चित्तवृत्तियां खिंचकर एक तुम्हीं से समाधिस्थ हो रही थीं। कहां आज वही, मैं, तुम्हें किस निर्दयता, उदासीनता और घृणा से भूमि पर फेंक रहा हूँ। क्योंकि तुम्हारे रूप, रंग, सुकुमारता और सौरभ सब देखते देखते नष्ट हो गए हैं।

कहां तो मैं तुम्हें हृदय का फूल बनाकर अभिमानित होता था, कहां आज तुम्हें पददलित करने में डरता हूँ कि कहीं कांटे न चुभ जांय।

अरे, यह-प्रेम कैसा ? यह तो स्वार्थ है क्या इसी का नाम प्रेम है ? हे नाथ, मुझे ऐसा प्रेम नहीं चाहिए। मुझे तो वह प्रेम प्रदान करो जो मुझे भेदबुद्धिरहित पागल बना दे।"—

रायकृष्णदास–साधना, पृ० ६७।

पारलौकिकता की ओर उन्मुख है ।[1]

ये गद्य काव्य 'वासवदत्ता', 'दशकुमार चरित', 'हर्ष चरित', 'कादम्बरी' आदि संस्कृत गद्य–काव्यों से अनेक बातों में भिन्न हैं। कथावस्तु की दृष्टि वे प्राचीन–काव्य आधुनिक उपन्यासों के पूर्व रूप हैं, इसलिये उन्हें 'आख्यायिका' या 'कथा' कहा गया है। यहां तक कि मराठी में उपन्यास के लिए कादम्बरी शब्द का ही प्रयोग किया जाता है। आधुनिक गद्यकाव्य में इस प्रकार की कथा वस्तु का सर्वथा अभाव है। इसका कारण यह है कि आज साहित्य ही नहीं सारा वाङ्मय ज्ञान विस्तार के साथ ही साथ अनेक भागों में विभाजित होता जा रहा है। इसीलिये तब की आख्यायिका और कथा के स्थान पर अब कहानी, उपन्यास और गद्यकाव्य तीन रूप दिखाई पड़ते हैं। आख्यायिका, कथा, उपन्यास आदि के रूप में दूसरों का वर्णन करते करते लेखक का हृदय थक गया और आत्माभिव्यक्ति के लिए रो पड़ा। वर्तमान गद्यगीत उसके उसी आकुल अन्तर के शब्द प्रतीक हैं। बाणभट्ट ने भी अपने 'हर्ष चरित्र' के आरम्भिक अध्यायों में अपना चरित लिखा था किन्तु उनकी वह अभिव्यक्ति अध्यान्तरिक न होकर जीवन वृत्त-मात्र थी। वे प्रबन्ध काव्य हैं, उनमें प्रबन्ध व्यंजकता है और रस परिपाक की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।[2] द्विवेदी-युग के गद्य-काव्य लघुप्रबन्धमुक्तक हैं और इनमें रस परिपाक का प्रयास न करके कोमल भावों की मार्मिक अभिव्यक्त ही की गई है। उन संस्कृत कवियों ने शब्द–चमत्कार और अलंकारादि की ओर बहुत ध्यान दिया।[3] हिन्दी-गद्यकाव्य कर्त्ताओं के गीत एक श्वेतवसना तपःपूत

---

१. "हे मेरे नाविक, यह कैसी बात है जब मेरी नाव मंझधार में थी तब तो तुम्हें हटाकर मैंने डाँड़ लेलिए थे और तुम्हारे आसन पर आसीन होकर बड़ा भारी खेवैया बन बैठा था। पर जब वह धार से पार होकर गम्भीर जल में पहुँची तब मैं हारकर उसे तुम्हारे भरोसे छोड़ता हूँ।

तब तो नाव धार के सहारे बह रही थी, खेने की आवश्यकता ही न थी। इसी से मेरी मूर्खता न खुली। पर अब ? अब तो इस गम्भीर जल से चतुर नाविक के बिना और कौन नाव निकाल सकता है ?

परन्तु मैं तुम्हारी बड़ाई किस मुख मे करूं। तुम मेरी मूर्खता और अभिमान तथा अपने अपमान की ओर नहीं देखते और सप्रेम डाँड़ नाव किनारे की ओर चलाते हो।"

···राय कृष्णदास···साधना, पृ० ३१।

२. स्फुरत्कलाला पविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्यामिनवावधूरिव ॥

बाणभट्ट, 'कादम्बरी' की प्रस्तावना।

३. सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम् ॥

सुबन्धुकृत वासवदत्ता' का आरम्भ।

सन्यासिनी की भाँति निरलंकार किन्तु मर्मस्पर्शी हैं। उन काव्यों में पग-पग पर चित्रमयी कवि कल्पना की ऊँची उड़ान है। द्विवेदी-युग के हिन्दी गद्यगीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान न होते हुए भी सरलता, लाक्षणिकता और मूर्ति मत्ता या प्रतीकात्मकता का इतना सुन्दर समन्वय है कि वे पाठकों के हृदय को सहज ही मोह लेते हैं। इन गद्यकाव्यों की द्विकलात्मकता इनकी एक प्रमुख विशेषता है। इनमें गद्य भाषा की छन्दहीनता, वाक्य-विन्यास और व्याकरण संगति है, परन्तु साथ ही पद्य की सी लय और काव्यमय उपस्थापना भी है।[1]

द्विवेदी जी ने अपने पद्यानुवादों में संस्कृत के द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि अनेक वृत्तों और अपनी मौलिक कविताओं में वर्णिक छन्दों का प्रयोग किया था। उनके आदर्श और उपदेश[2] ने उस युग के अन्य कवियों को भी प्रभावित किया। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपना 'प्रिय प्रवास' आद्योपान्त संस्कृत वृत्तों में लिखा। संस्कृत वृत्तों का निर्वाह करने में कहीं कहीं कवियों को अत्यन्त कठिनाई हुई। कहीं तो उन्हें चरण के अन्तिम लघु को दीर्घ का रूप देना पड़ा,[3] और कहीं वे संयुक्त वर्ण के पूर्ववर्ती लघुस्वर को गुरु मानने के लिए विवश हुए।[4] इस प्रकार के प्रयोग

और बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित' की भूमिका में इस प्रकार की 'वासवदत्ता' की प्रशंसा भी की—

'कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।''

१. "जब मैं रोता हूँ तब तुम घोर अट्टहास कर मेरे रोने का उपहास करते हो, जब हंसता हूँ, तुम्हारी आंखों में आंसू छलछला आते हैं—यह वैपरीत्य क्यों ?

हे स्वामिन्! तुम्हारे सम्मुख क्या मेरे रोने और हंसने का कोई मूल्य नहीं है ?"

'क्षमायाचना'…शान्तिप्रिय द्विवेदी…प्रभा। जन० १९२५ ई० पृष्ठ ७२।

२. "दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और भी छन्द लिखा करें।"

…रसज्ञरंजन, पृ० ३।

३ यथा— "ओढ़े दुशाले अति उष्ण अंग,
धारे गरू वस्त्र हिए उमंग।" —सरस्वती, मई, १९०२ ई०।

४. उदाहरणार्थ (क) जब देवव्रत अष्टम बालक।

द्विवेदी जी, कविता-कलाप, 'गंगा-भीष्म।'

(ख) आनन्द प्रिय मित्र के उदय से पाते सभी जीव हैं,
पूजा में रत है समस्त जगत प्रोत्साह आह्लाद से।

संस्कृत भाषा और संस्कृत छन्दों के कारण हुए हैं। कहीं कहीं बोलचाल के प्रभाव के कारण भी कवियों ने लघु को गुरु मान लिया है। यथा—

गरल अमृत अर्भक को हुआ।[1]

इस उद्धरण में अमृत के 'मृ' का 'ऋ' ह्रस्व स्वर है और 'अ' भी ह्रस्व है अतएव इन दोनों का ही उच्चारण लघु होना चाहिए परन्तु कवि ने 'म' में द्वित्व का आरोप करके छन्द की मर्यादा के निर्वाहार्थ लघु 'अ' को दीर्घ कर दिया है। मैथिलीशरण गुप्त आदि ने हिन्दी के अप्रचलित छन्दों, गीतिका, हरिगीतिका, रूप-माला आदि का प्रयोग किया। नाथूराम शर्मा आदि ने दो छन्दों के मिश्रण से भी नए छन्द बनाए। उस युग में लावनी की लय का विशेष प्रचार हुआ। हिन्दी के छन्दों का चरण और लावनी का अन्त्यानुप्रासक्रम लेकर मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामचरित उपाध्याय आदि ने हिन्दी में अनेक प्रबन्धगीत लिखे।[2]

बंगला के पयार और अंग्रेजी के सानेट का भी हिन्दी में प्रचार हुआ। जयशंकरप्रसाद आदि ने 'इंदु' और 'माधुरी' में अनेक चतुर्दशपदी गीत लिखे। छायावादी कवियों ने स्वच्छन्द और मुक्तछन्दों की परम्परा चलाई। अंत्यानुप्रास की दृष्टि से स्वच्छन्द छन्द तीन प्रकार के लिखे गए। एक तो वे थे जिनमें आद्योपान्त अनुप्रास था ही नहीं जैसे प्रसाद जी का 'महाराणा प्रताप का महत्त्व' या पंत की 'ग्रन्थि'। दूसरे वे छन्द थे जिसमें अन्त्यानुप्रास किसी न किसी रूप में आद्योपान्त विद्यमान था, यथा पंत जी की 'स्नेह', 'नीरवतार' आदि कविताएँ।[3] तीसरे वे छन्द थे जिनमें कहीं तो अंत्यानुप्रास था और कहीं नहीं था, उदाहरणार्थ पंत जी का 'निष्ठुर परिवर्तन' या सियारामशरण गुप्त की 'याद'।[4] निराला जी ने मुक्तछन्दों का विशेष प्रचार किया। उनकी 'जुही की कली' १९१७ ई० में ही लिखी गई थी। परन्तु अपनी अति नवीनता के कारण हिन्दी-पत्रिकाओं में स्थान न पा सकी। उनकी 'अधिवास'[5] आदि कविताएँ आगे चल कर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। इन मुक्तछन्दों में स्वच्छन्द छन्दों की छन्दलय का स्थान स्वाभाविक भावलय ने ले लिया।

---

१ प्रियप्रवास, सर्ग २, पद ३४।

२. उदाहरणार्थ, हरिऔध जी का 'दमदार दावे'—
प्रभा, मार्च, १९२४ ई० पृ० २१३।

३. यथा, 'आधुनिक कवि' २ के पृष्ठ ८ पर।

४. प्रभा, नवम्बर, १९२४ ई०, पृष्ठ २७६।

५. माधुरी, भाग १, खंड २, पृ० ३४३।

द्विवेदी जी ने उर्दू के बह्रों के प्रयोग का भी आदेश किया।[1] लाला भगवानदीन ने अपने 'वीरपंचरत्न' में, अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने चौपदों और छपदों में तथा अन्य कवियों ने भी अपनी रचनाओं में उर्दू बह्रों का प्रयोग किया। द्विवेदी जी ने कवियों से यह भी आग्रह किया कि वे अपने सिद्ध छन्दों का ही व्यवहार करें।[2] मैथिलीशरण गुप्त ने अपने सधे हुए छन्द, हरिगीतिका में ही 'भारत-भारती' और 'जयद्रथवध' लिखा। गोपालशरणसिंह ने घनाक्षरी और सवैयों में ही अपनी अधिकांश रचनाएं कीं। जगन्नाथ दास ने रोला और घनाक्षरी का ही अधिक प्रयोग किया।

अतुकान्त कविता को भी द्विवेदी जी ने विशेष प्रोत्साहन दिया।[3] कविता का यह रूप भी द्विवेदी-युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यद्यपि सबलसिंह चौहान, सरजूप्रसाद मिश्र, श्रीधर पाठक, देवीप्रसाद पूर्ण आदि कवि तुकान्तहीन कविता कर चुके थे परन्तु संस्कृत वृत्तों और अतुकान्त कविता को अंत्यानुप्रासयुक्त कविता के समान ही प्रतिष्ठित करने का श्रेय द्विवेदी जी और उनके युग को ही है। द्विवेदी जी की 'हे कविते' और श्रीधर पाठक का 'वर्षा-वर्णन' १९०१ ई० में तथा कन्हैयालाल पोद्दार का 'गोपी गीत' १९०२ ई० की सरस्वती में प्रकाशित हो चुके थे। अतुकान्त कविता का वास्तविक प्रवाह १९०३ ई० में चला। कन्हैयालाल पोद्दार की 'अन्योक्ति दशक'[4] और अनन्तराम पांडेय के 'कपटी मुनि नाटक' में वर्णिक और मात्रिक अत्यानुप्रासहीन छन्दों के दर्शन हुए। पूर्ण जी के 'भानु-कुमार नाटक' (१९०४ ई०) में भी यत्र तत्र अतुकान्त पदों का प्रयोग हुआ है। 'सरस्वती' ने इस प्रवाह को आगे बढ़ाया। १९०४ ई० में 'मृत्युंजय' (पूर्ण), 'तुम बसन्त सदैव बने रहो' (जमुनाप्रसाद पांडेय) और 'शान्तिमती शय्या' (सत्यशरण रतूड़ी), १९०५ ई० में 'शिशिर पथिक' (रामचन्द्र शुक्ल), 'प्रभात-प्रभा' (सत्यशरण रतूड़ी), 'भारवि का शरद्वर्णन' (श्रीधर पाठक) आदि कविताएं प्रकाशित हुईं और यह क्रम चलता रहा। १९०९ ई० में हरिऔध जी का 'काव्योपवन' कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने

---

१. आजकल के बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार छन्दों में अधिक खुलती है, अत: ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होना चाहिए।

—'रसज्ञरंजन', पृ० ३।

२. "कुछ कवियों को एक ही प्रकार का छन्द सध जाता है, उसे ही वे अच्छा लिख सकते हैं उनको दूसरे छन्द लिखने का प्रयत्न भी न करना चाहिए।"

'रसज्ञरंजन' पृ० ४।

३. "पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिए।"

'रसज्ञरंजन', पृ० ४।

४. सरस्वती, १९०३ ई०।

कल्पित छन्दों का भी प्रयोग किया। 'मयंकनवक' और 'दिनेश दशक' कविताओं में शार्दूल-विक्रीडित की छाया लेकर मात्रा वृत्त में अतुकान्त कविता का एक नूतन और अनूठा उद्योग किया।[1] 'इन्दु' की चौथी और विशेषकर पांचवीं कलाओं में राय कृष्णदास, जयशंकरप्रसाद मुकुटधर पांडेय आदि की अनेक अन्त्यानुप्रासहीन कविताएँ प्रकाशित हुई। सं० १९७० में जयशंकरप्रसाद का 'प्रेम-पथिक' और १९७१ में हरिऔध जी का 'प्रियप्रवास' अतुकान्त वृत्तों में प्रकाशित हुए। इस प्रकार हिन्दी में अतुकान्त कविता का रूप मान्य और प्रतिष्ठित हो गया।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन आदि संस्कृत-साहित्य-शास्त्रियों ने रसभावानुकूल वृत्तों के प्रयोग की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया था। द्विवेदी जी ने भी कविता के इस आवश्यक पक्ष की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया।[2] द्विवेदी-युग के आरम्भिक वर्षों में अपंडित, असिद्ध और यशःकामी कवियों ने टूटी-फूटी तुकबन्दियां के द्वारा ही यश लूट लेने का प्रयास किया। 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां इस बात की साक्षी हैं। कुछ ही वर्षों में भाषा का परिमार्जन हो जाने पर सिद्ध कवियों ने इस ओर पूरा ध्यान दिया। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने प्रियप्रवास' में रसभावानुकूल छन्दों का प्रयोग किया। यथा, शृंगार और करुण की व्यंजना के लिए द्रुतविलम्बित, वियोगवर्णन में मालिनी और मन्दाक्रान्ता, उत्साह के योग में वंशस्थ आदि। मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकरप्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत आदि कवियों ने भी भावानुकूल छन्दों में कविताएं कीं।

द्विवेदी जी ने भाषा की सरलता और सुबोधता पर पर्याप्त ध्यान दिया।[3] अपने सम्पादनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में उन्हें काव्य-भाषा का भी कायाकल्प करना पड़ा। उन्होंने कवियों को केवल उपदेश ही नहीं दिया, उनकी अर्थहीन या अनर्थकारिणी भाषा का आदर्श संशोधन भी किया। निम्नांकित उद्धरण विशेष अवेक्षणीय हैं—

मूल	संशोधित
(क) रव वह सब ही का हो तभी व्यर्थ ही है,	कलरव गति सब की भास होती बुरी है।

---

१. उदाहरणार्थ, राका रजनी के समान रंगिणि जिसकी मनोहारिणी।
रूपवती रोहिणी आदि जिसकी हैं सप्तविंशति प्रिया।
हा जगदीश्वर! वह कवीकपति भी गुरु-वाम- गामी हुआ।
कामीजन का अकरणीय कुछ भी संसार में है नहीं॥
'कव्योपवन', मयंकनवक पृष्ठ ७३।

२ "वर्णन के अनुकूल वृत्त प्रयोग करने से कविता का आस्वदान करने वालों को अधिक आनन्द मिलता है ।" 'रसज्ञरंजन', पृ० २

३. " कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयंगम कर सके।"— 'रसज्ञरंजन', पृ० ५

जब पिक दिखलाती शब्द की चातुरी है।[1]	जब पिक दिखलाती शब्द की चातुरी है।
(ख) पय प्रकटत सुन्दर छबि तेरी, ज्ञान ध्यान विस्मृत हो जावे। सुध बुध रहै न कुछ भी अपनी, तू ही तू मन में बस जावे ॥[2]	पर तेरी छवि देख ज्ञान की, गरिमा गुम हो जाती है। सुध बुध रहती नहीं चित्त में, तू ही तू बस जाती है॥
(ग) एक नयन कर लगत हमारा, चित पानी पानी हो जाता।[3]	नयन बाण तेरा लगते ही, दिल पानी पानी हो जाता है।

'क' की मौलिक पंक्ति विशेष चिन्त्य है। 'वह सब ही का हो', इस वाक्यांश का क्या अर्थ है ? उस पंक्ति में अर्थ या पद सौन्दर्य भी नहीं है। अन्त्यानुप्रास भी अधम कोटि का है। संशोधित पद में प्रसाद और माधुर्य के कारण विशेष सौन्दर्य आ गया है। सुन्दर अन्त्यानुप्रास ने उसे और भी उत्कृष्ट बना दिया है। 'ख' की मौलिक प्रथम पंक्ति से प्रकट होता है कि कवि का अभिप्राय आशीर्वादात्मक वाक्य-कथन नहीं है। वह अपनी बात सामान्य वर्तमान में ही कहना चाहता है किन्तु उसकी भाषा उसके अभीष्ट अर्थ की व्यंजना करने में असमर्थ है। संशोधित पद में उसकी यह अर्थहीनता दूर कर दी गई है। 'ग' की मौलिक प्रथम पंक्ति में 'हमारा' सर्वनाम का प्रयोग इस अर्थ का द्योतक है कि कवि का नयनशर लगते ही लोगों का चित्त पानी पानी हो जाता है। किन्तु यह अर्थ कवि के तात्पर्य के विपरीत है। कविता तरुणी को संबोधित करके लिखी गई है और कवि कहना चाहता है कि तुम्हारा नयनशर लगते ही मेरा चित्त पानी पानी हो जाता है। वह इस बात को ठीक कह नहीं सका है। संशोधित पंक्ति इस अर्थ को स्पष्ट कर देती है।

द्विवेदी जी के सदुद्योग से हिन्दी काव्यभाषा की क्लिष्टता, जटिलता और असमर्थता दूर हो गई। इसका प्रमाण आगे चलकर 'जयद्रथवध', 'भारत-भारती', 'प्रियप्रवास', 'माधवी', 'पथिक', 'पंचवटी' आदि रचनाओं में मिला। द्विवेदी जी के शिष्य मैथिलीशरण की प्रसन्न कविताओं ने लोगों को हिन्दी और कविता से प्रेम करना सिखाया। द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध में अधिकांश कवियों की भाषा व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों से व्याप्त थी। द्विवेदी

---

१. 'कोकिल'—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार—सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियां १६०४ ई०, कलाभवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

२. 'तरुणी'—गंगासहाय—सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियां १६०४ ई० कलाभवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

३. 'तरुणी'—गंगासहाय—सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियां १६०४ ई०, कलाभवन, नागरी प्रचारिणी सभा।

जी ने उपदेश और संशोधन द्वारा उसका परिष्कार किया। एक दो उदाहरण अवलोकनीय हैं—

मूल	संशोधित
(क) मिला अहो मंजु रसाल डाल से ?	मिला अहो क्या सुरसाल डाल से ?
तथैव क्या गुंजित भृंगमाल से ?[1]	किंवा किसी गुंजित भृंगमाल से ?
(ख) ओढ़ें दुशाले अति उष्ण अंग,	अच्छे दुशाले, सित, पीत, काले,
धारें गरू वस्त्र हिये उमंग।	हैं ओढ़ते जो बहुवित्त वाले।
तौ भी करें हैं सब लोग सी, सी,	तौ भी नहीं बन्द अमन्द सी, सी,
हेमन्त में हाय कंपे बतीसी।[2]	हेमन्त में है कंपती बतीसी॥

पहले उदाहरण की प्रथम मौलिक पंक्ति में कोई प्रश्नवाचक सर्वनाम नहीं है और फिर भी प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया गया है। उसकी द्वितीय पंक्ति में 'तथैव' की योजना सर्वथा असंगत है। संशोधित पद में 'क्या' और 'किंवा' के व्याकरणसंगत प्रयोग से अधिक लालित्य आगया है। दूसरे उदाहरण में 'ओढ़ें', 'धारे आदि क्रियारूपों का प्रयोग गलत हुआ था। 'करे हैं' और 'कंपे' के रूप भी खड़ीबोली की दृष्टि से अशुद्ध हैं। संशोधित पद में 'तौ' का प्रयोग गलत है, किन्तु उस काल में 'ओ' के स्थान पर 'औ' का प्रयोग करने की व्यापक प्रवृत्ति थी जिसका निश्चित सुधार द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में हुआ। कभी कभी तो तुक्कड़ पद्यकर्त्ता छन्द की गति और यति की अवहेलना करके अपना तूफ़ान मेल निर्बाध गति से छोड़ देते थे, उदाहरणार्थ:—

तुव दरसन ही प्रेम उभारे,
ललना अनुभव यही सिखाता है।[3]

और द्विवेदी जी को इस प्रकार की तुकबन्दियों की निर्दयतापूर्वक शल्य-चिकित्सा करनी पड़ती थी। द्विवेदी जी ने कवियों से विषयानुकूल शब्द स्थापना, अक्षरमैत्री, क्रमानुसार पद योजना आदि का भी अनुरोध किया।[4] द्विवेदी-युग के प्रथम चरण की 'सरस्वती' में

---

१. 'कोकिल'—कन्हैयालाल पोद्दार—सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियां १९०४ ई०,
कला भवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

२. 'हेमन्त'-मैथिली शरण गुप्त सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियां १९०५ ई०।

३. 'तरुणी'—गंगासहाय—सरस्वती की हस्तलिखित, प्रतियां १९०४ ई०
कलाभवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

४. "विषय के अनुकूल शब्दस्थापना करनी चाहिए···शब्द चुनने में अक्षरमैत्री का विशेष विचार रखना चाहिए···शब्दों को यथा स्थान रखना चाहिए।"
रसज्ञरंजन, पृष्ठ ६, ७।

प्रकाशित कविताओं की हस्तलिखित प्रतियाँ द्विवेदी जी की गुरुता का बहुत कुछ अनुमान करा देती हैं। साधारण कवियों की कविताओं में ही नहीं, महाकवियों की कविताओं में भी शब्दों का व्यतिक्रम हुआ है जिसके प्रवाह में शिथिलता और सौन्दर्य में कमी आ गई है। हरिऔध जी की कविता का एक उदाहरण निम्नांकित है—

मूल	संशोधित
हरे पेड़ सब हो जाते हैं	पेड़ हरे सब हो जाते हैं
नये नये पत्ते लाते हैं	नये नये पत्ते लाते हैं
वह कुछ ऐसे लद जाते हैं	वह कुछ ऐसे लद जाते हैं
जो बहुत भले दिखलाते हैं	बहुत भले वह दिखलाते हैं
बसी हवा चलने लगती है	बसी हवा बहने लगती है
दिसा सब मंहकने लगती हैं।[1]	दिशा मंहकने सब लगती है

उपर्युक्त उद्धरण में कुछ बातें विशेष आलोच्य हैं। हरे 'पेड़' का विशेषण न होकर 'हो जाते हैं' का पूरक है अतएव उसका 'पेड़' शब्द के बादआना ही अधिक शोभाकारक होता। तीसरी पंक्ति की लय में चौथी पंक्तिकी लय मिलती ही नही 'बहुत भले' का पूर्ववर्ती होकर गुरु 'जो' ने उस पंक्ति के प्रभाव में एक बांध सा डाल दिया है। छठी पंक्ति की लय को अविरल रखने के लिए 'मंहकने' को विभाजित करना पड़ता है, 'महक', 'सब' के साथ और 'ने' लगती के साथ चला जाता है। इस प्रकार का विच्छेद संगत नहीं जंचता। द्विवेदी जी के संशोधन ने इन सब दोषों को दूर कर दिया है।

गद्य और पद्य की भाषा एक करने पर भी द्विवेदी जी ने विशेष ज़ोर दिया।[2] उनके पहले से भी खड़ी बोली में कविता करने का प्रयत्न हो रहा था। द्विवेदी जी का गौरव इस बात में है कि उनके आदर्श उपदेश और [illegible] के परिणाम स्वरूप ही हिन्दी-संसार ने गद्य की भाषा को ही पद्य की भाषा स्वीकार कर लिया। १९०९ ई० में द्विवेदी जी ने 'कविता-कलाप' संग्रह प्रकाशित किया जिसमें द्विवेदी जी [illegible] देवीप्रसाद, कामताप्रसाद गुरु, नाथूराम

---

१. 'कोयल', 'सरस्वती', हस्तलिखित प्रतियाँ, [illegible] ई०.
कलाभवन, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

२. "गद्य और पद्य की भाषा पृथक् पृथक् न होनी चाहिए — यह निश्चय है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि वे क्रम क्रम से गद्य की भाषा में कविता करना आरम्भ करें।"

रसज्ञरंजन पृष्ठ ७, ८।

शर्मा और मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ संकलित थीं। अधिकांश कविताएं खड़ी बोली की ही थीं। काव्य-भाषा की दृष्टि से द्विवेदी-युग के तीन विभाग किए जा सकते हैं—१६०३ ई० से १६०६ ई० तक, १६१० ई० से १६१७ ई० तक और १६१७–१८ ई० से १६२५ ई० तक। नागरी प्रचारणी सभा के कला भवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियां और तत्कालीन विभिन्न पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की भाषा से सिद्ध है कि १६०५ ई० तक खड़ी बोली का मँजा हुआ रूप उपस्थित नहीं हो सका। काव्य भाषा का सुधार करने में द्विवेदी जी को गद्य-भाषा संशोधन की अपेक्षा कहीं अधिक घोर परिश्रम करना पड़ा था। भाषा की यह दुरवस्था १६०६ ई० तक ही विशेष रही। 'कविता कलाप' में उसका कुछ सुधरा हुआ रूप प्रस्तुत हुआ है। उसमें शब्दों की तोड़ मरोड़ बहुत ही कम की गई। उनकी कविताओं में खड़ी बोली का व्याकरण-सम्मत और धारा प्रवाह रूप प्रतिष्ठित हुआ। १६१० ई० में 'जयद्रथ वध' में ओज, प्रसाद और माधुर्य से पूर्ण खड़ी बोली का श्रेष्ठ रूप उपस्थित हुआ। तत्पश्चात 'प्रिय प्रवास' और 'भारत-भारती' के प्रकाशन ने खड़ी बोली के विरोधियों को सदा के लिए चुप कर दिया। १६१७ ई० से 'सरस्वती' में 'साकेत' के अंश प्रकाशित होने लगे। इसी वर्ष 'निराला' ने अपनी 'जुही की कली' लिखी। इसीं वर्ष के आस पास से पंत और प्रसाद की कविताएं भी समादृत होने लगीं थीं। इस अवस्था में द्विवेदी-युग की काव्य-भाषा में दो प्रकार के परिवर्तन हुए। एक तो लाक्षणिक, ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा और दूसरे हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त आदि की कविताओं में हिन्दी के मुहावरों और कहावतों का भी विशेष प्रयोग हुआ।

अभिनिवेशपूर्वक विचार करने से द्विवेदी-युग की काव्य-भाषा में अनेक विशिष्टताएं परिलक्षित होती हैं। द्विवेदी-युग ने खड़ी बोली की प्रतिष्ठा के लिए परिस्थितियों के विरुद्ध कठिन संग्राम किया। उस युग के महान् कवियों को भी छन्द की मर्यादा का निर्वाह करने के लिए 'और' के स्थान पर 'औ' तथा 'तक', 'पर', 'एक' आदि के लिए क्रमशः 'लौं', 'पै', 'यक' आदि का प्रयोग करना पड़ा।[१] कहीं वे पदों के समास करने में संस्कृत या हिन्दी-व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने के लिए वाध्य हुए।[२] खड़ी बोली की आरम्भिक कविताओं में प्रसाद, ओज और माधुर्य की कमी है। आगे चल कर भाषा के मँज जाने पर ये त्रुटियाँ अपवाद रूप में ही दिखाई पड़ीं। उस युग की कविता की सर्व-व्यापक विशेषता उसका प्रसाद गुण है। 'भारत भारती' अपनी प्रासादिकता के कारण ही

---

१. 'प्रियप्रवास' में इस प्रकार के प्रयोगों की बहुलता है।

२. ,, ,, ,,

हिन्दी-जनता का हृदयहार बन गई थी। 'प्रिय प्रवास' आदि रचनाएं अतिशय संस्कृत-प्रधान होते हुए भी प्रसन्न हैं। प्रसाद गुण किसी एक ही भाषा या बोली की सम्पत्ति नहीं है। वह बोलचाल, उर्दू फारसी या संस्कृत की पदावली में समान रूप से व्याप्त हो सकता है। कवि की भाव व्यंजना ऐसी होनी चाहिए जिसे पढ़ या सुन कर पाठक या श्रोता के हृदय में अबाध रूप से ही प्रसन्नता की अनुभूति हो जाय। युग के आरम्भ या अन्त में कुछ कवियों की कविता का दुरूह हो जाना उनकी व्यक्तिगत अभिव्यंजना-शक्ति की निर्बलता का परिणाम था। पंत, प्रसाद या माखनलाल चतुर्वेदी की कुछ ही कविताएं गूढ़ हैं। ध्वनि के रहते हुए भी कविता सरल और सुबोध हो सकती है।

ओज गुण का विशेष चमत्कार नाथूराम 'शंकर', माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं में दिखलाई पड़ा। आर्य समाजी होने के कारण नाथूराम शर्मा में अक्खड़पन, निर्भीकता और जोश की अधिकता थी। माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी चौहान देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय योग दे रही थीं। अतएव उनकी अभिव्यक्ति का ओजोमय हो जाना अनिवार्य था। राजनैतिक और धार्मिक हलचल ने कवियों के मन में एक क्रान्ति सी मचा दी। उन्होंने समाज, साहित्य आदि की बुराइयों पर लट्ठमार पद्धति द्वारा आक्रमण किया।[1] मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय गोपालशरणसिंह आदि की कविताओं में माधुर्यमयी व्यंजना हुई। विशेष रमणीयता-प्रतिपादक कोमलकांत पदावली का दर्शन आगे चलकर पंत की कविताओं में मिला।

द्विवेदी-युग की कविताओं में भी सभी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ। एक ओर तो सरल और प्रांजल हिन्दी का निरलंकार सहज सौन्दर्य है[2] और दूसरी ओर संस्कृत की अलंकारिक समस्त पदावली की छटा।[3] कहीं तो प्रसन्न वाक्यविन्यास का अजस्र प्रवाह है[4] और कहीं छायावादी कवियों की अतिगूढ़ व्यंजना।[5] एक स्थान पर मुहावरों और बोल चाल के शब्दों की झड़ी लगी हुई है[6] तो दूसरे स्थल पर उन्हे तिलांजलि भी दे दी गई है।[7]

---

१. उदाहरणार्थ १९०८ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित नाथूराम शर्मा की 'पंचपुकार' और मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचपुकार का उपसंहार' कविताएं।
२. उदाहरणार्थ 'जयद्रथवध॥'
३. ,, 'प्रियप्रवास॥'
४. ,, 'भारतभरती॥'
५. ,, निराला-लिखित 'अधिवास' कविता।
माधुरी, भाग १, खंड २, संख्या ४, पृ० ३५३।
६. ,, हरिऔध जी के 'चुभते' और 'चोखे चौपदे।'
७. ,, प्रियप्रवास।

कहीं वाच्यप्रधान, वर्णनात्मक शैली में वस्तूपस्थापन किया गया है[१] तो कहीं लक्ष्यप्रधान चित्रात्मक शैली का चमत्कार है।[२]

द्विवेदी जी ने कवियों को विषय परिवर्तन की भी प्रेरणा दी। उन्होंने नायक-नायिका आदि के शृंगारादि वर्णन और अलंकार, समस्यापूर्ति आदि के जाल से ऊपर उठकर सामाजिक, प्राकृतिक आदि स्वतंत्र विषयों पर फुटकर कविताएं तथा आदर्श चरित्रों को लेकर प्रबन्ध-काव्य लिखने का निर्देश किया। यों तो भारतेन्दु-युग ने भी शृंगारेतर रचनाएं की थीं परन्तु वे अपेक्षाकृत बहुत कम थीं। द्विवेदी-युग ने शृंगारिकता से आगे बढ़कर जीवन के अन्य पक्षों पर भी उचित ध्यान दिया। शृंगार प्रधान रचनाओं में भी उसने प्रेम को व्यापक, विश्वजनीन या रहस्योन्मुख रूप देकर उसे उत्कृष्ट बना दिया। वर्ण्य विषय की दृष्टि से उस युग की कविताओं का दुहरा महत्व है। एक तो उन कवियों ने नवीन विषय पर रचनाएं कीं और दूसरे परम्परागत मानव, प्रकृति आदि विषयों को नवीन दृष्टि से देखा।

युगनिर्माता द्विवेदी के सामने जो उदीयमान कविसमाज था उसमें ईश्वरदत्त प्रतिभा भले ही रही हो परन्तु लोक, शास्त्र आदि के अवेक्षण से उत्पन्न निपुणता और अभ्यास की बहुत न्यूनता थी। द्विवेदी जी ने विषय-परिवर्तन की घंटी तो दे दी किन्तु नौसिखिए कवियों को परम्परागत विषयों के अतिरिक्त काव्योपयुक्त अन्य विषय दिखाई ही न पड़े। स्वयं द्विवेदी जी रविवर्मा के चित्रों से प्रभावित होचुके थे और उनपर कविताएं भी की थीं। अनुगामी कविसमाज ने भी अन्य सुन्दर विषयों को न पाकर परम्परागत विद्या, कमल, कोकिल, ऋतु आदि के अतिरिक्त रविवर्मा आदि के कलात्मक चित्रों को लेकर उनपर वर्णनात्मक कविताएं लिखीं। इनका एक संकलन १६०६ ई० में 'कविताकलाप' के नाम से प्रकाशित भी हुआ। चित्रविषयक कविताएं प्रायः द्विवेदी-युग के प्रथम चरण में ही लिखी गई। इन कविताओं में कवियों ने चित्रकार और कहीं कहीं उन्हें प्रकाशित करने वाली 'सरस्वती' का भी उल्लेख किया।[३]

धार्मिक कविता के क्षेत्र में उस युग के कवियों की मनोदृष्टि की नवीनता अनेक रूपों में व्यक्त हुई। पौराणिक अवतारवाद से प्रभावित भक्तिकाल ने राम और कृष्ण को ईश्वर के रूप में चित्रित किया था। बीसवीं शती ई० के विज्ञानयुग में उनके मानवीकरण की

---

१. उदाहरणार्थ मैथिलीशरण गुप्त 'किसान।'

२. ,, 'आंसू' आदि।

३. ,, 'वसन्तसेना', 'अर्जुन' और 'सुभद्रा' आदि कविताएं।

दार्शनिक कवियों ने ईश्वर को किसी मन्दिर या अवतार में न देखकर और भावना के संकुचित घेरे से निकाल कर विराट् रूप में उसका दर्शन किया—

जिस मंदिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है।
जिस मंदिर में रंक नरेश समान रहा है॥
जिसका है आराम प्रकृति कानन ही सारा।
जिस मंदिर के दीप इंदु, दिनकर औ तारा॥
उस मंदिर के नाथ को निरुपम निर्मम स्वस्थ को।
नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व गृहस्थ को॥[1]

अवतारों और देवी-देवताओं, राजाओं तथा अन्य ऐतिहासिक महापुरुषों, कल्पित नायक-नायिकाओं और प्रेम-कथाओं आदि का वर्णन करते २ हिन्दी-कवि थक गए थे। इसी समय आचार्य द्विवेदी जी ने उन्हें विषय-परिवर्तन का आदेश किया। उनके युग के कवियों की दृष्टि परम्परागत स्थान पर ही केन्द्रित न रह सकी और उन्होंने असाधारण मानवता तथा देवता से आगे बढ़कर सामान्य मानव समाज को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया। भारतेन्दु-युग ने भी सामाजिक कुरीतियों पर आक्षेप किया था और कहीं कहीं दलितों के प्रति सहानुभूति भी दिखाई थी। किन्तु वह प्रगति अपेक्षाकृत नगण्य थी। कवि द्विवेदी की भांति उनके युग के कवियों की सामाजिक भावनाएं भी चार रूपों में व्यक्त हुईं समाज के सन्तप्त वर्ग के प्रति सहानुभूति, समाज को कुरीतियों से बचने और सन्मार्ग पर चलने का स्पष्ट उपदेश, उसकी बुराइयों का व्यंग्यात्मक उपहास तथा पतनोन्मुख समाज की, उसकी बुराइयों के कारण, कठोर भर्त्सना।

सहानुभूति के प्रधानपात्र अछूत, किसान, मजदूर, अशिक्षित नारियां, विधवा, भिक्षुक आदि हुए।[2] किसान और मजदूर की ओर विशेष ध्यान दिया। द्विवेदी जी ने 'अवध

---

१. 'नमस्कार'—जयशंकर प्रसाद,
इंदु कला ४, खंड २, पृ० १।

२. उदाहरणार्थ—

(क) खपाया किए जान मजदूर, पेट भरना पर उनका दूर।
उड़ाते माल धनिक भर पूर, मलाई लड्डू मोतीचूर॥
सुधरने में है जा के देर, अभी है बहुत बड़ा अंधेरा॥
अन्नदाता है धीर किसान, सिपाही दिखलाते हैं शान।
डराते उन्हें तमाचा तान, तुम्हें क्या सूझी है भगवान!
आंवले खट्टे मीठे बेर! किया है क्यों ऐसा अन्धेरा?
सनेही—'मर्यादा', भाग १५, संख्या २, पृष्ठ ४६।

के किसानों की बरबादी' नामक पुस्तक में जमींदार द्वारा किसानों पर किए गए अत्याचारों का चित्रण किया था, परन्तु वह पुस्तक गद्य में थी। कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त के 'किसान' (१९१५ ई०), गयाप्रसाद शुक्ल सनेही के 'कृषक क्रन्दन' (१९१६ ई०) और सियारामशरण गुप्त के 'अनाथ' (१९१७ ई०) में किसान और श्रमजीवी के प्रति जमींदार, महाजन और पुलिस आदि के द्वारा किए गए घोर अत्याचारों का निरूपण हुआ। द्विवेदी-युग में की गई इस प्रकार की कविताएं आगामी प्रगतिशील काव्य की भित्ति के रूप में प्रस्तुत हुईं।

कवियों की उपदेश-प्रवृत्ति मुख्यतः धर्मप्रचारकों की देन थी। ईसाइयों, ब्राह्मसमाजियों, आर्यसमाजियों, सनातनधर्मियों आदि ने अपने अपने मतों का प्रचार करने के लिए देश के विभिन्न स्थानों में घूम घूम कर धार्मिक उपदेश दिए। उनकी सफलता से प्रभावित हिन्दी साहित्यकारों ने भी इस शैली को अपनाया। मैथिली शरण गुप्त ने अपनी 'भारतभारती' में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को उनके धर्म कर्म की हीनदशा का परिचय कराते हुए उन्नत होने के लिए विशेष उपदेश दिया। इस उपदेश के पात्र कवि आदि भी हुए।[1]

सामाजिक अभिव्यक्ति का तीसरा रूप—व्यंग्यात्मक उपहास—तीन प्रकार के विषयों को लेकर उपस्थित किया गया। कहीं तो नई सभ्यता संस्कृति और नए आचार-विचार को अपनाने वाले नवशिक्षित बाबुओं की हंसी उड़ाई गई,[2] कहीं अपरिवर्तनवादी धार्मिक कट्टरपंथियों के समयविरुद्ध धर्माडम्बर पर हास्य मिश्रित व्यंग्य किया गया।[3] और कहीं

(ख) आज अविद्या मूर्ति सी हैं सब श्रीमतियाँ यहां।
दृष्टि अभागी देख ले उनकी दुर्गतियाँ यहां॥
गोपलशरणसिंह—सर०, भाग, २६, संख्या ६।

(ग) निराला जी की 'विधवा' और 'भिक्षुक' [परिमल में संकलित]

१. यथा:— ....

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
....

मैथिलीशरण गुप्त—'इन्दु', कला ५, किरण १, पृष्ठ ६५।
छठे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-विविरण, भाग २, पृष्ठ ४३, ४४।

२ यथा:—१९०८ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित नाथूराम शर्मा की 'पंचपुकार'।

३. ,, लोग उतना ही बढ़ाते हैं तुम्हें रंग जितने ही बुरे हों चढ़ गए।
पर तिलक ! इस बात को सोचो तुम्हीं, इस तरह तुम घट गए या बढ़ गए

अपनी ही बात को आप्त एवं प्रधान मानने वाले साहित्यिकों, समालोचकों, सम्पादकों आदि पर आक्षेप।[1]

भर्त्सनामय अभिव्यक्ति समाज के उन दिग्गजों के प्रति थी जो बार बार समझाने पर भी, समाज के अत्यन्त पतित होजाने पर भी, आंखें खोलने को प्रस्तुत न थे और अपनी हठधर्मी के कारण अशुभ पथ पर चल रहे थे। यह अभिव्यक्ति कहीं तो वाच्यप्रधान थी जिसमें सीधे शब्दों द्वारा समाज को फटकार बताई गई थी, यथा—

यह सुन मेरी विकट बोलियां चौंक पड़े चंडूल।
पर जो हिन्दू बात कहेगा हिन्दी के प्रतिकूल ॥
उसे घर घर धिक्कारूंगा।
किसी से कभी न हारूंगा ॥[2]

और कहीं व्यंग्यप्रधान थी जिसमें काकु आदि के सहारे हठधर्मियों पर तीव्र आक्षेप किया गया, यथा—

सुने स्वर्ग से लौ लगाते रहो, पुनर्जन्म के गीत गाते रहो।
डरो कर्म प्रारब्ध के योग से, करो मुक्ति की कामना भोग से।
नई ज्योति की ओर जाना नहीं, पुराने दिये को बुझाना नहीं ॥[3]

समाज की आलोचना रूप में प्रस्तुत इन कविताओं की अन्तःसमीक्षा करने पर कुछ बातें स्पष्ट होजाती हैं। उन कवियों का उद्देश समाज-सुधार था। वे चाहते थे कि समाज अपनी सभ्यता, संस्कृति और वातावरण के अनकूल केंचुल को छोड़ दे और मातृभाषा का सम्मान करे। साहित्यकारों के विषय में उनका मत था कि वे व्यर्थ की हठधर्मी और

इस तरह के हैं कई टीके बने, जो कि तन के रोग को देते भगा।
जो न मन के रोग का टीकाबना, तो हुआ क्या लाभ यह टीका लगा।
हरिऔध—'सरस्वती', भाग १६, संख्या २।

१. यथा:— कोकिल, तू क्यों 'कुऊ' 'कुऊ' रटता रहता है?
करके उसमें सन्धि न क्यों कू-कू कहता है?
आलोचक जी, रीति मुझे भी यह जँचती है।
बात वही है और एक मात्रा बचती है।
सुनिए वह घुग्घू यह विषय कैसा अच्छा जानता।
है 'घु-ऊ' 'घु-ऊ' कहकर न जो 'घू-घू' मात्र बखानता।
मैथिलीशरण गुप्त—'माधुरी', भाग १, खंड १, सं० ४ पृष्ठ ३३।

२. 'सरस्वती', १६०८ ई०, पृष्ठ २१४

३. 'सरस्वती', भाग ८, संख्या १।

खंडन-मंडन से दूर रहकर सच्चे ज्ञान का प्रसार करें। इस उद्देश की पूर्ति कवियों के लिए एक जटिल समस्या थी। समाज के धर्म के ठेकेदार पंडित लोग थे। शिक्षा और दंडविधान आदि सरकार के हाथ में था जो जनसाधारण को कूपमंडूक ही बनाए रखना चाहती थी। कवियों के पास केवल शब्द का बल था और बिना भय के प्रीति असम्भव थी। पीड़ितों के प्रति सहानुभूति और असन्मार्गियों को दिया गया नम्र उपदेश समाज को विशेष प्रभावित करने और सुधारने में अपर्याप्त था। इस न्यूनता की पूर्ति के लिए कवियों ने हास्य और व्यंग्य का सहारा लिया। जब कोई मार्गभ्रष्ट उपदेश और आदेशसे नहीं सुधरता तब कभी कभी उसका कठोर उपहास ही उसे सत्पथ पर लाने में समर्थ होता है। तत्कालीन समाज का संस्कार और रुचि इतनी गिर चुकी थी कि उसे जाग्रत करने के लिए कवियों को लट्ठमार-पद्धति का अवलम्बन करना पड़ा।

द्विवेदी-युग के कवियों की राजनैतिक भावना मुख्यतः तीन रूपों में व्यक्त हुई। नई पद्धति पर दी गई ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा, भारतीयों के विदेश गमन और विदेशियों के भारत में आगमन, विदेशी शासकों द्वारा देश के आर्थिक शोषण आदि ने कवियों को तुलनात्मक दृष्टि से आत्मसमीक्षा करने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप उन्होंने देश की वर्तमान अधोगति के प्रति ग्लानि और क्षोभ का अनुभव किया। यह उनकी राजनैतिक भावना का पहला रूप था। इसकी अभिव्यक्ति तीन प्रकार से हुई। कहीं तो देश की दीनदशा का चित्रांकन करते हुए उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की गई,[१] कहीं परिपीड़क शासकों आदि के अत्याचारों का निरूपण किया गया[२] और कहीं पतित तथा दीन अवस्था

---

१. उदाहरणार्थः— अन्न नहीं अब विपुल देश में काल पड़ा है।
पापी पामर प्लेग पसारे पांव पड़ा है।
दिन दिन नई विपत्ति मर्म सब काट रही है।
उदरानल की लपट कलेजा चाट रही है॥
'सरस्वती' भाग १४. संख्या १२।

२. यथाः—
नौकरोंकी शाही सभ्यता का गला काटती है,
गांधी के संगाती अंखियों में खटकत हैं।
भारत को लूट कूटनीति को उजाड़ रही,
न्याय के भिखारी ठौर ठौर भटकत हैं।
जेलों में स्वदेशभक्त हिंसाहीन सज्जनों को,
पेटपाल, पातकी, पिशाच पटकत हैं।
कौन को पुकारें अब शंकर बचालो हमें,
गोरे और गोरों के गुलाम अटकत हैं॥
नाथूराम शर्मा–'मर्यादा', भाग २२, सं० ३, पृ० १३४।

से मुक्ति पाने का प्रयास न करने वाले देशवासियों की भर्त्सना की गई।[1]

अन्धकारमय वर्तमान के कलंक दृश्य दिखाकर ही पीड़ित जाति को संतोष नहीं हुआ। क्षुब्ध मन को आश्वासन देने तथा कल्पित आनन्द लेने के लिए द्विवेदी युग के कवियों ने भारत का प्रेम पुरस्सर गौरव-गान किया। यह राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति का दूसरा रूप था। इस रूप के चार प्रधान प्रकार थे। कहीं तो भारत के अतीत वैभव और महिमा के उज्ज्वल चित्र अंकित किए गए,[2] कहीं देवी-देवता के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की गई,[3] कहीं देश के प्राकृतिक मनोहर दृश्यों का चित्रण किया गया[4] और कहीं सीधे शब्दों में देश के प्रति अतिशय प्रेम का प्रदर्शन हुआ।[5]

---

१. ज्ञान से, मान से, शक्ति से हीन हो,
दान से, ध्यान से, भक्ति से हीन हो।
आलसी भी महामूढ़ प्राचीन हो,
सोच देखो सभी से तुम्ही दीन हो।
अंग को आंसुओं से भिगोते रहो,
क्यों जगोगे अभी देश सोते रहो॥
रामचरित उपाध्याय—सर०, मार्च, १६१६ ई०, पृ० १६०।

२. जगत ने जिसके पद थे छुए, सकल देश ऋणी जिसके हुए।
ललित लाभ कला सब थी जहां, अब हरे वह भारत है कहाँ?
मैथिलीशरण गुप्त—सर०, भाग ११, संख्या १।

३ यथा:— नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकट मेखला रत्नाकर है।
नादियां प्रेमप्रवाह फूल तारे मंडन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥
मैथिलीशरण गुप्त—'भारत-गीत।'

४. यथा:— जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
उत्तर में हिमराशि रूप सर्वोच्च शिखर है॥
जिसमें प्रकृति विकास रम्य ऋतुक्रम उत्तम है।
जीव जन्तु फलफूल शस्य अद्भुत अनुपम हैं॥
पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है।
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है॥
रामनरेश त्रिपाठी—सर० भाग १५, संख्या १।

५. यथा:— पुण्य भूमि है, स्वर्गभूमि है, जन्मभूमि है देश यही।
इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं॥
रूपनारायण पांडेय—सर० भाग १४, सं० ६।

वर्तमान के दुःखमय और अतीत के सुखमय चित्र अंकित कर देना ही भविष्य को मंगलमय बनाने के लिए प्रर्याप्त न था। कवियों ने अपने मन में भली भांति विचार करके देखा कि 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'। उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा ने राजनैतिक भावों की अभिव्यक्ति का तीसरा रूप धारण किया यह अभिव्यक्ति साधरणतया पांच प्रकार से हुई। कहीं तो अपना दुःख रो रोकर उससे मुक्त करने के लिए शासकों से प्रार्थना की गई,[1] कहीं यांत्रिक यंत्रणा का अन्त करने के लिए देवी-देवताओं और आदर्श मानवों की दुहाई दी गई,[2] कहीं गिरी हुई दशा से ऊपर उठने के लिए देशवासियों को विनम्र प्रोत्साहन दिया गया,[3] कहीं अवनति से उन्नति के मार्ग पर चलने के लिए मेल जोल की रागिनी गाई[4] और कहीं बाहुबल से क्रान्ति कर देने का सन्देश सुनाया गया।[5] भारत के गौरवमय अतीत, दीनहीन वर्तमान और आशापूर्ण भविष्य का सुन्दरतम चित्रांकन मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में हुआ। वह स्वगत राष्ट्र भावना के कारण ही द्विवेदी-युग की लोकप्रियतम रचना हो सकी।

अपने पूर्ववर्ती युग की तुलना में द्विवेदी-युग की राजनैतिक या राष्ट्रीय कविता अतीत

---

१. यथाः— फरियाद लगाते जाएंगे, दुख दर्द सुनाते जाएंगे।
हम अपना धर्म निभाएंगे, तुम अपना काम करो न करो॥
सम्पूर्णानन्द—प्रभा, भाग २, संख्या १, पृष्ठ १६६।

२. यथाः— सत्याग्रह से अनुशासन की, असहयोग से दुःशासन की।
साम्यवाद से सिंहासन की, स्वतंत्रता से आश्वासन की॥
छिड़ी हुई है, कर्मक्षेत्र में शुचि संग्राम मचाने आवें।
यदि मानव होवें भूतल पर मानवता दिखलाने आवें॥
एक राष्ट्रीय आत्मा—प्रभा, वर्ष २, खंड १, पृष्ठ ३५, ३६।

३. यथाः— कहते हैं सब लोग हमें हम दीन हीन हैं भिक्षुक हैं।
कुछ भी हो हम लोग अभी अच्छे बनने के इच्छुक हैं॥
रूपनारायण पांडेय—'सरस्वती', भाग १४, सं० ६।

या हम कौन थे क्या होगए अब और क्या होंगे अभी—
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएं सभी।
मैथिलीशरण गुप्त—'भारत-भारती'।

४. यथाः— जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, मुसलमान, सिख, ईसाई
कोटिकंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई भाई॥
रूपनारायण पांडेय—'सरस्वती', भाग १४, सं० ६।

५. उदाहरणार्थ गद्यकाव्य के संदर्भ के उद्धृत राय कृष्णदास की 'चेतावनी', रामसिंह की 'स्वतंत्रता का मूल्य' आदि गद्यकाव्य तथा माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी आदि की कविताएं।

से वर्तमान, कल्पना से यथार्थ, उपदेश से कर्म, पर-प्रार्थना से स्वावलम्बन, निराशा तथा अविश्वास से आशा तथा विश्वास और दीनतापूर्ण नम्रता से क्रान्तिपूर्ण उद्गार की ओर अग्रसर होती गई है। उस युग के पूर्वार्द्ध में श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय आदि का स्वर नम्रतापूर्ण रहा किन्तु उत्तरार्द्ध में माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, 'एक राष्ट्रीय आत्मा' आदि स्वतंत्रता-आन्दोलन के अनुभवी कार्यकर्ता कवियों का स्वर क्रान्तिारी उद्गारों से भरा हुआ है।

द्विवेदी-युग में प्रकृति पर लिखित कविताओं का पांच दृष्टियों से वर्गीकरण किया जा सकता है। भाव की दृष्टि से प्रकृति का वर्णन दो रूपों में किया गया एक तो भाव चित्रण और दूसरा रूप चित्रण। भावांकन ज्ञानतत्वप्रधान था। प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और दृश्यांकन द्वारा कवि ने एक दार्शनिक की भांति उसके रहस्यों का उद्घाटन किया, यथा:—

वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती— जीवन है भार।
आह! पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिन्ह कराल,
प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल।[1]

रूप चित्रण में कलातत्व की प्रधानता थी। इसमें कवि ने चित्रकार की भाँति प्रकृति के ऐन्द्रिक दृश्यांकन द्वारा उसका बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयास किया यथा:—

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी
किरण पादप शीश विहारिणी।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला
गगनमंडल मध्य शनैः शनैः॥[2]

सौन्दर्य की दृष्टि से प्रकृति के मुख्यतया दो रूप अंकित किए गए, एक तो उसकी मधुरता और कोमलता का दूसरा उसकी भयंकरता और उग्रता का। इन दोनों चित्रों की भिन्नता का

---

१. 'अनित्य जग'—सुमित्रानन्दन पंत, १९२४ ई०।
'आधुनिक कवि', पृष्ठ ३३।

२. 'प्रियप्रवास', सर्ग १, पद ५।

आधार कवि या उसके वर्णित पात्र के स्थायी भाव की भिन्नता ही है। जहां कवि या उसके कल्पित पात्र के हृदय में मृदु भाव की प्रधानता रही है वहां उसने प्रकृति के रमणीय रूपों का ही निरूपण किया है, उदाहरणार्थ-—

> किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रंगी हो तुम किसके अनुराग ?
> स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
> धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
> किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती सी तुम कौन ?[1]

जहां कवि या उसके कल्पित पात्र का कोमल सौन्दर्यस्वप्न टूट गया है और उसने कठोर तर्क द्वारा प्रकृति की नाशकारी क्रान्ति का भावन किया है, जहां उसके हृदय में रति के स्थान पर घृणा, भय या क्रोध का उदय हुआ है, वहां उसने प्रकृति के उग्र और भयकर रूप का ही निरूपण किया है, उदाहरणार्थ पंत का 'निष्ठुर परिवर्तन'।[2] विभाव की दृष्टि से प्रकृति चित्रण के दो रूप थे—उद्दीपन और आलम्बन। उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण किसी रस या भाव की अनुकूल भूमिका के निर्माण के लिए किया गया, जैसे मैथिलीशरण गुप्त की 'पंचवटी' के आरम्भ में लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा के स्थायी भाव रति की सम्यक् अभिव्यंजना करने के लिए तदनुकूल उद्दीपन विभाव का चित्रण अपेक्षित था। यदि किसी साधारण परिस्थिति में ही लक्ष्मण अपने काम-संयम का परिचय देते तो उसमें उनका कोई विशेष गौरव न होता। व्यभिचार की प्रत्येक सुविधा होते हुए भी उन्होंने इन्द्रियनिग्रह किया यह उनके चरित्र की महिमा थी। इन्हीं भावों की सुन्दरतर मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण किया गया। जहाँ कवि या कवि-कल्पित पात्र ने प्रकृति को तटस्थ भाव से देखा है, वहां उसका चित्रण आलम्बन-रूप में किया है, जैसे 'पथिक' का आरम्भिक पद।

निरूपित और निरूपयिता के सम्बन्ध की दृष्टि से भी प्रकृति-चित्रण दो प्रकार से हुआ—दृश्य-दर्शक-सम्बन्ध-सूचक और तादात्म्य-सूचक। जहाँ वस्तूपस्थापन-पद्धति पर चलते हुए कवि या उसके कल्पित पात्र ने अपने को प्रकृति से भिन्न मान कर उसका रूपांकन किया है, वहां दृश्यदर्शक-सम्बन्ध की व्यंजना हुई है, यथा:—

---

१. 'किरण', जयशंकरप्रसाद
'झरना', पृष्ठ १४।

२. 'आधुनिक कवि' २।

कहीं झील किनारे बड़े बड़े ग्राम, ग्रहस्थ-निवास बने थे।
खपरेलों में कद्दू करेलों की बेल के खूब तनाव तने हुए थे ॥
जल शीतल अन्न जहाँ पर पाकर पक्षी घरों में घने हुए थे,
सब ओर स्वदेश, स्वजाति, समाज भलाई के ठान ठने हुए थे ॥[१]

जहां बाह्य जगत को अन्तर्जगत् का प्रतिबिम्ब मानकर कवि या कवि कल्पित पात्र ने प्रकृति की अभिव्यक्ति में अपने हृदय की अभिव्यक्ति का दर्शन किया है, वहां तादात्म्य-सम्बन्ध की व्यंजना हुई है यथा:—

चातक की चकित पुकारें श्यामा ध्वनि तरल रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की टुकड़ी आंसू से गीली ॥[२]

विधान की दृष्टि से द्विवेदी-युग की कविता में प्रकृति चित्रण प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो रूपों में हुआ। प्रस्तुत विधान की विशेषता यह थी कि उसमें प्रकृति चित्रण कवि का निश्चित उद्देश था। जहाँ प्रकृति आलम्बन रूप में अंकित की गई वहां तो वह वर्ण्य विषय थी ही किन्तु जहां वह उद्दीपन रूप में अंकित हुई वहां भी वास्तविक वर्ण्य विषय उपस्थित था।[३] अप्रस्तुत-विधान की विशेषता यह थी कि उसमें प्रकृति-चित्रण कवि का उद्देश नहीं था। प्रकृति-चित्रण व्यंजक और उपस्थित मुख्य विषय व्यंग्य था। लक्षणा, उपमा, रूपक आदि की सहायता से प्रस्तुत विषय में रमणीयता लाने के लिए ही उसकी योजना की गई, उदाहरणार्थ:—

देखा बौने जलनिधि का शशि छूने को ललचाना।
वह हाहाकार मचाना फिर उठ उठ कर गिर जाना ॥[४]

रीतिकालीन शृंगारिक कविताएं प्रायः परप्रसन्नता-साधक, वस्तुवर्णनात्मक, वासनाप्रधान, सीमित और नखशिख-वर्णन नायक-नायिकाभेद आदि के रूप में लिखी गई थीं। उनका यह प्रवाह भारतेन्दु-युग तक चलता रहा। द्विवेदी जी के कठोर अनुशासन ने रतिव्यंजना की इस धारा को सहसा रोक दिया। परन्तु मानव-मन की सहज प्रेम-प्रवृति को रोकना असम्भव था। द्विवेदी युग के कवियों की प्रेम भावना परिवर्तित और संस्कृत रूप में व्यक्त हुई। यह द्विवेदी जी के आदर्श का प्रभाव था। उनके युग की प्रेम प्रधान कविताओं में घोर शृंगारिकता, असंयम, व्यक्तिगतत्व, वासना आदि के स्थान पर शिष्टता, संयम, व्यापकता,

---

१ रूपनारायण पांडेय—'प्रभा', भाग १, पृष्ठ ३३७।
२. जयशंकर प्रसाद—'आंसू'।
३. यथा:—रामचन्द्र शुक्ल का 'हृदय का मधुर भार' और प्रियप्रवास' का प्रकृति-वर्णन।
४. 'आंसू'—जयशंकर प्रसाद।

लोकपावनत्व आदि का समावेश हुआ। 'प्रियप्रवास' की राधा या साकेत' की उर्मिला का प्रेमांकन उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। आलम्बन की दृष्टिसे यह प्रेमनिरूपण तीनप्रकार का हुआ—लौकिक अलौकिक और मिश्र। उदाहरणार्थ सुमित्रानन्दन पंत की 'ग्रन्थि' में प्रेमपात्र लौकिक, निराला की 'तुम और मैं' में अलौकिक एवं प्रसाद के 'आँसू' में कहीं लौकिक और कहीं अलौकिक भी है। आश्रय की दृष्टि से प्रेमव्यंजना दो प्रकार की हुई—वस्तुवर्णनात्मक और आत्माभिव्यंजक। 'प्रेम-पथिक' (१९१४ ई०) 'मिलन' (१९१७ ई०) आदि में रति के आश्रय कवि के अतिरिक्त व्यक्ति हैं, अतः ये काव्य वस्तु-वर्णनात्मक हैं। 'ग्रन्थि' (१९२० ई०), 'आँसू' (१९२५ ई०) आदि में रति के आश्रय स्वयं कवि ही हैं, अतएव ये कविताएँ आत्माभिव्यंजक हैं। स्वरूप की दृष्टि से भी द्विवेदी-युग की कविता में प्रेम का दो प्रकार से चित्रण किया गया - विवाहित और अविवाहित प्रेम। विवाहित प्रेम का आधार धार्मिक और समाजानुमोदित था, यथा 'पथिक' और 'मिलन' में। अविवाहित प्रेम का आधार प्रथम दर्शन में आत्मसमर्पण था जिसका धर्म और समाज से कोई सम्बन्ध न था, यथा 'ग्रन्थि' और 'आँसू' में। काव्यविधान की दृष्टि से द्विवेदी-युग की प्रेमप्रधान कविता के तीन रूप प्रस्तुत हुए—प्रबन्ध, मुक्तक और प्रबन्ध-मुक्तक। प्रबन्ध-काव्यों में किसी कथानक के सहारे नायक-नायिकाओं के प्रेम की व्यंजना की गई, जैसे 'प्रियप्रवास', प्रेमपथिक', 'मिलन', 'पथिक' आदि। पुस्तकों में किसी आख्या-नक के बिना ही प्रेमभाव के चित्र अंकित किए गए, उदाहरणार्थ 'प्रेम'[1], 'बिखरा हुआ प्रेम'[2] आदि। प्रबन्ध-मुक्तकों की रचना उपर्युक्त दोनों विधानों के समन्वित रूप में हुई, यथा 'आंसू' जिसमें कहीं तो अनेक पद प्रबन्ध की भांति परस्पर सम्बद्ध है और कहीं मुक्त।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त परप्रशंसा, आक्षेप आदि को लेकर भी द्विवेदी-युग में कविताएँ लिखी गईं किन्तु उनकी समीक्षा की तादृश अपेक्षा नहीं। उस युग के उत्तरार्द्ध में रचित रहस्यवादी कविताओं के तीन प्रधान रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं। कहीं तो कवियों ने उपनिषदों की दार्शनिकता के आधार पर अपने आराध्य के सर्वव्यापक रूप का दर्शन किया,[3] कहीं भक्तिभावना की भूमिका में अपने रहस्यात्मक उद्गार प्रगट किए[4] और

---

१. गोपालशरणसिंह—'सरस्वती', भाग १७, सं० १, पृष्ठ १२० ।

२. जयशंकर प्रसाद—'झरना', पृष्ठ २४ आदि ।

३. यथा:— तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊं मैं ?
मैथिलीशरण गुप्त —'सरस्वती', भाग १९, खण्ड २, पृष्ठ २२७ ।

४. यथा:— अरे अशेष ! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना सा।
आ मेरे आराध्य ! खिला लूँ मैं भी तुझे खिलौना सा ॥
माखनलाल चतुर्वेदी–'प्रभा', वर्ष ३, सं० ८ पृष्ठ २

कहीं बौद्धवाद में विश्वास करने वाले कवियों ने निराशा और दुःख की व्यंजना की।[1]

भाषा की अव्यवस्था के कारण द्विवेदी-युग के प्रथम चरण में काव्यकला की दृष्टि से उच्चकोटि की रचनाएं नहीं हुईं। इतिवृत्तात्मक पद्यों में नवीन विषयों और छन्दों को लेकर द्विवेदी जी और उनके शिष्यों ने खड़ीबोली को मांजने का प्रयास किया जिसका अंशतः सफल रूप 'कविताकलाप' और पूर्णतः सफल रूप 'जयद्रथवध' तथा 'भारत-भारती' में व्यक्त हुआ। द्वितीय चरण विशेषतः प्रबन्धकाव्यों का काल था। उसमें 'जयद्रथवध' (१६१० ई०), 'प्रेमपथिक' (१६१४ ई०), 'प्रिय-प्रवास' (सं० १६७१) आदि के अतिरिक्त पद्यप्रबन्धों की संख्यातीत रचनाएं हुईं। तृतीय चरण में प्रबन्ध, मुक्तक, गीत, गद्यकाव्य आदि सभी लिखे गए। यद्यपि 'पंचवटी' (१६८२ वि०), 'साकेत', 'ग्रन्थि' (१६२० ई०) आदि प्रसिद्ध प्रबन्धकाव्यों की रचना द्विवेदी-युग के चतुर्थ चरण में ही हुई तथापि उस काल में इन काव्यों के रचयिताओं में गीत-रचना की प्रवृत्ति ही विशेष बलवती थी। मैथिली शरण गुप्त के 'स्वयमागत' आदि, सुमित्रानन्दनपंत के 'पल्लव' की अधिकांश कविताएं जयशंकर प्रसाद के 'कानन-कुसुम', 'झरना', 'आंसू' आदि उनकी गीतभावना के ही द्योतक हैं।

द्विवेदी-युग की कविता का इतिहास आधुनिक हिन्दी-कविता का इतिहास है। द्विवेदी-युग की कविता नीरस वर्णनात्मकता से आरम्भ होकर अन्त में सरस और कलात्मक ध्वन्यात्मकता तक पहुँची है। इस विकास का मुख्य श्रेय द्विवेदी जी को ही है। युग के पूर्वार्द्ध की इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकता और व्यक्तिगत प्रचारणा उत्तरार्द्ध में कल्पनात्मकता, ध्वन्यात्मकता और राजनैतिक प्रचारणा के रूप में परिणत हो गई है। उस युग की अधिकांश कविताओं में रति, उत्साह, हास्य और करुणा की ही व्यंजना हुई है। रति का बहुत कुछ विवेचन ऊपर किया जा चुका है। उत्साह के आलम्बन दो प्रकार के थे एक तो ऐतिहासिक वीर जिनको लेकर 'जयद्रथवध', 'राणा प्रताप का महत्व', 'मौर्यविजय', 'वीर पंचरत्न' आदि की रचना हुई और दूसरे वे राष्ट्रीय सत्याग्रही वीर थे जिनके उत्साह को लेकर माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, 'एक राष्ट्रीय आत्मा' आदि ने क्रान्तिभावना पूर्ण गीतों की रचना की।

---

१. यथा:— सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार,
मिट जावे जो तुमको देखूं, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।
जयशंकर प्रसाद—'झरना', पृष्ठ ७।

'सेवक श्याम'[1], महादेव प्रसाद,[2] जगन्नाथदास,[3] कान्तानाथ पांडेय,[4] ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि ने हास्यरस की पर्याप्त रचनाएं कीं। इन कविताओं में उच्च कोटि का हास्य नहीं है और ये प्रायः अपरिष्कृत रुचि के पाठकों का ही मनोरंजन कर सकती हैं। करुणा की व्यंजना चार रूपों में हुई। 'जयद्रथवध', 'ग्रन्थि', 'आंसू' आदि में मृत्युजन्य शोक करुणरसमें परिणत हुआ। 'प्रिय-प्रवास' की राधा और 'साकेत' की उर्मिला की विरह-वेदना का करुण चित्र विप्रलम्भ-शृंगार के अन्तर्गत आएगा। किसान, मजदूर आदि पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति के रूप में भी करुणा की अभिव्यक्ति की गई। विश्वव्यापिनी वेदना को लेकर लिखी गई जयशंकरप्रसाद, रामनाथ सुमन आदि की कविताओं में गौतम बुद्ध की करुणा का दर्शन हुआ।

आचार्य द्विवेदी जी ने कविता में चमत्कार लाने के लिए हिन्दी-कवियों को बारम्बार अनुबुद्ध किया।[6] उनके युग की कविताओं में चमत्कार का प्रतिपादन, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, मधुमती कल्पना, चित्रात्मकता, वचन-विदग्धता, अलंकार-योजना आदि के द्वारा किया गया। ध्वनि को उत्तम काव्य मानने का यह अर्थ नहीं है कि वाच्यप्रधान कविताओं में काव्य-सौन्दर्य होता ही नहीं। द्विवेदी-युग की आरम्भिक कविताएं इतिवृत्तात्मक, नीरस और कलाहीन हैं—इसका यह अर्थ नहीं है कि उस युग की सभी अभिधा-प्रधान रचनाए कवित्वरहित हैं। रामचन्द्र शुक्ल आदि की 'हृदय का मधुर भार' आदि यथार्थवादी रचनाएँ वाच्यात्मक कविता की ही कोटि में आती हैं। आद्योपान्त कवित्वमय न होने पर भी उनके अनेक पद काव्यानन्द की अनुभूति कराने में समर्थ हैं, यथाः—... ... ...

हांक पर एक साथ पंखों ने सर्राटे भरे,
हम मेंड पार हुए एक ही उछाल में।

या

---

१. 'दिलदीवानी'—१९०३ ई०।
२. 'खटकीरा-युद्ध'—१९०६ ई०।
३. 'दयानन्द-लीला'—सं० १९६३।
४. 'चोंच-चालीसा'—सं० १९७९।
५. 'चना-चबेना'—सं १९८१।
६. (क) "जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं वह कविता ही नहीं।"
'रसज्ञरंजन', पृष्ठ ८।
(ख) 'शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं–कोई विलक्षणता नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।'
'रसज्ञरंजन', पृष्ठ २६।

चलते हैं संग में उमंग भर साथी सब,
छेड़ किसी खूसट को अट्टहास करते।

उस युग के प्रबन्ध काव्यों, विशेषकर 'साकेत' और 'पंचवटी' में प्रयुक्त पात्रों के कथोपकथन, में लक्षणा, व्यंजना, प्रत्युत्पन्नमतित्व आदि के आधार पर वक्रोक्ति-सौन्दर्य की प्राभाविक सृष्टि हुई है, यथा--

उर्मिला बोली--'अजी तुम जग गये!
स्वप्न निधि से नयन कब से लग गये ?,
'मोहनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।'[१]

द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में लिखी गई मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकरप्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आदि की कविताओं में अप्रस्तुत-विधान, मानवीकरण, नाटकीयता, ध्वन्यर्थ-व्यंजना, संगीतात्मकता, भावमयी कल्पना, मार्मिक अनुभूति आदि के सफल सन्निवेश के कारण काव्यकला का रमणीय रूप प्रस्तुत हुआ। द्विवेदी-युग की कविता विषय, भाषा, छन्द और अर्थ की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-काव्य-भवन के भूतल से चलकर शिखर-तल पर पहुँच गई—यही उसकी महिमा है।

नाटक

यह कहना नितान्त असंगत है कि द्विवेदी-युग के महान् साहित्यकारों ने नाटकरचना की ओर ध्यान नहीं दिया। उस युग के लब्धप्रतिष्ठत साहित्यकार अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अराजकता-युग में ही 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' (१८९३ ई०) और 'रुक्मिणी-परिणय' (१८९४ ई०) की रचना करके नाटककार की शक्ति का अनुभव किया था। अपने को उस विधान के अयोग्य समझकर ही उन्होंने उस पथ से विराम ग्रहण कर लिया। रामनारायण मिश्र,[२] ब्रजनन्दनसहाय,[३] बालकृष्ण भट्ट,[४] विजयानन्द त्रिपाठी,[५] लोचनप्रसाद पांडेय,[६] मिश्रबन्धु,[७] मैथिलीशरण गुप्त,[८] विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक,[९] चतुरसेन शास्त्री,[१०]

१. 'साकेत', पृष्ठ १३-१४ (प्रथमावृत्ति)
२. 'जनकबाड़ा-दर्शना', १९०६ ई० और 'कंसवध', १९१० ई०
३. 'बूढ़ावर', १९०६ ई०
४. 'शिक्षादान', सं० १९६६।
५. 'कविजय-नाटक', १९१२ ई०।
६. 'साहित्यसेवा', १९१४ ई०
७. 'नेत्रोन्मीलन', सं० १९७१ और 'पूर्वभारत', सं० १९७९।
८. 'चन्द्रहास' सं० १९७२, 'तिलोत्तमा', सं० १९७९ और 'अनघ', सं० १९८२।
९. 'भीष्म', १९१८ ई० और 'अत्याचार का परिणाम', सं० १९७८।
१० 'उत्सर्ग', द्वितीयावृत्ति सं० १९८६।

बेचनशर्मा उग्र,[1] वियोगीहरि,[2] प्रेमचन्द,[3] जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी,[4] सुदर्शन,[5] रामदास गौड़[6] आदि अन्य साहित्यकारों ने भी अपनी नाटकरचना-शक्ति की परीक्षा की और अपने को असफल पाया।

द्विवेदी-युग के बहुसंख्यक नाटककारों ने विविध-विषयक नाटकों की रचना कर के विपन्न हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाने का प्रयास किया। तोताराम,[7] बल्देवप्रसाद मिश्र[8], किशोरीलाल गोस्वामी,[9] गौरचरण गोस्वामी,[10] रूपनारायण पांडेय,[11] गोविन्द शास्त्री दुगवेकर[12], माखनलालचतुर्वेदी,[13] जमुनादास मेहरा,[14] कृष्णचन्द्र जेबा,[15] तुलसीदत्त शैदा,[16] गोविन्द वल्लभ पन्त[17] आदि ने अनेक धार्मिक और पौराणिक नाटकों की रचना की। जमुनादास मेहरा,[18] कृष्णचन्द्र जेबा,[19] अब्दुल समी साहब[20] आदि ने सामाजिक नाटक लिखे। ऐतिहासिक नाटक के क्षेत्र में गोपालराम गहमरी,[21] नरोत्तम व्यास,[22] बदरीनाथ

---

१. 'महात्मा ईसा', सं० १९७९।
२. 'छद्मवियोगिनी नाटिका', सं० १९७४।
३. 'संग्राम' सं० १९७९ और 'कर्बला', सं १९८१
४. 'मधुर-मिलन' सं० १९८०।
५. 'अंजना', सं० १९८०।
६. 'ईश्वरीय न्याय', सं० १९८२।
७. 'सीता-स्वयंवर-नाटक', सं १९६०।
८. 'प्रभात-मिलन', सं० १९६० और 'नन्दविदा'।
९. नाट्यसम्भव', १९०४ ई०
१०. 'अभिमन्युवध', १९०६ ई०
११. 'कृष्णलीला नाटक', १९०७ ई०।
१२. 'सुभद्राहरण नाटक', १९१० ई०।
१३. 'कृष्णार्जुन-युद्ध', १९१८ ई०।
१४. मोरध्वज', १९१९ ई० कृष्णसुदामा', १९२१ ई०, 'भक्त चन्द्रहास', १९२१ ई० विश्वामित्र', १९२१ ई०, 'देवयानी', १९२२ ई० और 'विपद् कसौटी', १९२३ ई०।
१५. 'धर्माधर्म युद्ध', १९२२ ई०।
१६. 'भक्त सूरदास', सं० १९८० और 'जनकनन्दिनी', सं० १९८२
१७. 'वर माला' सं० १९८२।
१८ 'हिन्दू', सं० १९७९, 'कन्या विक्रय', १९२३ ई० और 'पाप परिणाम', १९२४ ई०
१९. 'गरीब हिन्दुस्तान', सं० १९७९ और 'ज़हरी हिन्दू', १९२५ ई०।
२०. 'कलियुग सती', १९२३ ई० 'दुखी भारत', सं० १९८२ और 'मदिरा देवी', सं० १९२५ ई०।
२१. 'बमवीर नाटक', १९१३ ई०।
२२. 'महाराणा प्रताप नाटक', १९१५ ई०

भट्ट,[1] जयशंकरप्रसाद[2] आदि की देन विशेष महत्त्वपूर्ण है। कृष्णचन्द्र ज़ेबा [3] और अब्दुल समी साहब आदि ने राजनैतिक तथा जयशंकरप्रसाद[4] ने दार्शनिक नाटकों की रचना की ओर भी ध्यान दिया। सैकड़ों अन्य नाटककारों ने भी बहुसंख्यक मौलिक तथा अनूदित नाटक भी लिखे तथापि द्विवेदीयुग का नाटक-साहित्य और विषयों की अपेक्षा बहुत कम उन्नति कर सका।

द्विवेदीयुग के नाटकारों की असफलता के अनेक कारण थे। उस समय भाषा का स्वरूप निश्चित हो रहा था। लेखकों को अनायास ही यशस्वी बन जाने की चाह थी। कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि अपेक्षाकृत कम कष्टसाध्य थे। अतः अधिकांश लेखकों का उस ओर झुक जाना सर्वथा स्वाभाविक था। नाटक अधिक दुस्साध्य था। उस समय महत्वाकांक्षी या यशोभिलाषी नाटककार के लिए यह अनिवार्य था कि वह उपयोगिता तथा कला की दृष्टि से सुन्दर नाटक लिखे और विभिन्न स्थानों में उसका सफल अभिनय भी किया जाय। अभिनय की आवश्यकता इसलिए थी कि तत्कालीन हिन्दी-पाठक-समाज ने नाटक को सर्वांश में ही दृश्यकाव्य मान रखा था। साधारण कोटि के नाटकों को पढ़ने में उन्हें कोई आनन्द नहीं मिल सकता था। उन्होंने नाटक-कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटकों को देखने में ही अधिक मनोरंजन समझा। इन कठिनाइयों के कारण श्लाघ्य नाटककार होना अतिकष्टसाध्य था और उदीयमान लेखक इतनी कठोर साधना के लिए प्रस्तुत न थे। ऊपर कहा जा चुका है कि मैथिलीशरण गुप्त आदि ने नाटक के क्षेत्र में अपनी शक्ति की परीक्षा की थी और हार मानकर बैठ गए थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि वे नाटकरचना में पर्याप्त परिश्रम करते तो भी सफल नाटककार न हो सकते। यह सत्य है कि कविकर्म का प्रधान कारण प्रतिभा ही है, किन्तु उस प्रतिभा के समुचित विकाश के लिए विस्तृत अध्ययन और अनवरत अभ्यास की भी आवश्यकता है। मैथिलीशरण गुप्त ने कवि बनने के लिए, प्रेमचन्द और विश्वम्भरनाथ शर्मा ने कहानीकार बनने के लिए, रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचक और निबन्धकार बनने या द्विवेदी जी ने युग-निर्माण करने के लिए जितना घोर परिश्रम किया उतना ही परिश्रम यदि वे नाटककार बनने के लिये करते तो नाटककार हो सकते थे। समस्या तो यह थी कि नाटकरचना के लिये नाट्यशालाओं में जाकर नाट्यकलाविशारदों की

---

१. 'चन्द्रगुप्त नाटक', १९१५ ई० और 'दुर्गावती', सं० १९८२।

२. 'राज्यश्री', १९१५ ई०, 'विशाख', सं० १९७८, 'अजातशत्रु', सं० १९८७ और 'जनमेजय का नागयज्ञ', १९२२ ई०।

३. 'भारत-दर्पण' या 'कौमी तलवार'

४. 'कामना', १९२४ई०।

सेवा में रह कर उसका अध्ययन करना अनिवार्य था। कविता, कहानी, निबन्ध, आलोचना या युग की रचना तो अपने स्थान पर बैठे बैठे हो गई और जहां कहीं पथ-प्रदर्शक के सदुपदेश की आवश्यकता हुई वहाँ पत्रव्यवहार से भी काम चल गया।

उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति कोई भी पथप्रदर्शक सिद्ध नाटककार नहीं हुआ। युगनायक द्विवेदी का प्रभाव उस युग के केवल भावपक्ष पर ही नहीं अभाव पक्ष पर भी पड़ा है। उन्होंने कविता, कहानी, जीवनचरित, निबन्ध, आलोचना आदि विषयों की ओर ध्यान दिया और फलस्वरूप उनके शिक्षित, प्रेरित या प्रोत्साहित कवियों तथा लेखकों ने उन विषयों की सुन्दर रचनाएँ की। परन्तु नाटक के क्षेत्र में केवल 'नाट्यशास्त्र' नामक नन्हीं सी पुस्तिका लिखने के उपरांत उन्होंने उसकी ओर फिर कोई ध्यान नहीं दिया। अपने व्यंग्यचित्रों में उन्होंने हिन्दी-साहित्य के उस अंग की हीनता की ओर संकेतमात्र किया था। नेता की उदासीनता के कारण उसके अनुगामी साहित्यकारों ने नाटकरचना को विशेष महत्व नहीं दिया। महान् साहित्यकारों के विषय में ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विशिष्ट विषयों से अवकाश पाने पर नाटककार का भी यश लूटने या मानसिक विलास की अभिव्यक्ति करने के लिए नाटकों की रचना की। अनूदित और मौलिक उपन्यासों की आकर्षक कथावस्तु और शैली की नवीनता ने पाठकों के हृदय पर अधिकार कर लिया। एक ओर तो एल्फिन्सटन ड्रैमेटिक क्लब, न्यू अल्फ्रेड आदि कम्पनियों द्वारा खेले जाने वाले नाटकों के दृश्यों की रमणीयता सुघर पात्रों की मनोहर वेष भूषा तथा कलाकौशल एवं अद्भुतरस के विलक्षण व्यापारों का जनसाधारण पर अनिवार्य प्रभाव पड़ रहा था और दूसरी ओर हिन्दी-संसार में नाटकमंडलियों की नितान्त कमी थी। नाट्यकला से अनभिज्ञ कोरे आदर्शवादी हिन्दी-साहित्यकारों ने मिथ्या गुरुतानुभूति के कारण नाटक-कम्पनियों से सम्पर्क रखना अपमानजनक समझा और वे उनके समान आकर्षक वस्तु जनता के सामने न रख सके। कृष्णचन्द्र ज़ेबा, तुलसीदत्त शैदा, नारायणप्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक आदि अभिनयकला में अभिज्ञ होते हुए भी सस्ती ख्याति के भूखे होने के कारण उच्च कोटि के नाटक न लिख सके। वास्तविक अपेक्षा थी साहित्यिक भाव और भाषा तथा कम्पनियों की अभिनयकला के सामंजस्य की। नाटक सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं के अभाव के कारण भी नाटक-रचना को प्रोत्साहन नहीं मिला।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन ने नाटकों की कमी की ओर ध्यान दिया। उसमें एक प्रस्ताव हिन्दी-सभाओंसे नाटकों का अभिनय कराने के विषय में भी पास हुआ।[1] सं० १९७२ में हिन्दू विश्वविद्यालय के उत्सव के अवसर काशी की 'नागरी नाटक

१. द्वितीय-साहित्य-सम्मेलन का कार्य विवरण।

मंडली' ने 'महाभारत नाटक' का सुन्दर अभिनय किया।[1] उन्हीं दिनों अयोध्या के महन्त राममनोहरदास जी की मंडली ने स्थान स्थान पर घूमकर धार्मिक नाटक खेले। उसकी प्रधान विशेषता थी कथोपकथन में संस्कृत-प्रधान हिन्दी का प्रयोग।[2] साहित्य-सम्मेलन के अनेक अवसरों पर सफलतापूर्वक नाटक खेले गए, किन्तु यह सब प्रयास नगण्य था।

विधान और शैली की दृष्टि से द्विवेदी-युग में साहित्यिक एवं असाहित्यिक नाटकों के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। साहित्यिक सौन्दर्य न होनेके कारण रासलीलाओं, रामलीलाओं कीर्तनों, नौटंकियों, भाणों आदि की समीक्षा यहाँ पर अनपेक्षित है। रूपनारायण पांडेय,[3] सत्यनारायण कविरत्न[4] आदि के अनूदित नाटकों के कलात्मक सौन्दर्य का श्रेय उनके मूल लेखकों--गिरीशबाबू, क्षीरोदप्रसाद, विद्याविनोद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्रलालराय, भवभूति आदि को है। अनुवादकों का गौरव मौलिक भावों की ठीक अभिव्यञ्जना और भाषा की सफाई में ही है। साहित्यिक नाटकों के मुख्य चार प्रकार थे--सामान्य नाटक, गम्भीर एकांकी नाटक, प्रहसन और पद्यरूपक।

नाट्यकला और शैली की दृष्टि से सामान्य नाटकों की तीन कोटियाँ थीं। नारायणप्रसाद बेताब[5], राधेश्याम कथावाचक,[6] कृष्णचन्द्र ज़ेबा,[7] तुलसीदत्त शैदा[8] आदि के नाटकों पर तत्कालीन थिएटरों का पूर्ण प्रभाव है। नाटककारों ने कम्पनियों की भाँति कृत्रिम, रोमांच-कारी और चटकीले दृश्यों को ही लक्ष्य माना। गंगावतरण (श्री कृष्ण हसरत) आदि पौराणिक और धार्मिक नाटकों में भी बाजारू आशिक-माशूकों का-सा कथोपकथन अत्यन्त भद्दा जँचता है। चरित्र-चित्रण का यह भद्दापन अक्षम्य है। चाहिए तो यह था कि पौरा-णिक युग की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन करके उसके अनुकूल वस्तु-विधान करते। किन्तु उन नाटककारों ने ज्ञानाभाव के कारण आकर्षक दृश्यविधान को ही नाट्यकला का

---

१. 'साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका', भाग ३, अंक ६, पृ० १७७।
२. 'साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका', भाग ३, अंक १२, पृ० ३२२।
३ 'पतिव्रता', 'खानजहाँ', 'अचलायतन', 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' आदि।
४. 'उत्तररामचरित' और मालतीमाधव'।
५. 'महाभारत', 'सती अनसूया' आदि।
६. 'वीर अभिमन्यु', 'ईश्वर-भक्ति' आदि।
७. 'धर्माधर्मयुद्ध', 'गरीब हिन्दुस्तान' आदि।
८. 'जनकनन्दिनी', 'भक्तसूरदास' आदि।

चरम आदर्श मान लिया। उनके नाटकों में प्रयुक्त उपमा आदि अलंकार भी अत्यन्त भद्दे हैं। उनकी भाषा आद्योपान्त त्रुटि पूर्ण और प्रायः पात्रों के अयोग्य है। अभिनय से सम्पन्न होने पर भी भाव, भाषा और नाट्यकला से विभिन्न होने के कारण ये नाटक सहित्यिक दृष्टि से अधम श्रेणी के हैं।

दूसरी कोटि में वे नाटक हैं जो अभिनय की दृष्टि से पारसी रंगमंच से प्रभावित हैं किन्तु उनका साहित्यिक मूल्य भी है, उदाहरणार्थ बदरी नाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त', 'दुर्गावती' आदि। इन मध्यम कोटि के नाटकों में कथोपकथन, दृश्यविधान आदि थिएटरों की ही भाँति आकर्षक हैं। भाषा, भाव, चरित्रचित्रण आदि में साहित्यिक अभिरुचि का भी ध्यान रखा गया है।

तीसरी कोटि उत्तम साहित्यिक नाटकों की है यथा—'जनमेजय का नागयज्ञ', 'विशाख' 'अजातशत्रु', 'कृष्णार्जुनयुद्ध', 'वरमाला' आदि। इन नाटकों में परिष्कृत-रुचि, शुद्ध साहित्यिक भाषा, काव्यमय भावव्यंजना, प्रायः देशकालानुसार चरित्रचित्रण और कथोपकथन, कथोद्घात और विष्कंभक आदि नाटकीय विधान, रसपरिकपाक आदि का समुचित व्यक्तीकरण है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत प्रधान भाषा को अस्वाभाविक कहना युक्ति संगत नहीं है। यदि हिन्दुस्तानी को ही आप्त स्वाभाविक भाषा माना जायगा तो फिर नेपोलियन या अकबर को लेकर संस्कृत, बंगला या मराठी में नाटक नहीं लिखा जा सकेगा। क्योंकि वे पात्र ये भाषाएँ नहीं बोलते थे। जयशंकर प्रसाद के पात्रों से ठेठ हिन्दी, बाबर से फारसीगर्भित हिन्दी या किसी अंगरेज से अंगरेजी के उच्चारणानुकूल हिन्दी बुलवाने का आग्रह हास्यास्पद है। नाटक अवस्थानुकृति है, भाषानुकृति नहीं। भाषा तो एक सहायकमात्र है। न तो अजातशत्रु ही हिन्दी बोलता था और न उसका दास ही। कहा जा सकता है कि उस समय नीच पात्र प्राकृत बोलते थे। अतएव स्वाभाविकता की रक्षा के लिए उनसे असंस्कृत हिन्दी बुलवाई जाय यह अन्याय है। नाटक संस्कृत और प्राकृत या खड़ी बोली और ठेठबोली में एक साथ न लिखा जाकर एक ही भाषा में लिखा गया है। अतएव दोनों प्रकार की भाषाओं का प्रश्न उठाना असंगत है। सच तो यह है कि सम्राट सम्राट की भाषा बोलता है और भिखारी भिखारी की। प्रसाद के अधिकांश पात्र अपने पद के अनुकूल ही भावव्यंजना करते हैं। किन्तु उनके नाटकों में बहुत बड़ा दोष यह है कि अपेक्षाकृत वस्तु की अधिकता और अभिनय की कमी है। 'कृष्णार्जुन' और 'वरमाला' में प्रसाद जी के नाटकों की भाँति उच्च कोटि का कवित्व तो नहीं है परन्तु अभिनय, दृश्यविधान कथोपकथन, वस्तुविन्यास आदि की दृष्टि से वे श्रेष्ठ नाटक हैं।

द्विवेदी-युग के गम्भीर एकांकी नाटक लेखकों में प्रमुख स्थान प्रसाद जी का ही है। 'सज्जन',[१] 'कल्याणी परिणय',[२] और 'पायश्चित्त'[३] में ही उन्होंने नाटकरचना का अभ्यास किया था। सज्जन (५ दृश्य) और 'कल्याणीपरिणय' (६ दृश्य) पर संस्कृत नाटकों का पूरा प्रभाव है] नान्दी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है। 'प्रायश्चित' (६ दृश्य) में उनकी स्वकीय नाट्यकला की झलक है। कला की दृष्टि से अनुत्कृष्ट होते हुए भी प्रसाद जी की प्रारंभिक रचनाएँ होने के कारण इन रूपकों का ऐतिहासिक महत्व है। अन्य लेखकों के भी एकांकी रूपक पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे किन्तु उन्हें कोई श्रेय नहीं मिला।

द्विवेदी-युग के नाटकों के तीसरे प्रकार-प्रहसनों-में प्रायः समाज की हास्यास्पद बुराइयों के ही चित्र अंकित किए गए। बालविवाह और वृद्धविवाह के समर्थक, नई शिक्षा से प्रभावित स्त्रीपुरुष, पाखंडी और प्रवंचक पंडे, पुजारी, नेता, सम्पादक, अध्यापक आदि आक्षेप के पात्र हुए। जी० पी० श्रीवास्तव के 'गड़बड़झाला',[४] 'नोंकझोंक',[५] 'मरदानी औरत',[६] 'नाक में दम',[७] 'साहब बहादुर उर्फ चड्ढा गुडखेल',[८] 'मारमार कर हकीम'[९] आदि प्रहसनों में प्रयुक्त हास्य प्रायः निकृष्ट कोटि का है। उनकी भाषा भी बाजारू हिन्दी है। बदरीनाथ भट्ट के चुँगी की उम्मेदवारी या मेम्बरी की धूम'[१०] और बेचन शर्मा उग्र के 'बेचारा सम्पादक',[११] 'बेचारा अध्यापक'[१२] आदि प्रहसनों में उत्कृष्ट और शिष्ट हास्य, व्यंग्यप्रधान मार्मिक भावव्यंजना तथा प्रांजल भाषा का सुन्दर रूप प्रस्तुत हुआ। ब्रजनन्दन सहाय,[१३] लोचन प्रसाद पांडेय[१४] आदि ने भी प्रहसन लिखे किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से

१. 'इन्दु', कला २, किरण ८, ६, १०, ११।
२. 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' भाग १७, संख्या।
३. 'इन्दु', कला ५, खंड १, किरण १।
४. 'इन्दु' कला ४, खंड १, पृ० २०।
५. १९१८ ई०।
६. १९२० ई०।
७. सं० १९८२।
८. सं० १९८२।
९. १९२५ ई०।
१० १९१४ ई०।
११. 'प्रभा', वर्ष ३, खंड २, पृ० २७७...
१२. 'प्रभा', मार्च, १९२४ ई०, पृ० १९५...
१३. 'बूढ़ा वर', १९०६ ई०।
१४. 'साहित्यसेवा', १९१४ ई०।

उनकी ईदृक्षा बहुत ही ओछी कोटि की थी।

उस युग के नाटकों का अन्तिम प्रकार पद्यरूपकों का था। इन रूपकों के तीन प्रधान रूप थे—संगीतमय, पद्यमय और गीतिमय। 'सांगीत चन्द्रावलि का झूला',[1] 'सांगीत ध्रुवलीला',[2] 'सांगीत सत्य हरिश्चन्द्र',[3] 'संगीत हरिश्चन्द्र' आदि संगीतमय पद्यरूपकों की रचना मुख्यतः कम्पनियों के-से चलते गानों द्वारा हुई है। इन रूपकों की वस्तु अभिनयात्मक और दृश्य चटकीले हैं। भाषा, भाव, कला, आदि की सुन्दरता से सर्वथा विपन्न और भद्दी रुचि के होने के कारण ये तिरस्करणीय हैं। पद्यरूपकों में मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' विशेष उदाहरणीय है। यह भाव और भाषा की दृष्टि से तो सुन्दर है किन्तु नाटकीयता के नाम पर इसमें कथोपकथन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। गीतनाट्यों में अपेक्षाकृत अधिक कवित्व और नाटकत्व है। इन रचनाओं में ऊँचे भावों, मँजी हुई भाषा, मार्मिक सम्भाषण, रूपकोचित दृश्यविधान, अभिनेयता और अभिनयनिर्देश आदि का बहुत कुछ समावेश हुआ है। लेखकों की कवित्व-प्रधान दृष्टि और कहीं कहीं पात्रों के लम्बे भाषणों ने उनकी नाटकीयता कम कर दी है। जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय',[4] सियारामशरण गुप्त लिखित 'कृष्णा'[5] आदि अच्छे गीतिनाट्य हैं।

उपन्यास-कहानी

ऊपर कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी ने अपने युग के नाटक-साहित्य को उसके भाव पक्ष में प्रभावित नहीं किया। नाटककारों और कथाकारों की अपेक्षा कवियों के सुधार की ओर ही उन्होंने विशेष ध्यान दिया। इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो कविता ही हिन्दी साहित्य का सर्वस्व थी और दूसरे द्विवेदी जी का मत था कि समाज के उत्थान और पतन के प्रधान उत्तरदायी कवि ही हैं। विषय परिवर्तन की जो चेतावनी उन्होंने कवियों को दी थी वह नाटककारों और कथाकारों पर भी समान रूप से लागू थी। अपने युग के कथा साहित्य को उन्होंने आदर्श, विषय और भाषा की दृष्टि से विशेष प्रभावित किया। हिन्दी का लेखक और पाठक-समाज तिलिस्म, जासूसी और ऐयारी के जाल में फँसा हुआ था। कथा प्रेमियों को तृप्त करने और उनकी रुचि के परिष्करण के लिए द्विवेदी जी ने

---

१. इन्द्रमनि जी उस्ताद, १६०६ ई०।
२. छोटेलाल उस्ताद, १६०६ ई०।
३. विजयभारत सिंह, १६१५ ई०।
४. 'इन्दु', कला ४, खंड १, पृ० १२०।
५. 'प्रभा', वर्ष २, संख्या ४, ५, ६।

'महाभारत' (१८०८ ई०), 'वेणी संहार' (१६१३ ई०), 'कुमार सम्भव' (१६१३ ई०), 'मेघदूत' (१६१७ ई०) और 'किरातार्जुनीय' (१६१७ ई०) के आख्यायिकोपम अनुवाद प्रस्तुत किए। सम्पादक द्विवेदी ने 'सरस्वती' के 'आख्यायिका' खंड के अन्तर्गत कहानियों का नियमित प्रकाशन करके कहानीकारों को प्रोत्साहित किया। रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय',[१] श्रीमती बंग महिला की 'दुलाई वाली',[२] वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखी बन्द भाई',[३] ज्वालादत्त शर्मा की 'मिलन',[४] चंडीप्रसाद हृदयेश की 'सुधा',[५] चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था',[६] प्रेमचन्द की 'सौत',[७] 'सज्जनता का दंड',[८] 'पंचपरमेश्वर',[९] 'ईश्वरीयन्याय',[१०] 'दुर्गामन्दिर',[११] 'बलिदान',[१२] और 'पुत्रप्रेम',[१३] विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'ताई',[१४] 'शान्ति',[१५] और 'विधवा'[१६] आदि हिन्दी की विशिष्ट कहानियों का प्रथम प्रकाशन द्विवेदी सम्पादित 'सरस्वती' में ही हुआ था और द्विवेदी जी ने आवश्यकता-नुसार उनका उचित संशोधन भी किया था।[१७]

सन् १६०३ से १६२५ ई० तक के लम्बे युग में कथा साहित्य की बहुमुखी प्रगति का अनुमान उसके सैकड़ों लेखकों और उनकी बहुसंख्यक रचनाओं से ही लग जाता है। द्विवेदी युग के उपन्यासों का उद्गम अनेक प्रकार था। उपन्यासरचना की प्रेरणा का पहला मूल

१. १६०३ ई०, पृ० ३८० ।
२. १६०७ ई०, पृ० २७८ ।
३. १६१६ ई०, पृ० ३६० ।
४. १६१५ ई०, पृ० १५६ ।
५. „ „ „ १४४ ।
६. „ „ „ ३४१ ।
७. „ „ „ ३१५ ।
८. १६१६ „ „ १४६ ।
९. „ „ „ ३८५ ।
१०. १६१७ „ „ २८ ।
११. „ „ „ ३१४ ।
१२. १६१८ „ „ २४२ ।
१३. १६२० „ „ ३२० ।
१४. १६२० ई०, पृ० ३१ ।
१५. १६२० „ „ ६८ ।
१६. „ „ „ १६५ ।
१७. इन कहानियों की हस्तलिखित प्रतियाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में देखी जा सकती हैं।

था शास्त्राध्ययन। शास्त्राध्ययन में संस्कृत-साहित्य और हिन्दी का रीति-साहित्य किशोरी लाल गोस्वामी के द्वारा प्रकट हुआ। पुराण और इतिहास ने बहुतों को प्रेरणा दी। अनेक उपन्यासों के नाम ही उद्गमसूचक हैं, यथा 'दशावतार कथा',[1] 'द्रौपदी',[2] आदि। किशोरी लाल गोस्वामी इतिहास को लेकर चले। 'तारा', 'रजिया बेगम', 'लखनऊ की कब्रें' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। अपेक्षित अध्ययन, सहृदयता, निष्पक्षता आदि के अभाव में ये उपन्यास वस्तुतः ऐतिहासिक नहीं हैं। द्विवेदी-युग के उपन्यास बंगला और अँगरेजी से विशेष प्रभावित हैं। 'परीक्षा गुरु' की भूमिका से प्रमाणित है कि उस पर उर्दू, अँगरेजी, संस्कृत आदि के साहित्यों का भी प्रभाव पड़ा है। रायकृष्ण वर्मा ने उर्दू, अँगरेजी और बँगला से अनेक अनुवाद किए। देवकीनन्दन खत्री को उर्दू और फारसी की कहानियों से प्रेरणा मिली। गोपालराम गहमरी के उपन्यासों पर अँगरेजी का प्रभाव स्पष्ट है।

उपन्यास लेखन की प्रेरणा का दूसरा मूल था जीवन और जगत्। श्रीनिवासदास का परीक्षा गुरु इस दिशा का अग्रदूत था। उसकी नवीनता अनेक रूपों में व्यक्त हुई—स्वानुभव का चित्रण, घर और उसकी समस्याएँ, समाज और दोष, राजनीति और दर्शन आदि। जगमोहनसिंह के 'श्यामा स्वप्न' में जीवन, और उग्र के 'घंटा' में (१६१६ ई०) तथा उदय नारायण वाजपेयी के 'स्वदेश प्रेम' (१६१७ ई०) आदि में राजनीति के चित्र अंकित हुए। 'आदर्श बहू',[3] 'तीन पतोहू',[4] 'आदर्श दम्पति'[5] आदि गृह जीवन को लेकर लिखे गये। 'सुशीला विधवा',[6] 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'संसार चक्र'[7] आदि के विषय सामाजिक हैं। सामाजिक उपन्यासों का उत्कर्ष प्रेमचन्द की रचनाओं में ही विशेष दिखाई पड़ा।

उपर्युक्त विभिन्नताओं का कारण लेखकों के उद्देश की विभिन्नता है। उपन्यास की उत्पत्ति मनोरंजन और कालक्षेप के लिए हुई थी। मौखिक लोककथा का स्थान धीरे धीरे उपन्यासों ने ले लिया। मनोरंजन प्रधानता के कारण ही उस युग के प्रारंभिक उपन्यासों में पारसी थिएटरों के अति नाटकीय रोमांचकारी प्रसंगों का अतिरेक हुआ। तिलस्मी, जासूसी और ऐयारी उपन्यासों का स्पष्ट उद्देश भी मनोरंजन ही था। हास्य रस के उपन्यासों में

---

१. अक्षयवट मिश्र, १६१७ ई०।
२. कात्यायनीदत्त त्रिवेदी, १६२१ ई०।
३. उमरावसिंह, १६१३ ई०।
४. गोपालराम गहमरी, सं० १६६१।
५. लज्जाराम मेहता, सं० १६६१।
६. „ „ . १६६४।
७. जगन्नाथप्रसाद द्विवेदी, सं० १६८१।

इस उद्देश की अभिव्यक्ति एक नवीन रूप में हुई। 'शैतानमंडली' (उग्र), 'ठलुआ क्लब' (गुलाब राय), 'गोबर गणेश संहिता' (गोपालराम गहमरी), 'महाशय भडाम सिंह शर्मा उपदेशक' (जी० पी० श्रीवास्तव) आदि का उद्देश था हास्योद्रेक द्वारा मनोरंजन करना। द्विवेदीयुग के उपन्यासों का दूसरा उद्देश सुधार था। तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों ने ही उसे यह रूप दिया। 'सौ अजान और एक सुजान' (बाल कृष्ण भट्ट), 'बिगड़े का सुधार'[२] आदि समाज के प्रश्नों को ही लेकर लिखे गए थे। आदर्शवादी सुधारक प्रवृति का सर्वोच्च कलात्मक रूप प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' (सं० १९७८), 'प्रेमाश्रम' (सं० १९८०) और 'रंगभूमि' (सं० १९८१ में मिला। प्रेमचन्द ने अपने लेखों में भी इस आदर्शवाद की व्यंजना की।[३] उपन्यासकारों की यह आदर्शवादिता द्विवेदी जी की ही अनुवर्तिनी थी जो जगत् और जीवन के पर्यवेक्षण के परिणाम रूप में अनिवार्यत: प्रस्तुत हुई और सुप्त समाज को जगाने का साधन बनी। उस युग की उपन्यासरचना के दो गौण उद्देश भी थे–व्यापक उपदेश और कला के लिए कला। समाजसुधार की तीव्र भावना से परिचालित लेखकों ने युग के प्रभाव के कारण ही कुछ न कुछ उपदेशात्मक वस्तुविधान अवश्य किया। विश्वम्भर नाथ शर्मा, बृन्दावन लाल वर्मा आदि इसी कोटि के उपन्यासकार हैं। चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा उग्र आदि कला के लिए कला के सिद्धान्त के अनुयायी रूप में आए। उनका उद्देश था यथार्थ चित्रण और कला का सामंजस्य।

द्विवेदी जी की भाँति उनके युग का उपन्यासकार भी अतीत और वर्तमान दोनों से आकृष्ट हुआ था। किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों में इन दोनों विशेषताओं का समन्वय है। किन्तु उनकी कृतियों में भिन्न भिन्न कालों की राजनैतिक अवस्था और संस्कृति के स्वरूप की वास्तविक झाँकी नहीं है। ऐतिहासिक विषयों पर उपन्यास लिखने की प्रणाली बँगला से आई। बृन्दावन लाल वर्मा इस क्षेत्र के श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' में मध्ययुगीन भारत की अवस्था का सुन्दर रूपांकन

---

१. लज्जाराम मेहता, सं० १९६४।

२. 'अब प्रणय कथाएं लिखकर हमें संसार के सामने अपनी क्षुद्रता न प्रकट करनी चाहिए। आंख की किरकिरी और विषवृक्ष लिखने का यह समय नहीं है। हमें अपने युवकों को प्रणय रहस्यों का पाठ पढ़ाने की उनके हृदय में आग लगाने की जरूरत नहीं। हमारे देश में विकट और भीषण संग्राम हो रहा है उससे कहीं विकट और भीषण जिसमें प्रताप और सांगा ने अपने प्राणों की आहुति दी थी। हमें देश में उन भावों का संचार करना है जो हमें इस संग्राम में मर्दों की भांति खड़े होने में सहायक हों।''
'हिन्दी का उपन्यास-साहित्य' १३वें हि० सा० स० का कार्य विवरण।

किया। पौराणिक और धार्मिक उपन्यासों के निर्माण के वास्तविक कारण तीन थे—तत्कालीन पारसी थिएटर, उपयुक्त सामग्री की कमी और स्त्रियों की धार्मिक शिक्षा। जब पुरुषवर्ग ने तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यासों को अपनाया था तब स्त्रियाँ धार्मिक और पौराणिक उपन्यास पढ़ रही थीं। 'सावित्री-सत्यवान',[1] 'देवी द्रोपदी',[2] 'लवकुश'[3] आदि उपन्यास उपर्युक्त दृष्टि से ही लिखे गए। तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी और साहसिक विषय तत्कालीन भारतीय साहित्य, अँगरेजी तथा फारसीउर्दू से आए। अद्‌भुत कौशल और अनोखी सूझ के सम्मेलन से इन उपन्यासों की सृष्टि हुई। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' पढ़ने के पश्चात् हिन्दी का पाठक उन्हीं जैसी पुस्तक की खोज करने लगा। कुछ ही वर्षों में हिन्दी का उपन्यास साहित्य तादृश उपन्यासों से भर गया। गोपालराम गहमरी के उपन्यासों और जासूस पत्र ने जासूसी उपन्यासों को विशेष प्रोत्साहन दिया। तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास तो प्रेमप्रधान हैं ही, जासूसी उपन्यास में भी प्रायः प्रेम का सन्निवेश हुआ। विज्ञान और दर्शनके विषय पर भी कुछ उपन्यासों की रचना हुई। 'हवाई नाव',[4] 'चन्द्रलोक की यात्रा',[5] 'बेलून विहारी'[6] आदि में वैज्ञानिक सत्य के साथ जासूसी जात की सी स्वच्छन्द कल्पना का संयोग हुआ है। 'संसार रहस्य'[7] आदि नाम के ही दार्शनिक उपन्यास है। वस्तुतः दार्शनिक और वैज्ञानिक समस्याओं के विश्लेषणात्मक उपन्यासों का बुद्धिवादी युग अभी नहीं आया था। द्विवेदी युग के महत्वपूर्ण साहित्यिक उपन्यासों की रचना समाज और राजनीति को लेकर हुई। उनके लेखकों और पाठकों में समाज को आलोचक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो चुकी थी। इन उपन्यासों का प्रारम्भ घर के ही संसार से हुआ था, उदाहरणार्थ पूर्वोक्त 'आदर्श बहू', 'बड़ी बहू' आदि। इनमें प्रायः सामाजिक कुरीतियाँ की निन्दा और आदर्श चरित्रों की प्रतिष्ठा की गई, घटनावैचित्र्य और अद्‌भुत कौतूहल से हटकर मानव चरित्र और जीवन के समझाने का प्रयास किया गया। प्रेमचन्द के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंग भूमि' में इसी प्रकार के सामाजिक प्रश्नों का कलात्मक निरूपण हुआ।

द्विवेदी-युग के उपन्यासों की चार प्रधान पद्धतियाँ लक्षित होती हैं—कथात्मक, काव्य-

---

१. द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी, १६१२ ई०।
२ रामचरित उपाध्याय, सं० १६७७।
३. नरोत्तम व्यास, सं० १६८०।
४. गंगाप्रसाद गुप्त, सं० १६०३।
५. विनय गोपालबख्शी, सं० १६६७।
६ शिवसहाय चतुर्वेदी, सं० १६१८।
७. प्रसिद्ध नारायण, सं० १६२२ ई०।

त्मक, नाटकी और विश्लेषणात्मक। कथात्मक पद्धति मुख्यतः तीन रूपों में आई है— लोककथा, तटस्थ वर्णन और आत्मकथा। लोककथा-पद्धति मौखिक कथा प्रणाली का औपन्यासिक और उपन्यासकला का प्रारम्भिक रूप है। इस पद्धति का उपन्यासकार कथा सुनाता चला गया है और बीच बीच में पाठकों का सम्बोधन भी करता गया है, यथा रामदास जी वैश्यके 'धोखे की टट्टी'[1] में। तटस्थ वर्णन–पद्धति पूर्वोक्त पद्धतिका विकसित, साहित्यिक और कलात्मक रूप है। इसका लेखक अपना व्यक्तित्व पाठकों से छिपाए रहता है और उनका सम्बोधन आदि नहीं करता। इस प्रणाली के उपन्यासों में वर्णन के साथ साथ चरित्र-चित्रण और उपदेश आदि की भी प्रधानता है। प्रेमचन्द के कलापूर्ण विश्लेषणात्मक उपन्यासों में इस पद्धति का उत्तम विकास हुआ है। कथात्मक पद्धति का तीसरा रूप आत्म-कथा है। इस पर पश्चिम के व्यक्तिवाद और चरित्र चित्रण प्रणाली की स्पष्ट छाप है। योग में कठिन और असुविधाजनक होने के कारण यह पद्धति बहुत कम प्रयुक्त हुई है। 'सौदर्न्योपासक' (ब्रजनन्दन सहाय), 'घृणामयी' (इलाचन्द्र जोशी), 'कलंक' (रामचन्द्र शर्मा) आदि इस पद्धति के उपन्यास हैं। द्विवेदी युग के उपन्यासों की दो और पद्धतियां भी हैं—पत्र पद्धति और दैनंदनी पद्धति। वेचन शर्मा उग्र के 'चन्द हसीनों के खतूत' में पत्र पद्धति का प्रयोग हुआ है। दैनन्दिनी पद्धति पर तो हिन्दी में सम्भवतः एक ही उपन्यास है— 'शोणित तर्पण'।[2]

उस युग के उपन्यसों की कलाशैली का दूसरा व्यापक रूप काव्यात्मक था। वे उपन्यास तीन प्रकार के थे—चारण-काव्यानुयायी, गीतिकाव्यानुयायी और भाव प्रधान। चारणकाव्या-नुयायी उपन्यासों का सारा वातावरण काव्य के अनोखेपन में रंगा हुआ है। 'चन्द्रकान्ता' और चारण काव्य आल्हा खंड' एक ही काव्यात्मकता के दो रूप हैं, अन्तर केवल शरीर का है। रीति काव्यानुयायी उपन्यासों में परम्परागत रीति, मन, लज्जा आदि का चित्रण हुआ है। किशोरीलाल गोस्वामी का 'कुसमकुमारी' (१९१० ई०) इसी प्रकार का उपन्यास है। उनके 'तारा' (१९१० ई०) और 'अंगूठी का नगीना' (१९१८ ई०) तथा ब्रजनन्दनसहाय के 'राधा-कान्त' और 'राजेन्द्रमालती' आदि में इसी प्रणाली का प्रयोग हुआ है। काव्यात्मक प्रणाली का तीसरा प्रकार भाव प्रधान उपन्यासों में मिलता है। इन रचनाओं के पात्र प्रायः भावुक, भावव्यंजना कवित्वपूर्ण, प्राकृतिक दृश्य काव्यमय, उपमा और विरोध आदि का विशेष प्रयोग, भाषा अलंकृत और कोमल है। ब्रजनन्दनसहाय का 'सौन्दर्योपासक' और चंडीप्रसाद हृदयेश का 'मनोरमा' इसी कोटि के उपन्यास हैं।

१. १९०६ ई०
२. डा० श्रीकृष्ण लाल लिखित 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ० २८८।

द्विवेदी-युग के उपन्यासों का तीसरा मुख्य रूप नाटकीय था। यह रूप तीन प्रकार से व्यक्त हुआ—पारसी रंगमंच की अतिनाटकीयता, पाश्चात्य नाटकों की सी संघर्षात्मकता और यथार्थ तथा प्रभावकारी कथोपकथन। प्रथम प्रणाली का प्रयोग हिन्दी-उपन्यास के आरम्भिक युग में हुआ था जब हिन्दी साहित्यकार पारसी रंगमंच की कृत्रिम नाटकीयता की ओर अनायास ही आकृष्ट हो गया था। इस प्रकार के उपन्यासों का प्रत्येक परिच्छेद नाटक के एक दृश्य के समान है। नाटक की भाँति ही कथोपकथन के साथ उपन्यास की वस्तु का विस्तार होता है। ये उपन्यास अति नाटकीय चटकीले दृश्य विधान से विशिष्ट हैं। भगवान दीन का 'सती-सामर्थ्य', नयन गोपाल का 'उर्वसी' (१६२५ ई०), रामलाल का 'गुलबदन उर्फ रजिया बेगम' (१६२३ ई०) आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। उपन्यासों की नाटकीयता का दूसरा रूप अन्य रूपों की भांति विशेष स्फुट नहीं हुआ। वस्तुतः द्विवेदी-युग के सभी साहित्यिक उपन्यासों में इस परिष्कृत नाटकीय रीति का प्रयोग हुआ है। प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक आदि सिद्ध उपन्यासकारों ने घात प्रतिघात की ओर विशेष ध्यान दिया है। प्रेमचन्द के तो सभी उपन्यासों में नगर और गाँव, उच्च और नीच, नवीन और प्राचीन का व्यापक तथा अविराम संघर्ष उपस्थापित किया गया है और उसके द्वारा आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की गई है। उपन्यासों में नाटकीयता लाने के लिए लेखकों ने बीच बीच में पात्रों के पारस्परिक संलाप का भी सन्निवेश किया। ये नाटकीय संलाप भी उस युग के प्रायः सभी श्रेष्ठ उपन्यासों में पाए जाते हैं।

द्विवेदी-युग के उपन्यासों का चौथा रूप विश्लेपणात्मक था। बीसवीं शताब्दी की बौद्धिक जागृति, मनोवैज्ञानिक दृष्टि, धार्मिक, सामाजिक आदि हलचलों के कारण इस पद्धति का विकास हुआ। इस पद्धति के उपन्यासकारों का ध्यान साधारण कथा और घटना से हटकर चरित्र, समाज और जीवन की व्याख्या की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। 'हिन्दू-गृहस्थ' (लज्जा राम मेहता), 'छोटी बहू' (गिरजाकुमार घोष) आदि में विश्लेपण के बीजमात्र का दर्शन होता है। 'रामलाल' (१६१४ ई०) और 'कल्याणी' (१६१८ ई०) में मन्नन द्विवेदी ने चरित्र–विश्लेपण को प्रधानता दी। प्रेमचन्द के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंग भूमि' में विश्लेपणात्मक पद्धति का सुन्दर और विकसित रूप प्रस्तुत हुआ। आगामी युग के बुद्धि प्रधान समस्या उपन्यास इसी भित्ति पर निर्मित हुए।

संवेदना की दृष्टि से द्विवेदी–युग के उपन्यासों की चार मुख्य कोटियां हैं–घटनाप्रधान, भावप्रधान, चरित्रप्रधान और चित्रप्रधान। किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री आदि के पौराणिक, जासूसी और तिलस्मी आदि उपन्यास घटनाप्रधान ही हैं। भावप्रधान उपन्यासों का विवेचन काव्यात्मक प्रणाली के प्रसंग में किया जा चुका है।

तत्कालीन बौद्धिकता और कर्मण्यता के कारण उस युग में इस प्रकार के उपन्यासों की रचना बहुत कम हुई। उस युग के प्रारम्भिक सामाजिक उपन्यास घटना और चरित्र की मध्यस्थ कोटि में आएँगे। चरित्रप्रधान उपन्यासों का सफल सर्जन प्रेमचन्द की ही लेखनी से हुआ। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' आदि में चरित्र ही उपन्यास के प्राण हैं। चित्रप्रधान उपन्यासों की ओर चन्द्रशेखर पाठक और बेचन शर्मा जैसे कुछ ही लेखकों ने ध्यान दिया। उनके क्रमशः 'वारांगना रहस्य' और 'घृणामयी' में कठोर यथार्थवादी चित्र अंकित किए गए।

द्विवेदी-युग के आरम्भ समस्त पौराणिक, तिलस्मी, जासूसी, ऐयारी और साहसिक उपन्यास प्रारम्भिक अवस्था के हैं। उपन्यास कला का नितान्त अभाव होने के कारण उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। उस युग के मध्य में रचित उपन्यासों में नाटकीयता, काव्यात्मकता, विश्लेषण, संलाप आदि कलाओं का स्थान-स्थान पर सन्निवेश तो हुआ किन्तु कलात्मक सामंजस्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। युग के अन्तिम भाग में उत्तम कोटि के उपन्यासों का सर्जन हुआ जिनमें उपन्यास-कला की सभी विशेषताओं का सुन्दर रूप दिखाई पड़ा। उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में भी द्विवेदी-युग का दुहरा महत्व है। युग के समक्ष कोई आदर्श उपन्यास या उपन्यासकार नहीं था। उसने अपनी प्रसस्त भूमिका स्वयं ही प्रस्तुत की और अन्त में सेवासदन, प्रेमाश्रम और रंगभूमि जैसे उपन्यास रत्न हिन्दी साहित्य को भेंट किए। उस युग का महत्तर गौरव इस बात में है कि उसने प्रेमचन्द, वृन्दाबन लाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक आदि महान् उपन्यासकारों का निर्माण किया। और आगामी युग की कलात्मक उपन्यासरचना की ठोस भित्ति संस्थापित की।

उपन्यासों की भाँति द्विवेदी युग की कहानियों का कारण भी शास्त्राध्ययन, जीवन या जगत् ही था उपन्यास और कहानीरचना के उद्देश में भी अविकल साम्य था—मनोरंजन, सुधार या उभय। कहानी का विषय भी धार्मिक, पौराणिक, तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी, साहसिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक या राजनैतिक था। उपन्यास-साहित्य की भाँति गद्य के विकास के साथ ही कहानीसाहित्य का भी विकास हुआ।

कलाशैली की दृष्टि से द्विवेदी-युग के कहानीसाहित्य में, उपन्यास-साहित्य की ही भाँति, चार विभिन्न पद्धतियों का समावेश हुआ—कथात्मक, काव्यात्मक, नाटकीय और विश्लेषणात्मक। विकासक्रम की दृष्टि से कथात्मक प्रणाली के तीन प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं—लोककथा, तटस्थवर्णन और आत्मकथा। हिन्दी कहानी का प्रारम्भ लोककथाप्रणाली से हुआ। इन कहानियों का लेखक श्रोताओं को कथा सी सुनाता चला जाता है और बीच

बीच में उनका ध्यान आकृष्ट करने के लिए उन्हें सम्बुद्ध भी करता चलता है किन्तु कला की दृष्टि से आधुनिक कहानियों में इनका कोई स्थान नहीं है। कथात्मक पद्धित का दूसरा प्रकार–तटस्थ वर्णन–कहानी की एक प्रधान प्रणाली है। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती',[1] मास्टर भगवान दीन की 'प्लेग की चुड़ैल',[2] द्विवेदी जी की 'तीन देवता',[3] रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय',[4] आदि कहानियों में इस प्रणाली का अविकसित और अकलात्मक रूप दिखाई पड़ता है। प्रारम्भिक कथावर्णन की शैली अलौकिक, दैवी, आश्चर्यजनक, असम्भव आदि तत्वों से आकीर्ण है, यथा 'भूतोंवाली हवेली',[5] एक अलौकिक-घटना',[6] 'चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान',[7] 'भुतही कोठरी'[8] आदि। तटस्थवर्णन पद्धति की जिन कहानियों में दैवयोग, अतिप्राकृत तथा अद्भुत तत्वों का परित्याग और यथार्थता, विश्लेषण, मनोविज्ञान, नाटकीयता आदि का सम्मिश्रण हुआ उनमें आधुनिक कहानी का कलात्मक सुन्दर रूप व्यक्त हुआ, उदाहरणार्थ 'दुलाई वाली'[9] 'ताई'[10] 'सौत'[11] आदि।

कथात्मक शैली के तृतीय प्रकार–आत्मचरित–का प्रयोग तीन प्रकार से हुआ। पहला प्रकार कल्पनाप्रधान वर्णन का है जिसमें मानवीकरण, कविकल्पना आदि के सहारे कहानी सौन्दर्य की सृष्टि की गई है, यथा 'इत्यादि की आत्मकहानी',[12] एक 'अशरफी की आत्मकहानी'[13] आदि। दूसरा प्रकार यथार्थ घटनावर्णन का है जिसमें वास्तविक भ्रमण, शिकार आदि स्वानुभव तथा परानुभव की घटनाओं का वर्णन हुआ है, उदाहरणार्थ 'एक शिकारी की सच्ची कहानी',[14] 'एक ज्योतिषी की आत्मकथा'[15] आदि। इन कहानियों में घटनाओं

---

१. सरस्वती, जून, १९०३ ई०।

२. सरस्वती, १९०२ ई०।

३. सरस्वती, १९०३ ई०, पृष्ठ १२३।

४. सरस्वती, १९०३ ई०, पृ० ३०८।

५. लाला पार्वती नन्दन, सरस्वती १९०३ ई० पृ० २३५।

६. राजा पृथ्वीपाल सिंह सरस्वती, १९०४ ई०, पृ० ३१९।

७ सूर्य नारायण दीक्षित सरस्वती, १९०६ ई०, पृ० २०४।

८ मधुमंगल मिश्र, सरस्वती, १९०८ ई०, पृ० ४८८।

९. श्रीमती बंगमहिला, 'सरस्वती', १९०७ ई०, पृ० २७८।

१०. विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, 'सरस्वती', १९२० ई०, पृ० ३१।

११. प्रेमचन्द, 'सरस्वती', १९१५ ई०, पृ० ३५३।

१२. यशोदानन्दन अखौरी, 'सरस्वती', भाग ५, पृ० ४४०।

१३. वेंकटेश नारायण तिवारी, 'सरस्वती', भाग ७, पृ० ३९९।

१४. श्री निज़ामशाह, 'सरस्वती', १९०५ ई०; पृ० २९९।

१५. श्रीलाल सालग्राम, 'सरस्वती', १९०९ ई०, पृ० ४०।

का बाहुल्य और मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा अभ्यांतरिक विश्लेषण का अभाव होने के कारण कहानी की आत्मचरित शैली का साहित्यिक और कलात्मक प्रयोग इन दोनों रूपों में नहीं हो सका है। आत्मचरित प्रणाली का तीसरा प्रकार विश्लेषणात्मक है। विश्लेषणात्मक कहानियों में लेखक ने कहानी के पात्र के मुख से ही वस्तु विन्यास कराया है और मानव जीवन के किसी न किसी पक्ष की व्याख्या की है। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक की 'अंधेरी दुनिया' और 'कवि की स्त्री' तथा प्रेमचन्द की 'शान्ति' आदि कहानियाँ इसी कोटि की हैं।

कथात्मक प्रणाली के दो अप्रचलित रूप और भी हैं—पत्र पद्धति और दैनन्दिनी-पद्धति उदाहरणार्थ क्रमशः 'देवदासी' (जयशंकरप्रसाद) और 'विमाता का हृदय।[1] कहानीकला की दृष्टि से ये दोनों ही रूप अवांछनीय हैं। संवेदना की तीव्रता न होने के कारण इस प्रकार की कहानियाँ प्रभावोत्पादक नहीं हो पातीं और उनका उद्देश ही अधूरा रह जाता है।

द्विवेदी-युग के कहानी साहित्य की दूसरी व्यापक शैली काव्यात्मक है। इसके प्रायः दो प्रकार परिलक्षित होते हैं--वस्तु चमत्कार प्रधान और भाषा-चमत्कार प्रधान। पहले प्रकार की कहानियों के पात्र प्रायः नवयुवक, कल्पनायुक्त, भावुक, आशावादी और प्रेम-पीड़ित होते हैं। घटनाओं का अधिकांश कल्पनाजन्य और सारा वातावरण ही काव्यमय होता है। भाषा कवित्वपूर्ण होते हुए भी निरलंकार है। 'रसिया बालम',[2] 'कानोंमें कंगना'[3] 'दिनों का फेर',[4] 'चित्रकार'[5] 'सच्चा कवि'[6] आदि भावात्मक कहानियाँ इसी काव्यात्मक शैली की हैं। भाषा चमत्कारप्रधान काव्यात्मक कहानियों के लेखकों ने वस्तु-चमत्कार योजनाके साथ ही भाषा को अलंकृत करने और कवित्वपूर्ण बनाने का विशेष प्रयास किया। हिन्दी-कथा-साहित्य के बाणभट्ट चण्डीप्रसाद हृदयेश इस शैली के प्रमुख कहानीकार हैं। उनकी 'सुधा', 'शान्ति निकेतन' आदि कहानियों में भाव की अपेक्षा भाषा की रमणीयता ही अधिक आकर्षक है। इस काव्यात्मक पद्धति पर कभी कभी रूपक-प्रणाली का आश्रय लेकर छोटी छोटी मार्मिक कहानियों की रचना की गई, उदाहरणार्थ अज्ञेय की 'अमर वल्लरी' सुदर्शन की 'कमल की बेटी', रायकृष्णदास की 'परदे का प्रारम्भ' आदि। इन

---

१. 'आधुनिक हिन्दी 'कहानियां' में संकलित।
२. प्रसाद, 'इन्दु', एप्रिल, १९१२ ई०।
३ राधिकारमण प्रसाद सिंह, 'इन्दु', कला ४, खंड २, किरण ५।
४ रायकृष्णदास, 'प्रभा', वर्ष २, खंड २।
५. कृष्णानन्द गुप्त, 'प्रभा', वर्ष ३, खंड १।
६. विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', 'माधुरी', वर्ष ३, खंड १

कहानियों की विशेषता यह है कि अचेतन वस्तु में चैतन्य का आरोप करके उसी की दृष्टि से सारी कहानी कही गई है। पात्र, वातावरण आदि अपरिचित हैं, हम जिन रूपों में उन्हें नित्यप्रति देखते हैं उन रूपों में उनका चित्रण नहीं किया गया है।

द्विवेदी-युग की कहानियों की तीसरी व्यापक शैली नाटकीय है। वस्तुतः सभी सुन्दर कहानियों में नाटकीयता का कुछ न कुछ समावेश हुआ है। इसका कारण स्पष्ट है। मानव जीवन की प्रत्येक संवेदनीय घटना अभिनयात्मक है और कहानी उसी घटना का चित्रोपस्थापन या रहस्योद्घाटन करती है। स्थूल रूप से नाटकीय शैली भी काव्यात्मक शैली के ही अन्तर्गत मानी जा सकती है क्योंकि नाटक स्वयं ही काव्य है। उस युग की कहानियों के अधिक विस्तृत अध्ययन के लिए इस सूक्ष्म वर्गीकरण की आवश्यकता हुई है। इन दोनों शैलियों में मुख्य अन्तर यह है कि काव्यात्मक कहानी सामान्य काव्यगत मनोहर कवि-कल्पना और अलंकारिकता से विशिष्ट है और नाटकीय शैली की कहानी नाटकोचित कथोपकथन एवं घात-प्रतिघात से। इस शैली के मुख्यतः तीन प्रकार दिखाई देते हैं—संलाप-प्रधान, संघर्ष-प्रधान और उभय-प्रधान। संलाप-प्रधान कहानियों में कहानी का सौन्दर्य पात्रों के स्वाभाविक और नाटकीय कथोपकथन पर विशेष आधारित है, उदाहरणार्थ 'महात्मा जी की करतूत'।[१] संघर्ष-प्रधान कहानियों में दो पक्षों के संघर्ष, कभी हार कभी जीत और अन्त में घटना के नाटकीय अवसान का उपस्थापन है, यथा 'शतरंज के खिलाड़ी'[२] इस पद्धति का सुन्दरतम रूप उन कहानियों में व्यक्त हुआ है जिनमें लेखक ने नाटकीय संलाप और संघर्ष दोनों का सामंजस सन्निवेश किया है, उदाहरणार्थ जयशंकरप्रसाद लिखित 'आकाशदीप'।

उस युग की कहानियों की चौथी व्यापक शैली विश्लेषणात्मक है। इस पद्धति की कहानियों में पूर्वोक्त तीनों पद्धतियों में से किसी एक का या अनेक का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु पात्र या पात्रों के अन्तर्गत या वाह्य जगत का विश्लेषण ही कहानी की मुख्य विशेषता है। विश्लेषणात्मक कहानियों की भूमिका दो रूपों में अंकित की गई है। चण्डीप्रसाद हृदयेश और जयशंकरप्रसाद ने प्रायः सभी भावात्मक कहानियों में पात्रों के भावपक्ष का विश्लेषण प्रकृति की भूमिका में किया है। प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक आदि की अधिकांश विश्लेषणात्मक कहानियों में मानव-मन के रहस्यों और घात-प्रतिघात की विवेचना समाज की भूमिका में की गई है, उदाहरणार्थ 'पंचपरमेश्वर', 'मुक्तिमार्ग' आदि।

---

१. राय कृष्णदास, 'प्रभा', वर्ष २, खंड २ पृ० २३१।
२. प्रेमचन्द, 'माधुरी', वर्ष ३, खंड १, सं० ३, पृ० २१०।

मनोवैज्ञानिक फ्रायड के सिद्धान्तों का युग अभी नहीं आया था। अतएव द्विवेदी-युग की कहानियों में मानव-मस्तिष्क की विशेष चीर-फाड़ नहीं हुई।

संवेदना की दृष्टि से द्विवेदी-युग की कहानियों के चार प्रधान वर्ग हैं—घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान और चित्र-प्रधान। प्रथम वर्ग की कहानियाँ घटनाओं की शृंखलामात्र हैं। किसी कल्पित, सुनी, पढ़ी या देखी हुई घटना अथवा घटनाओं से अति-प्रभावित कहानीकार उसे व्यक्त किए बिना नहीं रह सका है। उस युग की आरम्भिक घटना प्रधान कहानियों में अद्भुत तत्व की अधिकता है, यथा पूर्वोक्त 'भूतों वाली हवेली', 'भुतही कोठरी' आदि। किन्तु आगे चलकर कलात्मक घटना प्रधान कहानियों की रचना साधारण जीवन की आकर्षण घटनाओं को लेकर की गई है, उदाहरणार्थ प्रेमचन्द की 'सुहाग की साड़ी',[1] 'भूत'[2] आदि। इस वर्ग की कहानियों में चरित, भाव आदि के विवेचन के कारण आधुनिक कहानी कला के विकास के साथ ही घटनात्मकता का ह्रास होता गया है।

कहानीकला का सुन्दर रूप उस युग की चरित्र-प्रधान कहानियों में व्यक्त हुआ। ये कहानियाँ मुख्यतः दो प्रकार की हैं। पहला प्रकार उन कहानियों का है जिसके पात्रों में किसी कारणवश कोई आकस्मिक परिवर्तन हो गया है और कहानी वहीं समाप्त हो गई है। आरम्भ से लेकर परिवर्तन के पहले तक पात्रों का एक रूप में चरित्र-चित्रण हुआ है और तत्पश्चात् उसका दूसरा रूप व्यक्त हुआ है, यथा 'आत्मराम' (प्रेमचन्द), 'ताई'[3] आदि। दूसरे प्रकार की चरित्र-प्रधान कहानियों का सौन्दर्य चरित्र के आकस्मिक विकास में न हो कर उसकी दृढ़ता, असामान्यता और प्रभावोत्पादकता में है, यथा 'उसने कहा था',[4] 'खूनी',[5] 'बूढ़ी काकी' (प्रेमचन्द), 'भिखारिन' (प्रसाद) आदि। इन कहानियों में आरम्भ से लेकर अन्त तक चरित्र ही कहानी की घटनाओं का मुख्य केन्द्र रहा है और उसके किसी एक पक्ष का उसका उद्घाटन करके कहानी समाप्त हो गई है। नायक या नायिका को ऐसी परिस्थितियों में इस कलात्मक रूप से चित्रित किया गया है कि उसकी अन्तर्हित विशेषताएँ आलोकित हो गई हैं। चरित्र को आकर्षक बनाने के लिये लेखक ने उसे भावुकता और मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा है।

संवेदना के अनुसार द्विवेदी-युग की कहानियों की तीसरी प्रमुख कोटि भाव-प्रधान है।

---

१ 'प्रभा', वर्ष ३, खंड १, पृष्ठ ३१।

२. 'माधुरी', वर्ष ३, खंड १, सं १ पृष्ठ ६।

३. कौशिक, 'सरस्वती', वर्ष २१, खंड २ पृष्ठ ३१।

४. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी. 'सरस्वती', भाग १६. खंड १, पृष्ठ ३१४।

५. चतुरसेन शास्त्री, 'प्रभा', जनवरी १६२४ ई०।

चरित्र-प्रधान कहानी से भाव-प्रधान कहानी की मुख्य विशेषता यह है कि भाव-प्रधान-कहानी लेखक कहानीकार के समान ही और कहीं कहीं उससे बढ़कर कवि भी है। यही कारण है कि वह भावुकतावश घटना, चरित्र या रूप की अपेक्षा पात्रों के भावों का ही विशेष भावन और अभिव्यंजन करता है। गद्य के माध्यम द्वारा घटना, चरित्र आदि पर आधारित जीवन के किसी अंग का शब्द चित्र होने के कारण ही ये रचनाएँ कहानी कहलाती हैं, कविता नहीं। इन भाव-प्रधान कहानियों में प्रेम, त्याग, वीरता, कृपणता आदि भावों का काव्यात्मकी उद्घाटन किया गया है, यथा 'कानों में कंगना' (राधिकारमणप्रसाद सिंह), 'उन्माद' (चंडीप्रसाद हृदयेश), 'आकाश दीप' (जयशंकर प्रसाद) आदि।

चौथा वर्ग चित्र-प्रधान कहानियों का है। भाव-प्रधान और चित्र-प्रधान दोनों ही प्रकार की कहानियां काव्यात्मक हैं। उनमें प्रमुख अन्तर यह है कि भाव प्रधान कहानी में कहानी-कार का उद्देश पात्रों के भावों का ग्रहण करना रहता है किन्तु चित्र प्रधान कहानी में वह पात्रों के वातावरण का बिम्ब-ग्रहण कराने का प्रयास करता है। 'आकाश दीप' सरीख कहानियों में तो भाव और बिम्ब दोनों ही का सुन्दर चित्रण हुआ है। अंकित चित्रों की काल्पनिकता या यथार्थता के अनुसार चित्र-प्रधान कहानियाँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं जिनका प्रधान सौन्दर्य उनके कवित्वपूर्ण कल्पनामंडित और अतिरंजित वातावरण के चित्रों में निहित है, यथा 'प्रतिध्वनि' (प्रसाद), 'योगिनी' (हृदयेश), 'मिलनमुहूर्त' (गोविन्दवल्लभ पंत), 'कामनातरु' (प्रेमचन्द) आदि। दूसरा प्रकार उन कहानियों का है जिनके चित्र वास्तविक जगत और दैनिक जीवन से लिए गए हैं। बेचन शर्मा उग्र और चतुरसेन शास्त्री इस प्रकार के प्रतिनिधि लेखक हैं।

द्विवेदी–युग में जब कि उपन्यास–कला–शैली का विकास हो रहा था तभी उस युग के कहानी–लेखक अमर कहानियों की रचना कर रहे थे। 'कानों में कंगना', 'पंचपरमेश्वर', 'उसने कहा था', 'मुक्ति मार्ग', 'आत्माराम', 'मिलनमुहूर्त', 'आकाशदीप', 'खूनी', 'ताई', 'चित्रकार', 'बलिदान' आदि सुन्दर कहानियाँ उसी युग में लिखी गईं। ज्ञान–विज्ञान की उन्नति, कहानी कला के विकास और द्विवेदी जी की आदर्शवादिता, सुधार तथा प्रोत्साहन से प्रभावित होने के कारण द्विवेदी–युग के कहानीकारों ने तिलस्मी, जासूसी, ऐयारी और भूत प्रेत के जगत से ऊपर उठकर मानव–मानस तथा समाज और जीवन तक आने में अद्भुत प्रगति दिखाई। सुन्दरतम हिन्दी कहानियों के किसी भी संकलन में द्विवेदी–युग की कहानियों का स्थान अपेक्षाकृत बहुत ऊँचा है।

निबन्ध

द्विवेदी–युग में गद्यविकास के साथ ही निबन्ध–साहित्य का अच्छा विकास हुआ। द्विवेदी जी के निबन्धों की भाँति उस युग के निबन्ध भी चार रूपों में प्रस्तुत किए गए। पहला रूप पत्रिकाओं के लिए लिखित लेखों का था। बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्दनारायण मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि लेखकों के अधिकांश निबन्ध पत्रिकाओं के लेख रूप में ही प्रकाशित हुए और आगे चलकर उन्हें संग्रह-पुस्तक का रूप दिया गया। दूसरा रूप ग्रन्थों की भूमिकाओं का था। इस दिशा में 'जायसी-ग्रन्थावली', 'तुलसी ग्रन्थावली' [द्वितीय भाग] और 'भ्रमरगीतसार' की भूमिकाएँ विशेष महत्व की हैं। तीसरा रूप भाषणों का था। द्विवेदी-युग में दिए गए हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापतियों के महत्वपूर्ण भाषण इसी रूप के अन्तर्गत हैं। उस युग के निबन्धों का चौथा रूप पुस्तकों या पुस्तकों के आकार में दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ—द्विवेदी जी का 'नाट्यशास्त्र' या जयशंकर प्रसाद का 'चद्रगुप्त मौर्य।'

द्विवेदी-युग ने वर्णनात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक सभी वर्ग के निबन्धों की रचना की। वर्णनात्मक निबन्धों के मुख्य चार प्रकार थे - वस्तुवर्णनात्मक, कथात्मक, आत्मकथात्मक और चरितात्मक। वर्णनात्मक निबन्धों में निबन्धकार ने तटस्थ भाव से अपने या दूसरों के शब्दों में अभीष्ट विषय का वर्णन किया। उसमें उसने हृदय या मस्तिष्क को अभिभूत कर देने वाली भावविचार व्यंजना नहीं की। वस्तुवर्णनात्मक निबन्धों में किसी जड़ या चेतन पदार्थ का परिचयात्मक निरूपण किया गया, उदाहरणार्थ 'इंगलैंड की जातीय चित्रशाला',[1] सोना निकालनेवाली चीटियां[2] आदि। कथात्मक निबन्धों में लेखक ने श्रीमद्भागवत की कथा सुनाने वाले व्यास जी की भांति निबन्ध पाठकों का मनोरंजन करने का प्रयास किया है, यथा 'स्वर्ग की झलक',[3] 'एक अलौकिक घटना'[4] आदि। इन कथात्मक निबन्धों और आधुनिक वर्णनात्मक लघु कहानियों में अन्तर यह है कि कहानियों में कहानीकार ने कहानी की सीमा के अन्तर्गत रहकर विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की ओर विशेष ध्यान दिया है किन्तु निबन्धकार आद्योपान्त ही स्वच्छन्द गति से चला है। इन दोनो के विकास के आरम्भिक रूपों में एकता है और एक ही रचना दोनों कोटियों में रखी जासकती है यथा 'इत्यादि की आत्मकहानी'। आत्मकथात्मक निबन्ध भी द्विवेदी-युग के साहित्य की मनोहर देन है। इन निबन्धों में वर्ण्य

---

१. काशीप्रसाद जायसवाल, 'सरस्वती', भाग ८, पृष्ठ ४१६।

२. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी 'सरस्वती' भाग १६, खंड २, पृष्ठ १३४।

३. महावीरप्रसाद, 'सरस्वती', भाग ५, पृष्ठ ८२।

४. राजा पृथ्वीपालसिंह, 'सरस्वती', भाग ५, पृष्ठ, ३१५।

विषय को ही वक्ता बनाकर निबन्धाकर ने उसी के मुख से उत्तम पुरुष में उसकी परिचयात्मक कहानी कही है।, यथा उपर्युक्त 'इत्यादि की आत्मकहानी',[1] 'एक अशरफी की आत्म-कहानी,[2] 'मुद्गरानन्द-चरितावली'[3] आदि। ये निबन्ध मनोरंजन की दृष्टि से विशेष आकर्षक हैं। चरितात्मक निबन्धों में ऐतिहासिक, साहित्यिक धार्मिक, राजनैतिक आदि महान् पुरुषों या स्त्रियों के जीवनचरित अंकित किए गए हैं। कुछ जीवनचरित अपने स्वामी, श्रद्धापात्र या प्रेमभाजन को सस्ती ख्याति देने के लिए भी लेखकों ने अवश्य लिखे किन्तु अधिकांश का उद्देश आदर्शचरित्रों के चित्रण द्वारा पाठकों के ज्ञान और चरित्र का विकास करना ही था। इस क्षेत्र में द्विवेदी जी के अतिरिक्त वेणीप्रसाद, काशीप्रसाद, गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीधर बाजपेयी आदि ने महत्वपूर्ण कार्य किया। सैकड़ों जीवनचरित द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' में समय समय पर प्रकाशित हुए।

भावात्मक निबन्ध सहृदय निबन्धकार के हृदयोद्गार और पाठक के हृदय को अभिभूत कर देने वाले प्रभावाभिव्यंजक वस्तूपस्थापन हैं। द्विवेदी-युग के भावात्मक निबन्धों की तीन कोटियां हैं। एक तो साधारण भावात्मक निबन्ध हैं जिनमें चिन्तन और मर्मस्पर्शी कवित्व दोनों ही की अपेक्षाकृत न्यूनता है, उदाहरणार्थ 'कवित्व'[4] आदि। दूसरे विचारगर्भित भावात्मक निबन्ध हैं जिसमें काव्य की रमणीयता के साथ ही साथ चिन्तनीय सामग्री भी है, यथा आचरण की सभ्यता',[5] 'मजदूरी और प्रेम'[6] आदि और तीसरे गद्य-कविताओं के रूप में लिखे गए वे काव्यमय भावात्मक निबन्ध हैं जिनकी समीक्षा ऊपर कविता के प्रसंग में हो चुकी है।

चिन्तनात्मक निबन्धों में पाठकों के बौद्धिक विकास की यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत की गई। बीच २ में कहीं कहीं वर्णनात्मकता या भावात्मकता का पुट होने पर भी चिन्तनात्मक निबन्धकार उनके प्रवाह में बहा नहीं है और अपनी विचार-व्यंजना के प्रति सदैव सावधान रहा है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दरदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि ने हिन्दी साहित्य के इस अंग की सुन्दर पूर्ति की। द्विवेदी-युग के चिन्तनात्मक निबन्ध तीन श्रेणियों में रखे जासकते हैं--व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक और

---

१. 'सरस्वती', भाग ५ पृष्ठ १६२।
२. 'सरस्वती' भाग ७, पृष्ठ ३६६।
३. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग १७ और १८ की अनेक संख्याओं में प्रकाशित।
४ चतुर्भुज औदीच्य, 'सरस्वती', भाग ५, पृष्ठ १८।
५. पूर्णसिंह, 'सरस्वती', भाग १२, पृष्ठ १०१ और १४१।
६. पूर्णसिंह, 'सरस्वती', भाग १३ पृष्ठ ४६८।

तार्किक। उस युग के पाठकों की बौद्धिक इयत्ता सीमित होने के कारण उस समय चिन्तनीय विषयों की व्याख्या की नितान्त आवश्यकता थी। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'वर्तमान नागरी अक्षरों की उत्पत्ति'[१], और 'नागरी अंकों की उत्पत्ति'[२] आदि रोचक, विचारयुक्त और ठोस निबन्ध लिखे। रामचन्द्र शुक्ल के 'साहित्य',[३] 'कविता क्या है',[४] 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य',[५] आदि निबन्ध भी व्याख्यात्मक कोटि के हैं। नागरी प्रचारिणीपत्रिका के सत्रहवें, अठारहवें, उन्नीसवें तथा तेईसवें भागों में प्रकाशित शुक्लजी के 'क्रोध', 'भ्रम', 'निद्रारहस्य', 'घृणा', 'करुणा', 'ईर्ष्या', 'उत्साह'' 'श्रद्धाभक्ति', 'लज्जा और ग्लानि' तथा 'लोभ या प्रेम आदि मनोवैज्ञानिक निबन्ध विशेष सारगर्भित और विश्लेषणात्मक हैं। श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' [सम्वत् १९७९] और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'विश्वसाहित्य' [१९८१ ई०] आदि व्याख्याप्रधान चिन्तनात्मक निबन्धों के ही संग्रह हैं जिनमें कविता, उपन्यास, नाटक आदि का विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

आलोचनात्मक निबन्ध साहित्यिक रचनाओं या रचनाकारों की समीक्षा के रूप में उपस्थित किए गए। मिश्रबन्धु का 'वर्तमानकालिक हिन्दी साहित्य के गुण दोष',[६] रामचन्द्र शुक्ल-लिखित जायसी, तुलसी और सूर की भूमिकाएं आदि निबन्ध की उसी कोटि में हैं। तार्किक निबन्धों में निबन्धकारों ने अपने सारगर्भित विचारों को युक्तियुक्त ढंग से व्यक्त किया। चिन्तनात्मक निबन्ध के इस प्रकार की विशेषता विषय के न्यायानुकूल सप्रमाण प्रतिपादन में है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जयशंकर प्रसाद आदि के गवेषणात्मक और गुलाबराय के दार्शनिक निबन्धों का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण स्थान है, उदाहरणार्थ उलूलुध्वनि [गुलेरी], 'चन्द्रगुप्त मौर्य' [प्रसाद] आदि।

भारतेन्दु युग के निबन्ध कहे जाने वाले लेखों में विषय या विचार की एकतानतान थी। एक ही निबन्ध में अनिबद्ध रूप से सबकुछ कह डालने का प्रयास किया गया था। द्विवेदी जी ने हिन्दी के निबन्ध को निबन्धता दी। उस युग के महान् निबन्धकारों के ललाट पर यशस्तिलक द्विवेदी जी के ही कृपालुकरों से लगा। वेणीप्रसाद, काशीप्रसाद, रामचन्द्रशुक्ल, लक्ष्मीधर बाजपेयी, चतुर्भुज औदीच्य, यशोदानन्दन अखौरी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह,

---

१. प्रथम हिन्दी-साहिय-सम्मेलन का कार्य-विवरण, पृष्ट १९।
२. 'द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्यविवरण', पृष्ठ २३।
३. 'सरस्वती', भाग ५, पृष्ठ १२४ और १८९।
४. 'सरस्वती', भाग, १०, पृष्ट १५५।
५. 'माधुरी', भाग १, खंड, २, संख्या ५ और ६, पृष्ट क्रमशः ४७३ और ६०३।
६. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग १८, संख्या ३, ४, पृष्ट ६३।

सत्यदेव, गणेशशंकर विद्यार्थी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि के निबन्धों की आद्योपान्त काटछाँट, संशोधन और परिवर्द्धन करके द्विवेदी जी ने उन्हें पठनीय और ठोस बनाया। उदाहरणार्थ 'इत्यादि की आत्मकहानी' के लेखक यशोदानन्दन अखौरी ने भाषा-त्रुटियों के अतिरिक्त वस्तु के संग्रह और त्याग में भी अकुशलता दिखलाई थी जिसके कारण रचना का निबन्ध-सौन्दर्य नष्ट होगया था। द्विवेदी जी ने अन्य संशोधनों के साथ उसकी उपमा में लिखित पूरे अवच्छेद को ही निकाल दिया। वेंकटेश नारायण तिवारी की 'एक अशरफी की आत्मकहानी', सत्यदेव के 'राजनीति-विज्ञान'[1], पूर्णसिंह के 'आचरण की सभ्यता' तथा 'मजदूरी और प्रेम,' रामचन्द्र शुक्ल के 'कविता क्या है ?' और 'साहित्य' आदि निबन्धों में अत्यन्त शिथिलता होने के कारण उनके निबन्धत्व में दोष आ गया था। द्विवेदी जी ने उनका संस्कार और परिष्कार करके उन्हें निबन्ध का आदर्शरूप दिया।[2]

रीति और शैली

लेखक की भाषा की रीति और शैली का वास्तविक दर्शन उसके निबन्धों में ही होता है। क्योंकि नाटक, उपन्यास, कहानी आदि की अपेक्षा वह निबन्धों में अधिक स्वच्छन्दता पूर्वक लेखनी चलाकर अपने व्यक्तित्व और प्रवृत्ति की निर्बन्ध अभिव्यंजना कर सकता है। द्विवेदी-युग की भाषा और शैली का रूप भी इन्ही निबन्धों में विशेष निखरा। द्विवेदी जी ने गद्यभाषा का परिष्कार और संस्कार भी इन्हीं निबन्धों के द्वारा किया। यह बात नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियों से स्पष्ट प्रमाणित है। 'भाषा और भाषा-सुधार' अध्याय में द्विवेदी जी की भाषा की रीति और शैली की विवेचना करते समय यह कहा गया था कि उनकी प्रौढ़ रचनाओं में आद्योपान्त कोई एक ही रीति या शैली नहीं है। उनमें सभी रीतियों और शैलियों के बीज विद्यमान थे जो आगे चलकर उनके युग के गद्य-लेखकों की कृतियों में विकसित हुए। द्विवेदी जी ने अपने युग के लेखकों की रीति और शैली का भी परिमार्जन किया था। निम्नांकित उद्धरण उनके शैली-सुधार-कार्य को और भी स्पष्ट कर देंगे :—

	मूल	संशोधित
(क)	गेरुए वस्त्र की पूजा छोड़ो। गिरजे की घन्टी क्यों सुनते हो ? रविवार क्यों मनाते हो ? पाँच वक्त की निमाज किस काम की ? दोनों	गेरुये वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो ? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो ? रवि-वार क्यों मनाते हो ? पांच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो, त्रिकाल सन्ध्या क्यों करते

१. 'सरस्वती', १९०९ ई०

२. द्विवेदी जी द्वारा संशोधित उपर्युक्त तथा अन्य निबन्ध काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियों में देखे जा सकते हैं।

मूल	संशोधित
वक्तों की संख्या से क्या लाभ ? मजदूर के अनाथ नैनों, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। दिनरात का साधारण जीवन एक ईश्वरीय रूप-भजन हो जायगा ।	हो ! मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो । फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो जायगा ।
मजदूरी तो मनुष्य का व्यष्टी रूप समष्टी रूप का परिणाम है ।[1]	मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि रूप का व्यष्टि रूप परिणाम है ।
(ख) स्वर्णमुद्रा की आत्मकहानी	एक अशरफी की आत्मकहानी
गत सोमवार को मैं पं० शिव जी के सहित, कलकत्ते गया था। घूमते २ हम दोनों अद्भुतालय अजायबघर की तरफ जा निकले। (अजायबघर) की बात ही क्या ! यहां की सर्व संग्रहीत वस्तु अजीब हैं । वहां देश देशान्तर के सुन्दर, भयानक, छोटे, बड़े जीवजन्तु देखने में आते हैं यहाँ पर रंग बिरंगी चिड़ियाँ हैं, वहाँ पर नानाप्रकार की मछलियां हैं। कहीं शेर कटघरे में बन्द इस बात को बताते हैं कि 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य', और कहीं अजगरों को देखकर जगत्पिता की करुणा याद आती है।[2]	एक दफा मैं पंडित जी के साथ कलकत्ते गया। घूमते घामते हम दोनों अजायबघर की तरफ जा निकले। अजायबघर की बात ही क्या ? वहाँ की सभी चीजें अजीब हैं। कहीं देश देशान्तर के अद्भुत २ जीव जन्तु हैं, कहीं पर रंग बिरंगी चिड़ियां हैं, कहीं नाना प्रकार की मछलियां हैं, कहीं शेर कटघरे में बन्द इस बात को बतलाते हैं कि बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, और कहीं अजगरों को देखकर हिन्दुस्तान की अजगर-वृत्ति का स्मरण होता है।

१. 'पूर्णसिंह', मजदुरी और प्रेम, 'सरस्वती', १९११ ई०, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित 'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ ।

२. वेंकटेश नारायण तिवारी 'एक अशरफी की आत्मकहानी,' सरस्वती १९०६ ई०, उपर्युक्त स्थान पर रक्षित प्रतियाँ ।

(ग) कविता मनुष्यता की संरक्षिणी है कविता सृष्टि के किसी पदार्थ वा व्यापार के उन अंशों को छांट कर प्रत्यक्ष करती है जिनकी उत्तमता वा बुराई मनुष्यमात्र की कल्पना में इतनी प्रत्यक्ष हो जाती है कि बुद्धि को अपनो विवेचन क्रिया से छुट्टी मिल जाती है और हमारे मनोवेगों के प्रवाह के लिए स्थान मिल जाता है। तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उभाड़ने की एक युक्ति है।[1]	कविता से भाव की रक्षा होती है। सृष्टि के पदार्थ या व्यापार विशेष को कविता इस तरह व्यक्त करती है मानों वे पदार्थ या व्यापार विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्तिमान् दिखाई देने लगते हैं। उनकी उत्तमता या अनुत्तमता का विवेचन करने में बुद्धि से काम लेने की जरूरत ही नही। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों के प्रवाह जोर से बहने लगते हैं तात्पर्य यह कि कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का एक उत्तम साधन है।

द्विवेदी-युग की गद्य भाषा में मुख्यतः चार रीतियां दिखाई देती है :- संस्कृत-पदावली, उर्दू ए-मुअल्ला, ठेठ हिन्दी और हिन्दुस्तानी। गोविन्द नारायण मिश्र, श्यामसुन्दरदास चंडीप्रसाद हृदयेश आदि ने संस्कृत-गर्भित हिन्दी का प्रयोग किया है और अन्य भाषाओं के शब्दों को दूध की मक्खी की भांति निकाल फेंका है। वस्तुत: हिन्दी का कोई लेखक उर्दू ए-मुअल्ला का एकान्त लेखक नहीं हुआ। यदि वह ऐसा करता तो हिन्दी का लेखक ही न रह जाता। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, प्रेमचन्द आदि ने यत्र तत्र अरबी-फारसी- प्रधान भाषा का प्रयोग किया है, यथा 'सेवासदन' में म्यूनिसिपल बोर्ड की बैठक के अवसर पर। ठेठ हिन्दी का वास्तविक दर्शन हरिऔध जी के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में मिलता है। प्रेम चन्द, जी॰ पी॰ श्रीवास्तव आदि ने भी अपने देहाती पात्रों के मुख से ठेठ हिन्दी बुलवाई है। हिन्दुस्तानी [वर्तमान रेडिओ की हिन्दुस्तानी कही जाने वाली उर्दू ए-मुअल्ला नहीं] का सुन्दर रूप देवकी नन्दन खत्री के उपन्यासों में दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्द तथा कृष्णानन्द गुप्त आदि की भाषा में भी हिन्दी उर्दू के समिश्रण से हिन्दुस्तानी का प्रयोग हुआ है। संस्कृत की परुषा, उपनागरिका और कोमला वृत्तियों की दृष्टि से भी हम द्विवेदी-युग के गद्य की समीक्षा कर सकते हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, श्यामसुन्दरदास आदि की भाषा में कर्णकटु शब्दों के बहुत प्रयोग के कारण परुषा, रायकृष्ण दास, वियोगी हरि आदि के गद्यकाव्यों में कोमलकान्त पदावली का समावेश होने के कारण कोमला और रामचन्द्र शुक्ल,

---

१. १६०६ ई॰ की 'सरस्वती' की उपर्युक्त प्रतियां में रामचन्द्र शुक्ल लिखित, 'कविता क्या है।'

सत्यदेव आदि की रचनाओं में उपर्युक्त दोनों वृत्तियों का समन्वय होने के कारण उपनागरिका वृत्ति का प्रयोग हुआ है।

द्विवेदी-युग की भाषा–शैली के निम्नांकित सात वर्ग किए जा सकते हैं:-- वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, चित्रात्मक, वक्तृतात्मक, संलापात्मक, विवेचनात्मक और भावात्मक। राम नारायण मिश्र, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सत्यदेव आदि के भौगोलिक लेखों, काशी-प्रसाद जायसवाल, रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीधर बाजपेयी आदि के द्वारा लिखित जीवनचरित्रों प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा, वृन्दाबनलाल वर्मा आदि की अधिकांश कहानियों, यशोदा नन्दन अखौरी, वेंकटेश नारायण तिवारी, रामावतार पांडेय आदि के कथात्मक निबन्धों और मिश्रबन्धु आदि की परिचयात्मक आलोचनाओं की भाषा-शैली वर्णनात्मक है। इस शैली की विशेषता यह है कि लेखकों ने शब्द-चयन में किसी एक ही भाषा के शब्द-ग्रहण और अन्य भाषाओं के शब्दों के बहिष्कार का आग्रह नहीं किया है। आवश्यकतानुसार उन्होंने किसी भी भाषा के शब्द को निस्संकोच भाव से अपनाया है। भावव्यंजना अत्यन्त सरल और सुबोध हुई है। किसी भी प्रकार की क्लिष्टता या जटिलता अर्थ ग्रहण में बाधक नहीं है।

व्यंग्यात्मक शैली द्विवेदी-युग की भाषा की प्रमुख विशेषता है। द्विवेदी-युग के सम्पादकों और आलोचकों–बालमुकुन्द गुप्त, गोविन्द नारायण मिश्र, लक्ष्मीधर बाजपेयी आदि–के अतिरिक्त धर्म प्रचारकों ने भी इस शैली का अतिशय अवलम्बन किया। द्विवेदी-सम्बन्धित अनेक वाद-विवादों की चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ के 'साहित्यिक संस्मरण' अध्याय में हो चुकी है। उन वाद-विवादों और शास्त्रार्थ-पद्धति पर की गई आलोचनाओं में व्यंग्यात्मक शैली का पूरा विकास हुआ है। इस शैली की विशेषता यह है कि लेखकों ने किसी बात को सीधे सादे स्पष्ट शब्दों में न कहकर उसे घुमा फिराकर लक्षणा और व्यंजना के द्वारा व्यक्त किया है। यह शैली कहीं तो आक्षेप-प्रक्षेप से पूर्ण है, यथा उपर्युक्त विवादों में और कहीं काव्योपयुक्त ध्वनि के रूप में प्रयुक्त हुई है, यथा गद्य काव्यों, नाटकों आदि में। भावना की गहनता और कोमलता के अनुसार ही विवादों में अन्य भाषाओं के भी चुभते हुए शब्दों का लट्ठमार प्रयोग किया गया है किन्तु दूसरे प्रकार की रचनाओं में संस्कृत की भावपूर्ण और ध्वन्यात्मक पदावली का ही प्रायः व्यवहार हुआ है।

चित्रात्मक शैली का कला-सौन्दर्य-प्रेमी गद्य-लेखक वस्तुतः एक चित्रकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि लेखक के पास शब्द उपकरण हैं और चित्रकार के पास रंग, फलक तथा तूलिका। साधन की कमी के कारण लेखक का चित्रांकन-कर्म कठिनतर

है। इस शैली के द्विवेदी-युगीन प्रतिनिधि लेखक चण्डीप्रसाद हृदयेश हैं। उनकी प्रत्येक कृति इस शैली से विशिष्ट है। जयशंकरप्रसाद की कहानियों, रायकृष्णदास के गद्य-काव्यों, पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्धों आदि में भी स्थान स्थान पर इस शैली का प्रयोग हुआ है। इस शैली के लेखकों ने संस्कृत की कोमलकान्त पदावली के प्रति विशेष आग्रह किया है।

धार्मिक, राजनैतिक आदि आन्दोलनों, उनके वक्ताओं और उपदेशकों ने वक्तृतात्मक शैली को विशेष प्रोत्साहन दिया। हिन्दी के प्रायः सभी पाठकों को सब कुछ सिखाने की आवश्यकता थी। परिस्थितियों ने द्विवेदी-युग के साहित्यकार को स्वभावतः उपदेशक और वक्ता बना दिया। फलस्वरूप लेखकों ने वक्तृतात्मक शैली का प्रयोग किया। इस शैली की विशेषता यह है कि लेखक सभा-मंच पर खड़े होकर भाषण करने वाले वक्ता की भांति धारावाहिक और ओजपूर्ण भाषा में अपना वक्तव्य देता हुआ चला जाता है। पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिए वह बीच बीच में संबोधन-शब्दों के प्रयोग, वाक्यों और काव्यांशों की पुनरावृत्ति, प्रश्नों की योजना, विरोध और विरोधाभास, चमत्कारपूर्ण विशेषणों आदि की सहायता भी लेता है। द्विवेदी-युग के साहित्यकारों में श्यामसुन्दरदास और चतुरसेन शास्त्री इस शैली के श्रेष्ठ लेखक हैं। पद्मसिंह शर्मा, पूर्णसिंह, सत्यदेव आदि की भाषा में भी इसका यथास्थान समावेश हुआ है। इस शैली की रचनाओं की भाषा-रीति लेखकों के इच्छानुसार विभिन्न प्रकार की है। उदाहरणार्थ, श्यामसुन्दरदास की भाषा शुद्ध संस्कृत-प्रधान और चतुरसेन शास्त्री की संस्कृत-पदावली यत्र-तत्र उर्दू शब्दों से गुम्फित है।

संलापात्मक शैली का लेखक पाठक से एक घनिष्ठ सम्बन्ध सा स्थापित कर लेता है। वह अपने वक्तव्य को इस घरेलू ढंग से उपस्थित करता है कि मानो पाठक से समालाप कर रहा हो। वक्तृतात्मक और संलापात्मक शैलियों का मुख्य अन्तर यह है कि पहली में ओज की प्रधानता रहती है और दूसरी में माधुर्य की। द्विवेदी-युग में संलापात्मक शैली का सिद्ध लेखक कोई नहीं हुआ। नाटकों या संलाप-रचनाओं[1] की भाषा शैली को संलापात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ लेखक की प्रवृत्ति और व्यक्तित्व की कोई व्यंजना नहीं होती। वह तो लेखक-सन्निवेशित पात्रों के कथोपकथन की अनिवार्य प्रणाली है। कहानियों और उपन्यासों के पात्रों के कथोपकथन में लेखकों की संलापात्मक प्रवृत्ति अवश्य दिखाई देती है। लाला पार्वतीनन्दन के 'तुम हमारे कौन हो',[2] श्रीमती बंग महिला के 'चन्द्रदेव से

---

१. राय कृष्णदास का 'संलाप' आदि।
२. 'सरस्वती', १९०४ ई०, पृष्ठ ११८।

मेरी बातें'[1] आदि निबन्धों में भी संलापात्मक शैली का सुन्दर रूप व्यक्त हुआ है। इस शैली के लेखों में हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी का स्वच्छन्द प्रयोग हुआ है। राय कृष्णदास वियोगी हरि आदि के अनेक गद्यगीत भी इस शैली से विशिष्ट हैं।

ठोस ज्ञान की अभिव्यंजन की दृष्टि से विवेचनात्मक शैली का साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इस शैली का लेखक अपने निश्चित विचारों को निश्चित शब्दावली के द्वारा सारगर्भित ढंग से व्यक्त करता है। अन्य शैलियों से इस शैली की मुख्य विशिष्टता यह है कि इसमें विशेष विवेचन की सूक्ष्मता और विचारों की गहराई अपेक्षाकृत अधिक होती है। अन्य शैलियों में संवेदनात्मकता का भी बहुत कुछ पुट रहता है किन्तु विवेचनात्मक शैली हृदय संवादी न होकर मस्तिष्क प्रधान ही है। श्यामसुन्दरदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी. गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि के चिन्तनात्मक लेखों में इस शैली का अच्छा विकास हुआ है। रामचन्द्र शुक्ल के चिन्तनात्मक निबन्ध उन्हें निर्विवाद रूप से शैली का महत्तम द्विवेदी-युगीन लेखक सिद्ध करते हैं। द्विवेदी-युग के विवेचनात्मक शैली के लेखकों की भाषा प्रायः संस्कृत-प्रधान ही है। अपनी विचार-व्यंजना को असमर्थ समझकर पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने कहीं कहीं कोष्टक और कहीं कहीं वाक्यक्रम में ही अँग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है।[2]

भावात्मक शैली की विशेपता काव्यमयी भावव्यंजना है। इस शैली के लेखकों ने भावों की कोमलता के कारण तर्कसंगत शब्दावली के स्थान पर हृदयहारी कोमल कान्त पदावली के सन्निवेश पर ही विशेष ध्यान दिया है। इसके दो प्रधान रूप परिलक्षित होते हैं। पहला रूप 'कादम्बरी' आदि संस्कृत गद्यकाव्यों से प्रभावित चंडीप्रसाद हृदयेश, गोविन्द नारायण मिश्र आदि की आलंकारिक शैली है जिसमें उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि अलंकारों की योजना द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन का प्रयास किया गया है।इस का उत्कृष्टतम रूप हृदयेश जी की रचनाओं में ही है। कुछ लेखकों ने कहीं कहीं बरबस और अतिशय अलंकार-योजना के द्वारा भाषा और भाव के सौन्दर्य का नाश कर दिया है, यथा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'अनुप्रास का अन्वेपण'[3] लेख में। इस शैली का दूसरा रूप पूर्णसिंह, रायकृष्णदास, वियोगीहरि, चतुरसेन शास्त्री आदि की निरलंकार या यत्र तत्र अनायास ही अलंकृत, प्रसाद, माधुर्यमयी मार्मिक भाव व्यंजना में मिलता है। 'मजदूरी और प्रेम', 'साधना', 'अन्तर्नाद', 'अन्तरतल' आदि रचनाएँ इस शैली की दृष्टि से विशेप उदाहरणीय हैं।

---

१. 'सरस्वती' १६०४ ई०, पृष्ट ४४० ।

२. उदाहरणार्थ 'विश्व-साहित्य', और 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका।

३. छठे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्यविवरण, भाग २ पृ० १६····।

आलोचना

भारतेन्दु-युग ने कवि, नाटककार, कथाकार , निबन्धकार आदि के पद से जीवन की सर्वतोमुखी आलोचना की और कारयितृप्रतिभा ही उन समीक्षाओं का कारण रही। किन्तु उस युग का कोई भी साहित्यकार भावयितृप्रतिभा के आधार पर साहित्य का गण्यमान्य समालोचक नहीं हुआ। समीक्षा-सिद्धांत के क्षेत्र में भारतेन्दु ने 'नाटक' नाम की पुस्तिका तो लिखी भी परन्तु रचनाओं की आलोचना में कुछ भी नहीं प्रस्तुत किया। १८९७ ई० की नागरी प्रचारिणी पत्रिका [पृष्ठ १५ से ४७] में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' निबन्ध प्रकाशित हुआ। उसमें समालोचना के गुणों—मूल ग्रन्थ का ज्ञान, सत्यप्रीति, शान्त स्वभाव और सहृदयता—का परिचयात्मक शैली में वर्णन किया गया, आलोचना के तत्वों का ठोस और सूक्ष्म विवेचन नहीं। उसी पत्रिका [पृष्ठ ८८ से ११६] में जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' लिखा। वह लेखक के स्वतंत्र चिन्तन का फल न होकर अँग्रेजी साहित्यकार पोप के 'एसे ऑन क्रिटिसिज़्म' का अनुवाद था। उसी पत्रिका के अन्तिम ५३ पृष्ठों में अम्बिकादत्त व्यास का 'गद्यकाव्य-मीमांसा' लेख छपा। उस लेख में आलोचक ने आधुनिक गद्यकाव्य की मौलिक समीक्षा न करके संस्कृत आचार्यों, विशेष कर साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ, के अनुसार संस्कृत की कथा और आख्यायिका का सांगोपांग वर्णन किया है। १९०१ ई० की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने 'नायिकाभेद' [पृष्ठ १९५] और कविकर्त्तव्य' [पृष्ठ २३२] लेख लिखे। इन लेखों में उन्होंने कवियों को युग-परिवर्तन करने की चेतावनी दी। नायिकाभेद-विषयक पुस्तकों के लेखन और प्रचार को रोकने के लिए उन्होंने आचार्य के साहित्यकार स्वर में कहा—

" इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि न पहुंचेगी, उल्टा लाभ होगा। इनके न होने ही से समाज का कल्याण है। इनके न होने ही से नववयस्क युवाजनों का कल्याण है। इनके न होने ही से इनके बनाने और बेचनेवालों का कल्याण है।[1]"

उन्होंने संहारात्मक सिद्धान्तों का केवल उपदेश ही नहीं दिया, कवियों के समक्ष निश्चित रचनात्मक कार्यक्रम भी उपस्थित किया—

"आजकल हिन्दी संक्रान्ति की अवस्था में है। हिन्दी कवि का कर्त्तव्य यह है कि वह लोगों की रुचि का विचार रख कर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाय।......"[2]

---

१. 'रसज्ञरंजन', नायिकाभेद', पृ० १६।
२. 'रसज्ञरंजन', पृ० १७।

उसी वर्ष की 'सरस्वती' [पृष्ट ३२८] में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'कवि और काव्य' लेख छपा जिसमें उन्होंने संस्कृत आचार्यों के मतानुसार कवि और काव्य की रूपरेखा का चित्र खींचा। जैसा ऊपर कहा जा चुका है १६०३ ई० से द्विवेदी-युग आरम्भ हुआ उसमें सभी विषयों पर सैद्धान्तिक आलोचनाएँ लिखी गईं। भारतेन्दु-युग ने अपने को छन्द, अलंकार आदि के बन्धन से मुक्त करने का प्रयास किया था परन्तु वह अधूरा ही रहा। उन रीतिकालीन बन्धनों का प्रभाव द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध में भी बना रहा। परिवर्तनशील परिस्थितियाँ और द्विवेदी जी की आदर्श भावनाओं के परिणामस्वरूप द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में उनका प्रभाव नष्ट होगया।

संस्कृत-आचार्यों के अनुकरण पर पिंगल, रस, अलंकार और नायक-नायिका भेद पर सामयिक पत्रों में प्रकाशित लेखों के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। हरदेवप्रसाद ने 'पिंगल वा छन्दपयोनिधि भाषा' (सं० १६८१), कन्हैयालाल मिश्र ने 'पिंगलसार' (द्वितीय सं० १६११ ई०), जगन्नाथप्रसाद भानु ने 'काव्यप्रभाकर' (सं० १६६६), और 'छन्दः सारावली' (१६१७ ई०), बलदेवप्रसाद निगम ने 'श्यामालंकार' (१६६७), बाबूराम शर्मा ने 'काव्य प्रदीपिका' (सं० १६६७), मांगीलाल गुप्त ने 'भाषा पिंगल' (सं० १६६७) रामनरेश त्रिपाठी ने 'पद्य प्रबोध' (१६१३ ई०) और 'हिन्दी पद्य रचना' (१६७४ वि०) विनायकराव ने 'काव्य-कुसुमाकर',[1] पुत्तनलाल विद्यार्थी ने 'सरल पिंगल' और वियोगी हरि ने 'वृत्तचन्द्रिका' (१६७६ वि०) नामक पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों में छन्दःशास्त्र के नियमों का संक्षिप्त निरूपण किया गया। रस और अलंकार के क्षेत्र में 'रस वाटिका',[2] 'समास-विवरण',[3] 'काव्यप्रवेश',[4] 'अलंकार-प्रबोध',[5] 'अलंकार प्रश्नोत्तरी',[6] 'हिन्दी-काव्यालंकार',[7] 'प्रथमालंकार-निरूपण',[8] 'नवरस',[9] 'अनूदित साहित्य दर्पण',[10] 'साहित्य-

---

१. प्रथम भाग, सं० १६७३ और द्वि० भाग १६१६ ई०।
२. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, सं० १६६०।
३. अध्यापक रामरत्न।
४. अध्यापक रामरत्न, सं० १६७१।
५. अध्यापक रामरत्न सं० १६७४।
६. जगन्नाथ प्रसाद साहित्याचार्य, १६१८ ई०।
७. जगन्नाथ प्रसाद साहित्याचार्य, १६१८ ई०।
८. चन्द्रशेखर शास्त्री, १६७६ वि०।
९. गुलाबराय, सं० १६७०।
१०. शालग्राम शास्त्री, सं० १६७८।

परिचय',[1] और 'भाषा-भूषण',[2] नामक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। द्विवेदी जी के कठोर अनुशासन के कारण नायक-नायिका भेद और नख शिख-वर्णन पर अधिक ग्रन्थ-रचना नहीं हुई। आरम्भ में विद्याधर त्रिपाठी ने 'नवोढ़ादर्श' (१६०४ ई०) और माधवदास सोनी ने 'नखशिख' (सं० १६६२) लिखे। आगे चलकर केवल जगन्नाथप्रसाद भानु की 'रस-रत्नाकर' १६०६ ई० और 'नायिका भेद-शंकावली' (१६२५ ई०) को छोड़कर इस विषय पर कोई अन्य उल्लेखनीय रचना नहीं हुई।

द्विवेदी-युग में लिखित अधिकांश साहित्य शास्त्र-समीक्षाएँ ठोस और गम्भीर नहीं हैं। रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, श्यामसुन्दरदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि कुछ ही लेखकों ने साहित्य सिद्धान्तों का सूक्ष्म और विशद विवेचन किया। सुधाकर द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य' लेख में संस्कृत की सहायता से साहित्य की व्याख्या की और साहित्य को सांगोपांग काव्य बतलाया। साहित्य के विविध पक्षों का विस्तृत विवेचन न करके उन्होंने उसके रूप का एक स्थूल लक्षण मात्र बताया—"काव्य के नाटक, अलंकार...जितने अंग हैं सबों के सहित होने से साहित्य कहा जाता है।"[3] अपने उसी लेख में उन्होंने राजशेखर, मम्मट आदि संस्कृत-आचार्यों का उद्धरण देते हुए काव्य की थोथी परिभाषा की—"जो देश की भाषा हो उसी में कुछ विशेष अर्थ दिखलाने को जिससे उस देश के सुनने वालों को एक रस मिल जाने से खुशी हो, काव्य कहते हैं।" काव्य को किसी देश-भाषा और उसी देश के सुनने वालों तक सीमित कर देने में अव्याप्ति है। 'रस', 'खुशी' आदि शब्दों का ढीले ढाले अर्थ में प्रयोग करने से वाक्य की गम्भीरता नष्ट हो गई है और वह अभीष्ट अर्थव्यंजना करने में असमर्थ हो गया है। गोविन्दनारायण मिश्र ने द्वितीय साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर अपने सभापति के भाषण में लच्छेदार और आलंकारिक भाषा में साहित्य का काव्यमय चित्र खींचा।[4] उन्होंने उसकी कोई चिन्तनाजनक परिभाषा नहीं की। गोपालराम

---

१. रामशंकर त्रिपाठी, सं० १६८१।

२. व्रजरत्नदास।

३. प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य-विवरण, भाग २, पृ० २४।

४. पूरा उद्धरण निम्नांकित है:—

कोई कहते हैं कि साहित्य स्वर्ग की सुधा है, यह किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं, रचयिता की भी निज की वस्तु नहीं, यह देवताओं की अमृतमयी रसीली वाणी है। कोई कहते हैं स्त्री पुरुषों की विचार-शक्ति को पुष्ट कर ज्ञान और विवेक बुद्धि का गठ जोड़ा बांध, सार्वजनिक कर्त्तव्य बुद्धि और सब सद्‌गुणों सहित शील सम्पन्न बनाने के साथ ही मनुष्यों के मन को सर्वोत्कृष्ट अपूर्व अलंकारों से अलंकृत कर अपूर्व रसास्वादन का आनन्द उपभोग कराने के अद्वितीय साधन का नाम ही साहित्य है। मैं भी इन विद्वानों के स्वर में अपना

गहमरी ने अपने 'नाटक और उपन्यास' लेख में चुलबुली भाषा में नाटक से उपन्यास की भिन्नता को लेकर कुछ स्थूल बातें बतलाईं। उपन्यास के तत्वों की सूक्ष्म विवेचना नहीं की। बदरी नारायण चौधरी ने रूपक का लक्षण बतलाया—रूप के आरोप को रूपक कहते हैं जो सामान्यत: चार प्रकार से अनुकरण किया जाता है।"[१] जगन्नाथदास विशारद ने नाटक की परिभाषा करते हुए लिखा—'नाटक उसको कहते हैं जिसमें नाट्य हो, 'अवस्थानुकृति नाट्यम्' अवस्था का अनुकरण करने का नाम नाट्य है।"[२] श्यामसुन्दरदास ने भी यही त्रुटि की है—"किसी भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं।"[३] "इन समीक्षकों ने धनञ्जय और धनिक के कथन का अक्षरशः अनुवाद मात्र कर दिया है। उन्हें चाहिए था कि 'अवस्था' और 'अनुकृति' शब्दों की विशद् व्याख्या करके उनके अर्थ को स्पष्ट करते। दश रूपक में प्रयुक्त 'अवस्था' का अर्थ क्षुधावस्था, तुष्टावस्था बाल्यावस्था, वृद्धावस्था, सम्पन्नावस्था, विपन्नावस्था आदि न होकर धीर, उदात्त आदि नायकों के स्थायी भाव की अवस्था है। इसका कारण संस्कृत नाटककार की दृष्टि की विशिष्टता है। उसका मानव जीवन के धर्म आदि पदार्थों में से किसी एक को पाने का प्रयास करता है और संघर्षों के पश्चात् उसे प्रतिनायक के विरोध पर विजय तथा अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती है। नाट्यकला के प्रभाव से संस्कृत-नाटक का पाठक या

स्वर मिलाकर यही कहता हूँ कि सरद् पूनों के समुदित पूरनचन्द की छिटकी जुन्हाई सकल मन भाई के भी मुँह मसि मल, पूजनीय अलौकिक पद नख चन्द्रिका की चमक के आगे तेजहीन मलीन औ कलंकित कर दरसाती, लजाती, सरस सुधा धवली, अलौकिक सुप्रभा फैलाती, अशेष मोह जड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती, मुकाती निज भक्त जन मन वांछित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारों हाथों से मुक्ति लुटाती, सकल कलापालाप कलकलित सुललित सुरीली मीड़ गमक झनकार सुतार तार सुर ग्राम अभिराम लसित बीन प्रवीन पुस्तकाकलित मखमल से समधिक सुकोमल अतिसुन्दर सुविमल लाल प्रवाल से लाल कर पल्लव वल्लव सुहाती, विविध विद्या विज्ञान सुभ सौरभ सरसाते विकसे फूले सुमनप्रकाश हास वास वसे अनायास सुगंधित · सित वसन लसन सोहा सुप्रभा विकसाती, मानसविहारी मुक्ताहारी नीर क्षीर विचार सुचतुर कवि कोविद राज राजहंस हिय सिंहासन निवासिनी मन्दहासिनी त्रिलोक प्रकासिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बल वाली परम प्रभावशाली सुजन मनमोहनी नव रस भरी सरस सुखद विचित्र वचन रचना का नाम ही साहित्य है।

द्वितीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का कार्य-विवरण, भाग १, पृ० २६, ३०।

१. द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य-विवरण, भाग १ पृष्ठ ४५।
२. द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य-विवरण, भाग २, पृष्ठ २३८।
३. रूपक रहस्य, पृ० ४७।

दर्शक नाटक के प्रत्येक कार्य को नायक की दृष्टि से ही देखता है। नायक ही सम्पूर्ण नाटक का केन्द्र होता है। अतएव उसी की मानसिक अवस्था की अनुकृति नाटक का लक्षण मानी गई है। 'अनुकृति' का अर्थ 'अनुकरण' करने में भी उपर्युक्त सभी समीक्षकों ने भूल की है। नाटक अनुकरण नहीं है। अनुकरण में अनुकार्य और अनुकारक दोनों उपस्थित रहते हैं किन्तु नाटक में अनुकारक अभिनेताओं के समक्ष अनुकार्य नायकादि उपस्थित नहीं रहते अनुकृति का वास्तविक अर्थ अनुव्यवसाय पुनः सर्जन है। नाटक में अभिनेता द्वारा नायक के स्थायी भाव की पुनः सर्जना की जाती है। अभिनय, नेपथ्य आदि इसी अनुसर्जना के साधक हैं। नाट्यकला का विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है। इस आलोचना का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उपर्युक्त समालोचकों ने साहित्य-सिद्धान्तों का तर्क सम्मत विवेचन नहीं किया। प्रेमचन्द ने अपने 'उपन्यास-रचना'[1] लेख में पाश्चात्य आलोचकों के मतानुसार उपन्यास के तत्वों और साधनों का वर्णनात्मक शैली में निरूपण किया। श्यामसुन्दरदास के 'नाट्यशास्त्र' निबन्ध[2] का आधार धनञ्जय का दसरूपक और विश्वनाथ-कृत साहित्य-दर्पण है। उनका 'रूपक-रहस्य' इसी लेख का परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण है।

रामचन्द्र शुक्ल की प्रवृत्ति आरम्भ से ही गम्भीर और विवेचनात्मक रही। अपने 'साहित्य'[3] निबन्ध में उन्होंने उसके तत्वों की सूक्ष्म व्याख्या की। उसमें उन्होंने साहित्य को काव्य सम्बन्धी साहित्य माना है—"विज्ञान पदार्थ या तत्व का बोधक है और साहित्य कल्पना और विचार का, विज्ञान ब्रह्मांड व्याप्त है और साहित्य का स्थान किसी एक व्यक्ति में।" किन्तु आगे चलकर उन्होंने उसकी सीमा को अधिक विस्तृत माना। "साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।"[4] तेरहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर द्विवेदी जी ने गागर में सागर भरने की कहावत चरितार्थ करते हुए साहित्य की संक्षिप्त और सुन्दर परिभाषा की—"ज्ञान राशि के संचित कोष ही का नाम साहित्य है।"[5] पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व-साहित्य' में विज्ञान पर भी एक अध्याय लिखकर साहित्य को अँगरेजी 'लिटरेचर' का समानार्थी माना है। श्यामसुन्दरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' में (पृष्ठ

---

१. माधुरी, भाग १, खंड १, पृ० ३५४।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका सं० १९८२, पृ० ४३ से १०२।
३. सरस्वती, १९०४ ई०, पृ० १५४ और १५५।
४. इन्दौरवाले भाषण का आरम्भ।
५. तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष पद से भाषण

३२, ३३) साहित्य और विज्ञान के अन्तर का विवेचन करके साहित्य को केवल काव्य सम्बन्धी साहित्य के अर्थ में ग्रहण किया है। शुक्ल जी ने द्विवेदी-युग में आचार्य-पद्धति पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उसके अभाव की कुछ कुछ पूर्ति उनके निबन्धों द्वारा हो जाती है। 'कविता क्या है',[1] 'काव्यमय प्राकृतिक दृश्य',[2] आदि में उन्होंने साहित्य सम्बन्धी विषयों की तर्कपूर्ण व्याख्या की है। जायसी, सूर, तुलसी आदि पर लिखित आलोचनाओं में भी यथास्थान सिद्धान्तों का अभिनिवेश-पूर्वक निरूपण किया है।[3] द्विवेदी-युग के सिद्धान्त समीक्षकों में शुक्ल जी के अतिरिक्त चार और आलोचकों का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। गुलाबराय ने अपने 'रसों का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध'[4] नामक लेख तथा 'नव रस ग्रन्थ' में, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी अपने 'हिन्दी साहित्य विमर्श' (सं० १९८०) और 'विश्व-साहित्य' (सं० १९८१) में तथा श्यामसुन्दरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' (सं० १९७६) में भारतीय और पश्चिमीय साहित्य-सिद्धान्तों सामंजस्य और गम्भीर विवेचना की है। रामचन्द्र शुक्ल और गुलाबराय के अधिकांश सिद्धान्त भारतीय और विचार-व्यंजना प्रणाली पश्चिम की है। उन्होंने यथास्थान पश्चिम के विचारों का भी सन्निवेश कर दिया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और श्यामसुन्दरदास की अभिव्यंजना-शैली तो पश्चिम की है ही, उन्होंने पाश्चात्य विचारों को भी प्रधानता दी है। भारतीयता के संस्कार के कारण उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों का यथास्थान सन्निवेश किया है, उदाहरणार्थ 'साहित्यालोचन' के काव्य, नाटक, रस आदि प्रकरणों में। किन्तु उनका संस्कृत साहित्य का ज्ञान परार्जित है। रामचन्द्र शुक्ल की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी आलोचनाओं में सर्वत्र ही स्वतंत्र चिन्तन और मौलिक विवेचन की छाप है। 'साहित्यालोचन' विचारों की दृष्टि से मौलिक न होते हुए भी उस विषय पर हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है। उसने अतीत में हिन्दी की बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है और वर्तमान में भी कर रहा है। शालग्राम शास्त्री के 'साहित्य-दर्पण' ने एक टीका होते हुए भी हिन्दी के तद्विषयक अभाव की अनुपेक्षणीय पूर्ति की है। द्विवेदी-युग में जब हिन्दी-साहित्य का विकास हो रहा था, संस्कृत के साहित्य-

---

१. सरस्वती, १९०९ ई०, पृ० १५५।

२. माधुरी, भाग १, खंड २, सं० ५ और ६, पृ० ४७२ और ६०७, १९२३ ई०।

३. "कवि कर्मविधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव पक्ष और भाव पक्ष। कवि एक ओर ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन से कोई भाव उठाने या उठे हुए भी को और जगाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भाव के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है......आदि

"त्रिवेणी" महाकवि सूरदास पृ० ६१।

४. नवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-विवरण. भाग २, पृ० ७९।

सिद्धान्तों की सम्यक् विवेचना की बड़ी आवश्यकता थी। थोड़े बहुत जो लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए उनमें किसी आचार्य के मत की अन्तः समीक्षा नहीं हुई। इसका कारण यह था कि यदि आलोचक संस्कृत का पंडित होता था तो हिन्दी से अनभिज्ञ था और यदि हिन्दी का विद्वान होता था तो संस्कृत का पल्लवग्राही। शास्त्री जी हिन्दी और संस्कृत दोनों ही साहित्यों के धुरन्धर विद्वान थे अतएव उन्होंने विश्वनाथ के सिद्धान्तों की सफलतापूर्वक व्याख्या की।

द्विवेदी-युग में टीका पद्धति पर तीन प्रकार की रचनाएँ हुईं—अर्थ-परिचय, रचना-परिचय और रचनाकार-परिचय के रूप में। इन परिचयों को टीका-पद्धति के अन्तर्गत मानने का आधार यह है कि इनकी विचारव्यंजना-शैली उसी पद्धति की भाँति वर्णनात्मक है और बीच बीच में उसी की भांति काव्यगत विशेषताओं का भी परिचय दिया गया है। अर्थ परिचय दो प्रकार का है—शुद्ध टीका और आलोचनाओं के बीच बीच में सुन्दर काव्यमय पदों की व्याख्या। साहित्यदर्पण की टीका का उल्लेख ऊपर हो चुका है। लाला भगवानदीन ने संस्कृत की टीका-पद्धति पर 'रामचन्द्रिका' आदि की आलोचना की जिसमें उन्होंने पदों के अर्थ की व्याख्या के साथ साथ छन्द, अलंकार आदि का भी निर्देश किया। पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की टीका में उपर्युक्त समीक्षा के अतिरिक्त बिहारी के दोहों का तुलनात्मक दृष्टि से भी विवेचन किया। बिहारी को श्रेष्ठ प्रमाणित करने में उन्होंने अच्छा पांडित्य प्रदर्शित किया किन्तु उनकी आलोचना पक्षपात ग्रस्त होने के कारण आदर्श से गिर गई है। द्विवेदी-युग में टीका पद्धति पर की गई आलोचना का सुन्दरतम रूप जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के 'बिहारी रत्नाकर' में है। अर्थ और अलंकार आदि की व्याख्या के अतिरिक्त रत्नाकर जी ने आधुनिक आलोचक की भांति कवि की भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। टीका के अतिरिक्त आलोचनाओं में पदों की व्याख्या दो कारणों से हुई है। कभी कभी आलोच्य विषय की भाषा अहिन्दी होने के कारण उदाहरणीय पदों के भाव का स्पष्टीकरण अनिवार्य हो गया है, यथा—

"उपमा की तरह रूपक का भी समुचित प्रयोग अश्वघोष ने किया है। इन रूपकों में भी अनुरूपता तथा नवीनता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है:—

सोहासहंसा नयनद्विरेफा,
पीनस्तनाभ्युन्नत पद्म कोषा।
भूयो बभाषे स्वकुलोदितेन,
स्त्रीपद्मिनी नन्द दिवाकरेण॥

वह सुन्दरी नन्द के द्वारा अत्यन्त शोभित होती थी। वह स्त्री-पद्मिनी नन्द-रूपी सूर्य से जो अपने कुल में उदित हुआ था, बारम्बार विकसित की जाती थी। सुन्दरी रूपी कमलिनी का हास हंस था, नेत्र भौंरे थे, स्थूल मोटे स्तन पद्म कोप थे, इस प्रकार सुन्दरी एक पद्मिनी थी, जिसने नन्दरूपी सूर्य से विकास पाया था।"[1] कभी कभी आलोचक आलोचित रचना के मनोहर पदों से इतना अभिभूत हो गया है कि वह उनके अर्थ सौन्दर्य को व्याख्या द्वारा व्यक्त किए बिना नहीं रह सका है। उसके समीक्षात्मक कथन के उदाहरण-रूप में उद्धृत ये पद कहीं तो व्याख्या के पूर्व और कहीं पश्चात् रक्खे गए हैं--

"जिस व्यक्ति में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, तो फिर क्या वह किसी के छिपाए छिप सकता है? मुख से स्वीकार न किया गया तो आँखें तो हृदयावेग को रो रोकर बतला ही देती हैं:--

प्रेम छिपाया ना छिपे जा घट परघट होय,
जो पै मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय।[2]
(कबीर)

आलोचना की उपर्युक्त दोनों शैलियाँ द्विवेदी जी की टीका-पद्धति पर ही चली हैं।

टीका पद्धति के दूसरे प्रकार (रचना-परिचयात्मक आलोचना) के तीन रूप हैं। पहला रूप पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामयिक पुस्तकों की परीक्षा है। इस क्षेत्र में 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'समालोचक', 'मर्यादा', 'माधुरी', 'प्रभा' आदि ने पुस्तक-परीक्षा के लिए एक विशिष्ट खंड निर्धारित करके महत्वपूर्ण कार्य किया। इन परीक्षाओं में प्रायः पुस्तक की छपाई सफाई के अतिरिक्त एक दो विशेषताओं का परिचय दे दिया गया है। दूसरे रूप में पुस्तकों की भूमिकाएँ हैं। प्रकाशकों या लेखकों के प्रेमियों द्वारा लिखित भूमिकाएँ प्रशंसात्मक हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अपनी भूमिकाओं में आत्मश्लाघा न करके संक्षिप्त पुस्तक-परिचय ही दिया है।[3] टीका-पद्धति का तीसरा रूप पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित परिचयात्मक लेखों का है। शेक्सपीयर का 'हैमलेट',[4] बाण भट्ट की 'कादम्बरी',[5] 'हिन्दी आईने अकबरी'[6] आदि इसी

---

१. 'महाकवि अश्वघोष तथा उनकी कविता', बलदेव उपाध्याय।
प्रभा, जनवरी १९२५ ई०, पृ० २२।

२. कृष्ण बिहारी मिश्र, 'कबीर और बिहारी', माधुरी भाग १, खंड १, सं० ४, पृ० ३७६।

३. 'रसज्ञरंजन', 'साहित्यालोचन', 'भ्रमरगीत-सार' आदि में लेखकों का प्राक्कथन।

४. सूर्यनारायण दीक्षित, सरस्वती, १९०६ ई०, पृ० ४५२।

५. नरदेव शास्त्री, सरस्वती, १९१४ ई०, पृ० ३७।

६. मुंशी देवीप्रसाद, सरस्वती, १९१६ ई०, पृ० ६४।

कोटि के लेख हैं। इनमें आलोचित रचना के वस्तु-वर्णन के साथ साथ उसके गुणों और कभी कभी दोषों का भी निर्देश किया गया है। टीका-पद्धति का तीसरा प्रकार रचनाकार-परिचय भी हिन्दी के आलोचना साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भारतीय आलोचक ने केवल साहित्य को ही आलोच्य मान कर साहित्यकारों के जीवन-चरित का विस्मरण कर दिया था। पश्चिम के आलोचकों ने जीवनी मूलक आलोचना को आलोचना का एक विशिष्ट प्रकार ही स्वीकार किया। हिन्दी में वैष्णवों की वार्ताएँ धार्मिक दृष्टि से लिखी गई थीं। द्विवेदी-युग के पूर्व भी 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में 'नागरीदास का जीवन चरित',[१] 'गोस्वामी तुलसीदास का जीवन चरित',[२] 'कुछ प्राचीन भाषा कवियों का वर्णन'[३] 'प्राचीन कवि'[४] आदि कवि-परिचयात्मक आलोचनाएँ निकलीं। द्विवेदी जी ने साहित्यकारों की जीवनियों की ओर विशेष ध्यान दिया। इसकी समीक्षा हो चुकी है। इसी पद्धति पर १९१० ई० की 'सरस्वती' में मिश्रबन्धुओं के 'महाकवि सेनापति' (१२२ पृष्ठ), 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र' (पृ० १६८), 'महात्मा सूरदास' (पृ० १९३), महाकवि केशवदास (पृ० २४१), पद्माकर भट्ट (पृ० ३०९), रहीम (पृ० ३३६), 'सूदन' (पृ० ३९३), 'लालकवि' (पृ० ४३३) और 'मलिक मुहम्मद जायसी' (पृ० ५०३) लेख प्रकाशित हुए। सं० ६९,७० से 'मिश्र बन्धु-विनोद' तीन भागों में प्रकाशित हुआ जिसमें ३७५७ कवियों और लेखकों का विवरण दिया गया। सन् १९२५ ई० में चार भागों में प्रकाशित उसके दूसरे संस्करण में साहित्यकारों की संख्या ४५०० कर दी गई। इन परिचयों में रचनाकारों की अन्तःप्रवृत्ति का विश्लेषण नहीं है। इनकी सबसे अधिक उपयोगिता हिन्दी-साहित्य के ठोस आलोचनात्मक इतिहासों और जीवनीमूलक समीक्षाओं की भूमिका-रूप में है। इन्हीं परिचयों के संस्कृत और वैज्ञानिक रूप ने रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में प्रत्येक अध्याय की भूमिका बन कर सामान्य परिचय का रूप धारण किया है।

द्विवेदी जी ने सूक्ति पद्धति पर बहुत ही कम आलोचनाएँ की थीं। उनकी यह विशेषता उनके युग में भी व्याप्त है। उसके अनेक कारण हैं। उस युग के स्वच्छन्द, सिद्धान्तवादी, अभिमानी और कर्तव्यपरायण लेखकों ने किसी की अधिक प्रशंसा करना अपमानजनक समझा। द्विवेदी जी आदि ने दोष-विवेचन-प्रणाली का पुनरुत्थान करके लोगों की आँखें खोल दीं। उस युग के आलोचक केवल गुणों तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रख सके।

---

१. राधाकृष्णदास, १८९८ ई०।
२. रेवरेन्ड एडविन ग्रीव्स, १८९९ ई०।
३. राधाकृष्णदास, १९०१ ई०।
४. मुंशी देवीप्रसाद, १९०१ ई०

पश्चिम की वैज्ञानिक आलोचना लोगों को लोचन पद्धति की ओर खींचती जा रही थी। आलोचना-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा ने आलोचकों की दृष्टि व्यापक कर दी। वे केवल प्रशंसात्मक आलोचना को पक्षपातपूर्ण और अपूर्ण समझने लगे।[1] फिर भी आलोचक मानव के सहज प्रशंसक भाव से मुक्त नहीं होसकता। उसकी सूक्तियों और कटूक्तियों में सापेक्ष न्यूनाधिकता अवश्य आ जाती है। द्विवेदी-युग के समालोचकों ने अपनी समीक्षाओं में केवल गुणदर्शन को ही एकान्त स्थान नहीं दिया, परन्तु सम्पादकों और भूमिका-लेखकों ने सूक्तिपद्धति की रक्षा की। उस युग ने यह सिद्ध कर दिया था कि पत्र-पत्रिकाओं को विज्ञापन का साधन बनाना अत्यन्त आवश्यक है। लेखकों और प्रकाशकों ने धन और यश की कामना से पुस्तक-परीक्षा के रूप में अपनी पुस्तकों की प्रशंसात्मक आलोचनाएँ प्रकाशित कराने का प्रयास किया। उस युग के अन्य सम्पादक द्विवेदी जी की भाँति निर्भीक, कर्त्तव्य-परायण और स्पष्टवादी न थे। उन्होंने लोभ, मैत्री, भय या ज्ञानाभाव के कारण असुन्दर पुस्तकों की भी सूक्तिप्रधान आलोचना की। किसी विद्वान साहित्यिक के द्वारा भूमिका लिखाने में भी लेखक का उद्देश विज्ञापन ही रहा है। आवश्यकतानुसार प्रकाशकों ने स्वयं ही इस उद्देश्य की पूर्ति की है, उदाहरणार्थ दुलारेलाल भार्गव द्वारा लिखित पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'विश्व- साहित्य' का निम्नांकित अवतरण—

...."इसमें आपने साहित्य का मूल, साहित्य का विकास ,साहित्य का सम्मिलन, काव्य विज्ञान, नाटक,कला आदि पर सरल, सुन्दर भाषा में अपने और औरों के समयोपयोगी बहुमूल्य विचार प्रगट किये हैं। अपनी कलम से इस पुस्तक और प्रणेता के विषय में अधिक प्रशंसा के वाक्य लिखना उचित नहीं प्रतीत होता। फिर 'नहि कस्तूरिकागन्धः शपथेन विभाव्यते'।...अतः अधिक न लिखकर हम इतनी ही प्रार्थना करेंगे कि अब हिन्दी संसार के लेखकों, प्रकाशकों , पाठकों और गुणग्राहक ग्राहकों को ऐसे सत्साहित्य की सृष्टि, प्रचार पठनपाठन और आदर करना चाहिये।"[2] पद्मसिंह शर्मा द्वारा लिखित 'बिहारी सतसई' की टीका में भी पदों की सूक्ति-प्रधान आलोचना की गई है।

द्विवेदी जी की आलोचना के संदर्भ में यह कहा जा चुका है कि आलोचना की दोष दर्शन-प्रणाली भारतीय साहित्य से तिरोहित होगई थी और हिन्दी में द्विवेदी जी ने उसकी पुनः प्रतिष्ठा की। द्विवेदी जी की भांति उनके युग की खंडनात्मक आलोचना-पद्धति भी

---

१. "निरपक्षपात भाव से किसी वस्तु के गुणदूषणों की विवेचना करना समालोचना है।"
कृष्णबिहारी मिश्र, मर्यादा, भाग ४, सं २, पृ० १२।

२. 'विश्व-साहित्य', सम्पादकीय वक्तव्य, पृ० ६,७।

दो प्रकार की है--अभावमूलक और दोषमूलक। द्विवेदी जी की ही भांति उस युग के अन्य आलोचकों, श्यामसुन्दरदास, कामताप्रसाद गुरु आदि ने भी हिन्दी के अभावों का अनुभव किया। स्वयं तो वे व्याकरण, साहित्यालोचन आदि की रचना द्वारा उन अभावों की पूर्ति में प्रयत्नशील रहे ही, अपनी अभावमूलक आलोचनाओं द्वारा उन्होंने दूसरों के मन में भी विपन्न हिन्दी को सम्पन्न बनाने की प्रेरणा उत्पन्न करने का प्रयास किया। विषय की दृष्टि से दोषमूलक आलोचना तीन प्रकार की हुई—लक्ष्य ग्रन्थों या ग्रन्थकारों की आलोचना के रूप में, आलोचनाओं की प्रत्यालोचना के रूप में और साहित्य-सम्बन्धी विषयों-पत्र पत्रिका, सम्पादक, लेखक, अनुवादक, उर्दू आदि—की आलोचना रूप में। आलोचक द्विवेदी का महत्व इस बात में भी है कि उनकी आलोचनाएँ सर्वव्यापक थीं। लक्ष्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की दोष मूलक आलोचना की ओर विशेष ध्यान द्विवेदी जी ने ही दिया। इसका प्रधान कारण सम्भवतः यह था कि अन्य आलोचकों में द्विवेदी जी की भाँति हिन्दी साहित्यकारों के सुधार की दृढ़ भावना न थी और वे द्विवेदी जी की भांति निर्भय और अदम्य न होने के कारण हिन्दी के संख्यातीत कच्चे लेखकों से लोहा लेने के लिए प्रस्तुत न थे। उनकी अधिकांश आलोचनाएँ प्रत्यालोचनाओं और साहित्य-सम्बन्धी विषयों तक ही सीमित रहीं। द्विवेदी जी की 'कालिदास की निरंकुशता' खंडनात्मक आलोचनापद्धति पर जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'निरंकुशता-निदर्शन' लिखा। इसमें उन्होंने द्विवेदी जी की आलोचना का सविस्तार खंडन करने की चेष्टा की। अपने कथन की पुष्टि में द्विवेदी जी ने अनेक प्राचीन और अर्वाचीन प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों की सम्मतियाँ भी उद्धृत की थीं। चतुर्वेदी जी के प्रमाण पुष्ट नहीं थे। तर्कसंगत और सारगर्भित न होने के कारण ही उनका 'निदर्शन' विद्वत्समाज में आदरणीय नहीं हुआ।

उपर्युक्त 'निरंकुशता निदशन', बालमुकुन्द गुप्त का 'भाषा की अनस्थिरता' और गोविन्द नारायण मिश्र का 'आत्माराम की टें टें' [1] तथा इस प्रकार के अन्य लेखों में शास्त्रार्थ का बहुत कुछ पुट होने पर भी खंडन की ही प्रधानता है। द्विवेदी-युग की खंडनात्मक आलोचनाओं में एक बात विशेष अवेक्षणीय है। द्विवेदी जी की आलोचनाओं का प्रेरक था उनका हिन्दी-शुभचिन्तक स्थायी भाव। किन्तु उस युग के अन्य आलोचकों के दोषदर्शन के मूल में कारणभूत प्रवृत्तियाँ कुछ और ही थीं। 'निरंकुशता-निदर्शन' 'भाषा की अनास्थिरता' आदि के लेखकों ने ईर्षा, द्वेष आदि के वशीभूत होकर लेखनी चलाई थी। कभी कभी आलोचक के व्यक्तिगत कटु अनुभव उसे खंडनात्मक आलो-

१. इन लेखों का उल्लेख "साहित्यिक संस्मरण" अध्याय में हो चुका है।

चना लिखने के लिए विवश करते थे। बदरीनाथ भट्ट का 'सम्पादकों और अनुवादकों का ऊधम'[1] इसी प्रकार का लेख है। कवियों ने भी इस शैली पर व्यंग्यात्मक आलोचनाएँ कीं। मैथिलीशरण गुप्त की 'सम्पादक और लेखक' कविता स्वानुभूति का ही शब्दचित्र जान पड़ती है।

> "अच्छे तो हैं आप"? "मरा जाता हूँ भाई,"
> "अन्त समय का दान आपको हो सुखदाई,"
> "क्या दूं ?" कोई लेख", लेख में तथ्य न होगा।"
> "तो भी क्या इस रुग्णपत्र का पथ्य न होगा। ?"
> "हैं,हैं" "हां, हां कोसता कौन चाँद के दाग को ?"
> "हा ! चाट गए कीड़े यही मेरे मरे दिमाग को',[2]

अस्वस्थ और शय्याग्रस्त व्यथित लेखक से स्वार्थान्ध सम्पादक की दुराग्रहपूर्ण लेखयाचना निस्सन्देह कठोर आलोचना का विषय है। कभी कभी आलोचक अपने सिद्धान्त या मित्र आदि की प्रतिकूल आलोचना नहीं सह सकता है और उसका तर्कसंगत या काव्यमय और व्यंग्यात्मक खंडन करने पर उतारू हो गया हैं। "आत्माराम की टें टें', 'पंचपुकार', 'पंचपुकार का उपसंहार आदि में इसी प्रकार की प्रवृति परिलक्षित होती है। उस युग में हिन्दी-उर्दू की समस्या भी वादविवाद का एक प्रधान विषय थी। नाथूराम शंकर ने अपनी पंचपुकार कविता में उर्दू की लिपि का इस प्रकार खंडन किया—

> उर्दू की बेनुक्त इबारत लिख दूं काबिलदीद,
> बीनी खुद बुरीद को पढ़ लो बेटी···द यज़ीद,
> चुनीदा नज़्र गुज़ारूंगा।
> किसी से कभी न हारूंगा ॥[3]

जब श्यामसुन्दर दास ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'सरस्वती' की कविता को भद्दी कहकर उसकी आलोचना की तब द्विवेदी जी के भक्त शिष्य मैथिली शरण गुप्त ने अपनी 'पंचपुकार

---

१ सरस्वती, १६१८ ई०, पृ० १७६।

२. प्रभा, वर्ष १, खंड १, पृ० ४००, १६२३ ई०।

३. सरस्वती, १६०८ ई०, पृ० २१३।
इस कविता की हस्तलिखित प्रति को देखने से पता चला कि शंकर जी ने दूसरी पंक्ति में अश्लील शब्द का प्रयोग किया था और प्रकाशन के समय द्विवेदी जी ने उसे निकाल दिया।

का उपसंहार' नामक कविता में बाबू साहब की उक्ति का आक्षेपपूर्ण खंडन करने के लिए आलोचक का शस्त्र धारण कर लिया—

वीणाधारिणि की भी कविता भद्दी रद्दी मान,
ऐसा अद्भुत प्रकट करूंगा समालोचना ज्ञान,
मान मम्मट का मारूंगा।
किसी से कभी न हारूंगा ॥[१]

इन आलोचनाओं का कारण आलोचित लेखक के प्रति ईर्ष्या, द्वेष आदि न होकर समर्थित सिद्धान्त या व्यक्ति के प्रति प्रेम या श्रद्धा का भाव ही है। द्विवेदी-युग की खंडनात्मक आलोचनाओं में द्विवेदीकृत आलोचनाओं का ही विशेष ऐतिहासिक महत्व है। किसी निश्चित उद्देश या ठोस कार्यक्रम के अभाव के कारण अन्य समालोचकों की समीक्षाएँ केवल उस युग की समालोचना-शैली और समालोचकों की प्रवृत्तियों की दृष्टि से ही न्यूनाधिक महत्व की हैं।

द्विवेदीयुग में शास्त्रार्थ- पद्धति पर की गई आलोचना संस्कृत-साहित्य की उस समीक्षा प्रणाली से इस बात में भिन्न है कि संस्कृत में लक्षण ग्रन्थों या साहित्य सिद्धान्त-निरूपण को लेकर शास्त्रार्थ चला था किन्तु द्विवेदी-युग में सैद्धान्तिक समालोचना पर शास्त्रार्थ नहीं हुआ। व्याकरण के क्षेत्र में विभक्ति विचार विषयक वादविवाद ने सिद्धान्तों की आलोचना प्रत्यालोचना का रूप अवश्य ग्रहण किया। उस युग की शास्त्रार्थात्मक आलोचना किसी लक्ष्यग्रन्थ की असम्मत समीक्षा या किसी के अरुचिकर लेख या वक्तव्य को लेकर हुई। 'निरंकुशता-निदर्शन' की चर्चा ऊपर हो चुकी है। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' में देव को तुलसी और सूर के समकक्ष स्थान देते हुए उन्हें बिहारी आदि से श्रेष्ठ प्रमाणित करने की चेष्टा की। पक्ष और विपक्ष के समालोचक शास्त्रार्थ पर तुल आए। पद्मसिंह शर्मा ने अपनी 'बिहारी की सतसई' में बिहारी की तुलनात्मक और सूक्तिप्रधान समीक्षा कर के उन्हें केवल देव और हिन्दी कवियों से ही नहीं, संस्कृत, प्राकृत, उर्दू और फारसी के कवियों से भी महत्तर शृंगारिक कवि घोषित किया। इसकी पांडित्यपूर्ण आलोचना कृष्ण-बिहारी मिश्र ने अपनी 'देव और बिहारी' पुस्तक में की। मिश्र जी के तर्क और विचार ठोस तथा मान्य हैं। उनकी आलोचना-दृष्टि भी व्यापक, गम्भीर, विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक है। शास्त्रार्थ-पद्धति पर की गई इन तुलनात्मक समीक्षाओं में एक बहुत बड़ा

---

१. सरस्वती, १९०८ ई०, पृ० २७७।

दोष यह है कि आलोचक पहले ही से किसी कवि को उच्चतर या उच्चतम सिद्ध करने का संकल्प किए बैठा है और उस निर्णय की पुष्टि के लिए अपनी सारी तर्कशक्ति लगा देता है। चाहिए तो यह था कि वह निष्पक्ष भाव से कविताओं की तुलनात्मक समीक्षा करता और किसी को गुरुतर या लघुतर समझने का निर्णय पाठकों पर छोड़ देता।

द्विवेदी जी से सम्बन्धित अनेक साहित्यिक वादविवादों का उल्लेख 'साहित्यिक संस्मरण' अध्याय में हो चुका है। द्विवेदी जी ने मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी-नवरत्न' की खंडनात्मक आलोचना की थी। वह प्रतिकूल, तीव्र और खरी समीक्षा मिश्रबन्धुओं को असह्य हुई और उन्होंने उसका प्रतिवाद करने के लिए 'मर्यादा' के तीसरे, चौथे और पांचवें भागों की अनेक संख्याओं में हिन्दी–नवरत्न की आलोचना पर विचार प्रकाशित किया। इस प्रत्यालोचना में पांडित्य या चिन्तन सामग्री का अभाव और वाग्जाल तथा असंबद्ध बातों का ही विस्तार है। लाला भगवानदीन ने 'लक्ष्मी' में 'इन्दु' और जयशंकर प्रसाद के 'उर्वशी चम्पू' की आलोचना की जिसमें उनके दोषों की समीक्षा की गई। उसकी प्रत्यालोचना में 'इन्दु' ने लट्ठमार पद्धति का अवलम्बन किया। अपनी पहिली कला की छठवीं किरण में उसने व्यक्तिगत आक्षेपों से भरी हुई 'समालोचक की समालोचना' निकाली। लाला जी ने 'लक्ष्मी' में उस 'समालोचना का स्पष्टीकरण' किया। 'इन्दु' ने 'तुम डार डार हम पात पात' की कहावत चरितार्थ करते हुए अपनी पहिली कला की आठवीं किरण में 'स्पष्टीकरण का स्पष्टीकरण' प्रकाशित करके लाला जी पर कटाक्षपूर्ण तीखा व्यंग्य प्रहार किया। एक बार ललित कुमार बन्द्योपाध्याय विद्यारत्न ने 'अनुप्रासेर अट्टहास' शीर्षक बँगला प्रबन्ध पढ़ा। उसपर 'बँगला बंगवासी' के सम्पादक बाबू बिहारीलाल ने कहा— 'बंगला ही कविता की भाषा है क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है उतना और किसी भाषा में नहीं।' बंगला के प्रति यह सूक्ति जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की सहनशक्ति के बाहर थी। उन्होंने 'अनुप्रास का अन्वेषण'[1] निबन्ध आद्योपान्त सानुप्रास भाषा में लिखकर हिन्दी को अनुप्रासमयी सिद्ध करने का पराक्रम किया। कतिपय आलोचनामूलक उक्त साहित्यिक घटनाओं के उल्लेख का उद्देश यह प्रमाणित करना है कि तत्कालीन समालोचकों में असाधारण जीवन, अभिमान, ओज, असंयम और कुछ कुछ सनकीपन था। राजनैतिक, धार्मिक आदि खंडन-मंडन ने तितलौकी को नीम पर चढ़ा दिया। यही कारण है कि उस युग के आलोचकों की प्रवृत्ति वादविवाद और शास्त्रार्थ-पद्धति की समालोचनाओं की ओर अधिक रही। हिन्दी का अभाग्य था कि अतिसंख्यक आलोचकों में द्विवेदी जी या कृष्ण बिहारी मिश्र की आलोचकोचित,

१. षष्ठम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का कार्यविवरण, भाग २।

व्यापक सूक्ष्मदर्शिता न आ सकी जिसके परिणामस्वरूप इस पद्धति पर की गई अधिकांश समालोचनाएँ भद्दी, ओछी और तिरस्करणीय हो गईं।

लोचन-पद्धति पर की गई समालोचनाओं ने पूर्वोक्त प्रकार की आलोचनाओं की न्यूनता की प्रशंसनीय पूर्ति की। इस पद्धति के आलोचकों ने आलोच्य वस्तु पर समालोचक की सभी अपेक्षित दृष्टियों से प्राय: एक साथ विचार किया है। उद्देश की दृष्टि से उनके तीन विभाग किए जा सकते हैं--गवेषणात्मक, सौन्दर्यमूलक और तुलनात्मक। शैली की दृष्टि से भी उनके तीन प्रकार हैं--निर्णयात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक। यह वर्गीकरण न्याय की कसौटी पर खरा नहीं उतरता क्योंकि लोचनपद्धति की कोई भी आलोचना किसी एक ही रूप या शैली से विशिष्ट नहीं है सब में सबका सन्निवेश है। अतएव यह विभाजन अतिव्याप्ति अव्याप्ति से दूषित है। कहीं कहीं एक ही रूप या शैली औरों की अपेक्षा अधिक प्रधान हो गई है। इसी आधार पर वर्गीकरण की सम्भावना हुई है। युग-निर्माता द्विवेदी ने अपने युग का पूर्वार्द्ध भाषा के संस्कार और परिष्कार तथा लेखकनिर्माण में ही बिता दिया अतएव लोचन पद्धति पर ठोस आलोचना उनके युग के उत्तरार्द्ध में ही हो सकी। आलोचना की गम्भीरता और ठोसपन के लिए माध्यम की समर्थता और आलोचकों की विकसित बौद्धिक भूमिका की अनिवार्य अपेक्षा थी।

गवेषणात्मक आलोचना तीन प्रकार की हुई--साहित्यिक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों पर खोजसम्बन्धी लेख, रचनाओं और रचनाकारों की जीवनीमूलक आलोचना और रचनाओं तथा रचनाकारों की ऐतिहासिक समीक्षा उन्नीसवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय विद्वानों ने सरकारी और असरकारी तौर पर प्राचीन भारतीय साहित्य की खोज प्रारम्भ की। भारतीय पुरातत्व-विभाग ने इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया। सन् १९०० ई० से काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्राचीन हिन्दी-ग्रन्थों की खोज, अध्ययन और प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। सन् १९०२ ई तक श्यामसुन्दर दास ने और तदन्तर साढ़े तेरह वर्ष तक मिश्रबन्धुओं ने घोर परिश्रम और सच्चाई से इस खोज कार्य को आगे बढ़ाया। समय-समय पर इसका कार्य-फल भी रिपोर्ट के रूप में प्रकाशित होता रहा। साहित्यिक और असाहित्यिक संस्थाओं ने भारतीय साहित्य के सहस्रों अज्ञात और अप्राप्य ग्रन्थ खोज निकाले। इन खोजों द्वारा प्राप्त सामग्री के आधार पर ही द्विवेदी जी ने कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष आदि के कालनिर्णय पर गवेषणात्मक लेख लिखे थे। मिश्रबन्धुओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है। बाबूरावविष्णु पराड़कर द्वारा लिखित 'वररुचि का समय'[1] ठोस और गवेष-

---

१. सरस्वती, १९०९ ई०, पृ० १२०।

णात्मक लेख है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अनेक सारगर्भित और पांडित्यपूर्ण लेख लिखे, यथा 'जयसिंह काव्य'[१], 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य'[२] आदि तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित अन्य निबन्ध। ये निबन्ध गुलेरी जी के गहन अध्ययन के परिचायक हैं।

गवेषणात्मक समलोचना का दूसरा प्रकार था रचनाओं और रचनाकारों की ऐतिहासिक आलोचना। संस्कृत-साहित्य ने ऐतिहासिक आलोचना की ओर ध्यान नहीं दिया था और इसी कारण उसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी ने भी युगों तक उसकी अवहेलना की। युगनिर्माता द्विवेदी जी ने आलोचना के इस अंग के महत्व को समझा, यथाशक्ति स्वयं उसकी अभावपूर्ति की और सच्चे पथप्रदर्शक के रूप में आदर्श उपस्थित करने के साथ ही साथ उपदेशक की भाँति उसकी आवश्यकता का निर्देश भी किया—

"भाद्रपद की घोर अन्धकारमयी रजनी में जैसे अपना पराया नहीं सूझ पड़ता वैसे ही इतिहास के न होने से ग्रन्थसमूह का समय निरूपण अनेकांश में असम्भव सा हो गया है। कौन आगे हुआ कौन पीछे हुआ कुछ नहीं कहा जा सकता। इससे हमारे साहित्य के गौरव की बड़ी हानि हुई है। कभी कभी तो समय और प्रसंग जानने ही से परमानन्द होता है। परन्तु, खेद है, संस्कृत भाषा के ग्रन्थों की इस विषय में बड़ी ही दुरवस्था है। समय और प्रसंग का ज्ञान न होने से अनेक ग्रन्थों का गुरुत्व कम हो गया है। जिस प्रकार वन में पड़ी हुई एक सौन्दर्यवती मृत स्त्री के हाथ, पैर, मुख आदि अवश्यमात्र देख पड़ते हैं, परन्तु यह पता नहीं चलता कि वह कहाँ की है और किसकी है, उसी प्रकार इतिहास के बिना हमारा संस्कृतग्रन्थ-साहित्य लावारिस सा हो रहा है। यही साहित्य यदि इतिहासरूपी आदर्श में रखकर देखने को मिलता, तो जो आनन्द मिलता है, उससे कई गुना मिलता।[३]

ऐतिहासिक समालोचना ने आलोच्य विषय पर दो दृष्टियों से विचार किया—कभी तो उसने रचना को मुख्य स्थान दिया और उसके सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर तत्कालीन समाज आदि की अवस्था का विवेचनात्मक निरूपण किया। 'श्रीहर्ष का कलियुग'[४], 'कालिदास के समय का भारत'[५], 'मृच्छकटिक और उसके रचनाकाल का हिन्दू समाज'[६]

---

१. सरस्वती, १९१० ई०, पृ० ४११।
२. सरस्वती, १९१३ ई० पृ० ३०७।
३. नैषधचरितचर्चा, पृ० ५३।
४. द्विवेदी जी, सरस्वती, मार्च, १९२१ ई०।
५. द्विवेदी जी, सरस्वती, जून, १९११ ई०।
६. बाबूराम सक्सेना, सरस्वती, १९१९ ई०, पृ० २०३।

आदि इसी प्रकार के आलोचनात्मक लेख हैं और कभी ऐतिहासिक समालोचक की दृष्टि में युग ही प्रथम आलोच्य हुआ। उसने रचनाओं या रचनाकारों की कालविषयक छानबीन की। उस काल की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों का गहरा अध्ययन करके ठोस ऐतिहासिक ज्ञान की भूमिका में आलोच्य रचना की अन्तर्गत विशिष्टता या रचनाकार की अन्तः प्रवृत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। यह ऐतिहासिक समालोचना तीन रूपों में प्रस्तुत की गई—किसी एक ही रचना या रचनाकार की आलोचना, साहित्य के किसी विशिष्ट अंग, देश या काल की आलोचना और समूचे साहित्य का इतिहास। 'जायसी-ग्रन्थावली' (१६२२ ई०) और 'भ्रमरगीतसार' (१६२५ ई०) की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी और सूर पर लिखी गई आलोचनाओं में युग की ज्ञानभूमिका में एक ही रचना या रचनाकार की तह तक जाकर अन्तर्गत विशेषताओं का सूक्ष्म अन्वेषण किया है, यथा—

"सौ वर्ष पहले कबीर दास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडितों और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता राम और रहीम की एकता मान चुकी थी। ...मुसलमान हिन्दुओं की रामकहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिन्दू मुसलमानों का दास्तानहम्ज़ा। ...इधर भक्ति मार्ग के आचार्य और महात्मा भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहरा चुके थे और उधर सूफ़ी महात्मा मुसलमानों को इश्क़ हक़ीक़ी का सबक़ पढ़ाते आ रहे थे।

चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य और रामानन्द के प्रभाव से प्रेमप्रधान वैष्णव धर्म का जो प्रवाह बंगदेश से लेकर गुजरात तक बहा, उसका सबसे अधिक विरोध शाक्तमत और वाममार्ग के साथ दिखाई पड़ा शाक्तमतविहित पशुहिंसा, यंत्रतंत्र तथा यक्षिणी आदि की पूजा वेदविरुद्ध अनाचार के रूप में समझी जाने लगी। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के बीच साधुता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया था। बहुत से मुसलमान फकीर भी अहिंसा का सिद्धान्त स्वीकार करके मांस भक्षण को बुरा कहने लगे थे। ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान प्रेम की पीर की कहानियाँ लेकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे।"[1]

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए जायसी पर लिखित आलोचना के कई प्रारम्भिक पृष्ठों के उद्धरण की अपेक्षा थी, किन्तु अतिविस्तार के कारण यह असम्भव है। जायसी की आलोचना की भूमिका रूप में शुक्लजी ने तत्कालीन दर्शन, धर्म, समाज आदि की अवस्था और प्रेमगाथा की परम्परा, पद्मावत के ऐतिहासिक आधार आदि का संक्षिप्त

1. जायसी पर लिखित आलोचना, प्रथम दो अवच्छेद।

किन्तु गम्भीर विवेचन किया है। इस ऐतिहासिक अध्ययन के परिणामस्वरूप उनकी आलोचना अधिक ठोस और युक्तिसंगत हो सकी है। "हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास"[१], "विलायती समाचार पत्रों का इतिहास'[२] आदि में साहित्य के एक ही अंग की समीक्षा की गई है। 'गोरखपुर के कवि'[३], सरीखी पुस्तकों में एक देशीय कवियों की ही आलोचना हुई है। 'अकबर के राजत्वकाल में हिन्दी'[४] जैसी आलोचनाओं में केवल एक ही काल पर विचार किया गया है। द्विवेदीयुग में साहित्य के अनेक इतिहास भी प्रस्तुत किए गए। मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धुविनोद'[५], रामनरेश त्रिपाठी ने 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (सं० १६८०) बदरी नाथ भट्ट ने 'हिन्दी' (सं० १६८१) और महेश चन्द्र प्रसाद ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास, (१६२२ ई०) लिखा। मिश्रबन्धु-विनोद' में ऐतिहासिक अन्त: समीक्षा का अभाव और परिचयात्मक सामग्री का ही उपस्थापन है।[६] रामनरेश त्रिपाठी ने अपने इतिहास में हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं तथा कवियों और उनके काव्यगत सौन्दर्य का कुछ गम्भीर विवेचन किया है, किन्तु उनकी आलोचना साधारण पाठकों और विद्यार्थियों के ही योग्य है। उस काल में लिखे गए अन्य आलोचनात्मक इतिहासों में आधुनिक आलोचना के तत्वों—रचनाओं की मौलिक विशेषताओं, रचनाकारों की अन्त:प्रवृत्तियों आदि—का विश्लेषण नहीं है। फिर भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका महत्व है। उस युग के इन्हीं अनाप्त और उथले इतिहासकारों की भूमि पर ही परवर्ती युग आप्त और गम्भीर इतिहासों की रचना कर सका।

गवेषणात्मक आलोचना का तीसरा प्रकार था—रचनाओं या रचनाकारों की जीवनी-मूलक अलोचना। इस प्रकार के आलचोक ने आलोच्य विषय पर दो दृष्टियों से विचार

१. नाथूराम प्रेमी सं० १६७३।
२. प्यारेलाल मिश्र १६१६ ई०।
३. मन्नन द्विवेदी, सं० १६६०।
४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १६०७ ई०, पृ० ८४ से १७२।
५. सं० १६६६ ७० में तीन भाग और १६२५ ई० के द्वितीय संस्करण में परिवर्द्धित ४ भाग।
६. इस बात को उसके लेखकों ने स्वयं स्वीकार किया है—"पहले हम इस ग्रन्थ का नाम 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' रखनेवाले थे, परन्तु इतिहास की गंभीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि हममें साहित्यइतिहास लिखने की पात्रता नहीं है। फिर इतिहास ग्रन्थ में छोटे बड़े सभी कवियों एवं लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता।"

—भूमिका

लेखकों का उपर्युक्त कथन सर्वथा यथार्थ है।

किया। पहली दशा में, रचनाकार की जीवनी और अन्तःप्रवृत्ति के आधार पर समालोचक ने उसकी रचना में निहित रहस्यों का उद्घाटन किया। द्विवेदी जी द्वारा लिखित 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य'[१] इस प्रकार की रचना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी विवेचना 'आलोचना' अध्याय में हो चुकी है। इस प्रकार की आलोचनाओं में रचना ही साध्य और रचनाकार का जीवनवृत्त या उसकी प्रवृत्ति उस रचना की समीचीन समालोचना का साधन-मात्र है। दूसरी दशा में, रचनाकार का चरित ही साध्य और उसकी कृति साधन बन गई है। आलोचक रचनाकार का जीवनचरितलेखक बन गया है। इसीलिए इस प्रकार की आलोचनाएँ पहले प्रकार की आलोचनाओं की तुलना में निम्नकोटि की हुई हैं। इन्हें आलोचना के अन्तर्गत मान लेने के दो कारण हैं एक तो ये, गौण रूप में ही सही, कवि की रचनागत आत्माभिव्यक्ति-विषयक विशेषता पर प्रकाश डालती हैं और यह भी महत्वपूर्ण आलोच्य विषय है। दूसरे आलोचना का मुख्य उद्देश है रचना को ठीक ठीक समझने में पाठक की सहायता करना और इस प्रकार की समीक्षाएँ भी आलोचना की उद्देशपूर्ति में, ही अंश तक सही, साधक हैं। 'मेघदूत में कालिदास का आत्मचरित'[२] में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने कालिदास के आत्मचरित को प्रधानता देते हुए भी मेघदूत की आलोचना की है।

रचनाओं और रचनाकारों की तुलनात्मक समीक्षा भी द्विवेदीयुग के आलोचनासाहित्य की एक विशिष्टता है। द्विवेदी जी द्वारा लिखित तुलनात्मक समीक्षा की 'आलोचना' अध्याय में और देवबिहारी-विषयक वादविवाद से सम्बन्धित इस प्रकार की आलोचना का उल्लेख इसी अध्याय के अन्तर्गत उपरिलिखित शास्त्रार्थपद्धति के अन्तर्गत हो चुका है। द्विवेदीयुग के तुलनात्मक-आलोचना-लेखकों में पद्मसिंह शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से अनेक आलोचनाएँ लिखीं—'भिन्न भिन्न भाषाओं में समानार्थवाची पद्य,,[३] 'संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव'[४] आदि। 'बिहारी-सतसई' में उन्होंने बिहारी के दोहों की संस्कृत, प्राकृत, उर्दू आदि की कविताओं से तुलना की। 'कालिदास और भवभूति',[५] 'कालिदास और शेक्सपियर'[६] आदि आलोचनात्मक लेख

---

१. सरस्वती, अगस्त, १९११ ई०।
२. सरस्वती, भाग १, खंड २, पृ० २८६।
३. सरस्वती, भाग ८, पृ० २६४।
४. सरस्वती, १९०८ ई०, पृ० ३१८ और ४०८, सरस्वती, १९११ ई०, पृ० ४३८ और ६१५ तथा सरस्वती, १९१२ ई०, पृ० ६७२।
५. जनार्दन भट्ट, सरस्वती, १९१३ ई०, पृ० ३७३।
६. मनोहर लाल श्रीवास्तव, सरस्वती, १९२१ ई०, पृ० ३०२।

भी इसी पद्धति पर लिखे गए। सं० १६७७ में द्विजेन्द्र लाल राय लिखित 'कालिदास और भवभूति' का हिन्दी-रूपान्तर प्रकाशित हुआ। अनुवाद होने के कारण इस पुस्तक की आलोचनात्मक विशिष्टताओं का अध्ययन यहाँ पर अनपेक्षित है। १६२३ ई० में छन्नू लाल द्विवेदी ने 'कालिदास और शेक्सपियर' नामक आलोचनापुस्तक लिखी। हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक प्रणाली के प्रारम्भ, प्रचार और प्रसार का श्रेय इन्हीं आलोचकों को है। किन्तु आदर्श आलोचना की ईदृक्ता की दृष्टि से इनके द्वारा लिखी गई समीक्षाएँ उच्च कोटि की नहीं हैं। इनमें निष्पक्षता, तत्वाभिनिवेश और उदार दृष्टि की कमी है। कृष्ण बिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' (सं० १६७७) में अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता और सूक्ष्म विवेचन की झलक है।

तुलनात्मक समीक्षा का सुन्दरतम रूप रामचन्द्रशुक्ल की आलोचनाओं में दिखाई पड़ा। यद्यपि उन्होंने केवल तुलना करने के उद्देश से कोई आलोचना नहीं लिखी तथापि आलोच्य कवियों या काव्यों की समीक्षा को गुरुतर बनाने के लिए यथास्थान उनकी तुलनात्मक समीक्षा भी की। उदाहरणार्थ, सूर की आलोचना करते समय उन्होंने यह अपेक्षित समझा की उनकी तुलना हिन्दी के अन्य सिद्ध कवियों तुलसी, जायसी, बिहारी आदि—से कर दी जाय जिससे उनका तारतम्य समझने, हिन्दी साहित्य में सूर का स्थान निश्चित करने और काव्यानन्द का विशेष चर्वण करने में पाठकों को सुविधा हो। निम्नांकित उद्धरण इस कथन को स्पष्ट कर देंगे।

क. "तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाव वाले और लोकव्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिए नहीं ली हैं। ··· कुछ लोग रामचरित मानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देखकर ऊबते से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है जिस पर तीनों लोकों की दृष्टि लगी रहती थी। कृष्ण का गोचारण और रासलीला आदि देखने को भी देवगण एकत्र हो जाते हैं, पर केवल तमाशबीन की तरह"।[१]

ख. "तुलसी की उपासना सेव्यसेवक भाव से कही जाती है और सूर की सख्य भाव से। सूर में जो कुछ संकोच का अभाव या प्रगल्भता पाई जाती है वह गृहीत विषय के कारण।"[२]

ग. "सूरदास जी अपने भावों में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं।······तुलसीदास जी लोक गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे।"[३]

१, २, ३, भ्रमरगीतसार की भूमिका, पृ० ६-१०, ४४, ४८ और ४१।

घ. "दूर की सूझ या ऊहा वाले पद भी सूर ने बहुत कहे हैं, जैसे—

मन राखन को वेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनि को करु न टरै॥

राधा मन बहलाने के लिए, किसी प्रकार रात बिताने के लिए, वीणा लेकर बैठीं। उस वीणा या वेणु के स्वर से मोहित होकर चन्द्रमा के रथ का हिरन अड़ गया और चन्द्रमा के रुक जाने से रात और भी बढ़ गई। इस पर घबराकर के सिंह का चित्र बनाने लगीं, जिससे मृग डर कर भाग जांय। जायसी की 'पद्मावत' में भी यह उक्ति ज्यों की त्यों आई है—

गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तहं रहै ओनाई।
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै॥

जायसी की पद्मावत विक्रम संवत् १५९७ में बनी और 'सूरसागर' संवत् १६०७ के लगभग बन चुका था। अतः जायसी की रचना कुछ पूर्व की ही मानी जायगी। पूर्व की न सही तो भी किसी एक ने दूसरे से यह उक्ति ली हो, इसकी संम्भावना नहीं। उक्ति सूर और जायसी दोनों से पुरानी है। दोनों ने स्वतन्त्र रूप में इसे कवि परम्परा द्वारा प्राप्त किया।"[1]

उपर्युक्त उदाहरणों में लोचन पद्धति पर की गई तुलनात्मक आलोचना कुछ विशिष्ट तथा स्पष्ट लक्षित होती है। एक तो आलोचक नख से शिख तक ईमानदार है। उसका किसी भी लेखक के प्रति पक्षपात नहीं है। तुलसी, सूर या जायसी को उसने सच्चाई के साथ पढ़ा है और अपने मत की निष्पक्ष भाव से अभिव्यक्ति कर दी है। दूसरी विशेषता यह है कि आलोचक ने रचनाओं या रचनाकारों पर निर्णय मात्र देकर ही सन्तोष नहीं कर लिया है, उसके कारण की अन्तःसमीक्षा भी की है। तुलसी की रचनाओं में देवता लोग बारबार पुष्पवर्षा क्यों किया करते हैं और सूरसागर में क्यों नहीं करते? सूर की भक्ति सख्य भाव की क्यों है? सूर की अपेक्षा तुलसी लोकप्रिय क्यों हुए? एक दूसरे की उक्ति से अनभिज्ञ होने पर भी जायसी और सूर की कविता में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव कैसे आया? इन शंकाओं का समाधान करने का भी उसने प्रयास किया है। तीसरी विशेषता तुलनात्मक समीक्षा के दो प्रकार सूचित करती है—कहीं तो आलोचक ने दो रचनाओं की (जैसा कि प्रथम तीन उद्धरणों से सिद्ध है) और कहीं उसने दो कवियों के पदों की परस्पर तुलना की है जैसा कि चौथे उद्धरण से प्रमाणित है। तुलनात्मक समीक्षा के ये दोनों प्रकार उस युग के अन्य आलोचकों की आलोचनाओं में अधिक स्पष्ट हैं। 'देव और बिहारी', 'बिहारी और देव' आदि में सामान्यतः कवियों की व्यापक रूप से तुलना की गई है, पदों की तुलना उदाहर-

१. भ्रमरगीतसार की भूमिका, पृ० ९-१०,४४,४८ और ४१।

णार्थ और गौण रूप में आई है। पद्मसिंह शर्मा की पूर्वोक्त तुलनात्मक आलोचनाओं में पदों की तुलना ही प्रधान है। तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल अपने समकालीन कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन या पद्म सिंह शर्मा आदि की अपेक्षा महान् आलोचक इसलिए हैं कि अन्य आलोचकों की भाँति उन्होंने तुलना को साध्य न मानकर साधन माना है। प्रसंगानुकूल उसका विवेचन संक्षिप्त रखा है और तुलनात्मक समीक्षा करते समय तटस्थता, सहृदयता तथा अन्तर्दृष्टि से काम लिया है।

लोचन पद्धति पर ही नहीं, अन्य पद्धतियों पर भी चलने वाले आलोचक की सौन्दर्यमूलक दृष्टि भारतीय आलोचना साहित्य की परम्परागत प्रणाली है। भारतीय समालोचक ने रस, अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि या चमत्कार को ही कवित्व माना और तदनुसार काव्यों की उत्तमता, मध्यमता या अधमता की विवेचना की। पश्चिम के आलोचक ने काव्यगत सुन्दरता या असुन्दरता की कारणभूत परिस्थितियों पर भी उदारतापूर्वक विचार किया। कलात्मक कृतियों की समीक्षा करते समय उसने अपनी दृष्टि को रसादि तक ही सीमित नहीं रखा। उसने इस बात पर भी विचार किया कि कलाकार ने अपनी कृति में मानव और प्रकृति के विविध रूपों की कितनी और कैसी व्याख्या की है, हृदय और मस्तिष्क की विविधि प्रवृत्तियों का कितना सूक्ष्म और सुन्दर विश्लेषण किया है, जीवन और जगत् को कितनी दृष्टियों से देखने का प्रयास किया है और उनके रहस्यों का रमणीयार्थप्रतिपादक उद्घाटन करने में उसे कहाँ तक सफलता मिली है। द्विवेदीयुग के हिन्दी-समालोचक में भारतीय पद्धति का संस्कार विद्यमान था। पश्चिम की ज्ञानसम्पत्ति और तद्गत विशेषताओं ने भी उसे अनिवार्यतः प्रभावित किया। इसीलिए उस युग के हिन्दी-समालोचक की आलोचना, विशेषतः सौन्दर्यमूलक, तीन धाराओं में दिखाई देती है। कहीं तो उसका रूप शुद्ध भारतीय, कहीं शुद्ध पाश्चात्य और कहीं उभयात्मक है।

शुद्ध भारतीय रूप में समालोचक ने किसी पद या प्रबन्ध के अन्तर्गत रस, अलंकार आदि संस्कृत के समालोचकों की भाँति विवेचना की है। यथा--

"उपमानों की आनन्ददशा का वर्णन करके.. सूर ने अप्रस्तु-प्रशंसा द्वारा राधा के अंगों और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहीन और मंद होना व्यंजित किया है-

तब ते इन सबहिन सचुपायो।
जब ते हरि संदेस तिहारो सुनत तावरो आयो।
फूले व्याल दुरे ते प्रकटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठि विहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो।

निकसि कन्दरा ते केहरिहू माँथे पूँछ हिलायो।
वन गृह ते गजराज निकसि के अंग अंग गर्व जनायो।

चेष्टाओं और अंगों का श्रीहीन होना कारण है, और उपमानों का आनन्दित होना कार्य है। यहाँ अप्रस्तुत कार्य के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना की गई है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जानकी के न रहने पर उपमानों का प्रसन्न होना राम के मुख से कहलाया है--

कुन्दकली दाड़िम दामिनी। कमल सरदससि अहिभामिनी॥
श्रीफल कनक कदलि हरखाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहिं बिनु आजू। हरखे सकल पाइ जनु राजू॥

पर यहाँ उपमानों के आनन्द से केवल सीता के न रहने की व्यंजना होती है।[1] सूर की अप्रस्तुतप्रशंसा में उक्ति का चमत्कार भी कुछ विशेष है और रसात्मक भी।"[2]

शुद्ध पाश्चात्य-रूप में उस युग के हिन्दी समालोचक ने रचनाकार की मानसिक प्रवृत्तियों और सहृदयता की भली भाँति छानबीन करके रचनागत सौन्दर्य की विशिष्टता का विश्लेषण किया है--

"जायसी कवि थे और भारतवर्ष के कवि थे। भारतीय पद्धति के कवियों की दृष्टि फारस वालों की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों पर कहीं अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपों को कहीं अधिक परखने वाली होती है। इसमें उस रहस्यमयी सत्ता का अभ्यास देने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य संकेत उपस्थित करने

---

१ शुक्ल जी का यह कथन चिन्त्य है। इसमें उन्होंने सीता के न रहने को व्यंग्य माना है किन्तु वह व्यंग्य न होकर वाच्य ही है। 'जानकी तोहिं बिनु आजू' का दूसरा अर्थ ही क्या होगा ? इन पंक्तियों के व्यंग्य को हम अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं-- ये उपमान अपने से (उपमानों से) भी सुन्दर सीता जी के वियोग में राम के हृदय की ज्वाला को और भी उद्दीप्त कर देते हैं सीता की अनुपस्थिति में उपमानों का हर्षित होना यह व्यंजित करता है कि वे सीताजी की उपस्थिति में लज्जित और संकुचित रहते थे क्योंकि सीता जी उनकी अपेक्षा अधिक रूपवती थीं। राम ने कुन्दकली आदि का ही नाम क्यों लिया ? क्योंकि कुन्दकली, श्रीफल आदि को देखकर उन्हें सीता के दाँतों, कुचों आदि का स्मरण हो आया था। इससे यह भी ध्वनित होता है कि संयोगावस्था में कुन्दकली, श्रीफल आदि सुखदायक थे। किन्तु वियोगावस्था में दुखदायक हो गए हैं। इस प्रकार हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। अस्तु, शुक्ल जी के कथन से हम सहमत हों या असहमत, प्रस्तुत अवतरण के उदाहरणत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

२. 'भ्रमरगीतासार' की भूमिका, पृ० ४०।

में समथ हुए हैं। कबीर में चित्रों की न अनेकरूपता है, न वह मधुरता। देखिए, उस परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य-सत्ता की ओर कैसी लौकिक दीप्ति और सौन्दर्य के द्वारा जायसी संकेत करते हैं—

बहुतै जोति जोति ओहि भई।······
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन, पदारथ, मानिक, मोती॥
नयन जो देखत कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥"[1]

भारतीय और पाश्चात्य दृष्टियों के समन्वित रूप में आलोचना का उत्कृष्ट रूप और निखर गया है, उदाहरणार्थ—

"आइ साह उमराव जो लाए। फरे, भरे, पै जय नहिं पाए॥

सच पूछिये तो वस्तुव्यंजनात्मक या ऊहात्मक पद्धति का इसी रूप में अवलम्बन सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है इसमें अनुमान का आधार सत्य या स्वतः सम्भवी है। जायसी अनुमान या ऊहा के आधार के लिए ऐसी वस्तु सामने लाए हैं जिनका स्वरूप प्राकृतिक है। और जिससे सामान्यतः सब लोग परिचित होते हैं। इस प्रकार एक गीत में एक वियोगिनी नायिका कहती है कि मेरा प्रिय दरवाजे पर जो नीम का पेड़ लगा गया था वह बढ़ कर अब फूल रहा है, पर प्रिय न लौटा।' आधार के सत्य और प्राकृतिक स्वरूप के कारण इस उक्ति से कितना भोलापन बरस रहा है।"[2]

उपर्युक्त अवतरण में 'वस्तुव्यंजना', 'स्वतःसम्भवी' आदि भारतीय साहित्यशास्त्र की बातें हैं। कवि की प्राकृतिक स्वरूप वाली वस्तु को ऊहा का आधार मानने की अन्तःप्रवृत्ति के निदर्शन तथा आधार की सत्यता एवं प्राकृतिकता के कारण उक्ति को सुन्दर मानने में पाश्चात्य दृष्टि का अनुसरण किया गया है।

द्विवेदी-युग की आलोचना का आलोच्य विषय हिन्दी साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा। इस दृष्टि से उसके तीन विभाग किए जा सकते हैं—हिन्दी-साहित्य, संस्कृत-साहित्य और भाषाओं के साहित्य पर लिखित आलोचना। उदाहरणार्थ, 'खड़ी बोली की काव्य स्वतंत्रता'[3] अन्य 'तुलसी दास की अद्भुत उपमाएं'[4], 'मिश्र भ्राताओं के नवरत्न'[5] आदि हिन्दी-रचनाकारों

---

१. जायसी पर लिखित आलोचना, त्रिवेणी, पृ० ८२।
२. जायसी पर लिखित आलोचना, त्रिवेणी, पृ० ५३, ५४।
३. कामता प्रसाद गुरु, सरस्वती, १९१२ ई०, पृ० ३१८।
४. अक्षयवट मिश्र, सरस्वती, १९१२ ई०, पृ० २७१।
५. ठा० रतन सिंह, सरस्वती, १९१२ ई० पृ० १२६।

और रचनाओं पर लिखित आलोचनाएँ हैं। 'कालिदास के काव्यों में 'नीतिबोध'[1], 'कालिदास के ग्रन्थ'[2], 'महाकवि क्षेमेन्द्र और अवदान कल्पलता'[3], 'पार्वती परिणय नाटक'[4], 'कविवर-राजशेखर'[5] 'भट्ट नारायण और वेणी संहार नाटक'[6] आदि की आलोच्यवस्तु संस्कृत साहित्य की है।' मराठी साहित्य की वर्तमान दशा'[7], 'जर्मनी का कवि सम्राट गोथे'[8], 'अरबी कविता और अरबी कविता का कालिदास'[9] आदि के विषय अन्य भाषाओं के साहित्य से लिए गए हैं। 'कालिदास और शेक्सपियर' में संस्कृत और अँग्रेजी कवियों की तुलनात्मक समीक्षा है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने 'विश्व साहित्य' (सं० १९८०) में हिन्दी, संस्कृत अँग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के साहित्य के आधार पर साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया।

द्विवेदी-युग की आलोचना के विषय में उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त कुछ और भी आलोचनीय है। शैली की दृष्टि से ये आलोचनाएँ तीन प्रकार की हैं—निर्णयात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक। निर्णयात्मक शैली में आलोचक आलोच्य वस्तु की आलोचना करने के पूर्व अपना सिद्धान्त भी उपस्थित कर देता है। संस्कृत की आचार्य-पद्धति से सिद्धान्त-निरूपण प्रधान और लक्ष्य-ग्रन्थ या पद गौण तथा उदाहरणस्वरूप हैं, किन्तु निर्णयात्मक आलोचना में इसके ठीक विपरीत आलोचित रचना या रचनाकार ही प्रधान तथा सिद्धान्त कथन आलोचना को समझने या सुलझाने का साधन अतएव गौण है। द्विवेदी जी और द्विवेदी-युग की आलोचनाओं की अचार्यपद्धति के विवेचन से यह स्पष्ट है कि उसमें संस्कृत की आचार्य-पद्धति और अँग्रेजी की निर्णयात्मक शैली दोनों का समन्वय है। द्विवेदी जी द्वारा लिखित 'कालिदास के ग्रन्थों की समालोचना'[10] निबन्ध दोनों के समन्वित रूप का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमें कुछ पृष्ठों तक सिद्धान्त—निरूपण ही किया गया है और

---

१ त्रिमूर्त्ति, सरस्वती, १९११ ई०, पृ० २११।
२. अक्षयवट मिश्र, सरस्वती, १९११ ई० पृ० ६०४।
३. ,, ,, १९१२ ई, पृ० ६०४।
४. गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती १९१८ ई०, पृ० २७४।
५ भूप नारायण दीक्षित, सरस्वती, १९१९ ई० पृ० ३९।
६. गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, सरस्वती, १९१९ ई०, पृ० १७८।
७. लक्ष्मीधर वाजपेयी, सरस्वती, १९१२ ई०, पृ० ६६७।
८. श्याम सुन्दर जोशी, सरस्वती, १९१७ ई०, पृ० १।
९. महेशचन्द्र मौलवी, सरस्वती, १९१९ ई०, पृ० १०४,३२७।
१०. 'कालिदास के ग्रन्थों की समालोचना' में 'कालिदास और उनकी कविता' में संकलित है।

तदन्तर कालिदास की कविता की समालोचना। द्विवेदी जी युगनिर्माता थे, वस्तुतः आचार्य थे। अतएव उनका उद्देश न तो केवल सिद्धान्त निरूपण था और न केवल लक्ष्य ग्रन्थों की आलोचना ही। उनके उद्देश के मूल में दोनों ही बातें अभिन्न रूप से उपस्थित थीं। सिद्धान्त-निरूपण द्वारा वे उदीयमान कवियों के प्रशस्त मार्ग का निर्देश करना चाहते थे और साथ ही लक्ष्य ग्रन्थों की आलोचना द्वारा पाठकों की रुचि और ज्ञान का विकास। रामचन्द्र शुक्ल आदि की जायसी, तुलसी आदि पर लिखित आलोचनाओं में किए गए सिद्धान्तनिरूपण में ऐसी कोई बात नहीं है। उनका एकमात्र उद्देश अपने वक्तव्य की भूमिका पुष्ट करना है, यथा—

"प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं--राम का अयोध्यात्याग और पथिकरूप में वनगमन··· भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।"[१]

आलोचना की भावात्मक शैली निर्णयात्मक शैली से इस बात में भिन्न है कि निर्णयात्मक शैली में किसी एक समीक्षा-सिद्धान्त के अनुसार आलोचना की जाती है। किन्तु भावात्मक शैली का आलोचक आलोचना के सभी सिद्धान्तों को भूल जाता है और जो विषय उसके हृदय पर जिस प्रकार का प्रभाव डालता है उसकी वह उसी प्रकार की प्रभावाभिव्यंजक आलोचना कर देता है द्विवेदी-युग में सूक्ति, खंडन और शास्त्रार्थ की पद्धतियों पर की गई आलोचनाओं में स्थान स्थान पर भावुक कवि की सी प्रभावाभिव्यंजना का परिचय मिलता है। उस युग के लेखक अपने अक्खड़पन, मस्ती और सजीवता के कारण उमंग के साथ ललकारते हुए ही आगे बढ़े हैं। कहीं तो भाव के प्रभाव में विचार का सर्वथा अभाव हो गया है और आलोचना कही जाने वाली रचना आलोचना नामकरण के अयोग्य हो गई है। द्विवेदी जी की आलोचनाओं में प्रभावाभिव्यंजकता का अजस्र प्रवाह होते हुए भी कहीं भी सिद्धान्त का अभाव नहीं है। वे युग के आधार होते हुए भी युग के अपवाद हैं। आधार इस अर्थ में हैं कि उनका युग-निर्माता का व्यक्तित्व साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में और आलोचना की प्रत्येक पद्धति पर विद्यमान है। अपवाद इस अर्थ में है कि वे युग की निर्बलताओं से स्वयं ऊपर उठ गये हैं और उस युग को भी ऊपर उठा दिया है। आलोचनों के क्षेत्र में प्रभावाभिव्यंजक आलोचना करते हुए भी उनकी दृष्टि से यह सिद्धान्त या आदर्श कभी भी

---

१. शुक्ल जी द्वारा तुलसीदास पर लिखित आलोचना, त्रिवेणी, पृ० १३८।

ओझल नहीं हुआ है कि दुष्ट रचनाओं की प्रतिकूल और गुणमुक्त रचनाओं की अनुकूल आलोचना करके हिन्दी की हानिकारिणी शक्तियों को रोकना और विकासकारिणी शक्तियों को प्रोत्साहित करना हिन्दी के प्रत्येक उपासक का कर्तव्य है। अपने इस उद्देश की अनन्यता के कारण भी द्विवेदी जी उस युग के अप्रतिम समालोचक हैं। आलोच्य रचना की सुन्दरता और असुन्दरता से प्रभावित होने के साथ ही साथ द्विवेदी जी हिन्दी-हित की भावना से और पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, बालमुकुन्द गुप्त आदि पक्षपात तथा द्वेष आदि से भी प्रभावित हैं। किन्तु रामचन्द्र शुक्ल केवल सौन्दर्य से प्रभावित हैं, यथा--

परिहरि राम सीय जगमाहीं। कोउ न कहहिं मोर मत नाहीं॥

राम की सुशीलता पर भरत को इतना विश्वास वह सुशीलता धन्य है जिस पर इतना विश्वास टिक सके, और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे ! ···उनकी शपथ उनकी अन्तर्वेदना की व्यंजना है

जे अघ मातु पिता सुत मारे।

इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया हैं जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल करले।"[१]

वास्तविक समालोचना की दृष्टि से प्रभावाभिव्यंजक आलोचनाओं का विशेष साहित्यिक महत्व नहीं है। तो फिर साहित्य में उनका प्रयोजन क्या है? इस विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि वे आलोचनाएँ प्रयोजन की उपयोगिता की दृष्टि से लिखी ही नहीं गई हैं। वे तो प्रभावित हृदय की आत्माभिव्यक्ति मात्र हैं। इसलिए उनमें ठोस आलोचनात्मक विवेचना ढूढ़ना ही व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि साहित्य में जिस प्रकार आनन्द-दायक काव्य और तद्विषयक ज्ञानप्रद आलोचना का प्रयोजन है उसी प्रकार ऐसी रचनाओं का भी प्रयोजन है जिनमें काव्य की रमणीयता और आलोचना की ज्ञानप्रदता एक साथ हो। वस्तुतः द्विवेदी-युगमें उच्च कोटि की प्रभावाभिव्यंजक समालोचनाएँ नहीं हुईं। क्योंकि आलोचकों के हृदय और मस्तिष्क को युग के आन्दोलनों, उसकी आवश्कताओं तथा व्यक्तिगत भावों ने आक्रान्त कर रखा था। वे एकान्त-सौन्दर्योपासक न रह सके।

परिस्थितियों के आक्रामक प्रभावों से मुक्त रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-आलोचना क्षेत्र में पदार्पण किया था। द्विवेदी-युग के पूर्वार्द्ध में भी उनके 'साहित्य', 'कविता क्या है' आदि आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हो चुके थे। उन लेखों में आलोचना का पर्याप्त ठोसपन

१. गोस्वामी तुलसीदास पर लिखित आलोचना, त्रिवेणी, पृ० १६४, १६५।

नहीं था। वे कृतियाँ लक्ष्य ग्रन्थों की समालोचनाएँ न होकर सिद्धान्त समीक्षाएँ थीं। हिन्दी-साहित्य में आलोचना का आदर्श रूप द्विवेदी-युग के अन्तिम वर्षों में शुक्ल जी के द्वारा लिखित जायसी, तुलसी और सूर की आलोचनाओं में मिलता है। ये आलोचनाएँ चिन्तनात्मक कोटि की हैं। इनमें आलोचक ने आलोच्य विषय पर गवेषणात्मक तुलनात्मक और सौन्दर्यमूलक सभी दृष्टियों से गम्भीर विचार करके रचना की सुन्दरता, विशिष्टता और हीनता तथा रचनाकार की प्रकृति, प्रवृत्ति, कलाकुशलता, सफलता और असफलता का वैज्ञानिक ढंग से सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उदाहरणार्थ--

"जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है उसी प्रकार प्रेम भाव की चरम सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है। अतः भगवद्भक्त की साधना के लिए इसी प्रेमतत्व को वल्लभाचार्य ने सामने रक्खा और उनके अनुयायी कृष्णभक्त कवि इसी को लेकर चले। गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोक-पक्ष पर भी थी, इसी से वे मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित को लेकर चले और उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की ओर और व्यक्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया।

उस प्रेमतत्व की पुष्टि में भी सूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रतिभाव के तीनों प्रबल और प्रधान रूप--भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति--सूर ने लिए हैं। यद्यपि पिछले दोनों प्रकार के रतिभाव कृष्णोन्मुख होने के कारण तत्त्वतः भगवत्प्रेम के के अन्तर्भूत ही हैं पर निरूप भेद से और रचना-विभाग की दृष्टि से वे अलग रक्खे गए हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं वे भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत आवेंगे, बाललीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेमसम्बन्धी पद दाम्पत्य रति भाव के अन्तर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं से सूर ने बड़ा भारी सागर भर कर तैयार किया है।"[1]

युग-निर्माता पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके निर्मित युग की यही संक्षिप्त समीक्षा है। कामताप्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, मैथिलीशरण गुप्त आदि महान् साहित्यकारों ने अपने पत्रों में द्विवेदी जी को आचार्य माना है, उनसे संशोधन की प्रार्थना की है और समय समय पर कृतज्ञता प्रकाश भी किया है। ये पत्र काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कला भवन तथा कार्यालय और दौलतपुर (द्विवेदी जी की जन्मभूमि) में रक्षित हैं। उस युग के महान् साहित्यकारों की रचनाओं के संस्कार और परिष्कार की विस्तृत विवेचना पूर्ववर्ती पृष्ठों में हो चुकी है। 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' (१६३३ ई०), 'हंस' के

---

१. 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका', पृ० ३, ४।

'अभिनन्दनांक' (१६३३ ई०), 'बालक' के 'द्विवेदी–स्मृत–अंक', 'साहित्य-सन्देश' के द्विवेदी-अंक' (१६३८ ई०), 'सरस्वती' के 'द्विवेदी-स्मृति-अंक' (१६३६ ई०) आदि में गंगानाथ झा, गोपाल शरण सिंह, विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक , लक्ष्मीधर वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे, बाबू राव विष्णु पराड़कर आदि ने निस्संकोच भाव से द्विवेदी जी को अपना गुरु स्वीकार किया है। सच तो यह है कि द्विवेदी जी का व्यक्तित्व उनकी निजी रचनाओं की अपेक्षा उनके युग की रचनाओं में ही अधिक पूर्णतया और सुन्दरतया व्यक्त हुआ है। हिन्दी-साहित्य में जो कुछ परिवर्तन हुए वे अनिवार्य थे। द्विवेदी जी का गौरव इस बात में है कि यदि हिन्दी-साहित्य-जगत् में उनका अवतार न हुआ होता तो वह आज से कई दशाब्द पीछे होता। रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, गोपाल शरण सिंह, सत्यदेव आदि इतने महान् साहित्यकार कैसे हो पाते—

'महावीर का यदि नहीं मिलता उन्हें प्रसाद'।[1]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, 'साकेत' का समर्पण-पृष्ठ।

परिशिष्ट १

नागरी-प्रचारिणी सभा को पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का दान।

१ पत्रिकाएं

[निम्नांकित पत्रिकाओं की क्रमबद्ध या फुटकल प्रतियाँ काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के आर्य भाषा-पुस्तकालय में रक्षित हैं।]

(क) हिन्दी-पत्रिकाएँ

१-२. आदर्श
३. आनन्द-कादम्बिनी
४. आर्य-जीवन
५. आर्य-महिला
६. आलोक
७. आशा
८. इन्दु
९. उत्थान
१०. ऊषा
११. औदुम्बर
१२. औष
१३. कथामुखी
१४. कमला
१५. कमलिनी
१६. कल्याण
१७. कवि व चित्रकार
१८-२१. कान्यकुब्ज
२२. कान्यकुब्ज-नायक
२३. कान्यकुब्ज-बन्धु
२४. कान्यकुब्ज-सुधारक
२५. कान्यकुब्ज-हितकारी
२६. काशी-पत्रिका
२७. काव्य कलाधर
२८. काव्य-कलानिधि
२९. किशोर
३०. किसानोपकारक
३१. कृषि-सुधार
३२. गंगा
३३. गृह-लक्ष्मी
३४. ग्राम-सन्देश
३५. चाँद
३६. चिकित्सा
३७. चित्रमय जगत्
३८. चैतन्य-चन्द्रिका
३९. छत्तीसगढ़
४०. जासूस
४१. जैन-सिद्धान्त-भास्कर
४२. जैन-हितैषी
४३. तपोभूमि
४४. तरंगिणी

४५. तेली-समाचार
४६. त्याग-भूमि
४७, दलितोदय
४८. दिगम्बरजैन
४९. दीपक
५०. देवनागर
५१. धर्म-कुसमाकर
५२. धर्माभ्युदय
५३. नवजीवन
५४. नवनीत
५५. नागरी-प्रचारक
५६. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका
५७. नागरी-हितैषिणी
५८. नारायण
५९. निगमागम-चन्द्रिका
६०. नृसिंह
६१. परिवर्तन
६२. परोपकारी
६३. प्रकाश
६४. प्रतिभा
६५-६६. प्रभा
६७. प्रेमा
६८. बालक
६९. बाल-प्रभाकर
७०. बाल-सखा
७१. बाल-हितैषी
७२. ब्रह्मचारी
७३. ब्राह्मण-सर्वस्व
७४-७५. भारती
७६. भारतोदय
७७. भाषा-भूषण
७८. भ्रमर
७९-८०. मनोरमा
८१-८२. मर्यादा
८३. माधुरी
८४. मारवाड़ी-सुधार
८५. मालव-मयूर
८६. यादवेन्द्र
८७. युगान्त
८८. युवक
८९. रत्नाकर
९०. रसिक-वाटिका
९१. राघवेन्द्र
९२. राम
९३. लक्ष्मी
९४. लेखक
९५. वाणी
९६. विकास
९७. विज्ञान
९८. विद्यापीठ
९९. विद्यार्थी
१००. विनोद-वाटिका
१०१. विशाल-भारत
१०२. विश्वमित्र
१०३. वीणा
१०४. वीर-संदेश
१०५. वैदिक-सर्वस्व
१०६. वैद्य-कल्पतरु
१०७. वैशाली
१०८. वैश्योपकारक
१०९. वैष्णव-धर्म-पताका
११०. वैष्णव-सर्वस्व

१११. व्यापारी
११२. व्रजवासी
११३. शिक्षण-कौमुदी
११४. शिक्षण-पत्रिका
११५. श्री शारदा
११६ श्री स्वदेश
११७. श्रय
११८. संकीर्तन
११९. संसार
१२०. सत्यकेतु
१२१. सत्ययुग
१२२. सत्य-संदेश
१२३. समन्वय
१२४. सनाढ्योपकारक
१२५–२६ समालोचक
१२७. सम्मेलन-पत्रिका
१२८. सरस्वती
१२९. सरोज
१३०. सहेली
१३१. साहित्य
१३२. साहित्य-पत्रिका
१३३. साहित्य-संदेश
१३४. साहित्य-सुधानिधि
१३५. सुकवि
१३६. सुदर्शन
१३७. सुधा
१३८. सुधानिधि
१३९. सुवर्ण-माला
१४०. स्वदेश-बान्धव
१४१. स्वार्थ
१४२. हंस
१४३. हरिश्चन्द्र-कला
१४४. हलवाई वैश्य-संरक्षक
१४५. हितकारिणी
१४६. हिन्दी-प्रचारक
१४७. हिन्दी प्रदीप
१४८. हिन्दी-मनोरंजन

(ख) बँगला-पत्रिकाएँ

१. साहित्य-परिषद्-पत्रिका
२. भारत-महिला
३. प्रवासी
४. भारतवर्ष
५. गृहस्थ
६. मानसी व मर्मबानी
७. भारती
८. विक्रम कपूर
९. उद्बोधन

(ग) गुजराती-पत्रिकाएँ

१. समालोचक
२. बीसवीं सदी
३. श्रीजैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस हेरल्ड
४. स्त्री-सुख-दर्पण
५. सुन्दरी-सुबोध
६. प्रचीन-भारत
७. भोम-सौन्दर्य

(घ) मराठी पत्रिकाएं

१. हिन्दूपंच
२. मनोरंजन
३. केरल-कोकिल
४. महाराष्ट्र-कोकिल

५.	बालबोध
६.	लोक-मित्र
७.	नवयुग
८.	सुवर्ण-माला

(ङ) संस्कृत-पत्रिकाएँ

१.	मित्र-गोष्ठी
२.	शारदा
३.	संस्कृत-चन्द्रिका
४.	संस्कृत-काव्य-कादम्बिनी सभा-समस्या पूर्ति
५.	संस्कृत-भारती
६.	संस्कृत-रत्न
७.	बहुश्रुत
८.	संस्कृत-परिषद्
९.	गीर्वाण-भारती

(च) उर्दू पत्रिकाएँ

१.	आर्य-समाचार
२.	साधू
३.	विज्ञानी
४.	ज़माना
५.	सन्त संदेश
६.	अदीब
७.	मुफ़ीदुल मज़ार ऐन
८.	आर्य मुसाफिर
९.	तर्जुमा
१०.	रोज़गार
११.	रोशन
१२.	दिलकश
१३.	अलग्रसर
१४.	सुबहे उम्मीद

(छ) अँगरेजी पत्रिकाएँ

1. The Gazette of India, Calcutta.
2. Government Gazette, Allahabad.
3. Provincial Press Bureau, Allahabad.
4. Government Gazette, United Provinces, Agra, Oudh, Allahabad.
5. Provincial Press Bureau, Nainital.
6. India
7. Memoirs of the Asiatic Society, Bengal.
8. Gazette of India, Simla.
9. Prabuddh Bharata.
10. The Dawn.
11. Journal and Proceeding of the Asiatic society of Bengal.
12. The Indian Ladies Magazine.

13. The Central Hindu College Magazine.
14. The Science Grounded Religion.
15. Indian antiquary.
16. The Collegian.
17. Rajput.
18. The Indian Review.
19. Review of Reviews.
20. African Times.
21. Student World.
22. The Moderen Review.
23. The Kayastha Samachar.
24. The Hidustan Review and Kayastha Samachar
25. The Hindustan Review.
26. Pearson's Magazine.
27. The Agricaltural Journal of India.
28. Scientific American.
29. Standard Bearer.
30. The Indian Humanitarian.
31. Golden Number of Indian Opinion.
32. The Humanitarian Era.
33. The Indian Settler.
34. The Wealth of India.
35. The Collegian And Progress of India.
36. The India Temperance Record and White Ribbon.
37. Review.
38. The Hindustani Student.
39. Indian Thought:
40. The Madras Ayurvedic Journal.
41. The Poona Agriculteral College Magazine.
42. The Ferguson College Magazine.

43. Vedic Magazine.
44. The Sufi.
45. The Jain Gazette.

२. आर्यभाषा पुस्तकालय में रक्षित पुस्तकें

भाषा		पुस्तकसंख्या
(क) हिन्दी		२३२६
(ख) संस्कृत		३३३
(ग) बंगला	लगभग	६५
(घ) मराठी		११६
(ङ) गुजराती	लगभग	१६२
(च) अँगरेजी		११६८
(छ) उर्दू		६१
(ज) गोरखा		५

३. कलाभवन में रक्षित हस्तलिखित रचनाएँ

(क) 'सरस्वती' की स्वीकृत रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ--

१६०३ ई०	१ बंडल
१६०४	,,
१६०५	,,
१६०६	,,
१६०७	,,
१६०८	,,
१६०६	,,
१६११	,,
१६१२	,,
१६१३	,,
१६१४	,,
१६१५	,,
१६१६	,,
१६१७	,,

१६१८	१ बंडल
१६१६	,,
१६२०	२ बंडल
	१८ बंडल

(ख) 'सरस्वती' की अस्वीकृत रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ—

१६०३ ई०	१ बंडल
१६०३–१६०४	,,
१६०४	,,
१६०५	,,
१६०६	२ ,,
१६०७	१ ,,
१६०६	,,
१६११	,,
१६१२	,,
१६१३	,,
१६१४	२ ,,
१६१६	१ ,,
१६१६–१६१७	,,
१६१८	२ ,,
१६१८–१६१६–१६२०	१ ,,
	१८ बंडल

(ग) कलाभवन में रक्षित पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ तथा अन्य रचनाएँ आदि—

१	बंडल	'सम्पत्ति शास्त्र', 'कविताकलाप' और 'शिक्षा'
१	,,	'जिला कानपुर का भूगोल', 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' और 'विक्रमांकदेवचरित चर्चा'
१	,,	'रघुवंश'
१	,,	'कुमार सम्भव' और 'मेघदूत'
१	,,	'महाभारत'
२	,,	'लोअर प्राइमरी रीडर' और 'अपर प्राइमरी रीडर' हस्तलिखित पुस्तकें, कविता, लेख आदि

१ ,, 'नाट्यशास्त्र', 'अमृत लहरी', 'कुमारसम्भवसार', 'नैषध चरित चर्चा', 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'कुमार सम्भव भाषा' और 'ऋतु-संहार भाषा' की समालोचनाएँ, 'कौटिल्य कुठार', 'थर्ड हिन्दी रीडर' स्फुट लेख (दो संग्रह), स्फुट कविताए, निरंकुशता विषयक कतरनें, पत्रादि, 'अभ्युदय' और 'मर्यादा' की महत्ता—पत्र, कतरनें, लेख आदि, भवभूति, के काल-निर्णय पर कतरनें, मिडिल-परीक्षा के प्रश्न (दिसम्बर, १६०० ई०), प्रेस ऐक्ट, कापी राइट ऐक्ट, नजीरें आदि।

१ ,, हस्तलिखित फुटकर लेख—'शीलनिधान जी की शालीनता', 'कवि की दिव्य दृष्टि', 'प्लेगस्तवराज' आदि

१ ,, फुटकर लेख—गद्य और पद्य

१ ,, फुटकर पत्र—३ डायरियां

१ ,, साहित्य-सम्मेलन-सम्बन्धी पत्रादि

१ ,, साहित्यिक वादविवाद, 'आत्माराम की टें टें'

१ ,, मानहानि का दावा

२ ,, विभक्ति विचार-वितंडा

१ ,, 'सरस्वती', भाग १५, संख्या २, से सम्बन्धित 'पढ़े लिखों का पांडित्य' आदि पर कतरनें—जुलाई से दिसम्बर, १६१४

१ ,, दी सीर्स आफ़ हिन्दी रीडर्स

१ ,, हस्तलिखित पुस्तकें—(प्राचीन लेखकों की) 'रामचन्द्रिका', 'बिहारी-सतसई' आदि

१ ,, डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'प्राचीन साहित्य' पुस्तक का हिन्दी अनुवाद—अस्वीकृत—१६१५ ई०

१ ,, क्लर्क की जगह के लिए प्रार्थना पत्र

१ ,, गज़ट ऑफ़ इंण्डिया

१ ,, दी पीपुल्स बैंक आफ़ इंडिया लिमिटेड—१६१६ ई० से सम्बन्धित कागद पत्र

१ ,, कुछ सरकारी प्रकाशन

२५ बंडल

कला-भवन में रक्षित

'सरस्वती' की स्वीकृत रचनाएँ	१८ बंडल
'सरस्वती' की अस्वीकृत रचनाएँ	१८ ,,
अन्य रचनाएँ, पत्रादि	२५ ,,
	कुल योग ६१ बंडल

४. नागरी-प्रचारिणी-सभा के कार्यालय में रक्षित पत्रादि

पहला बंडल	संख्या
(क) विविध	१ से ५१
(ख) ,,	५२ से १०१
(ग) ,,	१०२ से १६७
(घ) द्विवेदी जी के दो फ़ोटोग्राफ	१६८ से १६९
(ङ) पत्नी वियोग सम्बन्धी	१७० से २७६
दूसरा बंडल	
(क) छोटेलाल बार्हस्पत्य के	२७६ से ३४८
(ख) माधवराव सप्रे के 'ग्रन्थ प्रकाशन-मंडली सम्बन्धी'	३४९ से ४६७
(ग) राजा पृथ्वीपालसिंह के व्यक्तिगत	४६५ से ४७४
(घ) गिरिधर शर्मा के (अधिकतर व्यक्तिगत)	४७५ से ५३०
(ङ) गुरुकुल कांगड़ी के गवर्नर महात्मा मुंशीराम से सबंधित	५३१ से ५४८
(च) लुई कूने (लिपज़िग) के	५४९ से ५६५
(छ) 'मर्यादा' सम्बन्धी	५६६ से ५८०
(ज) परमानन्द चतुर्वेदी के (व्यक्तिगत)	५८१ से ६२३
(झ) छतरपुर रियासत के	६२४ से ६४६
(ञ) आर० पी० ड्यूहर्स्ट से संबंधित	६४७ से ६४९
(ट) नाथूराम शर्मा 'शंकर' के	६५० से ७०६
तीसरा और चौथा बंडल	
(क) इन्दौर दरबार को भेजे गए	७०७ से ७१५
(ख) से (ङ) तक—विविध (नागरी प्रचारिणी महासभा के विवाद, वैज्ञानिक कोष, दार्शनिक परिभाषा आदि के विषय में)	७१६ से ८९०

.........१९०६ ई० की 'सरस्वती' में 'विषस्य विषमौषधम्' का विज्ञापन देखकर भेजे गए कागद पत्र, 'अनस्थिरता' सम्बन्धी पत्र, विविध विषयक पत्र, द्विवेदी जी का मृत्यु लेख (१९०७ ई०) जो बाद में तिरस्कृत कर दिया गया।

परिशिष्ट २

वर्णानुक्रम से द्विवेदी जी की रचनाओं की सूची—

१. अतीत स्मृति
२. अद्भुत आलाप
३. अपर प्राइमरी रीडर
४. अमृत लहरी
५. अवध के किसानों की बरबादी
६. आख्यायिका-सप्तक
७. आत्मनिवेदन (अभिनन्दन के समय का भाषण)
८. आध्यात्मिकी
९. आलोचनांजलि
१०. ऋतु-तरंगिणी
११. औद्योगिकी
१२. कविता-कलाप
१३. कान्यकुब्ज-अबला-विलाप
१४. कान्यकुब्जली-व्रतम्
१५. कालिदास और उनकी कविता
१६. कालिदास की निरंकुशता
१७. काव्य मंजूषा
१८. किरातार्जुनीय
१९. कुमारसम्भव
२०. कुमार-संभव-सार
२१. कोविद-कीर्तन
२२. कौटिल्य-कुठार
२३. गंगालहरी
२४. चरितचर्या
२५. चरित्र-चित्रण
२६. जल-चिकित्सा
२७. जिला कानपुर का भूगोल
२८. तरुणोपदेश
२९. दृश्यदर्शन
३०. देवी-स्तुति-शतक
३१. द्विवेदी-काव्यमाला
३२. नागरी
३३. नाट्यशास्त्र
३४. नैषध-चरित-चर्चा
३५. पुरातत्व-प्रसंग
३६. पुरावृत्त
३७. प्राचीन-चिन्ह
३८. प्राचीन पंडित और कवि
३९. बालबोध या वर्णबोध
४०. बेकन-विचार-रत्नावली
४१. भामिनी-विलास
४२. भाषण (द्विवेदी-मेला)
४३. भाषण (साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पद से)
४४. महिम्न-स्तोत्र
४५. महिला-मोद
४६. मेघदूत

४७. रघुवंश
४८. रसज्ञ-रंजन
४९. लेखांजलि
५०. लोअर प्राइमरी रीडर
५१. वनिता-विलास
५२. वाग्विलास
५३. विक्रमांक देवचरित-चर्चा
५४. विज्ञ-विनोद
५५. विज्ञान-वार्ता
५६. विचार-विमर्श
५७. विदेशी-विद्वान
५८. विनय-विनोद
५९. विहार-वाटिका
६०. वेणी-संहार
६१. वैज्ञानिक-कोष
६२. वैचित्र्य-चित्रण
६३. शिक्षा
६४. शिक्षा-सरोज रीडर
६५. संकलन
६६. संपत्ति-शास्त्र
६७. समाचार-पत्र-संपादकस्तव
६८. समालोचना-समुच्चय
६९. साहित्य-संदर्भ
७०. साहित्य-सीकर
७१. साहित्यालाप
७२. सुकवि-संकीर्तन
७३. सुमन
७४. सोहागरात
७५. स्नेहमाला
७६. स्वाधीनता
७७. हिन्दी कालिदास की समालोचना
७८ हिन्दी की पहली किताब
७९. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति
८० हिन्दी महाभारत
८१. हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना

परिशिष्ट ३

'सरस्वती' सम्पादक पं॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा संशोधित एक लेख।

मूल लेखक—पांडुरंग खानखोजे

प्रकाशन का देश काल – 'सरस्वती', भाग १२, संख्या ४, पृ॰ १५१–५५।

केवल मोटे और काले अक्षर छोड़ कर द्विवेदी जी ने परिवर्तन, परिवर्द्धन या काँटछाँट की है।

मूल	संशोधित
ग्रन्थालयों का जन्म साधन व्याख्या और प्रणाली **ग्रन्थालयों का जन्म** "Libraries are the shrines where all the relics of saints, full of true virtue, and that without delusion and imposture, are presented and reposed. Bacon **वनचरावस्था से बाहर निकलने का प्रयत्न मनुष्य** प्राणी जिस समय करता है उसही समय निसर्ग का त्रास-दायी पर्वत उल्लंघन करने की वह चेष्टा करता है। इस ही उत्क्रमण को शास्त्रवेत्ता वानर से नर अवस्था में आना कहता है। अस्तित्व जीवन कलह और योग्य बलवान को यश इन शक्तियों के कारण केवल पशु शक्ति को छोड़ कर मानव शक्ति का स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। मानव-शक्ति से बुद्धि विकास और बुद्धि विकास से ही सभ्यता जन्म लेती है। इस सभ्यता के विचार विकास तथा विचार प्रचार आवश्यक हो जाते हैं। इसी ही से भावोत्पत्ति होकर विचार रत्न भांडार एकत्रित करने की लोक चेष्टा करते हैं। बस इस ही से मानसिक ग्रन्थों को जीवन मिलता है। ऐसे ग्रन्थ अति मूल्यवान बन जाते हैं। कारण इन ग्रन्थों में ही परमेश्वर की अगाध लीला प्रथम ग्रथित होती है। ऐसे ग्रन्थों का सन्मान	लिखने के साधन वनचरावस्था से बाहर निक-लने का प्रयत्न जिस समय मनुष्य करता है उस समय उसे एक नया जन्म सा मिलता है। इस उत्क्रमण को शास्त्रवेत्ता

मूल	संशोधित
कितना होता है इसकी कल्पना करना हो तो जगन्मान्य वेदों का थोड़ा स्मरण कीजियेगा। इन वेदों ने भारतीय पंडितों को प्रेम से पागल किया है परन्तु म्याक्समुलर आदि पाश्चात्य पंडितों को भी पागल कर डाला है। मानसिक ग्रन्थ स्मृति ग्रन्थालय में रखना मानव प्राणी को जिस समय अति कठीण हो जाता उस ही समय वह लेखन की चेष्टा करता है। लेखन कला उत्पन्न होने से लिखित ग्रन्थ उत्पन्न होते है। और ग्रन्थों से ग्रन्थालय उत्पन्न होते हैं। जिस समय ग्रन्थ लेख शुरू हो जाता है। पुस्तक लेखन से पुस्तक संग्रह और पुस्तक संग्रह से पुस्तकालय उत्पन्न होते हैं। उपरि लिखित उत्क्रमण से यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थालय को योग्य कल्पना आने के वास्ते पहिले ग्रन्थालय के साधनो को जानना अत्यन्त आवश्यक है। हमने इस लेख में ग्रन्थ और पुस्तक तथा ग्रन्थालय और पुस्तकालय ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है उससे पाठकों के मन में भ्रम उत्पन्न होने का संभव है कर के इस समय ग्रन्थ की व्याख्या तथा साधन का वर्णन करेंगे। ग्रन्थ की व्याख्या—व्यापक दृष्टी से ग्रन्थ उस पदार्थ को कहना ठीक है कि जिसमें मनुष्य प्राणी के विचार कल्पना, ज्ञान, भाषा आदि ग्रथित	वानर से नर अवस्था में आना कहते हैं। इस अवस्था में बुद्धि विकास होता है। बुद्धि विकास से सभ्यता जन्म लेती है। सभ्यता को वृद्धिगत करने के लिए विचार विकास और विचार-प्रचार की आवश्यकता होती है। इसी समय भाषा की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर मानसिक ग्रन्थों का जन्म होता है। ऐसे ग्रन्थ अति मूल्यवान समझे जाते हैं। क्योंकि इन्हीं ग्रन्थों में परमेश्वर की अगाध लीला का प्राथमिक वर्णन ग्रथित होता है। ऐसे ग्रन्थों का कितना सम्मान होता है, इसकी कल्पना करना हो तो जगन्मान्य वेदों का स्मरण करना चाहिए। वेदों ने भारतीय पंडितों को तो प्रेम से पागल किया ही है, परन्तु मैक्समूलर आदि पाश्चात्य पंडितों को भी पागल कर डाला है। मानसिक ग्रन्थों का स्मरण रखना मनुष्य को जिस समय कठिन हो जाता है उस समय वह उन्हें लिखने की चेष्टा करता है। लेखन-कला उत्पन्न होने से लिखित ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं। धीरे धीरे पुस्तक-कल्पना व्यक्त होकर पुस्तकें लिखी जाने लगती हैं। पुस्तक लेखन से पुस्तक-संग्रह और पुस्तक-संग्रह से पुस्तकालय उत्पन्न होते हैं।

मूल	संशोधित
किये गये हों और जिसका उद्देश उनका प्रचार मनुष्य प्राणीओं में करने का हो। यह व्याख्या व्यापक होने के कारण इसमें निम्नलिखीत बातों का समावेश होता है। स्मृति ग्रन्थ (इसका अर्थ भारतीय धर्मशास्त्र। जैसे कि मनुस्मृति, पाराशर स्मृति इत्यादि नहीं है) स्मृति ग्रन्थ ऐसे ग्रन्थ है कि जिससे स्मरण में रखे हुए विचारों का प्रचार हो। इसमें अति प्राचीन दंत कथा, काव्य, कविता, पदे, गीत और सम्भाषण आदि का समावेश होता है। होली में जो निंद्य शब्दों का प्रचार केवल स्मृति से आजकल के जमाने में हो गया है और हो रहा है इस कारण मनुष्य के ऊपर यह कल्पना प्रचार का संस्कार रह गया है यह है। होली के कवित्त न की गीत है ना सम्भाषण है। भला इन कवितों को अनपढ़ लोगों को ध्यान में रखना भी मुश्कील नहीं जाता है। इस ही के समान न गद्य ना पद्य अश्लील नही भाषा का प्रचार इस स्मृति ग्रन्थ के समय में था ऐसा विद्वान लोगों का तर्क है। पुराण भाषाओं में धार्मिक मन्त्र जादू के मन्त्र तन्त्र, पैशाचिक संस्कार ऐसे ही विचित्र भाषाओं में लिखे गये है। इस ही भाषा से जगत के मनोरम भाषाओं ने जन्म लिया है। भिन्न भिन्न भाषाओं की उन्नति यह एक उत्क्रमण का उत्तम उदाहरण है। ऐसे भाषाओं का प्रचार इन स्मृति ग्रन्थों का प्रचार प्रपितामह से पितामह के पास पितामह के मूं से पिता के पास इस ही परम्परा से हुआ करता था। इससे लोगों की स्मरण शक्ति बहुत ही अच्छी तरह से बढ़ती थी। एक समय भारतवर्ष में यह प्रणाली का प्रचार सार्वत्रिक था। हमने अपने पूर्वजों को धन्यवाद देना चाहिये कारण इस ही शक्ति से उन्होंने वेद, उपनिषद, स्मृति आदि ग्रन्थ परदेशीयों के आक्रमणों से और उनके ग्रन्थ प्रलय से बचाये। नही तो आज बचे हुये थोड़े ग्रन्थ भी अग्नये स्वाहा हो जाते !! मुखस्त करके स्मृति	मानसिक ग्रन्थ मन से उत्पन्न होते हैं। यही स्मृति ग्रन्थ हैं। इन में प्राचीन कथाएँ, कविता पद और गीत आदि होते हैं पुराने धार्मिक और ऐन्द्रजालिक मन्त्र तन्त्र तथा पैशाचिक बातें भी इस तरह के ग्रन्थों में समाविष्ट रहती हैं। वे एक विचित्र भाषा में होती हैं। इन्हीं भाषाओं से संसार की मनोरम भाषाओं ने जन्म लिया है। ऐसी भाषाओं का प्रचार—ऐसे स्मृति ग्रन्थों का ज्ञान--प्रपितामह से पितामहको, पितामहसे पिताको और पिता से पुत्र को हुआ करता था। इससे स्मरण शक्ति बहुत बढ़ती थी। इसी शक्ति की कृपा से हमारे पूर्वजों ने वेद उपनिषद्, स्मृति आदि को ग्रन्थों को हजारों वर्ष तक अक्षुण्ण रक्खा। यदि वे ऐसा न करते तो इस समय के अवशिष्ट ग्रन्थ भी कब के लुप्त हो गये होते। स्मृति ग्रन्थों का प्रकार केवल भारतवासियों ही ने नहीं किया, हिन्दू भाषा के ग्रन्थों का प्रचार भी प्राचीन काल में इसी तरह होता था।

मूल	संशोधन
ग्रन्थों का प्रचार केवल भारवासीयों ने ही नहीं किया तो हिब्रु ग्रन्थों का प्रचार भी प्राचीन काल में ऐसा ही हुवा करता था। युरोपीय ग्रन्थों में होमर के महाकाव्य को रामायण के समान सम्मान है। इस महाकाव्य का प्रचार कैसा हुवा केवल एक के मूं से दूसरे पास ईसामसी के ४७६ साल पहिले होमर के महाकाव्य इलियड तथा ओडिसे लिखे गये है। ऐसा कहते है कि यह महाकवि ग्रीक वाल्मिकी-प्रवास में ही अन्धा हो गया करके अपने काव्य को गाते हुवे हेलास के भिन्न भिन्न नगरों में भ्रमण करता था इस अमर काव्य का होमर के मुख से श्रवण करने में लोक हर्ष चित्त हुवा करते थे। और इस ही कारण से बहुत लोगों ने इसको मुखस्त करके इस महाकाव्य का प्रचार किया। आधुनिक जर्मन पंडितों का मत है कि होमर के महाकाव्य इलियड और ओडिसे एक कवि की कृति नहीं है किन्तु अनेक कवियों ने उनको बनाया है। जो सत्य हो सो हो परन्तु हमे इन काव्यों के मुखोमुखी प्रचार से ही जरूरत है। जापानीयों के कोजीकी का प्रचार ऐसे ही तरीके से हुवा करता था। चीन देश में लेखन और मुद्रण कला का प्रचार होने के पहिले और वहां पर बुद्ध धर्म का प्रचार होने के बहुत ही पहिले उनकी पुराण नीति, उपदेश धर्म आदि का प्रचार स्मृति पथ से ही हुवा करता था। इजिप्त देश की ऐतिहासिक लेखों में सर्वदा लोक बहुत प्रतिष्ठा करते है इसका कारण शिवाय उनके स्मृतिग्रन्थ की धनिकता यह ही है।	ग्रीस के महाकवि होमर के महाकाव्य का बड़ा आदर है। उसका प्रचार श्रवण परम्परा ही से हुआ था। ईसा के ४७६ वर्ष पहले होमर के महाकाव्य इलियड और आडिसी प्रणीत हुए थे। यह महाकवि अन्धा हो गया था। यह अपने काव्य को गाते हुए भ्रमण किया करता था। इन काव्यों को होमर के मुख से सुनकर ही लोगों ने याद कर लिया था। जापानियों के कोजकी ग्रन्थ का प्रचार भी इसी तरह हुआ था। चीन में लेखन और मुद्रण कला का प्रचार होने के पहले वहाँ के पुराण, नीति उपदेश और धर्म ग्रन्थों का प्रचार भी स्मृति पथ से ही हुआ था।
२ शिला तथा इष्टिका ग्रन्थ इन ग्रन्थों में पाषाण, शीला, हड्डी, शींगार, हस्तिदन्त, मिट्टी के कच्चे पात्र, इंटा या यष्टिका आदि कठीण पदार्थों का लिखने के वास्ते व्यवहार किया गया है। अति प्राचीन काल में जिस समय मनुष्य प्राणी सभ्य होते चला था उस समय इन सब पदार्थों का उपयोग उन्होंने किया है। शिला-	मानसिक ग्रन्थों की वृद्धि होते होते उनका याद रखना कठिन हो गया इससे उनको लिख रखने की जरूरत हुई। पर कागज पहले था नहीं। इससे पत्थर शिला, हड्डी, सींग, हाँथी दांत, मिट्टी के पक्के पात्र

मूल	संशोधित
काल इतिहास में अति प्राचीन काल है। भूगर्भ शास्त्र-वेत्ताओं ने इस काल का निरीक्षण प्रयत्नपूर्वक किया है। इस काल के सामान्यतः दो विभाग किये गये हैं। एक अति प्राचीन शिला युग और दूसरा प्राचीन नव शिला युग। हमे अति प्राचीन शिला युग से जरूरत नहीं है। नव शीला युग के आरंभ से भी विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं है परन्तु शिला युग के अन्त में और धातु युग के प्रारम्भ में ग्रन्थालय का मनोरंजक इतिहास मिश्रित हो गया है। स्मृति ग्रन्थ का काल जैसा जानना अशक्य है वैसा ही प्राचीन ग्रन्थ का काल जानने की कोशिश करना है। इस प्राचीन काल को जानने की की इच्छा हो तो Man before Metals Joly साहब का Primitive Man Horners का, Beginning of Writing Hoffman का, Story of the Alphabet Clodd का, और भारतीय प्राचीन ग्रन्थों के काल को जानना होता तो मान्यवर तिलक के Orion, Arctic Home in the Vedas इत्यादि ग्रन्थ और पंडित म्याक्मूलर के ग्रन्थ पढ़ने से बहुत कुछ मालूम हो जायेगा। जगत् के अति प्राचीन ग्रन्थ मृग, हाथी, आदि चित्रों से हड्डी, पाषाण आदि पर लिखे गये है। परन्तु जिस समय भाषा को ऐसा व्यक्त स्वरूप आने लगा उस ही समय चित्र लिपि को गर्भावस्था प्राप्त होकर चित्र लिपी को जन्म मिला ऐसा पाश्चात्य पंडितों के भाषा धर्म शास्त्र में लिखा है। यह अति पुराण भाषा प्राचीन काल में कैसी लिखी जाती थी यह जानने को पाठक गण कदाचित् उत्सुक होंगे तो पाठकों के मनोरंजन के लिये एक अलास्का कुटी में मिले हुवे लेख में से निम्निलिखित उदाहरण लेवेंगे। एक अलास्का इन्डियन मछली और दूसरे समुद्र के प्राणी की शिकार करने को गया था उसका वर्णन उसने लिखा है। (१) [चित्र] मैं नौका से गया हूँ। मैं लिखने के वास्ते एक मनुष्य का चित्र निकाल कर जिस साधन से जाना चाहता था वह बतलानेके वास्ते हात लम्बा करके	और ईंट आदि पदार्थों पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। भूगर्भशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि सबसे पहले पत्थरों और शिलाओं पर हथियारों से खोद कर लोग अपने मन की बात लिखते थे। संसार के कितने ही अति प्राचीन ग्रन्थ चित्र-लिपि द्वारा हड्डी, पत्थर और शिला आदि पर लिखे गये हैं। पाठक शायद यह जानना चाहें कि यह चित्र-लिपि क्या चीज है। यह वह लिपि है जिसमें मनुष्य अपने मन के भाव चित्रों द्वारा व्यक्त करते थे। इस लिपि का एक नमूना आप को हम बतलाते हैं। अलास्का प्रान्त में एक इस तरह का लेख मिला है। उसका संक्षिप्त वर्णन सुनिए। एक असभ्य मनुष्य मछली का शिकार करने गया था। उसे यह बतलाना था कि मैं नाव से गया था। इसलिए पहले उसने एक मनुष्य का चित्र बनाया फिर एक और मनुष्य का चित्र बनाकर उसके दोनों हाथों पर एक डाड़ रख दिया। पहले मनुष्य चित्र का हाथ दूसरे की तरफ़ उठा कर उसने यह सूचित किया कि इस तरह मैं नाव पर शिकार खेलने गया था। रात को वह दो झोपड़ी वाले एक टापू में

मूल	संशोधित
दूसरे चित्र के तरफ बतलाया और नौका से जाना चाहता हूँ यह बतलाने के वास्ते दोनों हातों में वल्हे वल्हे शब्द मराठी इंग्लिस Paddle है कृपया योग्य हिन्दी शब्द लिखना) लेकर जाने की दिशा बतला रहा है। (२) [चित्र] में रात को दो कुटी वाले द्वीप में सोया (इस चित्र में कानको हात लगा कर सोने का चिन्हाक्षर लिखा और एक वर्तुल निकाल कर द्वीप लिखा और उसमें दो कुटी बतलाने को दो बिन्दु दे दिये। (३) [चित्र] मैं दूसरे द्वीप में गया था इस (इस चित्र में मै के वास्ते (१) के समान, और द्वीप के वास्ते (२) के समान अक्षर है।) (४) [चित्र] वहाँ पर दो सोय (दो हात के दो उंगलीयों से) (५) [चित्र] दोनों ने समुद्रमछली मारी (मछली का चित्र) (६) [चित्र] और धनुष्य से भी मारा लौटे (धनुष्य का चिन्ह मछली के तरफ करके और लौटने का मार्ग बतलाया।) [चित्र] नौका से घर को लौटे (नौका का चित्र निकाल कर अलास्का के घर का चित्र निकाला) सम्पूर्ण वाक्य का मतलब है कि मैं नौका से गया था, रात को सोया था दो कुटी के द्वीप में, फिर दूसरे द्वीप गया था, वहाँ पर दो सोये, दोनों ने समुद्र मछली मारी—तीर और लाठी से, नौका से घर को लौट आये। यह उदाहरण एक पाश्चात्य संशोधक ने दिया है। इससे प्राचीन लिपी की योग्य कल्पना होती है। ईजिप्त प्रदेश के लेख भी इस ही तरह के लिखे गये हैं। इस प्रणाली को चीनी लोकों ने बहुत बढ़ाकर सुधारी है। और ऐसी ही लिपी जापान, कोरिया, तिब्बत आदि देशों में है। जापान में दूसरी एक लिपी प्रचलित है जिसको इरोहा कहते है। इरोहा वा कताकाना का इतिहास मनोरंजक है परन्तु यह विषय विस्तीर्ण होने के कारण सन्धि मिलने से भविष्यत में कभी लिखेंगे। इतना यहाँ कह देना ठीक होगा कि जापानी भाषा, लिपी, समाज दन्त कथा आदि भारतवर्ष के प्राचीन अवस्था से बहुत मिलती है। जापान के मेरे एक साल तक रहने से इस विषय पर थोड़ा अध्ययन करने को मेरे को सन्धि मिली	सोया। इस बात को उसने इस तरह जाहिर किया। एक एक मनुष्य का चित्र बनाकर कान पर हाथ लगाया। इससे सोना सूचित हुआ। फिर एक गोल दायरा खींचकर उसके भीतर दो बिन्दु दे दिये। इससे उसने दो झोपड़ों के टापू का ज्ञान कराया। इसके अनन्तर वह एक और टापू में गया। इसे बताने के लिए उसने फिर एक मनुष्याकृति बनाई और उसके आगे एक दायरा खींचा। वहाँ पर उसे एक और आदमी मिल गया वे दोनों उस टापू में सोये। अतएव एक हाथ को कान पर रखकर दूसरे हाथ की दो अंगुलियां उठाकर उसने इस बात को दिखाया और ऐसा ही चित्र भी उसने बनाया। उन दोनों ने मछली मारी। इसके लिए उसने मछली का चित्र बनाया और मनुष्याकृति खोदकर उसकी दो अंगुलियां उठाई। मछलो का शिकार उन्होंने धनुष बाण से किया था। अतएव मनुष्य का आकार खींचकर धनुष उसके हाथ में दिया। इसी तरह उसने और भी कई चित्र खोद कर अपने मन का भाव प्रकट किया। इसी का नाम है चित्रलिपि। ईजिप्ट में इस

मूल	संशोधित
थी, उससे मेरी ऐसी श्रद्धा होते चली की जापान के प्राचीन इतिहास से और भारत के प्राचीन इतिहास से कुछ ना कुछ सम्बन्ध था। सन्धि मिलने से आगे इस विषय पर कभी लिखेंगे। अमेरिकन इण्डियन अभी भी चित्रित लिपी में लिखा करते हैं यह चित्र लिपी लिखित ग्रन्थ जगत् के इतिहास में क्रांति कर रहे हैं और करेंगे। यह ग्रन्थ शीला तथा इष्टिका आदि पर लिखे गये होने के कारण बहुत दुष्प्राप्य है।	तरह के हजारों लेखों का पता लगा है। विद्या की वह एक जुदा शाखा ही हो गई है। अनेक विद्वान इस विषय की योग्यता सम्पादन करने और प्राचीन चित्रलिपि पढ़ने के लिए बरसों परिश्रम करते हैं।
चित्रलिपी ग्रन्थ इष्टिका, शीला आदि पर लिखे हुये सबसे जादा मिसर (इजिप्त) देश में है। इजिप्त के शीला ग्रन्थों का संशोधन पाश्चात्य पंडित अति परिश्रम से कर रहे हैं। कारनाक में विस्तीर्ण स्तम्भों के ऊपर अनेक शीला लेख अभी भी मौजूद हैं। इनके शीला ग्रन्थों से मालूम होता है कि कम से कम इनके शीला ग्रन्थों का काल इसा से ४००० साल पहिले का होगा। इजिप्त का इतिहास ईसा–मसी के ४५०० साल के पहिले से मिलता है। इजिप्त में मेनेस अलेक झांडर के आक्रमण तक इजिप्शियन राजाओं ने राज्य किया। तदनन्तर परराज्य रूपी अन्धकार में इजिप्त डूबने लगा। यह काल ४५००से ३३२ तक ईसा के पहले होता है। इसका रम्य इतिहास इष्टिका ग्रन्थों के ऊपर चित्रलिपी से लिखा है। जगत में इस ग्रन्थ भंडारसे स्पर्धा करने को दूसरे कौन से भी देश में शक्ति नहीं है।	चीन वालों ने इस चित्रलिपि को विशेष उन्नत किया है। जपान, कोरिया और तिब्बत आदि में भी, चीन से सम्पर्क होने के कारण, यह लिपि प्रचलित थी। जपान में इसी तरह की एक और लिपि का प्रचार था। उसे इरोहर कहते हैं। उसका इतिहास बड़ा मनोरंजक है। उस पर मैं फिर कभी कुछ लिखूँगा। मैं एक साल तक जपान में था। उस समय इस विषय की कुछ छानबीन भी मैंने की थी। उससे मेरी यह धारणा हुई है कि जपान के इतिहास का भारत के प्राचीन इतिहास से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य था। अमेरिका के आदिम निवासी, जिन्हें असभ्य इंडियन कहते हैं, अब तक इस चित्रलिपि का व्यवहार करते हैं। ईंटों और पत्थरों पर लिखे हुए चित्रलिपि ग्रन्थ सबसे अधिक मिश्र देश में हैं। कारनाक में बड़े बड़े खंभों के ऊपर अनेक शिलालेख अब तक मौजूद हैं। ये ईसा के ५००० वर्ष पहले के हैं। इस देश का प्राचीन इतिहास ईंटों के ऊपर चित्र लिपि में लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ भांडार से स्पर्धा करने योग्य दूसरे किसी भी देश में शक्ति नहीं है। मिश्र वालों में अद्‌भुत ग्रन्थ लेखन शक्ति थी। इन लोगों को सरस्वती ने इतना पागल कर दिया था कि वृक्ष, पाषाण, ईंट व चमड़ा इत्यादि जो कुछ मिला है सब पर इन्होंने लिख मारा है।

मूल	संशोधन
इन लोगों में ग्रन्थ लेखन शक्ति अद्‌भुत थी। इन लोगों को सरस्वती ने इतना पागल किया था कि वृत्त, पाषाण, पर्वत, इष्टिका, चर्म इत्यादि जो कुछ मिला वहाँ पर लिख मारा। ऐसे सरस्वती के भक्तों को और सभ्यता के प्रचारक देश को जिस काल चक्र ने नीचे गिराया और उस समय से राजकीय तथा सभ्यता में भी गुलाम बनाया उसको "कालाय तस्मै नमः" इतना ही कहना बस्स है।	
अलास्का के इन्डियन लोगों के अक्षर का नमूना उपर देदिया है। पाठकों के परिचय के लिये तथा उपरि निर्दिष्ट भाषासिद्धान्त के पुष्टी के वास्ते इजिप्शियन लोगों के कुछ चिन्ह देता हूँ। [चिन्ह] इन चिन्हों का अर्थ चित्र से सहज मालूम हो जायगा। जिस समय यह चित्रलिपी लिखना अत्यन्त त्रासदायी मालूम होने लगा उस समय इजिप्शियन लोगों ने उस ही से सुलभ सुलभ चिन्ह लिपी बनाई। तत्पश्चात् इन लोगों ने सुगम अक्षर बनाये। इन लोगों के बहुत ग्रन्थ ऐसे ही तीनो मिश्र लिपी से लिखे हुए है। ध्वनी लेखन प्रणाली का जन्म भी इन लोगों ने ही किया।	धीरे धीरे जब इन्हें बहुत लिखने की जरूरत पड़ने लगी तब यह चित्रलिपि त्रासदायी मालूम होने लगी। अतएव इन लोगों ने उस लिपि का संशोधन करके कुछ सुलभ चिन्ह निर्माण किये। तत्पश्चात् इन्होंने कुछ समय बाद अक्षर बनाये। इन लोगों के बहुत से ग्रंथ इन तीनों प्रकार की मिश्र-लिपियों में लिखे हुए हैं।
चीन देश में अति प्राचीन काल में चित्रित भाषा थी यह उपर लिख दिया है। उदाहरणार्थ [चिन्ह] प्रभात, [चिन्ह] पर्वत [चिन्ह] वृत्त (दरख्त) [चिन्ह] घोड़ा, [चिन्ह] आदमी। अर्वाचीन उदाहरणार्थ: [चिन्ह] प्रभात [चिन्ह] पर्वत, [चिन्ह] वृत्त, [चिन्ह] घोड़ा, [चिन्ह] आदमी चीनी लोकों ने लिपी में सुधार किया परन्तु ध्वनी:लेखन के स्थान में इन्हों ने विस्तृत चिन्ह लेखन का ही प्रचार किया। चिन के सर्वग्रन्थ उपरि लिखित चिन्हांकित भाषाओं में हैं।	
३ धीरे धीरे लिपी विस्तार होने लगा और इस कारण से ग्रन्थ साहित्य की आवश्यकता लोगों को अधिकतर मालूम होने लगी असेरिया, ग्रीस आदि देशों में ध्वनी लेखन प्रणाली का जन्म होते ही लोक लेखनेच्छु हो गये परन्तु साधन हीन होने के कारण उनको इष्टिका या शीला व्यतिरिक्त अन्य साधन ढूँढ़ने का प्रयोजन	धीरे धीरे लिपि-विस्तार होने लगा। इसका कारण ग्रन्थ साहित्य की आवश्यकता लोगों को अधिकाधिक मालूम होने लगी। फल यह हुआ कि कुछ दिनों में आसारिया, ग्रीस

मूल	संशोधित
पड़ा। मिट्टीके तख्ते बनाना, लिखना और भूंजना त्रासदायी होने के कारण लोगों ने मृदु लकड़ीयों के ऊपर लिखना शुरू किया। वंश वृक्ष पर लिखने में चीनी लोक कुशल बन गये। बुद्ध-कालीन अनेक लेख भारत वर्ष में शालाओं के ऊपर है परन्तु लकड़ीयों के ऊपर लिखे हुये लेख भी पाये हैं। अशोक महाराजा के समय के इन लेखों से ही भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास का संशोधन करने को सुभीदा हुआ। लकड़ी पर लिखने का तरीका भारतवर्ष में अभी अभी तक था। मेरे पितामह जिनके मृत्यू थोड़े महीनों के हि पहले हुवा, मुझे हर हमेश पूर्वकालीन विद्योपार्जन के कष्टता के बारे में उपदेश पर अनुभव कथन करते थे। उनका उपदेश था हम लोगों ने लकड़ीके ऊपर का ईंट चूर्ण डालकर वांस के लकड़ी से श्रीगणेशायनमः से इति तक अध्ययन कष्टतापूर्वक किया। भोसले-शायी में कागज महेंगे थे करके शिवाय लकड़ी तख्ते के दूसरा मार्ग नहीं था। आज तुम्हारे समान लड़कों के पढ़ने के वास्ते विद्यालय, पुस्तक, लेखणी, स्लेट आदि साधन होकर भी विद्योपार्जन में तुम लोक पुराने जमाने के लोगों के समान कष्ट नहीं उठाते हो। मैंने मारवाड़ियों के दुकानों में रंगीन तख्ते पर रंग से लिखने का तरीका बहुत जगह पर देखा। यदि साधननों के दुष्प्रायता के कारण अभी तक यह शोचनीय स्थिति थी तो पुराण काल के लोगों की क्या हालत होगी? तो भी धन्य है उन महात्माओं को जिन्होंने भोज पत्र पर भारतवर्षीय अमूल्य ग्रन्थ भांडार लिख डाला है। लकड़ी पर लिखे हुये ग्रन्थ ग्रीस और रोम आदि देशों में भी पाये जाते हैं। लकड़ी, भोजपत्र के पश्चात् लोगों ने अन्य वृक्षों के पत्तों पर लिखना शुरू किया। ताड़पत्र पर भारत के कितने ग्रन्थ लिखे गये होंगे यह	आदि देशों में ध्वनिके अनुसार लेखन प्रणाली का जन्म हुआ। इस समय पत्थरों और ईंटों पर लिखने से लोगों को तकलीफ होने लगी। इससे अन्य साधन ढूँढने का प्रयोजन हुआ। तब लोगों ने नरम नरम लकड़ियों के तख्तों के ऊपर लिखना शुरू किया वांस पर लिखने में चीनी लोगों ने बड़ी कुशलता प्राप्त की। बुद्धकालीन अनेक लेख भारतवर्ष में लकड़ी के ऊपर लिखे हुए पाये गये हैं। चीन की तो बात ही नहीं। वहां तो ऐसे असंख्य लेख मिलते हैं। लकड़ी पर लिखने का रवाज भारतवर्ष में अभी तक था। मेरे पितामह पूर्वकालीन विद्योपार्जन की कष्टदायकता के विषयमें मुझसे बहुधा बातें किया करते थे। वे कहते थे कि हम लोगों ने तख्ते के ऊपर ईंट का चूर डाल कर वांस की लकड़ी से श्रीगणेशायनमः से प्रारम्भ करके अन्त तक अध्ययन किया था। मैंने मार-वाड़ियों की दूकानों पर रंगीन तख्तों पर रंग से लिखने का रवाज बहुत जगह देखा है। यदि साधनों की दुष्प्राप्यता के कारण अब तक यह दशा थी तो पुराने समय की असुवि-धाओं का क्या पूछना है। अतएव धन्य है उन भारतवर्षीय महात्माओं को जिन्होंने भोज पत्र पर अमूल्य ग्रन्थ लिख डाले हैं। लकड़ी पर लिखे हुए ग्रन्थ ग्रीस और रोम आदि देशों में भी पाये जाते हैं। लकड़ी और भोजपत्र के पश्चात्

मूल	संशोधित
यदि हम निश्चयात्मक नहीं जानते तो भी पाठक इसका तर्क कर सकते हैं। जिस समय जगत की सभ्यता इतने उच्च स्थिती प्रत आ गइ उस ही समय ग्रन्थों का रूपान्तर पुस्तकों में होने चला। ४ ताम्रपत्रादि धातू अन्य साधन इष्टिका लेखों के पहिले से ताम्रादि धातूओं पर भारतीय लेख लिखे गये है। इष्टिका या मिट्टी पर लिखने का तरीका भारतवर्ष में वाबिलोनिया से आया था ऐसा सिद्धान्त Dr. Holy को मिले इष्टिका लेख पर से अनेक विद्वान करते हैं। जो सत्य हो सो हो परन्तु यह बात निश्चित है की भारतवर्ष में सुवर्ण पत्र तथा ताम्रपत्र अति प्राचीन काल से मौजूद हैं वेदों में भी इसका वर्णन किया गया है बुद्धकालीन अनेक लेख ताम्रपत्र तथा लोहपत्र इन पर लिखे गये हैं। तक्षिला में अनेक ताम्रपत्रों पर जो लेख पाये गये इन पर से यह सिद्ध होता है कि धातूपत्रों पर लेख लिखने का तरीका भारत वासी आर्यों ने ही निकाला है। भारतवर्ष से ही धातूपत्र पर लिखने का तरीका अन्य देशों में प्रसृत हुआ ऐसा अनुमान करने को और अन्य कारणों से स्थान है। अस्तु चीन जपान आदि देशों में भी धातूपत्र पर लेख लिखने का प्रणाली थी और है। इजिप्त असेरिया, ग्रीस आदि पाश्चात्य पुराण देशों में भी एक काल में धातूपत्र के उपर ग्रन्थ थे। जिस काल का हमने वर्णन किया है वह ग्रन्थालयों के इतिहास में अति उपयोगी काल है। शीला, हड्डीये, काष्ट लकड़ी इष्टिका इत्यादि ग्रन्थों के पृष्ट थे तो ऐसे वसूओं के उपर लोग कैसे लिखा करते ये यह प्रश्न साहजिक उपस्थित होता है। अति प्राचीन लेख कठीण पदार्थों से खोदकर लिखे गये है। कठीण शीला के टूटकड़ों पर अच्छा कारागिरी का काम करने में प्राचीन लोक हुशार हो	लोगों ने अन्य वृक्षों के पत्तों पर भी लिखना शुरू किया ताड़पत्र पर भारत में लाखों ग्रन्थ लिखे गये हैं। जिस समय संसार की सभ्यता इतनी उच्च स्थिति पर पहुँच गई उस समय लेखों का समूह पुस्तकों का रूप धारण करने लगा। भारतवर्ष में सोने और तांबे के पत्रों का प्रचार बहुत पहले से था। वेदों में भी इस बात का उल्लेख है। बुद्धकालीन अनेक लेख तांबे और लोहे पर भी लिखे गये मिले हैं। तक्षशिला में अनेक ताम्रपत्रों पर लेख पाये गये हैं। भाडगावं में सुवर्णपत्रों पर लेख मिले हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि धातुपत्रों पर लेख लिखने का तरीका भारतवासी आर्यों ने निकाला है। भारतवर्ष से ही यह तरीका अन्य देशों में पहुँचा है। चीन, जपान आदि देशों में भी धातुपत्रों पर लेख की प्रणाली थी और अब भी है। ईजिप्ट, आसीरिया, ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों में भी किसी समय, धातुपत्रोंके ऊपर ग्रन्थ लिखे जाते थे। कुछ विद्वानों का खयाल है कि भारत ने यह तरीका बाबुलवालों से सीखा था पर मेरी सम्मति इसके विपरीत है।

मूल	संशोधित
गये थे। नंतर कठीण धातू का शोध हुआ। लोक ऐसे धातू पर या काष्ट पर धातू से लिखने लगे। लोगों ने धातू के तीव्र शस्त्र बनाना जब सीख लिया तब धातू पर लिखने के वास्ते उन्होंने अच्छे शस्त्र भी बना लिये। ऐसे प्राचीन शस्त्र प्रायः सब प्राचीन देशों में पाये जाते हैं। भारतवासी शस्त्र बनाने में बहुत ही निपुण हो गये थे। लढणे के शस्त्र तो भारतवासियों ने बना लिये ही थे परन्तु शस्त्र वैद्यकी के वास्ते भी उत्तम शस्त्र उन्होंने बना लिये थे। यह अनुमान नही है तो भारतीय विद्वानों ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखकर सिद्ध किया है। बुद्धकाल में भी लिखने के साधन पूर्णत्व को नहीं आये होंगे और लेख लिखने को उनको बहुत तखलीफ त्रास होते होगा कारण बुद्धकालीन विनय ग्रन्थ में एक स्थान में लिखा है कि वह यदि लेखक बनेगा तो उसको सुख और समाधान होगा परन्तु उससे उसकी उंगलीयें दरद करती रहेंगी यह वाक्य पुत्र के भविष्यत जीवन के वास्ते पिता ने निकाला है। उस समय में उनको लिखने में जरूर त्रास होता होगा। भारतवर्ष में रासायनिक द्रव्यों का भी उपयोग लेखन में किया गया है। नार्थिकाम्ल (नैट्रिक आसिड H. No 3) गन्धकिकाम्ल (सल्फ्यूरिक आसिड H 2 So 4) हमारे पूर्वजों को मालूम थे और लेखन में इसका भी उपयोग किया गया होगा। ऐसा तर्क करने को स्थान है कारण अन्य देशों में इनका लेखन के वास्ते उपयोग किया गया है यह सुप्रसिद्ध है। इजिप्सियन लोगोंके ग्रन्थ भी भिन्न भिन्न रंगों से लिखे गये हैं। रंग के साथ ब्रस और ब्रस के साथ लेखन शुरू हो गया। चिनी, जपानी लोक अभी भी ब्रस से लिखते हैं। लकड़ी के रंग लगाने के तरीके से लेखणी का जन्म हुआ। लेखणी को अच्छा स्वरूप आते चला। कोयले से लिखने का तरीका भी शुरू हो गया। और कोयले से शाई भी बननी लगी। धान्यादि जलाकर शाई बनाने का तरीका अभी तक प्रचलित है। इसका जन्म भी कोयले की शाई से ही है। जगत के ब्रश कलम लेखणी शाई आदि के प्रचार से पुस्तक लिखना अधिक सुलभ हो गया।	पत्थरों, हड्डियों, तांबे और लोहेके तांबे पर लोग लोहे की शलाकाओं और औजारोंसे अन्ग

मूल	संशोधित
	खोदते थे। यह बड़ी मेहनत का काम था। कुछ लोग यही पेशा करते थे। इससे अभ्यास के कारण वे यह काम बहुत अच्छा और बहुत जल्दी करते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि भारतवर्ष में धातु पत्रों पर लेख उत्तीर्ण करने वाले कारीगर गन्धक क्षार आदि रसायनों का भी उपयोग करते थे। इनके उपयोग से अक्षरांकन में विशेष सुभीता होता था।
	प्राचीन समय से ही भारत में चित्र कला का प्रचार चला आता है। सुन्दर रंगों से जैसे चित्र बनाये जाते हैं वैसे ही अक्षर लिखने और उत्कीर्ण करने में भी रंग काम में लाया जाता था। चित्र बनने में ब्रस का प्रयोग करना पड़ता है। ब्रश बनाना भी प्राचीन भारतवासी जानते थे। गिलहरी की पूंछ के बालों से प्राय. ब्रश बनाये जाते थे। इन ब्रशों से धीरे धीरे लिखने का भी काम लिया जाने लगा। परन्तु ब्रश से लिखने में देर लगती थी। इस कारण लेखनी का जन्म हुआ। कलम का आदिम रूप ब्रश ही है।
	चीनी और जापानी लोग अब भी ब्रश से ही लिखते हैं। कुछ दिनों बाद कोयले से तख्ते आदि पर लोग लिखने लगे। तब उन्हे स्याही बनाने की सूझी। पहले कोयले से ही स्याही बनी होगी, उसके बाद और चीजों से।
६. वृक्ष के पत्र छाली आदि:- श्रीरामायण काल में वल्कल की कितनी महती थी यह वल्मिकी तुलसीदास आदि महर्षि कह गये हैं। भारत वर्षीय प्राचीन ग्रन्थ ताड़पत्रों पर पाये जाते हैं। गोसिंग विहार में भारतवर्ष के अति प्राचीन बुद्धकालीन ग्रन्थ भोज पत्र पर लिखे हुए पाये गये हैं। इन ग्रन्थों के भाग पारिस तथा सेटपिटसेवर्ग में अभी भी	जब से भोज पत्र और ताड़पत्र पर लोग लिखने लगे तब से लेखन कला का विशेष प्रचार हुआ। गोसिंह बिहार में भारतवर्ष के अति प्राचीन कितने ही बुद्धकालीन ग्रन्थ भोजपत्र पर लिखे हुए पाये गये हैं। इन ग्रन्थों के कुछ अंश पेरिस और सेंटपिटर्स वर्ग में अब तक रक्खे हैं। ये ग्रन्थ कम से कम ५०० वर्ष ईसा के पहले लिखे गये होंगे। इतने प्राचीन होने पर भी ये ग्रन्थ स्याही से लिखे गये हैं, और स्याही अच्छी है। प्राचीनता के कारण भोज पत्र और ताड़पत्र भारतवासियों को इतने पूज्य हो गये हैं। यंत्र मंत्र बहुधा इन्ही पर लिखे जाते हैं।

मूल	संशोधित
मौजूद है। यह ग्रन्थ इसामसी के पहिले कम से कम ५०० वर्ष पहीले लिखा गया होगा ऐसा विद्वानों का तर्क है इसमें बुद्धोपदेश लिखा हुवा हैं। आश्चार्य यह है कि ग्रन्थ इतने प्राचीनकाल के होकर भी शाई से लिखे गये हैं और शाई भी अच्छी है। क्याप्टन बखर को कुचरके नजदीक भिगाह स्थान में ऐसे ही भोजपत्र पर लिखे हुए ग्रन्थ मिले हैं। ये ग्रन्थ भारतवर्ष के इतिहास में अति मूल्यवान हैं.कारण इनमें अनेक औषधीयों का वर्णन है, सर्पदंश दुरुस्त करने का भी मार्ग इन ग्रन्थों में लिखा है। इस ग्रन्थ से भारतवर्षीय आयुर्वेदिक तथा रासायनिक इतिहास जानने को सुभीदा होने वाला है शोक है कि यह संशोधन का काम केवल पाश्चात्य लोगों के ही हात में है। यदि भारतीय विद्वान इस संशोधन के विषय में ध्यान देवेंगे तो भारतवर्ष पर और भारतीय साहित्य पर इनके अनन्त उपकार होंगे। भोजपत्र और ताड़पत्र इस प्राचीनता के कारण साधारण लोगों को इतने पूज्य हो गये कि वे अभी भी बहुत से धार्मीक संस्कारों में औरधार्मिक प्रसंगों में उनका व्यवहार करते हैं इन पत्रों के तावीज बनाकर धारण करने में लोगों की अभी भी श्रद्धा है इस पर से भी इनके प्राचीनता तथा पवित्रता का अनुमान पाठक कर सकते हैं।	
७ पार्चमेंट या चमड़ा जगत के ग्रन्थों में तथा पुस्तकों में चमड़े ने अपने तरफ से बहुत सेवा किेयी है और अभी भी कर रहा है। एक समय जगत के सर्व प्राचीन देश चमड़े पर लिखा करते थे परन्तु अहिंसा परमों धर्मः का प्रचार जोर शोर से शुरू होने के कारण चमड़े का व्याहार लिखने के काम में कम होते चला व्याघ्र, सिंह, हरिण आदि जानवरों के चमड़े का पवित्र काम में अभी भी प्रचार अच्छा है परन्तु चमड़े के सर्वसाधारण अपवित्रा के कारण लोक चमड़े का व्यवहार पुस्तकों में करना पसंत नही करते हैं। विश्वविद्यालय या महाविद्यालय के पदवीरत्न (Diploma), तथा अन्य सरकारी कामों में इसका व्यवहार होने चमड़े को फिर श्रेष्टता आते चली। मुसलमान भाइयों ने चमड़े का ग्रन्थ या पुस्तक के काम में	एक समय था जब चमड़े पर भी पुस्तकें लिखी जाती थीं। विद्वानों का अनुमान है कि किसी समय संसार के सारे प्राचीन देश चमड़े पर लिखा करते थे। भारतवर्ष में भी प्राचीन समय में चमड़े का उपयोग इस काम के लिए होता था। पर 'अहिंसा परमों धर्मः' का उपदेश शुरू होने के कारण चमड़े का व्यवहार लिखने के काम में कम हो चला तथापि व्याघ्र, सिंह, हरिण आदि जानवरों के चमड़े का उपयोग पवित्र कामों में अब भी होता

मूल	संशोधित
प्रचार फिर भारतवर्ष में किया था। आज कल चमड़े की जिल्द बांधना, या टोपियों के अन्दर के चमड़े पर या अन्य चमड़े के वस्तू पर छापना आज कल देश में प्रसृत हो रहा है यह धंदे के ख्याल से आनंद की बात है।	है। परन्तु अपवित्रता के ख्याल से लोग चमड़े का व्यवहार पुस्तक लिखने में करना अब पसन्द नहीं करते। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के पदवीदान पत्रों (Diploma) में चमड़े का व्यवहार गवर्नमेंट इस समय भी करती है। पुस्तकों की जिल्द बांधने में तो चमड़े का व्यवहार सार्वत्रिक सा है।
इजिप्त देश में चमड़े पर लिखना प्राचीन काल से पसंत करते थे। चमड़े पर लिखने का तरीका मिसर देश के परगामस राजा ने सब से पहले निकाला था और उस राजा की कीर्ति वढ़ाने के लिये उस समय से चमड़े के कागज को पार्चमैंट (Parchment) कहने को शुरू किया। इस पार्चमैंट की कहानी पाठकों को मनोरंजक मालूम होगी इस आशा से उसका वर्णन संक्षेपतः नीचे करता हूँ—जगत में नूतननगर बनाने में सिरिया देश का सेल्यूकस निकेटर नाम का एक महा विख्यात राजा हो गया। इसके मरने के बाद परगामम् नाम का निकेटर के आधीनता में पश्चिम आशिया मायनर में एक संस्थान था वह स्वाधीन हो गया। परगामम् के राजा के योग्यता के कारण ग्रीस आदि देशों के सभ्यता में परगामम् यह एक सुप्रसिद्ध केन्द्र स्थान हो गया। वहां पर एक विख्यात पुस्तकालय और विश्वविद्यालय संस्थापित हो गया। यह पुस्तकालय जगत में सबसे बड़ा बनने की इच्छा परगामम् के राजा के दिल में थी और उसने इजिप्तसे प्यपीरस कागज मंगाना शुरू किया परन्तु इजिप्त नरेशों ने कागज को परगामम में भेजने को अपने राज्य में मना किया। इजिप्त के इस अदूरदर्शित्व के कारण जगत की सभ्यता कभी भी पीछे रहने वाली नहीं थी। परगामम के राजा ने अपनी सम्पूर्ण पुस्तकें पार्चमेंट चमड़े के ऊपर लिखवायी। यह इतिहास इसाके पहले २८१ का है पार्चमेंट शद परगामम' शद से निकला है। परगामम् से परगामेंट और परगामेंट से आर्चमेंट बन गया। चमड़े की मजबूती	ईजिप्ट देश में प्राचीन काल से चमड़े पर लोग लिखते थे। चमड़े पर लिखने का तरीका वहां परगामस के राजा ने सबसे पहले निकाला। उस राजा की यादगार से उस समय से चमड़े के कागज को लोग पार्चमेंट कहने लगे। पार्चमेंट की कहानी बड़ी मनोरंजक है। उसे थोड़े में मैं सुनाता हूँ। सीरिया देश का सिल्यूकस निकेटर बहुत विख्यात राजा हो गया है। उसके मरने के बाद पश्चिमी एशिया माइनर का परगामम् नाम का एक संस्थान स्वाधीन हो गया। परगामम् का राजा बड़ा योग्य था। इससे वहां पर एक बहुत बड़ा पुस्तकालय और विश्वविद्यालय संस्थापित था। इस पुस्तकालय को जगत में सबसे बड़ा पुस्तकालय बनाने की इच्छा परगामम् के राजा की थी। अतएव उसने ईजिप्ट से पापीरस (Papyrus) नामक कागज मंगाना शुरू किया। परन्तु ईजिप्ट के राजाओं ने परगामम् में कागज भेजना रोक दिया। यह देखकर इस परगामम् के राजा ने

<table>
<tr><th>मूल</th><th>संशोधित</th></tr>
<tr><td>और अनेक वर्षों तक की कीड़ा इत्यादी से खराबा नहीं होता इन कारणों से चमड़े का प्रचार पाश्चात्य देशों में जादा हुवा ।

पाताल के अमरीका के रक्त इन्डियन चमड़े का उपयोग लिखने के काम में अति प्राचीन काल से करते थे। इन की मनोहर चित्रलिपी और चित्र अभी भी आल्हादकारक है इनके चमड़े के ग्रन्थ चित्र विचत्र अक्षरों में लिखे गये हैं। अति प्राचीन हिब्रयू पुस्तकें भी चमड़े पर पार्चमेन्ट पर लिखी गई है एक समय युरोप निवासी अन्य प्राचीन लोकों में चमड़े पर लिखना बहुत ही पसंत करते थे ।

८ कागज या पापिरस (Papyrus)

सबसे पहले कागज का शोष चीनी लोकों ने १३५२ साल में चीन में कागज बनाना शुरू हो हो गया था भारत में कागज चीन से आया ऐसा बहुत विद्वानों का कहना है ।

युरोप में कागज का प्रसार इजिप्त से हुवा। भारतवर्ष में गंगा जी के किनारे पर तपश्चर्या कर के सहर्षों लोगों ने जैसी भारत में सभ्यता फैलाई उस ही समान युरोप की सभ्यता नाईल नदी के पवित्र तीर्थ से हुयी। इस नदी के पवित्र जल में पापिरस नाम को एक वनस्पति पैदा हुवा करती थी इस ही से पुराण इजिप्शीयन लोगों ने कागज बनाया था। इस पापिरस कागज के ही इजिप्त के अतिप्राचीन ग्रन्थ बने हैं। इन लोगों का सुप्रसिद्ध पुराण ग्रन्थ मृत लोगों का ग्रन्थ (Book of the Dead) पापिरस पर ही लिखा गया है वेदों से भी यह ग्रन्थ अति प्राचीन है ऐसा पाश्चात्य पंडितों का कथन है। सत्य निर्णय कठीण है। यह बात सत्य है कि यह मृत लोगों का ग्रन्थ इन लोगों का गरुड़ पुराण था। पापिरस का बनाना और सम्पूर्ण वाणिज्याधिकार (monopoly) केवल इन लोगों के ही हाथ में था करके</td><td>अपनी सम्पूर्ण पुस्तकें पार्चमेंट चमड़े के ऊपर लिखवाई। यह बात ईसा के पहले २८०८ वर्ष की है। पार्चमेंट शब्द परगामम् शब्द से निकला है। परगामम् से परगामेंट और परगामेंट से पार्चमेंट बना है।

अमरीका के रक्तवर्ण असभ्य इंडियन लिखने के काम में चमड़े का उपयोग अति प्राचीन काल से करते आये हैं। इनकी मनोहर चित्रलिपि और चित्र बड़े आह्लादकारक हैं। इनके चमड़े के ग्रन्थ चित्रविचित्र अक्षरों में लिखे हुए हैं। हिब्रयू भापा की अति प्राचीन पुस्तकें भी चमड़े पर लिखी हुई हैं।

सबसे पहले कागज का आविष्कार चीन वालों ने किया। १३७२ ई० में चीन में कागज़ बनना शुरू हो गया था। विद्वानों का मत है कि भारत में कागज चीन से ही आया।

यूरोप के कागज का प्रचार ईजिप्ट से हुआ। गंगा के किनारे तपश्चर्या करने वाले महर्षियों ने जैसे भारत में सभ्यता फैलाई वैसे ही नील नदीके पवित्र तटसे यूरोपमें सभ्यता फैली इस नदी के जल में पापिरस नाम की एक वनस्पति पैदा होती थी। इसी से ईजिप्ट के निवासियों ने कागज बनाया। ईजिप्ट के अतिप्रचीन ग्रन्थ इसी पापिरस कागज पर हैं। इनका सुप्रसिद्ध पुराण मृत मनुष्यों का ग्रन्थ (Book of theDead) पापिरस पर ही लिखा हुआ था। यह ग्रन्थ इन लोगों का गरुड़ पुराण है।</td></tr>
</table>

मूल	संशोधित
ही परगामम् में इन लोगों ने कागज भेजा नहीं। इस पापीरस से ही अंगरेजी पेपर (Paper) शब्द बना है। खिस्त शास्त्र का बैबल (Bible) शब्द भी इजिप्शियन के बिब्लस (Byblas) नाम के वनस्पती से आता है। यह एक आश्चर्य है। जगत की सभ्यता कागज, शाई कलम लेखणी तक आ गई। बस इस ही समय में ग्रन्थ पिता से पुस्तक पुत्र इस जगत में अवतीर्ण हुआ। यहां पर पुस्तक जन्म का इतिहास खतम हो गया। इस ही बालक ने सरस्वती युग आरंभ किया। यहां पर हम 'श्रीगणेशायनमः' करते हैं। अभी तक जिस उत्क्रमण (Evolution) का वर्णन किया उसका सारांश यह है कि प्रारम्भ में मनुष्य के बुद्धिविकास के कारण विचार प्रकट करने की भाषा व्यक्तिरिक्त साधन की आवश्यकता हुयी और तन्निवारणार्थ स्मृति ग्रन्थ, स्मृति ग्रन्थों से शीला, इष्टिका, लकड़ी, धातू, पत्रे, चमड़ा, कागज आदि के ग्रन्थ बन गये। इन ग्रन्थों पर धातू, शीला, लकड़ी, अम्ल, रंग, शाई, लेखणी आदि साधनों से लिखा गया। जगत की भिन्न भिन्न लीपी चित्र लीपी से निकल कर उनको प्रचलित स्वरूप प्राप्त हुआ। पुस्तकों का जन्म भी इन प्राचीन ग्रन्थों से हुआ। मैंने ग्रन्थ की व्याख्या ऊपर दे दियी है उससे और उपरि लिखित विस्तार से पुस्तक की व्याख्या पाठकों के ध्यान में आ गई होगी परन्तु विद्वान लोगों के कियी हुयी व्याख्या देना उचित समझ कर नीचे लिखता हूँ:— १—वेबर साहब की व्याख्या पुस्तक उसको कहना चाहिये कि जिसमें अनेक कागज या तत्समान दूसरे लिखित, मुद्रित या अन्य पत्रों को बांधकर संग्रह हो, सामान्यतः नियमित आकार देकर बांधे हुए लिखित वा मुद्रित पत्रों की क्रमशः ग्रथित कियी हुयी जिल्द। २—पुस्तक की विशिष्ट व्याख्या शास्त्रीयः वाङ्मयात्मक विचार परम्परा कायमर खकर लिखे हुए विस्तीर्ण लेख की जिल्द जो कि छोटी छोटी पत्रिकाओं से भिन्न हो।	पापिरस कागज ईजिप्ट ही में बनता था। सम्पूर्ण पश्चिमी वाणिज्य भी इन्हीं लोगों के हाथ में था। इसी से इन लोगों की इच्छा के विरुद्ध परगामम् में कागज न पहुँच सका। इस पापिरस से ही अंगरेजी शब्द पेपर बना है।

मूल	संशोधित
3 Standard Dictionary में कियी हुयी व्याख्या १ सामान्य— अनेक कागजके पृष्ट जो एकत्रित या ग्रथित, किंवा लिखे या छापे गये हों। २ Copyright Law के अनुसार जिस वस्तू से विचार या बुद्धिमत्ता प्रकट होती हो फिर वो वस्तु भाषा, गद्य में हो—उसको पुस्तक कहना। ४ प्रचलित व्याख्या: वाङ्मयात्मक जिसको कि साहित्य में स्थान मिले-एक विषय के उपर विचार परंपरा बिना छोड़े जिल्द के स्वरूप में मुद्रित किया हुवा जो विस्तीर्ण लेख हो उसको पुस्तक कहना। ग्रन्थालय की व्याख्या. ज्ञानवृद्धि करने के लिये ग्रन्थों का तथा पुस्तकों का चिरस्थायिक संग्रह जिस स्थान में हो उसको ग्रन्थालय कहते है। और जिस स्थान में उपरि निदिष्ट विचार से केवल पुस्तकें रखी जाती है उसको पुस्तकालय कहना। प्रकाशक या विक्रय करने वालों के दुकानों में पुस्तकें चिरस्थायिक नहीं होतीं उसका मूल उद्देश प्रथम अर्थार्जन और पश्चात् ज्ञानवृद्धि-ज्ञानप्रसार है करके उनको ग्रन्थालय या पुस्तकालय नहीं कह सकते। पुस्तकालय या ग्रन्थालय केवल ज्ञान प्रसारार्थ है। पांडुरंग खानखोजे	संसार की सभ्यता की वृद्धि कागज, स्याही और कलम ने जितनी की है उतनी और किसी बात ने नहीं। याद लिखने के ये साधन प्राप्त न होते तो संसार का इतिहास आज कुछ और ही तरह का होता। पाण्डुरङ्ग खानखोजे (कारनवालिस, अमरीका)

परिशिष्ट ४

(क)

केरल कोकिल पुस्तक १६वें १६०२—विषयानुक्रमणिका

१०–किरकोळ

(ख)

महाराष्ट्र कोकिल

दात्यूहा: सरसं रसंतु सुभगं गायन्तु केकामृत: ।
कादम्बा: कलमालपन्तु मधुरं कूजन्तु कोयष्टय: ।।
दैवाद्या वद सौरसाल विटपिच्छायामनासादयन ।
निर्विण्ण: कुटजेषु कोकिल युवा संजात मौनव्रत: ।।

पुस्तक १ लें | में सन् १८६२ | अंक ११ वां

विषयानुक्रम

(ग)

प्रवासी

द्वितीय भाग, नवम् संख्या पौष १३०६

[संम्पादक––रामानन्द चट्टोपाध्याय एम० ए०]

(घ)

मर्यादा

भाग २, खंड २, संख्या २, मई, १६११ ई०

(ङ)

प्रभा

वर्ष ३, खंड १, संख्या १ जनवरी, १९२२.

(च)

माधुरी

वर्ष २, खंड ६, सं० १, माघ, ३०० तु० सं०

१. रंगीन चित्र--सोहाग	
२. गजेन्द्र मोक्ष (कविता)	जगन्नाथ रत्नाकर
३. सौन्दर्य शास्त्र	बाण
४. जर्मनी आस्ट्रिया की सैर	श्यामाचरण राय
५. सैलानी बंदर (कहानी)	प्रेमचन्द
६. आधुनिक शिक्षा और देश का भविष्य	लौटूसिंह गौतम
७. भाग्य लक्ष्मी (कविता)	गोपालशरणसिंह
८. शील संकोच की सीमा (व्यंग्यचित्र)	गुरु स्वामी
९. इंगलिस्तान के समाचार-पत्र	वेनीप्रसाद (लंदन)
१०. अन्हिलवाड़े के सोलंकियों का इतिहास	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
११. कलकत्ते से वेनिस	हेमचन्द्र जोशी
१२. प्रलय (गद्य काव्य)	जयशंकरप्रसाद
१३. आदर्श (कविता)	'एक राष्ट्रीय आत्मा'
१४. सन् १९२१ की मनुष्य-गणना	केशवदेव सहारिया
१५. सोने और चाँदी का व्यापार	कस्तूरमल बांठिया
१६. महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	दयाशंकर मिश्र
१७. मित्र मंडली	सिद्धिनाथ वाजपेई
१८. चेतावनी (कविता)	अयोध्यासिंह उपाध्याय
१९. दुहरा बोझ (व्यंग्यचित्र)	गुरुस्वामी
२० संगीत सुधा (भैरवी तीन ताल)	गोविन्द वल्लभ पंत

२१. सुमन-संचय--१. बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण, २. आलिंगन (कविता), ३. पद्मावत-कब बना, ४. ओस का आदर, ५. साहित्यालोचन की आलोचना, ६. हृदय स्रोत, ७. पंजाब विश्वविद्यालय की हिन्दी-परीक्षायें, ७. मोहन-मोह, ९. वृन्द महाकवि, श्मशान (कविता), ११. आँसू, १२. उद्बोधन (कविता)।

२२. विज्ञान-वाटिका--१. चींटियाँ और मनुष्य, २. छंटे हुए चावलों से हानि, ३. क्या

मनुष्य अमर हो सकते हैं, ४. रेडियो द्वारा शिक्षा, ५. मस्तिष्क मन्दिर---रमेशप्रसाद

२३. महिला-मनोरंजन---१. विश्वभारती में नारी विभाग २. स्त्रियों का द्रव्योपार्जन, ३. विधवा-विवाह-सहायक सभा, ४. महिला कार्य-कारिणी परिषद् ५. कन्या गुरुकुल, ६ पार्लियामेंट में स्त्रियां, ७. स्त्री क्या है, ८. नारी।

२४. पुस्तक-परिचय

२५. नायिका (रंगीन चित्र)

२६. साहित्य-सूचना

२७. विविध विषय---१. माधुरी पुरस्कार २. चतुर्दश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, ३, कवि-सम्मेलन, ४. भारत में खनिज सामग्री, ५. साहित्य-दर्पण की एक सुन्दर टीका, ६. बायस्कोप के अभिनेताओं की आमदनी, ७ एक लिपि का प्रश्न, ८. केनिया की समस्या, ९. महापुरुष लेनिन का देहान्त, १०. महात्मा जी का कारा से छुटकारा, ११. चतुर्दश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रस्ताव, १२. बम्बई की विकट हड़ताल, १३. डा० उडरो विल्सन की मृत्यु, १४. भारत में रुई और कपड़ा, १५. ग्राम सुधार समस्या, १६. हिन्दुओं के मन्दिरों और पवित्र स्थानों की रक्षा, १७. कौंसिल में हिन्दी का अपमान, १८. बाजपेई जी का स्मारक, १९. हिन्दू जाति का क्षय रोग, २०. भारत में अविद्या और निर्धनता, २१. हिन्दू महासभा का संतोषजनक निर्णय, २२. बंगाल का हिन्दू मुस्लिम ऐक्ट।

२८ चित्र-चर्चा

(छ)
चांद

वर्ष २, खंड २, संवत् ४, अगस्त, १९२४ ई०

१. भक्ति-विनय (कविता) — वैद्यनाथ जी विह्वल

२. सम्पादकीय विचार---खत्री कांफरेंस, अमेरिका के राजनैतिक क्षेत्र में स्त्रियां, संरक्षण-गृह, वर्तमान स्थिति और परदा

३. उस पार (कविता) — महादेवी वर्मा

४. संकल्प (कहानी) — चंडी प्रसाद हृदयेश

(ज)

The Modern Review

Volume 1 Number 1

A monthly Review and Miscellany Edited by

Ramanand Chatterjee.

Jan , 1907

Contents

List of Illustrations

सहायक-पुस्तक-सूची

English Books[1]

1. Criticism in the making — Cazamian
2. Essays and Essayists — Walker
3. History of Sanskrit Literature — Keith
4. History of Sanskrit Poetics — Kane
5. Indian Press; History of the growth of public opinion in India — Barns
6. Introduction to Indian Textual Criticism — Katre
7. Journalism — Clarke
8. Living by the pen — Hunt
9. Methods and Materials of Literary Criticism — Cayley and others
10. Principles of Literary Criticism — Abercrombie
11. ,, ,, ,, — Richards
12. (The) Principles of criticism — W. B. Worsfold
13. Representative Essays — Dunn and Jha
14. Sanskrit Poetics — S. K. De
15. Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit — A. Sankaran

---

१. प्रस्तुत सहायक ग्रन्थ-सूची समाप्त नहीं है। 'हिन्दीके निर्माता', 'भारतीभूषण', 'साकेत' आदि बहुसंख्यक ग्रन्थ इसमें परिगणित नहीं हो सके हैं। भूमिका में वर्णित सामग्री का भी यहां उल्लेख नहीं हुआ। द्विवेदी जी की रचनाओं की सूची वर्णानुक्रमसे 'परिशिष्ट २' में अलग से दी गई है। अतः उसका भी पुनः परिगणन निष्प्रयोजन समझा गया। इस सूची में उन्हीं ग्रन्थों को स्थान दिया गया है जो प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में विशेष सहायक हुए हैं।

16. Studies in Dhwanyaloka — P. S. Pattar
17. Modern Review

संस्कृत-पुस्तकें

१. अभिनवभारती — अभिनवगुप्त
२. ऋतुसंहार — कालिदास
३. कविकंठाभरण — क्षेमेन्द्र
४. कादम्बरी — बाणभट्ट
५. काव्यप्रकाश — मम्मट
६. काव्यमीमांसा — राजशेखर
७. काव्यादर्श — दंडी
८ काव्यालंकार — भामह
९ काव्यालंकारसूत्र — वामन
१०. किरातार्जुनीय — भारवि
११. कुमारसम्भव — कालिदास
१२. गीतगोविन्द — जयदेव
१३. चंडीशतक — बाणभट्ट
१४. चित्रमीमांसा — अप्पय दीक्षित
१५ चित्रमीमांसाखंडन — पंडितराज जगन्नाथ
१६. दशकुमारचरित — दंडी
१७. दशरूपक — धनंजय
१८. ध्वन्यालोक — आनन्दवर्द्धन
१९. ध्वन्यालोकलोचन — अभिनवगुप्त [पट्टाभिराम शास्त्री की टीका सहित चौखम्बा संस्कृत सिरीज़, १९४० ई०]
२०. नैषधीयचरित — श्रीहर्ष
२१. भर्तृहरिशतक — भर्तृहरि
२२. भामिनीविलास — पंडितराज जगन्नाथ
२३. महिम्नस्तोत्र — पुष्पदन्ताचार्य
२४. मालतीमाधव — भवभूति
२५. रघुवंश — कालिदास
२६. रसगंगाधर — पंडितराज जगन्नाथ [मथुरानाथ शास्त्री की टीका के सहित निर्णयसागर प्रेस, १९३९ ई०]
२७. व्यक्तिविवेक — महिमभट्ट
२८. साहित्यदर्पण — विश्वनाथ
२९. सूर्यशतक — मयूर
३०. शिशुपालवध — माघ
३१. हर्षचरित — बाणभट्ट

हिन्दी-पुस्तकें

१. आचार्य रामचन्द्र-शुक्ल — शिवनाथ एम० ए०
२. आधुनिक कवि — महादेवी वर्मा
३. आधुनिक कवि — सुमित्रानन्दन पन्त
४. आधुनिक कवि — रामकुमार वर्मा
५. आधुनिक कवि — गोपालशरण सिंह
६. आधुनिक काव्यधारा — डा० केसरीनारायण शुक्ल
७. आधुनिक हिन्दी साहित्य — डा० वार्ष्णेय
८. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास — कृष्ण शंकर शुक्ल एम० ए०
९. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास — डा० श्रीकृष्ण लाल
१० आलोचनादर्श — डा० रसाल
११. काव्यकल्पद्रुम — कन्हैया लाल पोद्दार
१२. काव्य में अभिव्यं-जनावाद — लक्ष्मी नारायण-सिंह सुधांशु

१३. गुप्त जी की कला– सत्येन्द्र

१४. गुप्त जी की काव्यधारा–गिरीश

१५. चिन्तामणि — रामचन्द्र शुक्ल

१६. जायसीग्रन्थावली — ,,

१७. तुलसीग्रन्थावली — ,,

१८. त्रिवेणी — ,,

१९. देव और बिहारी-कृष्णबिहारी मिश्र

२० द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ — संकलन

२१. द्विवेदी-मीमांसा — प्रेम नारायण टंडन

२२. नवयुगकाव्यविमर्ष — ज्योतिप्रसाद निर्मल

२३. नवरस — गुलाब राय

२४. निबन्धकला — राजेन्द्र सिंह

२५. पत्र और पत्रकार — कमलापति शास्त्री और पुरुषोतम दास टंडन

२६. पत्रकारकला — विष्णुदत्त

२७. पत्रसम्पादनकला — नन्दकुमार देव

२८. प्रसाद जी के दो-नाटक — कृष्णानन्द गुप्त

२९. प्रियप्रवास — हरिऔध

३०. प्रेमचन्द की-उपन्यासकला — द्विज

३१. बिहारी और देव — कृष्णबिहारी मिश्र

३२. बिहारी की सतसई — पद्मसिंह शर्मा

३३. बिहारी-रत्नाकर — जगन्नाथदास रत्नाकर

३४. भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र — श्यामसुन्दर दास

३५. भारतेन्दु-युग — डा० रामविलास शर्मा

३६. भ्रमरगीत-सार — रामचन्द्र शुक्ल

३७. महाकवि हरिऔध — गिरीश

३८. मिश्रबन्धु-विनोद — मिश्रबन्धु

३९. रूपक-रहस्य — श्यामसुन्दर दास और बड़थ्वाल

४०. वाङ्मयविमर्श — विश्वनाथप्रसाद मिश्र

४१. विश्वसाहित्य — बख्शी

४२. साहियालोचन — श्यामसुन्दर दास

४३. साकेत–एक अध्ययन — नगेन्द्र

४४ हिन्दी-गद्यगाथा — सद्गुरुशरण अवस्थी

४५. हिन्दीगद्य का-निर्माण — लक्ष्मीधर वाजपेयी

४६. हिन्दीगद्य का-विकास — रमाकान्त त्रिपाठी

४७. हिन्दीगद्यशैली का-विकास — जगन्नाथप्रसाद शर्मा

४८. हिन्दी नवरत्न — मिश्रबन्धु

४९. हिन्दी भाषा-और साहित्य — श्यामसुन्दरदास

५० हिन्दी भाषा और-साहित्य का विकास — हरिऔध

५१. हिन्दी भाषा के-सामयिक पत्रों का-इतिहास — राधाकृष्ण दास

५२. हिन्दी-व्याकरण — कामताप्रसाद गुरु

५३. हिन्दी साहित्य-का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल
[संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण, सं १९९७]

५४. हिन्दी साहित्य-की भूमिका — हजारी प्रसाद द्विवेदी

५५. हिन्दी-साहित्य-बीसवीं शताब्दी — नन्ददुलारे वाजपेयी

पत्र-पत्रिकाएँ

१. आज
२. आनन्दकादम्बिनी
३. इन्दु
४. उपन्यास
५. कमला
६. कविवचनसुधा
७. केरलकोकिल
८. चांद
९. छतीसगढ़मित्र
१०. जासूस
११. नागरीप्रचारिणी पत्रिका
१२. परोपकारी
१३. प्रभा
१४. प्रवासी
१५. बालक
१६. ब्राह्मण
१७. भारत
१८. भारतमित्र
१९. भारतेन्दु
२०. मर्यादा
२१. महाराष्ट्रकोकिल
२२. माधुरी
२३. युगान्त
२४. रसिकवाटिका
२५. रसिकरहस्य
२६. लक्ष्मी
२७. विशालभारत
२८. विश्वमित्र
२९. वीणा
३०. वेंकटेश्वरसमाचार
३१. संस्कृतचन्द्रिका
३२. समालोचक
३३. सम्मेलनपत्रिका
३४. सरस्वती
३५. साहित्यसन्देश
३६. सुकवि
३७. सुदर्शन
३८. सुधा
३९. सुधानिधि
४०. हंस
४१. हरिश्चन्द्रचन्द्रिका
४२. हरिश्चन्द्रमैगज़ीन
४३. हिन्दीप्रदीप
४४. हिन्दीबंगवासी

नामानुक्रमणिका*

रचनाकार—

---

*पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती' का नाम इस ग्रन्थ में इतनी बार आया है कि अनुक्रमणिका में उनका उल्लेख सर्वथा अनपेक्षित है।

रचनाएँ और संस्थाएँ—

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पैंशन	पेन्शन	१	४	वलर्क	क्लर्क	३६	८
माहि	चाहि	१	१६	भई	मई	४३	२
एशोसियेशन	एसोशिएशन्	३	६	के	से	४७	२५
वाध्य	बाध्य	५	४	में	ने	५०	१५
१८७५	१८५७	८	१४	की	को	७४	२२
मद्यपान	मद्यपान आदि पर	९	५	सवास्थ्य	स्वास्थ्य	७५	७
Market	Molakat	९	२६	करते	कराते	८१	८
Baba	Bahar	९	३१	स्नातकर्वन्धुमता	स्नातकैर्ब···	८१	१८
रागनियों	रागिनियों	१२	९	मार्जणाः	मार्गणाः	८२	२०
मूर्तिमता	मूर्तिमत्ता	१२	१४	प्राइमारी	प्राइमरी	८६	१६
प्रमघन	प्रेमघन	१२	२३	शरीर	शरीरं	९३	२०
में	×	१३	४	सविस्वास	सविश्वास	९५	२०
मुक्तकां	मुक्तकों	१३	११	अप्रस्तुन	अप्रस्तुत	९८	६
चीर	चौर	१६	१५	वर्णाभरण	वर्णाभरणा	१०२	२
कहानियां	कहानियों	१८	२२	वर्षणेन	कर्षणेन	१०२	१७
शेंक्सपियंर	शेक्सपियर	१९	८	गुजेरीस्तन	गुर्जरीस्तन	१०३	२१
कुप्रभाओं	कुप्रभावों	१९	२८	प्रधनता	प्रधानता	१०५	२४
कारण	कारक	२०	१	प्रवन्ध मुक्तकों	(प्रवन्ध-मुक्तकों)	१०६	३
हैं	है	२०	१	मिश्र छन्दोमय	मिश्रछन्दोमय	१०७	३
स्वागत	स्वगत	२०	६	हार्नाली	हार्नली	११४	३१
पत्रानुसार	पात्रानुसार	२०	६	काव्य-	काव्या-	११७	पा० टि० १
देवी	दैवी	२०	१७	नाटकार	नाटककार	११९	३२
पडयन्त्र	षड्यन्त्र	२०	१८	आलचनाओं	आलोचनाओं	१२०	१०
सतसैया	सतसैया	२१	७	,,	सरस्वती	१२६	पा० टि० १
साहित्यक	साहित्यिक	२१	१२	वर्ता	कर्त्ता	१३०	१६
आनन्द	आनँद	२३	२५	'आलोचक	आलोचक	१३२	९
कार्थ	कार्य	२५	६	रच	रचना	१३२	९
कावपामृत	काव्यामृत	२५	२५	अध्ययन	अनध्ययन	१३५	११
पश्मिोत्तर	पश्चिमोत्तर	२६	२३	आलोच	आलोचना	१३५	३०
[illegible]	को	३१	८	पूर्णतय	पूर्णतया	१३६	२२
चिन्तर्नाय विषयां	चिन्तनीय विषयों के विवेचन			भाव	भव	१५६	२१
के विषयानुकूल	में संस्कृत पदावली का प्रयोग			क	की	१५६	२५
	हुआ है। नाटकों में प्रयुक्त			साहित्यक	साहित्यिक	१६०	२
	प्रसन्न गद्य विषयानुकूल	३१	२८	बारनिश	वारनिश	१७६	१२
की	को	३४	११	सांड	साँड़	१८०	११

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पत्रपठ	पत्रपठन	१८१	१५
'पड़ेगा',	'पड़ैगा'	१९२	१८
'विज्ञानों'	'विज्ञानी'	२११	१६
प्रत्यत्त	प्रत्यय	२१२	१२
गुरू	गुरु	२५१	१
··· त्यत्र	···त्यत्र	२५१	१४
भक्तयेव	भक्त्यैव	२५४	२
प्रख्यार्पितगुणैः	प्रख्यार्पितैर्गुणैः	२५५	७
भिखारिण	भिखारिणी	२६२	१६
कवरिहा	बकरिहा	२६७	२७
वाङ्मय	वाङ्‌मय	२६८	६
के	में	२७३	८
तैलीस	तेली	२७४	२६
मूर्त	मूर्त्त	२७६	१३
हर्षचरित्र	हर्षचरित	२८४	१२
कर	शर	२८६	७
जा	जग	२९६	२७
ज्ञान	शान	२९६	२८
अन्धेरा	अन्धेर	२९६	३०
घर घर	धर धर	२९८	६
के	में	३०१	३१
क्रान्तितारी	क्रान्तिकारी	३०२	६
महस्थ···बने थे	गृहस्थ···बने हुए थे	३०४	१
सर्राटे	सराटे	३०७	१६
दर्शना	दर्शन	३०८	२५
विभिन्न	विपन्न	३१३	३
सहित्यिक	साहित्यिक	३१३	३
कथोद्धात	कथोद्घात	३१३	१३
'कृष्णार्जुन'	'कृष्णार्जुनयुद्ध'	३१३	२७
चुँगी	चुंगी	३१४	१५
गीत	गीति	३१५	६
प्रकार	प्रकारक	३१६	१४
रायकृष्ण	रामकृष्ण	३१७	८
पेरणा	प्रेरणा	३१७	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
जात	जगत	३१९	१३
नाटकी	नाटकीय	३२०	११
दैनन्दनी	दैनन्दिनी	३२०	१४
योग	प्रयोग	३२०	१
शर्मा	वर्मा	३२०	११
उर्वसी	उर्वशी	३२१	८
प्रसस्त	प्रशस्त	३२२	१५
आशर्य	आश्चर्य	३२३	७
कंलात्मक	कलात्मक	३२४	२
चैतन्य	चेतन	३२५	१
अरोप	आरोप	३२५	१
सामंजस	समंजस	३२५	१८
अर्न्तगत	अन्तर्जगत्	३२५	२२
आकर्षण	आकर्षक	३२६	६
आत्मराम'	'आत्माराम'	३२६	१६
काउसका	का	३२६	२१
काव्यात्मकी	काव्यात्मक	३२७	६
सरीख	सरीखी	३२७	१२
उप	उपधा	३३१	५
निबन्ध	निर्बन्ध	३३१	१३
अक्षेप	आक्षेप	३३४	२२
शैली	इस शैली	३३६	१२
कोष्टक	कोष्ठक	३३६	१४
१६ ई०	१६०१ ई०	३३७	१५
साहित्यकार	साधिकार	३३७	१८
चिन्तनाजनक	चिन्तनात्मक	३३९	२१
"इन	इन	३४०	८
उसका	उसका नायक	३४०	१३
भीड़	मींड़	३४०	२०
दंसरूपक	दशरूपक	३४१	१२
काव्यमय	काव्य में	३४२	४
भी	मात्र	३४२	२३
सो	सा	३४३	२६
पद्म कोषा	पद्मकोषा	३४३	२७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नन्द दिवाकेरण	नन्ददिवाकरेण	३४३	२८
प्रशांत्मक	प्रशंसात्मक	३४६	३
निदशन	निदर्शन	३४७	२१
अनास्थिरता	अनस्थिरता	३४७	२७
की	को	३५०	१
तदन्तर	तदनन्तर	३५१	२२
अवश्यमात्र	अवयवमात्र	३५२	१७
आलचोक	आलोचक	३५४	२०
ही	कुछ ही	३५५	१३
वाले	वाले कर्म	३५६	१८
अर्न्तदृष्टि	अन्तर्दृष्टि	३५८	६
भारतीयथि	भारतीय	३५८	८
विविधि	विविध	३५८	१४
अप्रस्तु	अप्रस्तुत	३५८	२४
भ्रमरगीता	भ्रमरगीत	३५६	३१
तावरो	ताँवरो	३५८	२७
भाषाओं	अन्य भाषाओं	३६०	२४
अन्य	,	३६०	२५
आलोचनों	आलोचनाओं	३६२	२७
आवश्क	आवश्यक	३६३	२४
तत्वत:	तत्वतः	३६४	१६
प्रचीन	प्राचीन	३६८	२४
भोग	भौम	३६८	२५
१ ,,	१ वंडल	३७३	१
४६७	४६४	३७४	१४
सरोजनी	सरोजिनी	३७५	५
की	को	३७६	२८
की	को	३८०	३
प्रकार	प्रचार	३८१	३२
हिन्दूभाषा	हिन्दूभाषा	३८१	३४
इसको	इस	३८६	३१
आसारिया	असीरिया	३८६	३५
भाडगार्व	भाड़गार्व	३८८	१५
तांवे	टुकड़ों	३८६	३२
उत्तीर्ण	उत्कीर्ण	३६०	५
त्रस	त्रश	३६०	११
विचत्र	विचित्र	३६३	१३
प्रचीन	प्राचीन	३६३	३०
याद	यदि	३६५	२८
केश	केस	४००	१
साहियालोचन	साहित्यालोचन	४०८	६
कृष्णविहारी मिश्र	लाला भगवान दीन	४०८	२३